गुरुकुल-शोध-भारती

2006 Ma.—Oct.

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (पञ्चमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक 5 मार्च 2006

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत

स्थापना १९५७ विक्रमाब्द

सम्पादक

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

ओ३म्

गुरुकुल-शोध-भारती

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (पञ्चमोऽङ्कः)

(A Half-yearly Research Journal)

अंक 5 मार्च 2006

सम्पादक

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर
श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक — प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

संरक्षक — प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

सम्पादक — प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

अस्याङ्कस्य परीक्षका: — डॉ. हरनारायण दीक्षित, पूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल.

व्यवसाय-प्रबन्धक — डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार
पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

प्रकाशक — प्रो. ए.के. चोपड़ा
कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

एक प्रति का मूल्य — रु० ७५.००

वार्षिक मूल्य — रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये

पञ्चवार्षिकमूल्य — रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा पुस्तकालयाध्यक्ष के नाम धनादेश प्रेषित करें।)

विषयानुक्रमणिका

संस्थापक
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

स्वामी श्रद्धानन्द जी

Swami Shraddhanand Ji

(1856 – 1926)
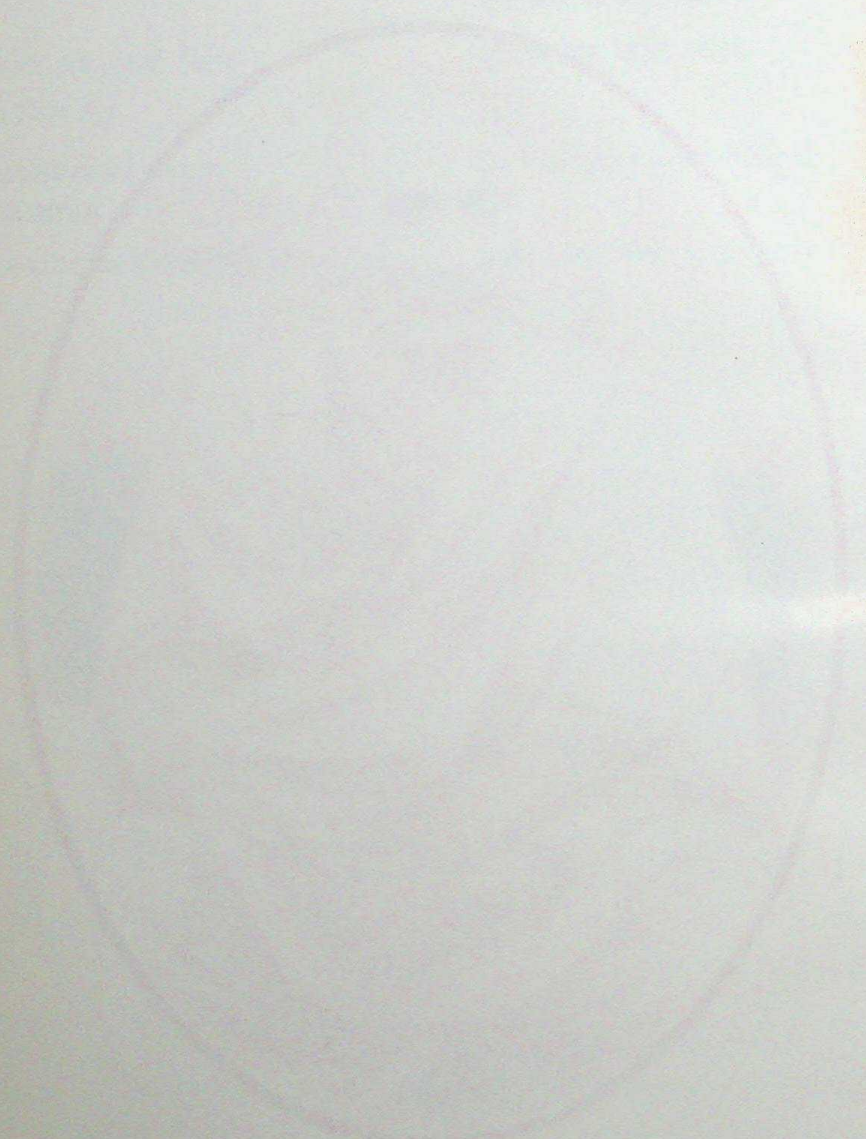
मुक्ति में जीव की स्थिति

प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री

जन्म के साथ ही मनुष्य का सामना समस्याओं से होता है, अतः यह स्वाभाविक है कि वह उनसे मुक्त होने का प्रयास करे और सभ्यता का इतिहास यह बताता है कि उसने यह प्रयास किया है। प्रयास की यह सुदीर्घ परम्परा आदिकाल से ही दो धाराओं में प्रवाहित होती रही है। प्रथम धारा को हम विज्ञान के नाम से अभिहित करते हैं, जबकि द्वितीय धारा अध्यात्म के नाम से जानी जाती है। ये दोनों ही धारायें अपने-अपने ढंग से दुःखों के शमन करने का प्रयास करती रही हैं। इनमें से किसी एक को भी निरर्थक, अनुपयोगी या अप्रासङ्गिक नहीं कहा जा सकता। दोनों ही पद्धतियों की आवश्यकता पहले भी थी और आज भी है। सृष्टि के इस रहस्य को वेद ने बहुत स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हुए कहा है-**'अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।'**[1] हम अविद्या अर्थात् भौतिक विज्ञान के माध्यम से मृत्यु अर्थात् दुःखों के पार जाते हैं और विद्या से अमृतत्व को प्राप्त करते हैं। कहने का आशय यह है कि जहाँ भौतिक दुःखों के नाश के लिये भौतिक विज्ञान आवश्यक है, वहीं अमरत्व के लिये विद्या अपेक्षित है। इसीलिए वेद कहता है कि हम उस एक परमात्मतत्त्व को जानकर ही मृत्यु के चक्र से पार जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उससे छूटने का उपाय नहीं है।[2] यहाँ अविद्या और विद्या के माध्यम से वेद ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ अविद्या (भौतिक विज्ञान) की सफलता कर्माश्रित है, वहीं विद्या की सफलता ज्ञानाश्रित है अर्थात् ज्ञानमात्र से ही मुक्ति की स्थिति निर्मित होती है। कहने का आशय यह है कि बन्धन और मोक्ष का कारण केवल अज्ञान और ज्ञान है। ज्ञान यहाँ अध्ययन का नाम न होकर यथार्थ अनुभूति है, यही सत्य का स्वरूप भी है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट

---

१. यजु०४०.१४.

२. यजु०३१.१८. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥१८॥

हो जाता है कि मुक्ति की अवधारणा वैदिक है और जब तक हम विद्या को उपलब्ध नहीं होते, मृत्युचक्र से छूट नहीं सकते।

आत्मयाजी और देवयाजी में से कौन श्रेष्ठ है? इस प्रश्न का समाधान करता हुआ शतपथ-ब्राह्मण कहता है—'आत्मयाजी और देवयाजी में से आत्मयाजी श्रेष्ठ है। जो व्यक्ति अपनी आहुति देता है, वह उसी प्रकार मर्त्य शरीर के पाप से छूट जाता है, जैसे सर्प अपनी कैंचुली से पृथक् हो जाता है। वह ऋक्, यजु और साम के अनुसार आचरण करता हुआ आहुतिमय होकर स्वर्गलोक (मुक्ति) को प्राप्त होती है।'[३]

यदि दुःखों से छूटने का नाम मुक्ति है, तो वह मुक्ति किस प्रकार की है? और उस मुक्ति में जीव किस स्थिति में रहता है? उक्त प्रश्न का समाधान करती हुई छान्दोग्योपनिषद् कहती है—**'य एते ब्रह्मलोके तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात् तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान् यस्तमात्मनमनुविद्य विजानातीति॥'**[४]

'जो जीव ब्रह्मलोक में पहुँचकर उसमें रमण करते हैं अर्थात् परमात्मतत्त्व के साथ एकाकार हो जाते हैं, मुक्ति की कामना करने वाले देवगण (विद्वज्जन) उनकी उपासना करते हैं। परमात्मतत्त्व के साथ एकाकार होने के फलस्वरूप वह सम्पूर्ण लोक और समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेता है।' फिर उसके लिये कुछ भी अप्राप्य नहीं रह जाता।

तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्द वल्ली में ब्रह्म के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥[५]

---

३. माश ११.२.६.१३. आत्मयाजी श्रेया३न् देवयाजी३ऽ इत्यात्मयाजीति ह ब्रूयात्स ह वा आत्मयाजी यो वेदेदं मेऽनेनाङ्गꣳ संस्क्रियत ऽ इदं मेऽनेनाङ्गमुपधीयतऽ इति स यथाऽहिस्त्वचो निर्मुच्येतैवमस्मान्मर्त्याच्छरीरात् पाप्मनो निर्मुच्यते स ऋङ्मयो यजुर्मयः साममय आहुतिमयः स्वर्गं लोकमभिसम्भवति।'

४. छान्दोग्य०८.१२.६.

५. तैत्ति०उप०ब्र०व०अनु०१.

परब्रह्म परमात्मा सत्यस्वरूप है, उसका किसी भी काल में अभाव नहीं होता, वह ज्ञानस्वरूप है, उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं। साथ ही वह देश और काल की सीमा से परे है, अतः वह अनन्त है। ऐसा परब्रह्म परमात्मा सबके हृदय की गुहा में अन्तर्निहित है, जो साधक तत्त्व रूप में उसको जान लेता है, विपश्चित् अर्थात् अनन्तविद्यायुक्त व्यापक ब्रह्म के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेने के कारण वह सब प्रकार की कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। फिर उसकी कोई भी इच्छा अपूर्ण नहीं रहती।

ऋग्वेद के दीर्घतमस् सूक्त में उक्त तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।।[६]

जिस व्योम अर्थात् ओ३म् में समस्त देवगण स्थित हैं, जो उसको नहीं जानता, उसके लिये वेदज्ञान निरर्थक है और जो उसको जानता है, उसका उसीमें समाहार हो जाता है। आचार्य दुर्ग मन्त्र के अन्तिम पाद का शाकपूणि के अनुसार व्याख्यान करते हुए कहते हैं-**'ते हि तत्परिज्ञानात् ताद्भाव्यमुपगताः प्रणवविग्रहमात्मानमनुप्रविश्य समीकृता निर्वान्ति'**[७] कि वे साधक उसको जानकर, उसके साथ एकाकारत्व को प्राप्त होकर प्रणवविग्रह (आत्मा) में प्रवेश करके उसके साथ समीकृत होकर स्थिर हो जाते हैं।' इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुक्ति में जीव का अस्तित्व ईश्वर के साथ समीकृत हो जाता है। ईश्वर की शक्तियाँ, जिसमें आनन्द और ज्ञान प्रमुख हैं, जीव के लिये उपलब्ध हो जाती हैं। उनके बल पर उसके लिये कुछ भी अनुपलब्ध नहीं रहता। आज भी भौतिक विज्ञान ने स्थान की दूरियों को काफी कुछ कम कर दिया है। बहुत दूर स्थित कोई वस्तु या व्यक्ति हमें दूर प्रतीत नहीं होता, हम उससे न केवल बात कर सकते हैं, बल्कि उसको देख भी सकते हैं और इस प्रकार हम उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करते हुए सुख-दुःख में सहभागी हो जाते हैं। जब भौतिक विज्ञान ऐसा चमत्कार कर सकता है, तब अध्यात्म विज्ञान जिसका उद्देश्य परमसत्ता की अनुभूति कराते हुए आनन्दमय बनाना है, उससे

---

६. ऋ०१.१६४.३९.
७. दुर्गवृत्ति, निरु०१३.१०.

जुड़कर व्यक्ति किस प्रकार स्थान और समय की दूरियों को तिरोहित कर सकता है, इसकी सहज कल्पना की जा सकती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती मुक्ति में जीव की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय हो जाता है। वह मुक्तजीव ब्रह्म में अव्याहतगति से आनन्दपूर्वक विचरण करता है।[८] मुक्ति में जीव के पास कौन-कौनसी शक्तियाँ रहती हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि मुख्य रूप से जीव के पास एक प्रकार की शक्ति होती है, परन्तु उनके मत में जीव के पास निम्न शक्तियाँ और भी रहती हैं—**'बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्य से युक्त जीव रहता है।'**[९] यहाँ महर्षि का मुख्य शक्ति से अभिप्राय ज्ञान प्रतीत होता है, उसीके बल से वह मुक्ति में अव्याहतगति होकर आनन्द का भोग करता है और जो चाहता है उसको प्राप्त कर लेता है। हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि मुक्ति में जीव नीरस स्थिति में नहीं रहता न मुक्ति किसी कारागर की तरह जीव की सामर्थ्य को नियन्त्रित ही करती है। इसके विपरीत मुक्ति में जीव का सामर्थ्य अनन्त हो जाता है, जिसे शब्द की किसी सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त विवेचन से यह प्रतीत होता है कि ज्ञान और आनन्द की चरम सीमा ही मुक्ति है। जिन आठ ऐश्वर्यों की चर्चा योग-साँख्य में सुनने को मिलती हैं, वह सब उसके लिये अप्राप्य नहीं रहता। यदि निरतियशयता ऐश्वर्य का लक्षण है तो यह सब जीव को सहज रूप से

---

८. स०प्र०न०समु० जो ब्रह्म सर्वत्र पूर्ण है, उसीमें मुक्त जीव 'अव्याहतगति' अर्थात् उसको कहीं रुकावट नहीं, विज्ञान आनन्दपूर्वक स्वतन्त्र विचरता है।

९. स०प्र०न०समु० मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान इन २४ चौबीस प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव है। इससे मुक्ति में भी आनन्द की प्राप्ति और भोग करता है। जो मुक्ति में जीव का लय होता तो मुक्ति का सुख कौन भोगता? और जो जीव के नाश ही को मुक्ति समझते हैं, वे तो महामूढ़ हैं। क्योंकि मुक्ति जीव की यह है कि दुःखों से छूटकर आनन्दस्वरूप, सर्वव्यापक, अनन्त परमेश्वर में जीव का आनन्द में रहना।

प्राप्त रहता है। इसके अतिरिक्त **'य इत्तद्विदुस्त इमे समासते'**[10] मन्त्रांश में मुक्ति में जीव की जो स्थिति प्रतिपादित हुई है, उसीको महर्षि दयानन्द ने जीव का ब्रह्म में लय हो जाना, के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। इस प्रकार महर्षि वेदप्रतिपादित वक्तव्य को अपने शब्दों में कह रहे हैं।

मुक्त स्थिति का और भी अधिक स्पष्ट वर्णन करते हुए महर्षि दयानन्द कहते हैं—'जैसे सांसारिक सुख (जीव) शरीर के आधार से भोगता है। वह मुक्त जीव अनन्त व्यापक ब्रह्म में स्वच्छन्द घूमता, शुद्ध ज्ञान से सब सृष्टि को देखता, अन्य मुक्तों के साथ मिलता, सृष्टिविद्या को क्रम से देखता हुआ सब लोक-लोकान्तरों में अर्थात् जितने ये लोक दीखते हैं और नहीं दीखते, उन सब में घूमता है। वह सब पदार्थों को-जो कि उसके ज्ञान के आगे हैं-सबको देखता है। जितना ज्ञान अधिक होता है, उसको उतना ही आनन्द अधिक होता है। मुक्ति में जीवात्मा निर्मल होने से पूर्ण ज्ञानी होकर उसको सब सन्निहित पदार्थों का भान यथावत् होता है।'[11] महर्षि के उक्त वक्तव्य के आधार पर कहा जा सकता है कि ज्ञान कारण और आनन्द कार्य है। जीव का जितना ज्ञान बढ़ता जाता है, उतना ही उसका आनन्द बढ़ता जाता है। इसको इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ज्ञान जीव का स्वरूप है, जितना वह ज्ञान या ज्ञान पाने की सामर्थ्य को उपलब्ध होता जाता है, उतना ही उसका आनन्द बढ़ता जाता है।

वेदान्त मत में मुक्ति और जीव का लय

मुक्ति में जीव की स्थिति के सन्दर्भ में वेदान्तदर्शन का अभिमत है—**'अभावं बादरिराह ह्येवम्'**[12] कि मुक्ति अवस्था में जीव के पास न तो शरीर होता है और न मन आदि अन्तःकरण ही। एक प्रकार से जीव स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर इन दोनों से रहित मात्र जीवरूप ही होता है।

आचार्य जैमिनि मुक्ति में जीव की उक्त स्थिति को स्वीकार नहीं करते, उनके अनुसार जीव के पास मन और सूक्ष्म इन्द्रियाँ का पूर्ण अभाव नहीं होता। वेदान्तदर्शनकार उनके मत को

---

१०. ऋ०१.१६४.३९.
११. स०प्र०न०समु०
१२. वेदा०४.४.१०.

उद्धृत करते हुए कहते हैं—'**भावं जैमिनिनिर्विकल्पामननात्**'[13] अर्थात् मुक्ति में जीव के पास मन और इन्द्रियाँ का अभाव नहीं होता है, बल्कि भाव होता है। जैमिनि के उक्त कथन के मूल में यह कारण प्रतीत होता है कि लोक में जीव विना इन्द्रियों के संवेदना का अनुभव नहीं कर पाता है। जब लोक में नहीं कर सकता तब वह मुक्ति में विना इन्द्रियों के आनन्द का अनुभव और अनन्त ज्ञान का उपयोग कैसे कर सकता है? लेकिन यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता है, इसका कारण यह है कि लोक में जीव अनुभूति के लिये पराश्रित अर्थात् प्रकृति के आश्रित है। जबकि मुक्ति में परमात्मा के साथ समीकृत हो जाने के कारण जीव को परमात्मा की शक्तियाँ सहज रूप से मिल जाती हैं, इसलिये वह अनुभूति के लिये इन्द्रियों और अन्त:करण के आश्रित नहीं रहता। यदि मुक्ति में भी यह बन्धन रहा तो फिर मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहा। परमात्मा में लय हो जाने या उसके साथ समीकृत हो जाने पर जीव में ईश्वर का सामर्थ्य आ जाता है। यदि अनुभूति के लिये अन्त:करण आवश्यक हैं तो फिर ईश्वर के साथ भी उक्त स्थिति को स्वीकार करना होगा, जो कि उचित नहीं है।

यही कारण है कि आचार्य बादरायण उक्त मत में संशोधन करते हुए कहते हैं कि मुक्ति में जीव में उभयविध सामर्थ्य बना रहता है।[14] कहने का आशय यह है कि जीव में इन्द्रियाँ और अन्त:करण होते भी हैं और नहीं भी होते। यह बात ऊपर से देखने में बहुत विचित्र और विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होती है, लेकिन वास्तविकता यह है कि जीव के अनुभव करने की सामर्थ्य रहती है, उसको कोई यह कहे कि मुक्ति में इन्द्रियाँ और अन्त:करण होते हैं तो भी आंशिक रूप से उचित है और नहीं होते तो भी उचित है, क्योंकि जीव उक्त करणों के सहयोग से ज्ञान और आनन्द का अनुभव करे अथवा विना इनके। परन्तु मुख्य प्रयोजन तो अनुभूति है, वह सामर्थ्य मुक्ति में भी जीव के पास बना रहता है। अत: शरीर और इन्द्रियों का भाव या अभाव मानने में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

---

१३. वेदा०४.४.११.

१४. वेदा०४.४.१२. द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽत:।

उपनिषद् में मुक्ति और जीव का लय

प्रजापति इन्द्र को आत्मतत्त्व का उपदेश देते हुए कहते हैं—

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳ शरीरमात्तं मृत्युना तदस्याऽमृतस्याऽशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः॥[१५]

'हे इन्द्र! यह शरीर मरणधर्मा है, यह मृत्यु से ग्रस्त है, यह इस अमृत, अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है। जब तक यह शरीर है, आत्मा प्रिय और अप्रिय से बच नहीं सकता और जब यह शरीर नहीं रहता तब इस आत्मा को प्रिय और अप्रिय स्पर्श भी नहीं कर सकते।'

उपनिषद् के उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जब केवल आत्मा शेष रहता है, जिसे हम दूसरे शब्दों में मुक्ति की अवस्था भी कहते हैं, उस समय शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रहता। चाहे शरीर स्थूल या सूक्ष्म, जब आत्मा प्रिय और अप्रिय स्थिति से दूर हो जाता है, उस समय वह शरीर के बन्धनों से पूरी तरह से मुक्त हो जाता है। वास्तव में शरीर से मुक्त होना ही मुक्ति है। अतः मुक्ति के अवस्था में किसी प्रकार के शरीर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीरसहित मुक्ति सम्भव नहीं है और न मुक्ति में मुक्ति लोक का शरीर मिलता है, ऐसा भी नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि ऐसा मानने पर मुक्ति भी एक प्रकार का बन्धन हो जाएगी और फिर मुक्ति और बन्धन का भेद समाप्त हो जाएगा। अतः उक्त स्थिति को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मुक्तिप्राप्त करने की प्रक्रिया का प्रतिपादन करता हुआ न्यायदर्शन कहता है- **'दुःखजन्मप्रवृत्तिदोष-मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः'**[१६] कि मिथ्याज्ञान (अविद्या) के नाश से दोषों (कामक्रोधादि) का नाश, दोषनाश से प्रवृत्तियों (दुष्ट व्यसनों) का नाश, प्रवृत्तिनाश से जन्म का नाश और उसके भी नाश से दुःखों का अन्त होता है।' उक्त सूत्र में प्रतिपादित जन्मनाश की प्रक्रिया से यह ज्ञापित होत है कि अपवर्ग में शरीर का जन्म नहीं होता।

---

१५. छान्दोग्य०८.१२.१.

१६. न्याय सू०१.१.२.

महर्षि दयानन्द सरस्वती जैमिनि के मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं—'**भावं जैमिनिर्विकल्पामननात्॥ २॥** (वे०सू०) अ०४। पा०४। सू०११॥ इसी विषय में व्यासजी के मुख्य शिष्य जो जैमिनि थे, उनका ऐसा मत है कि-जैसे मोक्ष में मन रहता है, वैसे ही शुद्धसंकल्प शरीर तथा प्राणादि और इन्द्रियों की शुद्ध शक्ति भी बराबर बनी रहती है। क्योंकि उपनिषद् में '**स एकधा भवति, द्विधा भवति, त्रिधा भवति**' इत्यादि वचनों का प्रमाण है कि मुक्तजीव सङ्कल्पमात्र से ही दिव्यशरीर रच लेता है, और इच्छामात्र से ही से शीघ्र छोड़ भी देता है, और शुद्ध ज्ञान का सदा प्रकाश बना रहता है।"[17] इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्पष्ट अभिमत है कि मुक्ति में जीव संकल्पमात्र से शरीर को धारण और विसर्जन करने की सामर्थ्य रखता है और उनकी दृष्टि में जीव का ब्रह्म में लय होता है, परन्तु यह लय पूर्ण न होकर इच्छा पर आधारित है। हम यह मान सकते हैं कि उस काल में ईश्वर न होता हुआ भी जीव ईश्वर के ऐश्वर्य को अधिगत कर लेता है। यहाँ अपनी इच्छा पूर्ण करने की सामर्थ्य वाला होने पर भी जीव व्यवस्था में रहता है, अमर्यादित नहीं होता। इस मर्यादा या ऋत की व्यवस्था से तो सर्वशक्तिमान् ईश्वर भी नहीं बच सकता।

श्वेताश्वतरोपनिषद् जीव के स्वरूप को बताती हुई कहती है कि वह जीवात्मा अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला, सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप, संकल्प और अहंकार से युक्त, बुद्धि और आत्मा के गुण से समन्वित और सूजे की नौक के समान सूक्ष्म है।[18] आगे उक्त उपनिषद् कहती है कि बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े करलें और फिर उस सौ के भी सौ टुकड़े करलें अर्थात् हम उस एक बाल के दश सहस्र टुकड़े कर लें, उनमें से एक टुकड़ा जितना सूक्ष्म हो सकता है, उतना सूक्ष्म जीवात्मा है। वह सूक्ष्म होने पर भी अनन्त भाव से युक्त होने की सामर्थ्य रखता है।[19]

---

१७. ऋ०भा०भू० (मुक्तिविषयः)

१८. श्वेता०५.८. अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः॥

१९. श्वेता०५.८. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

उपर्युक्त उपनिषद् के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवात्मा सूक्ष्मातिसूक्ष्म है तथा संकल्प और अहंकार से युक्त है। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि वह सूक्ष्म और अणु होने पर भी अनन्त होने की सामर्थ्य रखता है। विना शरीर के भी जीवात्मा संकल्प गुण से अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है और अपनी अनन्त सामर्थ्य से शरीर का आकार छोटा या बड़ा जैसा भी हो, उसको व्याप्त कर लेता है।

उपर्युक्त विस्तृत के निष्कर्ष के रूप में हम यह समझ सकते हैं कि मुक्ति में जीव का ब्रह्म में लय हो जाता है, परन्तु यह लय उसका तादात्म्य रूप होना है, जिसमें सत्ता का अस्तित्व पूर्णतया विलय नहीं होता। परमेश्वर की सामर्थ्य अधिगत कर लेने के कारण जीव अपनी इच्छा से जो प्राप्त करना चाहता है, प्राप्त कर सकता है, जहाँ जाना चाहता है, पहुँच जाता है।

गुरुकुल- शोध- भारती मार्च २००६ अङ्क ५ (पृ०१०-२८)

वाल्मीकिरामायणे वेदादेशानां परिपालनम्

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री
आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार.

मानवसृष्टेरादौ मानवजीवनमुन्नेतुं परमात्मना अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसपदाभिधेयानाम् ऋषीणां हृदि प्रकाशात्मकं वेदज्ञानं निहितम्। आदिकालादेव प्रकाशकारिण्या वेददृशा तप:पूतान्त:करणै: सकलजगदभ्युदयाभिरतैरात्मतत्त्वविद्भिर्मनीषिभि: सकलं संसारं सावयवमालोक्य स्वस्य सर्वस्य च जीवनमुन्नीतम्। यो हि वेदमधीत्य तदनुसारमाचरति स: संशयं शमयन् भवति सार्वत्रिकाभ्युदयान्वित: मनुस्मृतौ महातेजा मनुर्वेदस्य सर्वोत्कृष्टं महत्त्वं पञ्चमस्वरेणोदगायन् सर्वान् विश्वस्थान् मनुष्यान् समुद्बोधयति।

य: कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित:।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि स:।।[२०]
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।[२१]
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति:।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।[२२]
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते।
धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुति:।।[२३]
चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमा: पृथक्।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।[२४]

---

२०. मनु०२.७.
२१. मनु०१.२१.
२२. मनु०२.१०.
२३. मनु०२.१३.

महाभारते वेदवाणीं परमात्मनो वाणीमेव मन्यमानो वेदव्यासो वदति यद्-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय:।।[२५]

आदिकविना महर्षिवाल्मीकिना वेदालोके प्राक्तनस्य इक्ष्वाकुवंशप्रसूतस्य रामस्याखिलं जीवनं समीक्ष्य वाल्मीकिरामायणं महाकाव्यं विनिर्मितम्। सम्पूर्णं वाल्मीकिरामायणमधीत्य यो विद्वान् वेदज्ञो भवति स सहजतयैवानुभवति यत् रामसम्बद्धानि सर्वाणि पात्राणि वेदानुसारमाचरन्ति। रामायणे सर्वा व्यवस्था: सर्वा रीतय: सर्वा: प्रवृत्तय: सर्वा वृत्तय: समे संवादा वेदमेवानुवदन्ति। यथा वेदानुगो मनुरादिमो वेदमन्त्राश्रितमानवाचारसंहिताया मनुस्मृतेर्निर्माता तथैव काकुत्स्थो रामो वेदादेशानां वेदसंदेशानां वेदोपदेशानां वैदिकपरम्पराणां चानुपालक:, संवाहक:, उद्देशक:, सम्पोषकश्चास्ति अत एव सर्वजनोत्प्रासक: समभावोद्भावक: सात्त्विकजनचित्ताकर्षक:, सज्जनव्यथाविदारको दुर्जनमदविमर्दकश्चास्तीति रामायणे कृतमतिभिर्विद्वद्भिरनुदिनं परिपठ्यते।

वाल्मीकिरामायणे ब्रह्मबलक्षत्रबलयो: समन्वय:

राष्ट्राभ्युदये वेदानुसारिणी ब्रह्मक्षत्रयो: सम्मतिरादरास्पदा। उभयोरैक्यविषये विद्यते वेदमन्त्र:-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरत: सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना।।[२६]

अमुमेव मन्त्रमनुपालयता वाल्मीकिना बालकाण्डे क्षत्ररूपस्य राज्ञो दशरथस्य ब्रह्मरूपधारिणां मन्त्रिणां गुणसंकीर्तनम्-

तेषामविदितं किञ्चित् स्वेषु नास्ति परेषु च।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम्।।[२७]
ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्।

---

२४. मनु०१२.९७.
२५. महा०शा०२३२.२४.
२६. यजु०२०.२५.

२७. वा०रा०बाल०७.९.

सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम्।।[२८]

यथा प्रातरुत्थाय मनुष्यो वेदमन्त्रैर्देवानां स्तवनं करोति तथैव उद्बोधकाः प्रातःकाले राजानं मन्त्रपाठैरुद्बोधयन्ति। देव इव राजापि स्तवनीयः।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।[२९]

इत्यनुसारमेव सुमन्त्र इव सुमन्त्रः प्राभातिके काले राजानं दशरथं निर्निद्रयितुं स्तुतिक्रमं चक्रे। सुमन्त्रोद्बोधनवचांसि यान्युदीरितानि तानि वेदमहत्त्वोद्गाने न परिमितानि मतमिदं विदुषामपि नास्त्यविदितम्। यथा-

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम्।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्।।[३०]

राजा दशरथः प्रतिबुध्य सुमन्त्रं मन्त्रकोविदमिव विलोक्य यदुवाच तदपि पठनीयं स्मरणीयं मननीयमेव- यथा-

स्तुवन्तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्।
प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्।।[३१]

स्वपूर्वजानां पुण्यात्मनां तपोवह्निविदग्धदुर्विचारमलानां ये वेदानुमता आदेशास्तेपामनुपालनमेव भवति तेषामर्चनम्। राज्ञा दशरथेन अयोध्यापुरी मनोरादेशाननुपालयतैव परिपालिता। यथा-

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता।।[३२]
सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता।
यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता।।[३३]

---

२८. वा०रा०बाल०७.१३.
२९. मनु०७.८.
३०. वा०रा०अयो०१४.४९.
३१. वा०रा०अयो०१५.२४.
३२. वा०रा०बाल०६.४.
३३. वा०रा०बाल०६.२०.

मर्यादासप्तकस्यानुपालनम्

वेदानुगामिनो राज्ञः प्रजा अपि वेदानुपालननिरालसा भवन्ति। वेदे राष्ट्रं निरुपद्रवं कर्तुं सप्तमर्यादा निर्दिष्टाः। सप्तमर्यादानुबद्धे राजनि प्रजाजनाः स्वयमेव मर्यादानुपालनजन्यं सुखं भजन्ते। सप्तमर्यादा प्रबोधको मन्त्रः-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
अयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।[३४]

अमुमेव मन्त्रं पुरस्कृत्य वाल्मीकिना अयोध्यापुर्याः किमपि विलक्षणं चित्रणं कृतम्, यथा-

तस्या पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।।[३५]
इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।[३६]
नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे।
कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधन्यधान्यवान्।।[३७]
कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः।।[३८]
सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः।।[३९]
नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः।।[४०]
नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः।
न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन।।[४१]

---

३४. ऋ०१०.५.६.

३५. वा०रा०बा०६.१.

३६. वा०रा०बा०६.२.

३७. वा०रा०बा०६.७.

३८. वा०रा०बा०६.८.

३९. वा०रा०बा०६.९.

४०. वा०रा०बा०६.१२.

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः।
सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे।।[८२]
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।[८३]
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा।।[८४]

पुत्रेष्टियज्ञपद्धतिः

वेदे पुत्रेष्टियज्ञस्य वर्णनमुपलभ्यते। अथर्ववेदीयपुत्रेष्टियज्ञपरम्परायाः प्रथितं रूपमेव वाल्मीकिरामायणे संप्राप्यते। अपुत्रो दशरथो यदा पुत्रेष्टियज्ञकर्मकरणाय ऋष्यशृङ्गं प्रार्थयते तदा स तपस्वी तत्प्रार्थनां स्वीकृत्य कथयति यदहं पुत्रीयामिष्टिं ते साधयिष्यामि। संष्टि ऋत्विग्धुरीणेन ब्रह्मापदमलङ्कुर्वाणेन तेजस्विना यज्ञात्मना अथर्ववेदानुसारं सम्पाद्यते। अथर्ववेदे पुत्रेष्टियज्ञवाचक एको मन्त्रः प्रस्तूयते-

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि।।[८५]

अमुमेव मन्त्रं हृदि निधाय ऋष्यशृङ्गो दशरथं ब्रूते-

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिदिदमुत्तरम्।
लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत्।।[८६]
इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः।।[८७]
ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्।

---

८१. वा०रा०बा०६.१५.
८२. वा०रा०बा०६.१८.
८३. वा०रा०बा०५.६.
८४. वा०रा०बा०५.७.
८५. अथर्व०६.११.१.
८६. वा०रा०बा०१५.१.
८७. वा०रा०बा०१५.२.

जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा।।[४८]

यज्ञीयदक्षिणा वेदानुगा

यज्ञानुष्ठानान्ते पुरोहितानां दक्षिणया सत्कृतिः क्रियते यज्ञसाफल्याय। वर्मरूपा दक्षिणा याज्ञिकरक्षणाय क्षमा। दक्षिणादातारं नरं सर्वा दिश उपदिशश्च वर्मरूपा भूत्वा रक्षन्ति। यथा-

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः।।[४९]

दक्षिणा श्रद्धया दीयते श्रद्धां विना दक्षिणा तत्फलं च नश्यति। अत एव गुरुर्वसिष्ठो दशरथं दक्षिणाप्रसङ्गे वदति-

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।।[५०]
विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते।।[५१]
अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलया वा।
अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः।।

संस्कारपरम्परा

मानवजीवनं सस्कतुं संस्कारा क्रियन्ते। संस्कारं विना जना असंस्कृताः सन्तः संसारे कष्टं स्वयमनुभवन्ति परांश्चापि व्यथयन्ति। अत एव रामादिकं सुसंस्कृतं कर्तुं संस्कारप्रक्रिया परिपाल्यते रामायणे। रामादीनां चतुर्णां पुत्राणां यथाविधि नामकरणसंस्कारः प्रतिपाद्यते कुलपुरोहितेन महर्षिणा वसिष्ठेन। यथा-

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्।
ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयीसुतम्।।[५२]

---

४८. वा०रा०बा०१५.३.
४९. ऋ०१.३१.१५.
५०. वा०रा०बा०१३.१४.
५१. वा०रा०बा०८.१८.
५२. वा०रा०बा०१८.२१.

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा।
वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा॥[५३]
तेषां जन्म क्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्।
तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः॥[५४]

संस्कारवत्तया ते रामादयश्चत्वारः पुत्राः कियन्तो गुणवन्तो विद्यावन्त मातृपितृरतिकरञ्च जाता इत्यपि द्रष्टुं शक्यते पद्यैरेतैः-

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः।
सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः॥[५५]
ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।
ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः॥[५६]
ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः।
पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः॥[५७]

पञ्चमहायज्ञपरम्परा

वाल्मीकिरामायणे पञ्चमहायज्ञानां वर्णनं सम्यक् समुपलभ्यते। वेदानामादेशो ह्ययं विद्यते यत् प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले च ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञश्च विधेयः। मन्त्रो विद्यते—

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते।
नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः॥[५८]
नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः॥[५९]

एवमेव मनुस्मृतावपि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।

---

५३. वा०रा०बा०१८.२२.
५४. वा०रा०बा०१.२४.
५५. वाल्मीकि रामा० बाल०१८.२५-२६.
५६. वा०रा०बा०१८.३४.
५७. वा०रा०बा०१८.३६.
५८. अथर्व०११.२.१५.
५९. अथर्व०११.२.१६.

स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।४।।[६०]

देवयज्ञविषये त्रैकालिकमग्निहोत्रमुपदिशति वेदः। प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले चाग्नौ श्रद्धया हविर्हूयते। यथा-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।[६१]

रामायणे ब्रह्मयज्ञकर्मरतायाः कौसल्याया अतीव चारु वर्णनं विद्यते। स्वपुत्रस्य रामस्य सर्वतो भद्रं कामयमाना सा विष्णोर्भगवतः स्तवनं करोति-

कौसल्या तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् प्रजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी।।[६२]

सीताया विषये तदन्वेषणं प्रकुर्वाणस्य हनुमतो मनसि भावः समुद्भूतो यत् शिवजलां नदीमुपेत्य द्रष्टव्यं कदाचित् सीता सन्ध्यार्थं तत्तीरमुपविष्टा स्यात् यथा-

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी।।[६३]

राजर्षिणा विश्वामित्रेण निर्दिष्टाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां यज्ञविध्वंसकानां निशाचराणां संहननं कृतम्। शत्रुवधं विलोक्य आनन्दवारिवाहिन्या सुरसा रामलक्ष्मणौ द्रष्ट्वा ताभ्यां सह ब्रह्मस्तुतिं चकार। यथा-

सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीरमहायशाः।
स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां सन्ध्यामुपागमत्।।[६४]

देवयज्ञं तन्महत्त्वं च विज्ञाय यज्ञकर्मणि रामायणस्थपात्राणि स्वकीयां रुचिं वितन्वन्ति। राममाता कौसल्या यज्ञकर्मकालोचितपरिधानं परिधार्य प्रत्यहं यथाविधि यज्ञाग्नौ हव्यं जुहोति स्म। यथा-

---

६०. मनु०२.१०३.

६१. ऋ०१०.१५१.५.

६२. वा०रा०अयो०२०.१४.

६३ वा०रा०सुन्दर १४.४९.

६४. वा०रा०बा०३०.२६.

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।।[६५]

विश्वामित्रो रामलक्ष्मणौ राजकुमारावादाय यदा गच्छति तदोभौ यज्ञप्रधानं दैनिकं हव्यं कर्तुं प्रेरयति। सरयूनदीतटवर्तिनां तेषां वर्णनं श्रोत्रश्रव्यम्। यथा-

गुरुकर्माणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे।
ऊषुस्तां रजनीं तीरे सरय्वां ससुखं त्रयः।।[६६]

रजनीकालमतीत्य विश्वामित्रो मुनीवरस्तौ प्रबोधयन्नाह-

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्।।[६७]
अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम्।
स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम।।[६८]
प्रशुचौ परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमविन्दताम्।।[६९]

मिथिला गमनात्प्राक् गङ्गातटमुपविश्य निर्वाह्य च निशां प्रातरुत्थाय स्नानादिकं कृत्यं सम्पाद्य देवयज्ञं कृतवन्तः। यथा-

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम्।
ततः स्नात्वा यथा न्यायं संतर्प्य पितृदेवताः।।[७०]

अतिथियज्ञः

अतिथिसत्कारं श्रेष्ठं मत्वा अभ्यागतानामर्चनमनालसतया क्रियते। वेदे मानवाः सेदिष्टा यत् अतिथिसत्कारानन्तरमेवाशनीयं भवति ततः प्राग् न। यथा-

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्।।[७१]

---

६५. वा०रा०अयो०२०.१५.
६६. वा०रा०बा०२२.२३-२४.
६७. वा०रा०बा०२३.२.
६८. वा०रा०बा०२३.१७.
६९. वा०रा०बा०२९.३२.
७०. वा०रा०बा०३५.९.

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्।।[७२]
इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति।।[७३]

वाल्मीकिरामायणे राजा दशरथः श्रद्धया गृहागतान् सर्वानतिथिवर्यान् ब्रह्मवर्चसा तेजसा तपसा प्रदीप्तान् ब्राह्मणान् अर्घ्यादिकया सपर्यया समर्चयितुं ते चार्चितास्तुष्टा अतिथयस्तदनामयं धर्म्यं यशस्यं चेच्छन्ति। यथा-

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्।।[७४]
स राज्ञः प्रतिगृह्यार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम्।।[७५]

यदा सीतया सह रामलक्ष्मणौ तापसाश्रममण्डलमभिवशतस्तदा सर्वे तपस्विनो सीतारामयोर्लक्ष्मणस्य च सत्कृतिं प्रकल्प्य परां प्रफुल्लतां प्रापुः। यथा-

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः।
अभिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्।।[७६]
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम्।
मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः।।[७७]
वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव।
आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः।।[७८]
अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः।
अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन्।।[७९]
ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः।

---

७१. अथर्व०९.६(३).८.
७२. अथर्व०९.६(३).७.
७३. अथर्व०९.६(३).१.
७४. वा०रा०बा०१८.४३.
७५. वा०रा०बा०१८.४४.
७६. वा०रा०अर०१.१०.
७७. वा०रा०अर०१.१२.
७८. वा०रा०अर०१.१४.
७९. वा०रा०अर०१.१५.

आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः।।[८०]
मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः।
मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः।।[८१]

बलिवैश्वदेवयज्ञः

बलिवैश्वदेवयज्ञव्यवस्था या प्रदत्ता वेदेषु वर्तते सा सम्यगनुपालिता दृश्यते रामायणे। मुनीनामाश्रमपदे दिने दिने वेदाध्ययनं भूतेभ्यो बलिहोमो प्रतन्यते च। तत्राश्रमपदस्य यद्वर्णनं विद्यते तद्वर्णनमेव सर्वं संवदति। यथा-

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम्।
यथा प्रदीप्तं दुदर्शं गगने सूर्यमण्डलम्।।[८२]
शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा।
मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्।।[८३]
पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः।
विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः।।[८४]
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्।
आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्।।[८५]
बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।
पुण्यैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया।।[८६]
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः।
सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्।।[८७]
पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः।
तद् ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।।[८८]

---

८०. वा०रा०अर०१.१६.
८१. वा०रा०अर०१.१७.
८२. वा०रा०अर०१.२.
८३. वा०रा०अर०१.३.
८४. वा०रा०अर०१.४.
८५. वा०रा०अर०१.५.
८६. वा०रा०अर०
८७. वा०रा०अर०१.७.

मातृपितृयज्ञः

मातृपितृसमाः ये सन्ति तेषां समेषां समभिनन्दनं कदापि न हेयम्। श्रीरामवृत्तं मातृपितृकल्पजगज्जनाभिवादनपरम्परानुपालनेन परमं पवित्रं दृश्यते। रामविषये निगद्यते-

इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः॥
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः॥[८९]

महर्षेर्गौतमस्याश्रमपदमुपेत्य तत्र तपश्चर्यारतां तपस्विनीमहिल्यामालोक्य विश्वामित्रादिष्टो रामः परमया श्रद्धया भक्त्या च तच्चरणयोर्नतिं कृत्वा भृशं तुतोष। यथा-

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः।
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह॥
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव।
मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥[९०]
राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहितौ।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा॥[९१]

---

८८. वा०रा०अर०१.८.
८९. वा०रा०बा०१८.२७-२८.
९०. वा०रा०बा०४९.१२-१५.
९१. वा०रा०बा०४९.१७-१८.

योगविद्याभ्यासः

अद्भुतशक्तिमत्तां विपुलां प्राणवत्तां चाधिगन्तुं क्रियते योगाभ्यासः। योगेनागतानागतकथ्यानि त्रिविधदुःखानि चापाकर्तुं प्रभवति योगस्थः पुरुषः। योगसाधनसम्पन्नः साधकः सर्वबलयुतं देवकोशमवाप्नोति-

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥[१२]
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥[१३]

वाल्मीकिरामायणे योगविद्यापारङ्गतेन विश्वामित्रेण योगविद्याप्रदानेन रामलक्ष्मणयोरुभयोर्जीवनमुन्नीतम्। योगविद्या विलक्षणमात्मतेजः संवर्धयति, तेन तेजसा योगी प्रत्यर्थिनां बलं शमयति। अत एव विश्वामित्रो बलातिबलयोर्विद्ययोर्विषये रामलक्ष्मणौ निर्दिशति-

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥
मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः।
न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन॥
त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव।
बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव॥[१४]
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्ये ते नरोत्तम।
बलामतिबलां चैव पठतः पार्थ राघव॥[१५]

---

१२. अथर्व०१०.२.२६.
१३. अथर्व०१०.२.२७.
१४. वा०रा०बा०२२.१२-१५.
१५. वा०रा०बा०२२.१८.

स्वयंवरप्रथा

गुणकर्मसंस्कारसाम्येन कन्या स्वेच्छया आत्मानुरूपं युवानं सहर्षं स्वीकरोति। यथा-

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥[16]

युवायुवतिविवाहप्रसङ्गे स्पष्टं विद्यते वेदादेशः-

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्वभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु॥[17]

वाल्मीकिरामायणे वैदिकपरम्परया रामादीनां चतुर्णामपि राजपुत्राणां पाणिग्रहणसंस्कारः सम्पन्नः। यथा-

अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम्।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः॥
ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा॥[18]

ब्रह्मविद्यया स्वेच्छया देहत्यागः

ब्रह्मविदस्तपस्विन आत्मसाधनामभिवर्ध्य स्वेच्छया शरीरं परित्यज्य स्वर्गमुपयान्ति। यथा वेदमन्त्रोऽयममुं भावं प्रकटयति-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥[19]

---

१६. अथर्व०११.५.१८.

१७. ऋ०२.३५.४.

१८. वा०रा०बा०७३.२४-२७.

१९. यजु०३.६०.

वाल्मीकिरामायणे शरभङ्गो महाप्राज्ञो रामस्य पश्यत एव शरीरं तत्याज। रामेण सह या वार्ता तेन तपस्विना कृता सा मधुवती वाक् तस्याक्षय्यं तप एव कथयति। यदाग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गं तपस्विनं रामः पश्यति तदा आश्रमपदमुपागतं राममालोक्य स कथयति-

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः।
ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्॥
त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना।
समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम्॥
अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः।
ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान्॥[१००]
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्।
यावज्जुहोमि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः॥
ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्।
शरभङ्गो महातेजा प्रविवेश हुताशनम्॥[१०१]

वेदानुगाः पारिवारिकादर्शाः

वेदेषु परिवारमुद्दिश्य परिवारं निर्व्यवधानं कर्तुं ये संदेशा लभन्ते ते सार्वत्रिकाः सार्वभौमाः नियतसुखकराश्च। सर्वेषां पारिवारिकजनानामन्योऽन्यं सौमनस्यमहर्निशमभिवर्धतां द्वेषभावस्याङ्कुरमपि नोद्भवेत्।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥[१०२]
अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्॥[१०३]
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[१०४]

---

१००. वा०रा०अर०५.२९-३१.
१०१. वा०रा०अर०५.३८-३९.
१०२. अथर्व०३.३०.१.
१०३. अथर्व०३.३०.२.

वाल्मीकिरामायणे पुत्राणां मनसि कदापि नासीद् दुर्गुणोऽयं यत्ते पितुरवज्ञां कुर्युः। भगवता रामेण पितुरादेशः प्राणपणेनापि सदैव पालितः। पितुर्भावं हृदि निधाय कैकयीं वदति रामः।

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रति जाने च रामो द्विर्नाभिभाषते॥[१०५]

यदा वनगमनान्निवारयितुं रामं जना कामयन्ते तदा यदपि प्रार्थनामयं पद्यं तैर्निगदितं तदपि हृदि निहितं गुणमौक्तिमिव भासते। तेषां नगरवासिनां भावनां विज्ञाय पितुरादेशमक्षरशून्यमनुपालयन् तान् सर्वान् ब्रूते सानुनयम्। भरतो रामं ब्रूते—

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः॥[१०६]

रामः भरतं प्रत्युत्तरयन्—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न तु प्रतिज्ञामहं पितुः॥[१०७]

पितुराज्ञा अविचारणीयेति मनसि निधाय राम उवाच—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे॥[१०८]
स रामः पितरं कृत्वा कैकयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम्॥[१०९]

रामस्य स्वमातरि कियानासीत् समभावस्तत्र द्वे पद्ये प्रवाच्ये-

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः॥[११०]

---

१०४. अथर्व०३.३०.३.
१०५. वा०रा०अयो०१८.३०.
१०६. वा०रा०अयो०११२.१२.
१०७. वा०रा०अयो०११२.१८.
१०८. वा०रा०अयो०१८.२८.
१०९. वा०रा०अयो०१९.२९.
११०. वा०रा०अयो०२०.३.

वेदे पारिवारिकादर्शविषये सन्त्यनेके मन्त्राः, ये पारिवारिकजनजीवनलतां कर्त्तव्योपदेशजलसेकेन संवर्धयन्ति। पत्नी पतिं पतिः पत्नीं मधुरया कष्टहारिण्या समुल्लासप्रदया प्रहर्षिण्या सोमकल्पया च वाचा प्रमोदयेत्। पत्नी पतिमनुसरन्ती सुखानुभूतिं प्रकटयेत् सौमनस्यभावं विवर्धयेत्।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्।।[१११]

वनागमनकाले सीतया रामेण सह वनगमने द्रढीयसी निजेच्छा प्रकटिता। रामेण वनवासोद्भूतानि यानि यानि दुःखानि भवन्ति तानि सर्वाणि निगदितानि परं दृढसंकल्पया सीतया यदुक्तं तदद्भुतमेव। यथा-

भर्तुभाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि।।[११२]
ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते।।[११३]
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नाना मृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्।।[११४]
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्।।[११५]
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु।।[११६]
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा।।[११७]

---

१११. अथर्व०१४.१.४२.
११२. वा०रा०अयो०२८.५.
११३. वा०रा०अयो०२८.८.
११४. वा०रा०अयो०२८.११.
११५. वा०रा०अयो०२८.१२.
११६. वा०रा०अयो०२८.१३.
११७. वा०रा०अयो०२८.१६.

वाल्मीकिरामायणे सर्वत्र समेषां जनानां जीवनं वेदालोकेनालोकितं विद्यते। रामराज्ये सर्वे जनाः ससुखा आसन्, परं प्रसन्नाः सन्तो जीवनं धारयन्ति स्म। सर्वे जना नित्यानन्दयुक्ता धर्मपरायणा निर्भया निरन्तराया हिंसाभावैरस्पृष्टहृदयाः पूर्णपुरुषायुषधारिणः पुत्रपौत्रवन्तः, शोकसन्तापवह्निना अदग्धाः, स्वस्वकर्मरतास्तुष्टाः पुष्टा अनामया अनृतविचाररहिता वेदाध्ययनरताश्चासन्। यथा-

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्। रामेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्।।[११८]
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः। निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।।[११९]
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः। काले वर्षति पर्जन्यः सुखस्पर्शाश्च मारुतः।।[१२०]
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा लोभविवर्जिताः।। स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः।।[१२१]
आसन् प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृताः। सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः।।[१२२]
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्। न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।।[१२३]
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्। न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।[१२४]

आर्षविद्याध्ययने ये जना रुचिं तन्वन्ति, तेषामभ्युदयो भवति विष्वक् योगक्षेमावहः। चतुर्दशविद्या आर्षपद्धत्या मानवानुन्नेतुं क्षमन्ते। साहित्य आनन्दमयं प्रकुरुते। वाल्मीकिरामायणं काव्यमार्षं विद्यते, तदध्ययनं तथा अध्यापनं च जीवनोन्नयनाय यद् यदपेक्षितं तत्तत् प्रयच्छति। अत एव फलश्रुतिप्रसङ्गे प्राकृतजनोल्लासाय वैदिकपरम्पराविकासाय च लौकिकच्छन्दसः प्रथमावतारवाचकस्य वाल्मीकिरामायणस्य आर्षस्यादिकाव्यस्य महत्त्वं प्रगीयते भगवता वाल्मीकिना-

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।।[१२५]

---

११८. वा०रा०युद्ध०१२८.१००.
११९. वा०रा०युद्ध०१२८.१०१.
१२०. वा०रा०युद्ध०१२८.१०३.
१२१. वा०रा०युद्ध०१२८.१०४.
१२२. वा०रा०युद्ध०१२८.१०५.
१२३. वा०रा०युद्ध०१२८.९८.
१२४. वा०रा०युद्ध०१२८.९९.

शृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
ते प्रार्थितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात्।।[१२६]
रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वतः पठतः सदा।
प्रीयते सततं रामः स हि विष्णुः सनातनः।।[१२७]
एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णोः प्रवर्धताम्।।[१२८]
कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्।।[१२९]
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः।।[१३०]

वेदविद्यापारङ्गतानां विद्याविशारदानां शारदातनयानां स्वाध्यायतपश्चर्यारतानां वैदिकादर्शैरात्मानं पवित्रयितुमुद्यतानां प्राकृताप्राकृतजनानां मतमिदं विद्यते यद्यदि कस्यचित् मातरि पितरि भ्रातरि सतीर्थे मित्रे भगिन्यां भ्रातृजायां तपस्विनि नेतरि राजनि पार्श्ववर्तिनि, स्वामिनि, सेवके, गुरौ, योद्धरि, प्रवाचके, पुरोहिते, न्यायकर्त्तरि, दण्डप्रदातरि च प्रकाशमानां वैदिकपरम्परां द्रष्टुं बलवतीच्छा वर्तते तर्हि नूनमेव तेन वाल्मीकिरामायणमध्येतव्यं श्रोतव्यं च। वाक्यमिदं सत्यं विद्यते-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले। तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।[१३१]
राम रामो राम इति प्रजानामभवत् कथाः।। रामभूतं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति।।[१३२]

---

१२५. वा०रा०युद्ध०१२८.१०७.
१२६. वा०रा०युद्ध०१२८.११४.
१२७. वा०रा०युद्ध०१२८.११९.
१२८. वा०रा०युद्ध०१२८.१२१.
१२९. वा०रा०युद्ध०१२८.१२४.
१३०. वा०रा०युद्ध०१२८.१२५.
१३१. वा०रा०बा०२.३६.
१३२. वा०रा०युद्ध०१२८.१०२.

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ029-36)

वैदिक साहित्य में न्यायप्रक्रिया के सन्दर्भ

डॉ. अरुणा शर्मा, प्रोफेसर

संस्कृत पालिप्राकृत विभाग

कु0वि0, कुरुक्षेत्र (हरि0)

राज्य की सुव्यवस्था और स्थिरता के लिए न्याय आवश्यक है। न्याय व्यवस्था राज्य की शासन प्रणाली की कुशलता की परिचायक है। साधारण नागरिक का हित और सुरक्षा उचित न्याय में ही निहित होता है। ब्राइस का कथन है कि **'यदि न्याय का दीपक अन्धेरे में बुझ जाए तो वह अन्धेरा कितना गहन होगा इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।**[1]

सम्यक् शासन-सञ्चालन और जन सुरक्षा के लिए अपराधियों को दण्ड देना और निष्पक्ष न्याय करना राजा का प्रमुख कर्त्तव्य सिद्ध होता है। अत: असत्य के नाश और सत्य की स्थापना के लिए न्याय आवश्यक है।[2]

धर्म की स्थापना और अधर्म की निवृत्ति भी न्याय द्वारा ही सम्भव है। न्याय के अभाव में धर्म विनष्ट हो जाता है। धर्म के विनाश से राजा, राज्य एवं प्रजा तीनों नष्ट हो जाते हैं। इसी लिए न्यायशासन को मनु ने धर्म का प्रतीक माना है और कहा है कि जब न्याय होता है तो धर्म के शरीर से उसे बँधने वाला अधर्म नाम का बाण निकल जाता है।[3]

प्रजा में शान्ति तथा व्यवस्था बनाए रखने के लिए भी न्याय आवश्यक है। न्याय के अभाव में बलवान् निर्बल को पीड़ित करने में तत्पर हो जाते हैं और चोर-डाकू आदि राज्य की सुव्यवस्था को भंगकर अशान्ति फैलाने लगते हैं। अत: असत्य के नाश, सत्य की स्थापना, प्रजारक्षा, अधर्मनाश, राज्य की स्थिरता-सुदृढ़ता और प्रजा में शान्ति स्थापना के लिए न्याय आवश्यक है। वस्तुत: सत्य और धर्म की रक्षा ही न्याय का उद्देश्य है।

सामाजिक सभ्यता में अन्य व्यवस्थाओं के साथ ही न्याय-व्यवस्था का भी प्रचलन हुआ होगा। भारतीय न्याय-व्यवस्था का परिचायक प्रथम ग्रन्थ मनुस्मृति को कहा जा सकता है।

---

1. If the lamp of justice goes out in darkness how great is the darkness. Modern Democracies, Vol. II, P.-384.
2. सत्यन्यायेन सत्यासत्ये पृथक्कृत्य न्यायकारी राजा नित्यं वर्द्धते। यजु0 भा0 26.26
3. धर्मो विद्धस्त्वधर्मेण सभां यत्रोपतिष्ठते। शल्यं चास्य न कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासद:।। मनुस्मृति 8.12।

स्मृतिकारों ने न्याय पद्धति को सुव्यवस्थित रूप में उपस्थापित करने के लिए पूर्ववर्ती साहित्य वेद, उपनिषद्, धर्मसूत्र आदि से निश्चित रूप से प्रेरणा ग्रहण की होगी। उनके चिन्तन पर वेदों और उपनिषदों में निहित धार्मिक और न्यायिक व्यवस्था का साक्षात् प्रभाव अवश्य रहा होगा। अतः इनसे बचकर कुछ भी कहना स्मृतिकारों के लिए असम्भव था। इसलिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि स्मृतिकालीन व्यवहार पद्धति के पुनीत भाव नियम-उपनियम के रूप में ऋग्वेदकाल से उद्भूत हुए हैं और अथर्ववेदकाल तक इनका पर्याप्त विकास हो गया था।

भारतीय न्यायव्यवस्था का प्रथम परिचय वैदिक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद में वर्णित वरुण को एक लोकप्रिय और सर्वदर्शी न्यायविद् के रूप में देखा जा सकता है।[4] ऋग्वेद में वरुण को एक ऐसे शासक के रूप में चित्रित किया गया है, जो न्याय का व्यवस्थापक है। वह विश्व का राजा या सम्राट् है जो प्रशासन करता है और नियमों का संचालन करता है। वह प्रजाजनों के पाप-पुण्यों तथा सत्य-असत्य का हिसाब रखता है। उसके गुप्तचर विश्वभर में भ्रमणशील हैं और अखिल विश्व को देखते हैं। वरुण द्वारा स्थापित नियमों का पालन सभी प्रजाजन समान रूप से करते हैं। उनके नियमों का उल्लंघन करने का दुस्साहस कोई नहीं कर सकता, क्योंकि सभी वरुण के भीषण दण्ड से भयभीत रहते हैं। पापियों के प्रति वरुण की क्रोधभावना है। अपराधियों को वरुण अपने पाश से बन्धन में डालते हैं। परन्तु जो पश्चात्ताप कर लेते हैं, उनके प्रति वरुण क्षमादृष्टि रखते हैं। जो भूल से गलती करते हैं या नियम भङ्ग करने के बाद आत्मसमर्पण कर देते हैं, उन्हें वरुण क्षमा कर देता है। वरुण प्रजा से शारीरिक और चारित्रिक नियमों का पालन करवाता है। वायु, चन्द्रमा, नक्षत्र, नदियाँ, समुद्र, मेघ सभी का वह नियमन करता है और सब उसके शासन में रहते हैं। संसार को नियमों में चलाने का व्रत धारण करने के कारण ही वह **'धृतव्रत'** है।[5]

इस सूक्त से यह निर्देश प्राप्त होता है कि राजा ही न्यायसंस्था का प्रभु होता था। वही यह निर्णय करता था कि कौन दण्डनीय है और कौन अदण्डनीय। स्वामी दयानन्द ने राजा को न्याय का प्रकाश और अन्याय की निवृत्ति का हेतु कहते हुए राजा और न्याय में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है।[6] परन्तु अनुचित न्याय करने पर प्रजा भी राजा को दण्ड दे सकती थी।[7] राजा

---

4. यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम्। मिनीमसि द्यविद्यवि।। ऋ0 1-25-1 नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः।। ऋ0 1-25-10 अतो विश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा।। ऋ01-25-11

5. नि षसाद धृतव्रतो वरुणः।। ऋ0 1-25-10

6. राजान्यायप्रकाशस्यान्यायनिवृत्तेश्च हेतुरस्तीति वेद्यम्।-यजुर्वेद 15.37 पर भाष्य

7. द्र0 यजुर्वेद 8.23 पर दयानन्द भाष्य।

की सहायता के लिए वैदिक काल में न्यायिक प्रक्रिया अथवा व्यवहार विधि के सुचारु सञ्चालन के लिए सभा और समितियों का गठन किया जाता था। अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के बारहवें सूक्त में राष्ट्रसभा की स्तुति में ऋषि शौनक ने सभा और समिति दोनों को प्रजापति की पुत्रियाँ कहते हुए यह कामना की है कि ये दोनों व्यवहारकाल में मेरी रक्षा करें।[8] इनमें समिति पूरे राष्ट्र की संस्था थी, जिसमें समस्त प्रजा एकत्र होकर राजा का निर्वाचन करती थी। अथर्ववेद के प्रस्तुत मन्त्र में समिति के द्वारा राजपद के निर्माण की धारणा स्पष्टतः घोषित की गई है -

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् मादयस्व।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह।[9]

समिति में राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। राजा का कर्त्तव्य था कि वह समिति में अवश्य जाए। ऋग्वेद में समिति में जाने वाले सच्चे राजा का निर्देश उपमानरूपेण किया गया है-**राजा न सत्यः समितीरियानः।**[10]

समिति के समकक्ष ही एक अन्य राजनीतिक संगठन था जो सभा के नाम से विख्यात था। अथर्ववेद के एक मन्त्र[11] में सभा **'नरिष्टा'** के नाम से मण्डित है। सायणभाष्य के अनुसार इस शब्द का तात्पर्य यह है कि सभा में अनेक लोग मिलकर जिस निर्णय पर पहुँचते थे, वह सबके लिए अनुल्लंघनीय होता था।[12] सभा में सभासदों के बीच किसी प्रश्न विशेष के ऊपर स्वतन्त्रतापूर्वक विवाद तथा निर्णीत सिद्धान्त सबके लिए मान्य तथा अनिवार्य होता था।[13] इस प्रकार सभा राष्ट्र के वृद्धों की एक विशिष्ट संस्था थी। इसका कार्य दुष्टों और अपराधियों के अपराध का निर्णय करना तथा तदनुसार दण्डविधान होता था। पारस्कर गृह्यसूत्र में सभा के लिए **'नादि'** तथा **'त्विषि'** शब्दों का प्रयोग किया गया है,[14] जिन का तात्पर्य जयराम की व्याख्या के

---

8. सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु।। अथर्ववेद 7.12 ।
9. वही 6.88.3
10. ऋग्वेद 9.92.6
11. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। अथर्व0 7.12.2
12. नरिष्टा अहिंसिता परैरनभिभाव्या। बहवः सम्भूय यद्येकं वाक्यं वदेयुः। तद्धि न परैरतिलङ्घ्यम्। अतोऽनभिलङ्घ्यवाक्यत्वाद् नरिष्टेति नाम। वही, सायणभाष्य।
13. इसीलिए शुक्लयजुर्वेद (22.22) में युवा पुरुषों को सभा में योग्य होने की मनीषा प्रकट की गई है।
14. पारस्कर गृह्यसूत्र (3.13)

अनुसार धर्मनिरूपण करने से **'नदनशील'** तथा **'दीपनशील'**[15] प्रतीत होता है। फलत: सभा उच्च न्यायालय का कार्य सम्पादन करती थी। इन्हीं की सहायता से राजा अपने न्यायकार्य का निर्वाह करता था।

ऋग्वेद में संसद् शब्द का भी प्रयोग मिलता है।[16] भाष्यकारों ने इस शब्द का अर्थ सभा और यज्ञ किया है। अथर्ववेद के सप्तम काण्ड के तृतीय मन्त्र[17] में तो संसद् शब्द सभा का ही वाचक है। ऋग्वेद में विरल रूप में प्रयुक्त संसद् शब्द महाभारत में न्यायसभा के लिए प्रयुक्त मिलता है। आदिपर्व के शाकुन्तलोपाख्यान में शकुन्तला दुष्यन्त की न्यायसभा में न्याय की गुहार करती है।[18] उद्योगपर्व में इस प्रकार की धर्मसंसद् के लिए सभा शब्द का प्रयोग किया गया है।[19] इस प्रकार स्पष्ट है कि समिति, सभा और संसद् राजा के न्यायकार्य में सहयोग करने वाली संस्थाएं थी। अथर्ववेद[20] के एक मन्त्र में विधिदर्शी सभासदों के लिए यह कामना की गई है कि वे सदा एक जैसे निर्णय करने वाली वाणी बोलें, जिससे प्रजापति नरेश का ऐश्वर्य और ख्याति बढ़े। इससे प्रतीत होता है कि वे विधिदर्शी सभासद् आधुनिक काल की जूरी (Jurie) के समकक्ष थे और उनके एकमत कथन के आधार पर अपना निर्णय देने वाला न्यायाधीश अर्थात् राजा समुचित न्याय करके यश और ऐश्वर्य का भागी बनता था।

गाँवों में ग्राम्यवादी न्याय करते थे।[21] किन्तु मुख्य रूप से न्याय का कार्य राजा के ही अधीन था। दुष्टों को दण्ड देने का अधिकार उसे था। राजा दुष्टों को दण्डित करके उनसे प्रजा की रक्षा करता था। ऋग्वेद में प्रजापीडक असुरों को मृत्युदण्ड दिए जाने का उल्लेख है। इन मन्त्रों[22] में निर्देश है कि वर्ची के 1500 अनुचर इन्द्र द्वारा मारे गए। सायण ने शम्बर, शुष्ण और वर्ची को असुर माना है। इन्द्र देवताओं का राजा है और वह देवों के शत्रु असुरों को दण्डित

---

15. नदनशीला दीप्ता धर्मनिरूपणात्। पा0गृ0 3.13 पर जयराम
16 ऋग्वेद 8.45.25
17. अम्या: सर्वस्या: संसदो मामिन्द्रभगिनं कृणु। अथर्ववेद 7.12.3
18. किमर्थं मां प्राकृतवदुत्प्रेक्षसि संसदि। न खल्वहमिदं शून्ये रौमि किं न शृणोषि मे।। महा0 आदिपर्व, 68.34
19. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत्सत्यं यच्छलेनानुविद्धम्।। महाभारत, उद्योगपर्व 35.49
20. ये ते के च सभासदस्ते सन्तु सवाचस:। अथर्ववेद 7.12.2
21. इति निरुद्धस्य राज्ञ: पदमाददीत, तद्य: पुरस्ताद् ग्राम्यवादीव स्यात् तस्य सभाया अभिवातं परीत्य विध्वंसयेयु:।। मैत्रायणी संहिता, 2.2.1
22. उत दासस्य वर्चिन: सहस्राणि शतावधि:। अधि पञ्च प्रधींरिव। ऋग्वेद 4.30.15 यो वर्चिन: शतमिन्द्र: सहस्रमपावपत्। वही 271576 तथा अहन्दासा उदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च। वही 6.47.2।

करके (मृत्युदण्ड देकर) अपने प्रजाजनों (देवताओं) के प्रति न्याय करता है।

ऋग्वेद[२३] में राजा विष्णु के द्वारा भी मायावी दास वृषशिप्र को मारे जाने का उल्लेख है। अन्यत्र भी इन्द्र के द्वारा शम्बर[२४] और शुष्ण[२५] को माया द्वारा मारे जाने का वर्णन है। पुनः ऋग्वेद में निर्दिष्ट है कि इन्द्र वैकुण्ठ ने कुत्स के लिए स्मदिभ, तुग्र और वेतसुओं को मारा।[२६] इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि राजा अपनी प्रजा को सताने वाले अपराधियों को मृत्युदण्ड देकर उनकी रक्षा किया करता था।

न्यायकर्त्ता अर्थात् राजा सत्यरक्षण के लिए तत्पर रहता था। सत्य की रक्षा के द्वारा वह द्युलोक और पृथिवीलोक को पवित्र करता था।

उभे पुनामि रोदसी ऋतेन द्रुहो दहामि सं महीरनिन्द्राः।

अभिव्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परि तृळहा अशेरन्॥[२७]

इस प्रसङ्ग में ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र विचारणीय है अर्थात् ऋत के द्वारा मैं द्युलोक और पृथिवी को पवित्र करता हूँ। जो इन्द्र का विरोध करने वाली दानवियाँ हैं, मैं उन्हें जलाता हूँ, जहाँ शत्रुगण तुम्हारे हाथों से दबाए जाकर मारे गए और मारे जाकर मृत्युकूप में छिन्न-भिन्न होकर सो रहे थे।

सम्भवतः दुष्टों को देश से निष्कासित करने के दण्ड का भी विधान था। ऋग्वेद में दानवों का उल्लेख है, जहाँ शिरिम्बिष्ठ भारद्वाज कवि प्रार्थना करता है कि काणी विकटा अरायी दानवों के साथ (सदान्वे) पहाड़ में चली जाए।[२८]

दूसरे की सम्पत्ति को न ग्रहण करने का कानून (नियम) था। ऋग्वेद का ऋषि कामना करता है कि शत्रु की सम्पत्ति परिश्रम से (कठिनता से) प्राप्य है, हम अपनी सम्पत्ति के स्वामी बनें।[२९]

---

23. दासस्य चिद्वृषशिप्रस्य माया जघ्नथुः। वही 7.99.4
24. अहं पुरो पन्दसानो व्यैरं नव साकं नवती शम्बरस्य। ऋग्वेद 4.26.3 उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। अवाहन्निन्द्र शम्बरम्। वही 4.30.14
25. उत शुष्णस्य धृष्णुया प्रमृक्षो अधि वेदनम्। पुरो यदस्य संपिणक्। ऋग्वेद 4.30.13 तथा- मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः। वही 1.11.7
26 ऋग्वेद 10.49.4
27. ऋ01.133.1.
28 ऋग्वेद 10.15.5
29. परिषदयं ह्यरणस्य रेक्णः नित्यस्य राज्ञः पतयः स्याम।-ऋग्वेद 7.4.7

प्रजा के हित के विरुद्ध कार्य करना अपराध था और ऐसे अपराधी के लिए दण्ड का विधान था। सृष्टि के प्रारम्भ से ही मानव के लिए जल का नितान्त महत्त्व रहा है। प्रजाजनों को इस जल की आपूर्ति में बाधा पहुँचाने वाले लोग दण्ड के भागी होते थे। जलापूर्ति के लिए वर्षा का महत्त्व आदिकाल से ही रहा है। कृषि के लिए भी प्राकृतिक वर्षा अभीष्ट थी। अत: जल को रोकना वृत्र का घोर दुष्कर्म माना गया है और वृत्रहत्या के बाद जल का अजस्र प्रवाह सुष्टुत, परम प्रशंसनीय काम माना गया है। वृत्र के इस घोर अपराध का दण्ड देने के लिए ही न्यायाधिकारी नृप इन्द्र वृत्र का वध करता है।[30]

वैदिक संहिताओं में वैयक्तिक सम्पत्ति का ही संकेत प्राप्त होता है। वहाँ सामूहिक सम्पत्ति का उल्लेख नहीं मिलता। ऋग्वेद में इन्द्र कहता है कि आर्यों के लिए मैंने भूमि दी है। इससे वैयक्तिक सम्पत्ति का ही तत्त्व समर्थित होता है।[31] इस सम्पत्ति को छीनने वालों के लिए विनाश की कामना की गई है। वाजसनेयि संहिता में -

ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।

ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयो:।।[32]

इस मन्त्र में अग्नि से पुरोहित कहता है कि जो मलिम्लुच (लुटेरा), स्तेन (चोर), तस्कर (डाकू) और अघायु (पापी/अपराधी) हैं, उनका नाश हो। इस मन्त्र से प्रतीत होता है कि दूसरों का धन छीनने वाले लुटेरे अथवा धन चुराने वाले चोर-डाकुओं का विनाश करने के लिए प्रजाजन राजा के पास जाकर न्याय की गुहार और उनके विनाश की याचना करते हुए उन्हें दण्ड देने की अपील (कामना) करते थे।

वैदिक काल में द्यूतक्रीड़ा अपराध की श्रेणी में आती थी। ऋग्वेद में यह उल्लेख प्राप्त होता है कि व्यसनी अक्षकितव अत्यन्त घोर कष्ट वहन करता था। कवष ऐलूष ऋषि का कथन है कि वह अक्षकितव बद्ध हो जाता था अर्थात् यदि वह जुए में हारी हुई धनराशि नहीं चुकाता था तो उसे बन्धनागार में डाल दिया जाता था। ऐसे दण्ड के भागी उस व्यसनी पुरुष को उसके माता-पिता भ्राता आदि पहचानते भी नहीं थे।[33] इससे स्पष्ट है कि जुआरी को कारावास के

---

30. दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठन् निरुद्धा आप: पणिनेव गाव:। अपां बिलमपिहितं यदासीद् वृत्रं जघन्वाँ अप तद्ववार।। ऋग्वेद 1.32.11
31. ऋग्वेद 4.26.2
32. वाजसनेयि संहिता 11.79
33. अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद् वेदने वाज्यक्ष:। पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्।। ऋग्वेद 10.34.4

अतिरिक्त सामाजिक बहिष्कार का भी दण्ड भोगना पड़ता था। ऐसा ऋणि व्यक्ति इस प्रकार की दण्ड व्यवस्था से भयभीत होकर ऋण चुकाने के लिए रात्रि में चोरी भी करता था।[33]

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि न्याय की परिधि में प्रजापीड़न, धोखाधड़ी, ऋण की वापसी, उत्तराधिकार का विवाद, चोरी और हत्या आदि से सम्बद्ध विषय समाहित थे।

वैदिक युग में न्याय प्रक्रिया सरल थी। न्याय सभा में साक्षियों का महत्त्वपूर्ण स्थान होता था। साक्षी के लोभरहित, धार्मिक और सत्यवादी होने पर ही न्याय व्यवस्था सुदृढ़ हो सकती है। ऋषि दयानन्द के कथनानुसार स्त्रियों की साक्षी स्त्री, द्विजो के द्विज, शूद्रों के शूद्र और अन्त्यजों के अन्त्यज साक्षी हों। उन्होंने इस प्रसङ्ग में मनु को प्रमाण माना है। उन्होंने स्त्रियों का न्याय स्त्रियों द्वारा किए जाने का विधान किया है। उनका मत है कि पुरुषों के सामने स्त्री लज्जित और भययुक्त होकर यथावत् बोल नहीं पाती।[35] साक्षी का अभाव होने पर कभी-कभी आरोपी शपथ लेकर अपने को निर्दोष सिद्ध करता था। ऋग्वेद में वसिष्ठ ने आरोप लगने पर अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए कहा था कि यदि मैं यातुधान हूँ तो आज ही मर जाऊँ या जो मुझ पर दोष लगाता है, वही व्यर्थ दोष लगाने पर मर जाए।[36] साक्षी के अभाव में दिव्य साक्षी पर न्याय अवलम्बित होता था। इन दिव्य साक्षियों में अग्नि, जल आदि निहित हैं। ऋग्वेद में उचथ के पुत्र दीर्घतमा ने प्रार्थना की है कि दशगुणी लकड़ियों अथवा इन्धनों की अग्नि उसे जला न सके, वे नदियाँ, जिनमें उसे हाथ-पांव बांधकर फेंक दिया गया है, उसे डुबो न सकें।[37] इस कथन में समीक्षकों ने अग्नि एवं जल के दिव्य साक्षियों का संकेत स्वीकार किया है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार लोग हाथ पकड़कर चोर को न्यायाधीश के समीप लाते थे। तत्क्षण अग्नि को दहकाकर परशु को तपाया जाता था और अभियोगी को उसे हाथ में लेना पड़ता था। यदि वह जल जाता था तो उसे मार डाला जाता था और यदि नहीं जलता था तो उसे छोड़ दिया जाता था।[38] यहाँ पर गर्म कुल्हाडी पकड़े जाने की जो चर्चा है, वह दिव्य अग्नि का ही उदाहरण है। ऋग्वेद में भी ऐसी दिव्य साक्षी का संकेत प्राप्त होता है।[39] पञ्चविंश

---

34. स्त्रीणां साक्ष्यं स्त्रियः कुर्युर्द्विजानां सदृशा द्विजाः। शूद्राश्च सन्तः शूद्राणामन्त्यानामन्त्ययोनयः।। मनुस्मृति 8.68
35. राजपत्नी सर्वासां स्त्रीणां न्यायसुशिक्षे न सदैव कुर्यात्। नैतासामेते पुरुषे कारयितव्ये। कुतः पुरुषाणां समीपे स्त्रियो लज्जिता भीताश्च भूत्वा यथावद् वक्तुं न शक्नुवन्त्यतः। यजुर्वेद 10.26 पर भाष्य।
36. अद्या मुरीय यदि यातुधानो अस्मि।। ऋग्वेद 7.104.15
37. मा मामेधो दशतयश्चितो धाक् प्र यद्वां बद्धस्त्मनि खादति क्षाम्। न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमुब्धमवाधुः। वही 1.158.4-5
38. छान्दोग्योपनिषद् 6.16
39 ऋग्वेद 3.53.22

ब्राह्मण में भी अग्निपरीक्षा (साक्षी) का उल्लेख प्राप्त होता है।[40] वहाँ वत्स की कथा वर्णित है। वत्स की विमाता ने उसे शूद्रा से उत्पन्न कहा और वत्स ने इसका विरोध करते हुए कहा कि वह ब्राह्मण है। अपने कथन की पुष्टि के लिए वह अग्नि में कूद गया और विना जले निकल आया। उक्त सन्दर्भों से स्पष्ट है कि न्यायप्रक्रिया में साक्षी का महत्त्व वैदिक काल से ही चला आ रहा है। आधुनिक युग में भी गीता पर हाथ रख कर शपथ लेने का चलन दिव्य साक्ष्यों की परम्परा को घोषित करता है।

वैदिक काल में कभी-कभी नागरिक स्वयं भी अपराधी को दण्ड दे देते थे। कौटुम्बिक परिधि से लेकर राजकीय परिधि तक सर्वत्र कठोर दण्ड का विधान था। ऋज्राश्व की आँखे उसके पिता ने केवल इसलिए फोड़ दी थीं कि वह प्रजा की भेड़ों को मार डालता था। इससे स्पष्ट है कि न्याय के आगे व्यक्तिगत सम्बन्धों का कोई महत्त्व नहीं था। दण्ड-विधान इतना कठोर था कि कर्त्तव्य से च्युत होने पर राजा भी दण्ड का भागी होता था। वह अपने पद और देश से च्युत कर दिया जाता था और अपने दोषों को स्वीकार करने पर फिर से चुना जाता था।[41] शतपथ के अनुसार कोई पाप स्वीकार किए जाने पर छोटा हो जाता है।[42] आधुनिक युग में भी अपराधी न्यायालय में अपना अपराध स्वीकार करते हुए दिखाई देता है और न्यायाधीश के समक्ष जाकर आत्मसमर्पण कर देता है। वह न्यायाधीश से दण्ड की याचना करता है या धर्मशास्त्रोक्त विधान के अनुसार अपराध का प्रायश्चित्त कर लेता है। इन सब प्रवृत्तियों का मूल वेदों में वर्णित यही विचारधारा रही है जिसके अनुसार सोते या जागते हुए कोई दुष्कृत होने पर अग्नि आदि देवों से पापमय संस्कारों से मुक्त कराने की प्रार्थना की जाती है। उक्त कठोर दण्डविधान से भयभीत होकर ही लोग मृषा आचरण से बचने की इच्छा करते थे। वैदिक काल में सभ्य लोग किसी भी पल अपने हृदय में कालुष्य नहीं आने देना चाहते थे। लोग कामना करते थे कि देवगण हमें पवित्र बनाएं और पापी न रहने दें।[43]

इस प्रकार वैदिक मन्त्रों में उल्लिखित सभा, समिति आदि संस्थाओं, भूमिहरण, प्रजापीडन, द्यूतक्रीड़ा और ऋणदान आदि के प्रसङ्गों में दण्डविधान और घोर अपराधियों के लिए मृत्युदण्ड का निर्धारण आदि के वर्णन से वैदिक युग में विद्यमान न्यायव्यवस्था के महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ प्राप्त होते हैं, जिनसे एक सुव्यवस्थित न्यायप्रणाली का संकेत मिलता है।

---

40. पञ्चविंश ब्राह्मण 14.6.6
41. द्र० अथर्ववेद 3.3 तथा 3.4
42. शतपथ (2.5.2.20)
43. द्र० अथर्ववेद 6.115।

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ037-45)

वेद और अग्नि

मनोहर विद्यालंकर

वेदों में कुल देवता 478 हैं। जिन में कुछ देवताओं के केवल एक-एक सूक्त हैं। सब से अधिक मन्त्र इन्द्र देवता के हैं (3836)। दूसरे पर अग्नि देवता के मन्त्र हैं। (2483) कुछ मन्त्रों के देवता, वेदों के ऋषि और वेद में आए राजाओं के नाम अथवा उनके दानों की स्तुतियाँ हैं। वेदों के बीस हजार मन्त्रों में लगभग पाँच हजार मन्त्र पुनरुक्त हैं। इस बात की पुष्टि ऋग्वेद के ही एक मन्त्र से होती है।(क)

महाभारत के एक श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि वेद के नाम से मन्त्रों का निर्माण पृथक्-पृथक् गुरुकुलों में होता रहा है और वे सब ही वेद के नाम से जाने जाते थे। वेद का चार भागों में विभागीकरण कृष्ण द्वैपायन ने किया था, और इसी कारण उन का नाम वेदव्यास पड़ गया था।(ख)

वेद का सर्वप्रमुख देवता

यद्यपि सब से अधिक मन्त्र इन्द्र देवता के हैं, किन्तु मेरी समझ के अनुसार वेद की दृष्टि में अग्नि देवता सब से महत्त्वपूर्ण है। वेद के व्याख्याकारों ने वेद मे आए सभी (प्राय:) देवताओं का अन्तिम वाच्य परमात्मा को माना है। और ये देवता नाम परमात्मा के किसी गुण-कर्म या स्वभाव का वर्णन करते हैं, इसलिए इन्हें गुण सम्बन्धी (गौण) माना गया है।

कुछ विद्वान् परमेश्वर का मुख्य नाम ब्रह्म मानते हैं। उपनिषत्कारों और स्वामी दयानन्द की दृष्टि में परमेश्वर का प्रमुख व निज नाम 'ओम्' है। (ग) मुझे वेदों का बार बार पारायण करने के बाद प्रतीत होता है कि वेद की दृष्टि में परम सत्ता (एकं सत्) का प्रमुख नाम अग्नि है। अपनी मन्द मन्द चलने वाली अल्पमति के अनुसार मैं युक्तियों और प्रमाण नीचे उपस्थित कर रहा हूँ।

(1) वेदों में सब से प्रमुख, तथा विश्व के विद्वानों द्वारा विश्व की सब से पुरातन पुस्तक के रूप में सर्वमान्य ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र का प्रारम्भ अग्नि शब्द से हुआ है। इसी प्रथम सूक्त में परमेश्वर की पिता से उपमा देकर उसे इस ब्रह्माण्ड का उत्पादक और रक्षक कहा गया है।

(2) ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के प्रथम सूक्त में अग्नि को 24 देवताओं का स्वरूप कहा गया है। इनमें उभय लिङ्गी देवता सम्मिलित हैं।

(3) जहाँ भी वेद में अनेक नाम आए है, वहाँ अग्नि को सर्वप्रथम रखा गया है, अथवा उसे प्रमुखता प्रदान की गई है।

(4) अब अग्नि देवता के महत्त्व को बताने वाले **'अग्निदेवता सप्तकम्'** नाम से सात मन्त्र दिये जा रहे हैं-

अग्नि देवों का सखा

(१) त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिर्देवो देवानामभवः शिवः सखा।

तव व्रते कवयो विद्मनापसोऽजायन्त मरुतो भ्राजदृष्टयः।।[1]

ऋषि: हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। देवता अग्निः। छन्दः जगती।

हे (अग्नि) प्राणि मात्र को आगे बढ़ाने वाले प्रभो! (त्वम्) आप (प्रथमः) अत्यन्त विस्तृत अर्थात् सर्व व्यापक होने से, सब के (अङ्गिराः) अङ्ग-अङ्ग में रस का संचार करने वाले (ऋषिः) स्वयं तत्त्व द्रष्टा और सब के ज्ञान प्रदाता हो, और (देवः) सब दिव्य गुणों से सम्पन्न तथा सबमें दिव्यताओं को आधान करने वाले और (देवानाम्) दिव्यताओं को धारण करने वाले मनुष्यों के (शिवः सखा) कल्याण करने वाले तथा उन्हें अपने जैसा सखा बनाना चाहते हो।

(तव व्रते) आपके व्रतों में रहने वाले (विद्मना अपसा) ज्ञानपूर्वक कर्म, करते हुए (मरुतः) मनुष्य (भ्राजत् ऋष्टयः) देदीप्यमान शस्त्रों अङ्गो वाले और (कवयः) क्रान्ता दृष्टिवाले हो जाते हैं (अजायन्त)।

प्रथमः-प्रथ विस्तारे, सर्वव्यापक। सखा-समान ख्यानः-अपने जैसा।

अपसः-अपः कर्मनाम। निघ0 1-12, देवः-दानात्, दीपनात् द्योतनात् वा निरु.।

निष्कर्ष-अग्नि नाम वाला परमात्मा, सर्वव्यापक तथा सब ऋषियों तथा देवों का मुखिया है। वह सबमें जीवन का संचार करके सब को अपने गुणों से संयुक्त करके अपना सखा बनाना चाहता है। उस के द्वारा वेद में निर्दिष्ट उसके गुणों का पालन करने वाले शरीर से स्वस्थ मन से सरल और बुद्धि से दीप्त दृष्टिकोण वाले बने रहते हैं।

अग्नि मनुष्यों को ऋषि बनाने वाला

(२) इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।

आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्।।[2]

---

1 ऋक् 1-31-1

हिरण्यस्तूप आङ्गिरसः। अग्निः। त्रिष्टुप्।

हे (अग्ने) प्रभो! (नः इमां शरणिं मीमृषः) हमारी व्रतलोपरूपी हिंसा त्रुटि को क्षमा कर दें, अथवा मसल दें (यं इमं अध्वानं दूरात् अगाम) हम व्रतभङ्ग के जिस मार्ग पर बहुत दूर चले गए हैं। क्योंकि आप ही (नः आपिः पिता) हमारे बन्धु तथा पिता के समान कुमार्ग से रक्षा करने वाले हो। इतना ही नहीं, आप तो (सोम्यानां मर्त्यानाम्) शान्तभाव से पश्चात्ताप करने वाले मनुष्यों के (भृमिः) कुमार्ग से मुख मोड़कर, उन्हें (ऋषिकृत् असि) ऋषि बना देते हैं।

निष्कर्ष-परमात्मा सब का बन्धु और प्रकृष्टमति प्रदाता है। अत एव सौम्य साधकों को ऋषि बनाने वाला है।

सज्जनों को सुमति देकर अग्नि उनका कल्याण करने वाला

३. (क) यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम्।

अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वस्ति॥[3]

ऋषिः-वसुश्रुत आत्रेयः। देवता-अग्निः। छन्दः-त्रिष्टुप्।

हे (जातवेदः अग्ने) सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ प्रभो! (यस्मै सुकृते) सत्कर्म करने वाले जिस मनुष्य के लिए (त्वं लोकं स्योनं कृणवः) जिसके दृष्टिकोण को सुखमय बना देते हो। (सः) वह मनुष्य (अश्विनं गोमन्तं रयिम्) अश्वों और गायों से युक्त धन को अथवा उत्तम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों युक्त (वीरवान्तं पुत्रिणं रयिं नशते) वीरता के भाव वाले पुत्रों को उत्पन्न करने वाले पुत्ररूपी धन को प्राप्त करता है। इस प्रकार (स्वस्ति) उसका सर्वविध कल्याण होता है।

अग्नि के सखा पाप नहीं करते और कभी पछताते भी नहीं

३. (ख) यस्मै त्वमायजसे स साधति, अनर्वा क्षेति दधते सुवीर्यम्।

स तूताव नैनमश्नोत्यंहतिरग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥[4]

ऋषिः-कुत्स आङ्गिरसः। देवता-अग्निः। छन्दः-जगती।

हे (अग्ने) अग्रणी प्रभो! (त्वं यं आयजसे) जिसे आप सब उत्तम पदार्थ व (यश भावना) प्रदान करते हो, (स साधति) वह अपने प्रत्येक पुरुषार्थ को सिद्ध कर लेता है और (अनर्वा) क्राम-क्रोधादि से हिंसित हुए विना इन्द्रियजयी बनकर (सुवीर्यं दधते) उत्तम सामर्थ्य

2 ऋक् 1-31-16।

3 ऋक् 5-4-11

4 ऋक् 1-94-2

को धारण करता है तथा (क्षेति) उत्तम गतिविधि करता हुआ जीवन व्यतीत करता है। परिणामत: (स तूताव) सदा आगे आगे बढ़ता जाता है (एनं अंहति: न अश्नोति) इस व्यक्ति को किसी प्रकार की पाप की प्रवृत्ति या अभाव की पीड़ा प्राप्त नहीं होती। हे अग्ने! आप ऐसी कृपा करो कि (तव सख्ये मा रिषाम) आपके सखा (समान ख्यान) बनने का प्रयत्न करने वाले हम साधक कभी भी हिंसित-पीडित-दु:खी न हों। सदा हर हाल में सन्तुष्ट रहें।

अर्थ-पोषण-आयजसे-यज-देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु। अनर्वा-अर्व हिंसायाम्। क्षेति-क्षि निवासगत्यो:। तूताव-गतिवृद्धिहिंसाषु। रिषाम-रिषहिंसार्थ:। स्योनम्-सुखनाम निघ0 3-6, लोकम्-लोकृ दर्शने-दृष्टिकोण। नशते-णश् प्रापणलाभे, आख्यातानुक्रमणी। गौ:-गाय, ज्ञानेन्द्रिय। अश्व-घोड़ा, कर्मेन्द्रिय।

निष्कर्ष-अग्नि रूप परमात्मा जिस पर कृपा कर यज्ञभावना के साथ सब उत्तम पदार्थ देता है। वह सब समृद्धियाँ प्राप्त करता है, उसके सब काम सिद्ध होते हैं। वह पापकर्म में कभी प्रवृत्त नहीं होता तथा सदा बढ़ता जाता है। हे अग्ने! हम पर भी ऐसी ही कृपा करो, क्योंकि हम सदा आपके सखा बनने का प्रयत्न करते रहते हैं।

अग्नि सबको सौभाग्य प्रदान करने वाला

४. (क) अग्निरीशे वसव्यस्याग्निर्महः सौभगस्य।

तान्यस्मभ्यं रासते।।[5]

ऋषि:-वामदेवो गौतम:। देवता-अग्नि:। छन्द:-गायत्री।

(अग्नि:) सबको आगे बढ़ाने वाला परमात्मा (वसव्यस्य) निवास के लिए जरूरी सब पदार्थों तथा (मह: सौभगस्य) महत् सौभाग्य प्रदान करने वाली सब भावनाओं का स्वामी है; वह (अस्मभ्यं तानि रासते) वह उन सब पदार्थों और भावनाओं को कर्मानुसार हमें देता रहता है। रासते दानकर्मा। निघ0-3-20

निष्कर्ष-जो साधाक बनकर दिव्य गुणों को धारण करने का प्रयत्न करते हैं, उन्हें वह सदा सौभाग्य प्राप्ति के अवसर प्रदान करता है।

अग्नि कर्मठ मनुष्य को सफलता के मार्ग पर ले जाने वाला

४. त्वद्विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वया:।

श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्।।[6]

---

5 ऋक् 4-55-8

6 ऋक् 6-13-1

ऋषि:-बार्हस्पत्यो भरद्वाज:। देवता अग्नि:। छन्द:-त्रिष्टुप्।

हे (सुभग अग्ने) सब को कर्मानुसार सौभाग्य प्रदान करके आगे बढ़ाने वाले परमात्मन्! (वनिन: न वया:) जैसे वृक्ष से शाखाएं चारों ओर निकलती हैं, वैसे ही (त्वत् विश्वा सौभगानि वियन्ति) आपसे सब तरह से सौभाग्य चारों ओर बिखरते रहते हैं। उदाहरणार्थ-(श्रुष्टी रयि:) जीवन में सुख देने वाले धन (वृत्रतूर्ये वाज:) बाह्य तथा अन्तर संग्राम में विजय दिलाने वाले धन (वृत्रतूर्ये वाज:) बाह्य तथा आन्तर संग्राम में विजय दिलाने वाला सामर्थ्य (अपां रीति:) बड़े आयोजनों को सफल करने वाले प्रकार (तरीके) और समयानुरूप (दिव: वृष्टि:) दिव्यता की वृष्टि होती रहती है। अत एव आप सबके (ईड्य:) पूजनीय हैं।

निष्कर्ष-परमेश्वर प्रत्येक क्षेत्र में सौभाग्य प्राप्ति के अवसर प्रदान करता है। कर्म से विरत न होने वाले उनसे लाभ प्राप्त करते हैं।

हमारी वरणीय सब इच्छाओं को पूर्ण करो

५. वंस्व विश्वा वार्याणि प्रचेत: सत्या भवन्त्वाशिषो नो अद्य॥[7]

ऋषि: मैत्रावरुणिर्वसिष्ठ:। देवता अग्नि:। छन्द:-द्विपदा त्रिष्टुप्।

हे (प्रचेत:) प्रकृष्ट चेतना सम्पन्न परमात्मन्! (विश्वा वार्यणि वंस्व) आप स्वयं ही हमारे लिए वरणीय पदार्थ हमें प्रदान करो, क्योंकि हम तो यह भी नहीं जानते कि हमारा भला किस में है। बस (अद्य) अब हम यह चाहते हैं कि (न: आशिष: सत्या भवन्तु) हमारी जो इच्छाएं सत्य के अनुकूल हैं, वे सब पूरी हो जाएं।

निष्कर्ष परमेश्वर की स्तुति और प्रार्थना इसलिए आवश्यक है कि हमें सफल होने पर अपने कर्त्तव्य का अभिमान न हो जाए।

अग्नि को पिता, भाई और सखा मान कर उसकी परिचर्या करो

६. अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिमग्निं भ्रातरं सदमित्सखायम्।
अग्नेरनीकं बृहत: सपर्य दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्य॥[8]

ऋषि: त्रित आप्त्य:। देवता अग्नि:। छन्द: त्रिष्टुप्।

काम क्रोध लोभविजयी, आप्त गुरु का शिष्य मैं त्रित आप्त्य ऋषि (अग्निम्) सब के नेता और सब को आगे बढ़ाने वाले परमात्मा को ही अपना (पितरम्) पिता की तरह रक्षक (आपिम्) निकटस्थ सम्बन्धी (भ्रातरम्) भाई की तरह प्रिय और (सखायम्) मित्र के समान

---

7 ऋक् 7.17.5

8 ऋक् 10.7.3

हितकर (सदं इत् मन्ये) सदा ही समझता हूँ।

तदनन्तर (बृहत: अग्ने: अनीकम्) महान् किन्तु अव्यक्त अग्नि (परमात्मा) के प्रतिनिधि सेनानी रूप में (सूर्यस्य) सूर्य के (दिवि शुक्रं यजतं अनीकम्) द्युलोक में प्रदीप्त तथा सङ्गमनीय अर्थात् व्यक्त और ग्राह्य रूप की (सपर्यम्) अर्चना व स्तुति करता हूँ।

प्रमाण-अग्नि:-अग्निर्ब्रह्म। काठ0 8-4 अग्नि अव्यक्त ब्रह्म है। अनीकम्-सेनाया वै सेनानीरनीकम्। माश 5-3-1-1 मुख-स्वरुप-वैदिक कोष (चन्द्र शेखर)

निष्कर्ष ब्रह्म रूप में अग्नि अचिन्त्य तथा अव्यक्त है। उसकी झलक लेनी है तो यजुर्वेद में कहा है 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योति:।'[9] और गीता में कहा है 'दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगवदुत्थिता। यदि भा: सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मन:।।'[10]

इसी तरह इस मन्त्र में ब्रह्म के प्रतिनिधि के रूप में सूर्य की अर्चना व स्तुति करने का निर्देश दिया गया है।

यजुर्वेद के अन्तिम मन्त्र में भी कहा है कि हिरण्मय पात्र (सूर्य) ने सत्य स्वरूप परमात्मा के मुख (रूप) को ढक दिया है, छिपा लिया है।

जो पुरुष सूर्य में प्रकट हो रहा है, वही प्रत्येक प्राणी के प्राण में प्रकट हो रहा है, क्योंकि वह (अहम्) सर्वव्यापक है। (अह व्याप्तौ।)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुष: सोऽसावहम्।।[11]

ओं खं ब्रह्म।। ऋषि: दीर्घतमा:। देवता-आत्मा। छन्दा:-अनुष्टुप्।

सब यजुर्वेदों में इस मन्त्र का छन्द अनुष्टुप् माना गया है; जिससे यह सन्देह होता है कि **'ओं खं ब्रह्म।'** बाद में जोड़ा गया है।

'ओम्' शब्द का केवल यजुर्वेद में तीन स्थलों पर उल्लेख हुआ है। तीनों स्थानों पर वह बाद में जोड़ा गया प्रतीत होता है। अथवा यजुर्वेद के 40वें अध्याय को ईशोपनिषद् मान लिया। और उपनिषद् काल में **'ओम्'** का प्रसार प्रारम्भ हुआ। इसलिए उसमें दो स्थानों पर **'ओम्'** को सम्मिलित कर दिया। तदनन्तर यजुर्वेद का 40वां अध्याय और ईशोपनिषद् एक होने से वेद की पुस्तकों में भी **'ओम् क्रतोस्मर'** और **'ओं खं ब्रह्म'** जोड़ दिया गया। अब अन्त में

---

9 यजु: 23-48

10 गीता 11-12

11 यजु: 40-17

वेद की दृष्टि में **'अग्नि'** को सर्व प्रमुख देवता अर्थात् ब्रह्म-परमात्मा या परमेश्वर बताने वाला प्रमाण प्रस्तुत है-

वेद के सभी देव अग्नि के पूजक और हृदय में धारण करने वाले

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्।
औक्षन्घृतैरस्तृणन्बर्हिरस्मा आदिद्धोतारं न्यसादयन्त॥[12]

ऋषि: सौचीकोऽग्नि:। देवता-विश्वेदेवा:। छन्द:-त्रिष्टुप्।

(अग्निं त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन्) वेदों में वर्णित अग्नि (ब्रह्म परमात्मा) की 3339 (तीन हजार तीन सौ उन्तालीस) देवता अर्चना पूजा करते हैं। ये (घृतै: औक्षन्) इस का घृत से सिंचन करते हैं, अस्मै (बर्हि: अस्तृणन्) इसके लिए निर्मल पवित्र आसन बिछाते हैं (आद् इत्) तदनन्तर (होतारम्) ब्रह्माण्ड के निर्माता इस अग्नि (ब्रह्म) को (नि असादयन्त) अपने हृदय के अन्दर निरन्तर स्थापित रखते हैं।

अर्थ-प्रमाण-संस्कृत के सब भाष्यकारों ने देवताओं की गणना 3339 की है, किन्तु ग्रिफिथ ने 339 लिखा है, लगता है भूल से तीन हजार छूट गया। ये 3339 देव क्या हैं? या कौन हैं? यह विचारणीय है। किसी ने 'देवा:' का अर्थ दिव्य शक्तियाँ, किसी ने नाड़ियां बाह्य दिव्य पदार्थ, किसी ने निविद मन्त्र किया है। परन्तु अभी तक इसका आशय पूरी तरह से किसी को स्पष्ट नहीं है।

कभी मुझे ऐसा लगता है कि शायद 478 देवताओं में से केवल 339 देवता परिचर्या करने के पात्र होंगे। शेष पदार्थ भोग्य या वर्णनमात्र हैं। अग्निर्ब्रह्म। काठ0 8-4

निष्कर्ष-सब शक्तियों के रूप में अग्नि (ब्रह्म या परमात्मा) को सब देवता अपने में धारण करते हैं, और उसके लिए हृदयासन को बिछाते हैं, और उसे घृत की स्निग्ध वाणियों से सींचते रहते हैं। इसी वक्तव्य को श्री अरविन्द ने निम्न शब्दों में व्यक्त किया है-सब देवों में परमेश्वर की ही शक्ति व्यक्त हो रही है।

यही कथन **'अग्निर्देवत्वा विश्वान्यश्या:'**[13] तथा **'पुरोगा अग्निर्देवानाम्'** ऋक् के मन्त्रों में व्यक्त हुआ है।[14]

---

12 ऋक् 10-52-6

13 ऋक् 1-69-6

14 ऋक् 1-188-10

अन्तिम निष्कर्ष

(1) इस सब विचार के अनन्तर निष्कर्ष तो यही है कि वेदों का सबसे प्रमुख देवता अग्नि है। यह अग्नि ही ब्रह्म, ओम् या एकमात्र सत् है। परमात्मा या ब्रह्म को ओम् नाम उपनिषत् काल में दिया गया और तब श्रुतिनाम से वेद के साथ उपनिषदों का भी ग्रहण होने लगा। श्री शंकराचार्य ने तो श्रुति के नाम से प्रायः सर्वत्र उपनिषद् वाक्य ही उद्धृत किये हैं।

(2) हां! सब धर्मों में एकता (समरूपता) लाने की दृष्टि से, व्यावहारिक दृष्टि को अपना कर वेदों में आए हुए 'उ' को ॐ मान लेने में कोई हानि नहीं प्रतीत होती।

कथन का प्रमाण सार-संदर्भ

(१) अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्न धातमम्।। ऋक् १-१-१

स नःपितेव सूनवेऽग्ने सूपायनोभव। सचस्वा नः स्वस्तये।। ऋक् १-१-१

(२) ब्रह्मा चासि गृहपतिश्च नोदमे। ऋक् २-१-२

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः।

त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या।।३।। ऋक् २-१-३

त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः।

त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः।। ऋक् २-१-४

त्वमग्ने त्वष्टा .... त्वमाशु हेमा सत्पतिः १२-१-५

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवस्त्वं पूषा। २-१-६

त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत्त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः। ऋक् २-१-९

त्वमग्न ऋभुराके नमस्यः। २-१-१०

त्वं वाजः प्रतरणो बृहन्नसि। ऋ २-१-१२

त्वमग्ने अदितिर्देव दाशुषे त्वं होत्रा भारती वर्धसे गिरा।

त्वं मिळा शतहिमासि दक्षसे त्वं वृत्रहा वसुपते सरस्वती।। ऋक् २-१-११

त्वं गर्भो वीरुधां जज्ञिषे शुचिः। २-१-१४

अनुद्यावापृथिवी रोदसी उभे। २-१-१५

(३) अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता

वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता

विश्वे देवा देवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।। यजुः १४-२०

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः सः प्रजापतिः॥ यजुः ३२-१

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋक् १-१६४-४६

अग्निरिन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा वायुः पूषा सरस्वती सजोषसः।

आदित्या विष्णुर्मरुताः स्वर्बृहत् सोमो रुद्रो अदितिर्ब्रह्मणस्पतिः॥ ऋ०१०.६५.१

ह्वयाम्यग्निं प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाविहावसे।

ह्वयामि रात्रिं जगतो निवेशनीं ह्वयामि देव सवितारमूतये॥ ऋक् १-३५-१

अग्निर्देवो देवानामभवत्पुराहितो अग्निं मनुष्या ऋषयो समीधिरे।

अग्निं महो धनसातावहं हुवे मृळीकं धनसातये॥ ऋक् १०-१५०-४

(क) सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्। ऋ०१०-११४-८

(ख) विव्यासैकं चतुर्धा यो वेदं वेदविदांवरः। महा० आदि पर्व ६०-५

विव्यास वेदान्यस्मात् स तस्माद् व्यास इति स्मृतः। महा० आदि पर्व ६३-८८

उद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे। अथर्व १९-६८-१

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्॥ अथर्व १९-७२-१

ओं क्रतो स्मर। ओं खं ब्रह्म। ईशोपनिषद् + स्वामी दयानन्द (यजुः ४०)

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ046-55)

वैदिक सस्यविज्ञान

डॉ० वेदपाल
रीडर, संस्कृत
जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (बागपत)

सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य के प्रथम बार आँख खोलने के साथ ही उसमें चयोपचय के भाव क्षुधा एवं तृषा (भूख-प्यास) का भी प्रादुर्भाव हुआ। जीवन के सम्यग् धारणार्थ क्षुत्पिपासा की निवृत्ति अपरिहार्य है। वेद के शब्दों-**"ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या उपजीवन्ति कृष्टराधिरुप जीवनीयो भवति य एवं वेद"**[1] में मनुष्यों के उपजीवन का आधार कृषि एवं सस्य को कहा है। कृषि द्वारा ही मनुष्य, धन-धान्य सम्पन्न और मनुष्यों को जीविका देने में समर्थ होता है।

आधुनिक कृषि वैज्ञानिक 'कृषि' पद को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण करते हैं। पशुपालन एवं दुग्ध विज्ञान (Animal Husbandry and Dairing), उद्यानिकी (Horti-culture), कृषि अर्थशास्त्र (Ag. Economics), कृषि प्रसार (Ag. Extention), कृषि वनस्पति (Ag. Botany), पादपरोग विज्ञान (Plant Pathology), सस्य विज्ञान (Agronomy) आदि विभिन्न कृषि सम्बन्धी विषय कृषि पद से अभिधेय हैं। उक्त कृषि विज्ञान विषयान्तर्गत अन्यतम है-**'सस्य विज्ञान'**। सस्य विज्ञान से अभिप्रेत है-Crops and Soil Management फसल एवं मृदा प्रबन्धन। प्रस्तुत पत्र में सस्य विज्ञान विषयक संक्षिप्त विवेचन निम्नवत् उपन्यस्त है -

अथर्व (शौनकीय) संहिता में विराट्शक्ति के मनुष्यों के समीप आने के सन्दर्भ में-**'तां पृथीवैन्योऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्'**[2]-पृथीवैन्य ने विराट् शक्ति का दोहन किया, उसने कृषि एवं सस्य को दुहा। इसी प्रकार मैत्रायणी[3] एवं तैत्तिरीय संहिता[4] आदि में कृषि के साथ सस्य पद पठित है। इससे प्रतीत होता है कि उक्त स्थलों पर **'सस्य'** पद **'कृषि'** पद की अपेक्षा सीमित अर्थ में है और स्यात् वर्तमान कृषि वैज्ञानिकों की व्याख्या का मूल भी। अन्न आदि पदार्थों की उपलब्धि के दो प्रकार हैं-

---

1. अथर्व. 8.10(4).12
2. अथर्व. 8.10(4).11
3. कृषिः सुसस्यामुत्कृषे सुपिप्पला ओषधीस्कृधि-मै.सं. 1.2.2.18
4. कृष्यै त्वा सुसस्यायै सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्यः तै.सं. 12.2.13 14; 6.1.3.16

(1) सप्रयास फसलें उगाकर

(2) अनायास उत्पन्न होने वाली फसलों से उपलब्धि।

संहिताओं में उभयविध रूप से प्राप्त अन्न के यज्ञ द्वारा समर्थ होने की कामना[5] से दोनों ही प्रकार से प्राप्त अन्न की उपभोग्यता स्पष्ट है, किन्तु अकृष्टपच्या-फसलों से प्राप्त अन्न से मनुष्यों की उदरपूर्ति सम्भव नहीं है। अतः **'कृष्टपच्या-कृष्टे पच्यन्त इति कृष्टपच्याः। भूमिकर्षणबीजवापादिकर्मनिष्पाद्याः'**-भूमि जोतकर, बीज वपन आदि सप्रयास कर्मों से उत्पन्न अन्न महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्टपच्य अन्न प्राप्त्यर्थ कर्षण आदि चार क्रियाएं अपेक्षित होती हैं -

(1) **कर्षण**-सस्य कर्म द्वारा अभीष्ट फसलोत्पादन के लिए प्रथम अपेक्षित कर्मभूमि का कर्षण-हल आदि द्वारा जुताई कर उसे तैयार किया जाना है। यतः अच्छी प्रकार कृष्ट-जोती गयी भूमि में ही अच्छी फसल का होना सम्भव है।[6] वाजसनेयि संहिता[7] के पाँच मन्त्रों के देवता-**कृषिवलाः कवयः**-कृषिकर्म में निपुण मनीषी हैं। मन्त्रस्थ-**'सीरा युञ्जन्ति-'**-67, **'युनक्त सीरा'**-68, **'शुनः सुफाला विकृषन्तु भूमिं'**-69 तथा **'लाङ्गलं पवीरवत्'**-71 आदि पद फालयुक्त हल द्वारा भूमिकर्षण के विधायक हैं। तैत्तिरीय संहिता[8] में छः तथा बारह बैलों के हल द्वारा भूमिकषर्ण का उल्लेख है।

(2) **वपन**-सम्यग् रूपेण जोत कर तैयार की गयी भूमि में उत्तम कोटि के बीज बोना-द्वितीय कर्म है। वेद के **'वपतेह बीजम्'**[9] आदि पद कर्षणोपरान्त बीजवपन के विधायक हैं। बीजवपन के दो प्रमुख प्रकार हैं

क-जुताई कर तैयार खेत में बीज को बखेर कर बो देना।

ख-खेत में कूड/नाली/गूल मेंड बनाकर पंक्ति में बुवाई करना।

प्रथम प्रकार में जहाँ बीज की मात्रा अधिक लगती है, वहीं पौधे भी बराबर दूरी पर नहीं होते हैं, कहीं बहुत निकट तो कहीं अधिक दूरी पर। इस पद्धति से जहाँ लागत बढती हैं, वही उत्पादन की मात्रा भी अपेक्षाकृत न्यून रहती है। पंक्ति में बराबर दूरी पर बीजवपन से अल्पमात्रा में बीज बोने पर भी पैदावार अच्छी होती है। अतः यह द्वितीय प्रकार प्रशस्य माना

---

5. क कृष्टपच्याश्च मेऽकृष्टपच्याश्च मे ..... यज्ञेन कल्पन्ताम्। यजु. 18.14 ख-कृष्टपच्यं च मेऽकृष्टपच्यं च मे ..... यज्ञेन कल्पन्ताम् तै.सं. 4.7.5

6. कृष्टे वपति कृष्टे ह्योषधयः प्रतितिष्ठन्ति तै.सं. 5.2.5.17

7. 12.67-71

8. षड्गवेन कृषति षड् वा ऋतव ऋतुभिरेवेनं कृषति यद् द्वादशगवेन संवत्सरेणैव-5.2.5.8-9

9. यजु. 12.68; तै.सं. 5.2.5.17

जाता है। तैत्तिरीय संहिता में **'अनुसीतं वपति प्रजात्यै'**[10] कहकर अच्छी उपज के लिए कूड बनाकर/पंक्तिबद्ध बोने का निर्देश प्राप्त होता है।

(3) **लुनन्-परिपक्व फसल को खेत से काटना**-तृतीय कृषि कर्म है। पककर तैयार फसल को समय पर खेत से काटना आवश्यक है अन्यथा सम्पूर्ण परिश्रम व्यर्थ जाने की सम्भावना रहती है। अत: फसल का लुनन् भी वपन के सदृश ही महत्त्वपूर्ण है। मन्त्रस्थ **'नेदीय इत्सृण्य: पक्वमेयात्'**[11] तथा **'सुपिप्पला ओषधी: कर्तनास्मे'**[12] आदि विधि वाक्य फसल के पकने पर उसके काटने का निर्देश करते हैं।

(4) **मृडन्**-चतुर्थ महत्त्वपूर्ण क्रिया है-फसल काटने के पश्चात् उनके तुष आदि को धान्य से पृथक् करना। गेहूँ, जौ, धान, चना, मूंग, मटर, सरसों आदि के दानों को उनकी बालियों/फलियों से पृथक् कर उन्हें साफ करना।

उपर्युक्त चारों कर्म अपेक्षित ही नहीं अपरिहार्य भी हैं। शतपथ-ब्राह्मण के दर्शपौर्णमास प्रकरण में देवों द्वारा यज्ञभाग न देने पर ऋतुओं के असुरों के पास जाने का वर्णन है। इससे असुरों ने ऐसी उन्नति की असुर आगे जोतते बोते जाते थे, पीछे से उसी को दूसरे काटते और गाहकर स्वच्छ करते जाते थे।[13] यहाँ असुरों द्वारा कृषिकर्म की चारों क्रियाओं कर्षण, वपन, लुनन् तथा मृडन् का वर्णन इस प्रकार है मानो-एक क्रिया के पीछे दूसरी क्रिया अनुपद ही हो रही है। वर्तमान में भी शीघ्र पकने वाली फसलों, सब्जी आदि में यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। इससे प्रतीत होता है कि शतपथ के काल में कृषिकर्म पर्याप्त उन्नत अवस्था में था, जिसमें शीघ्र पकने वाली फसलें उगाई जाती होंगी। ओखली में कूटकर, शूर्प द्वारा फटक कर चावलों से तुषों को अलग करने का वर्णन भी वहाँ उपलब्ध होता है।[14]

पोषक तत्त्व (Eartiliser)

फसलों से भरपूर पैदावार लेने के लिए भूमि में पोषक तत्त्वों का होना आवश्यक है।

---

10. तै.सं. 5.2.5.18

11. यजु. 12.68.सृण्य: दात्रान् उवट:, सृणिशब्दोऽत्र दात्रार्थ:। सृण्या लवनसाधनेन दात्रेण लूनमिति शेष: महीधर:, तैत्तिरीय संहितायाम् इत्सृण्या पक्वमायत् 4.2.5.16

12. यजु. 12.69

13. ते हैतामेधन् मधां चक्रिरे। यामेषामेतामनुशृण्वन्ति कृषन्तो ह स्मैव पूर्वे वपन्तो यन्ति लुनन्तोऽपरे मृणन्त: शश्वदेभ्योऽकृष्टपच्या एवौषधय: पेचिरे श.प.1.6.1.3

14. कश.प. 1.1.4.19-22 ग्रपट्टा दाम्यार्द्रहस्ता समङ्क्त्वा उलूखलं मुसलं शूर्पमाहरत्॥ अथर्व.12.3.13 गवर्पवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद्विनक्तु॥ अथर्व.12.3.19

नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटाश, सल्फर, जिंक आदि सोलह तत्त्व अपेक्षित हैं। दलहन एवं द्विदली फसलें जिनकी जड़ में गोल दाने बनते हैं, नाइट्रोजन का प्रमुख स्रोत हैं। वातावरण में लगभग ८२ प्रतिशत नाइट्रोजन है। द्विदली फसलें वातावरण से नाइट्रोजन अवशोषित कर फसलों को समृद्ध करने के साथ भूमि की उर्वरता बनाए रखने में प्रमुख योगदान करती हैं। रासायनिक खाद यूरिया द्वारा 42-46 प्रतिशत नाइट्रोजन ही दी जाती है, इसमें भी अधिकांश पानी के साथ नीचे चली जाती है, जिससे इसका पूर्ण लाभ फसलों को नहीं मिलता। वैदिक वाङ्मय में-उड़द, मूंग, मसूर, चना आदि का प्रमुख वर्णन है, जिससे ज्ञात होता है कि-प्राचीन मनीषी भूमि की उर्वरता के प्रति सचेष्ट थे। साथ ही-'**घृतेन सीता मधुना समज्यतां**'[15] आदि स्थल ऊपर से भी पोषक तत्त्व देने के विधायक हैं।

अन्न-"व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्"[16]-मन्त्र में द्वादशविध अन्नों का नामोल्लेख है। अथर्ववेद में व्रीहि, यव, माष तथा तिल का उल्लेख है।[17] इन्हें अन्न, दलहन, तिलहन तथा सूक्ष्म अन्न में वर्गीकृत किया जाता है।

1. अन्न-व्रीहि, यव, गोधूम यह तीनों एक ही POACEAE परिवार के हैं।

(1) **व्रीहि**-Rice Paddy आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार-व्रीहि एशिया की प्रथम कृषि फसल है। यह विश्व की 60 प्रतिशत जनसंख्या का भोजन है। डी कण्डोल De Candolle (1886) तथा वाट Watt (1892) के अनुसार दक्षिण भारत में ही व्रीहि की कृषि का प्रारम्भ हुआ। वेवीलाव Vavilov (1926) के मतानुसार भारत तथा बर्मा इसका मूल उत्पत्ति स्थान है।[18]

तैत्तिरीय संहिता में व्रीहि की-श्वेत, कृष्ण[19], आशु तथा महाव्रीहि[20] इन चार प्रजातियों का वर्णन है। आशु नामक प्रजाति शीघ्र पकने वाली फसल थी। आचार्य सायण ने इसे पैंतालीस दिन में पकने वाला कहा है।[21] इसे ही अन्यत्र[22] प्लाशुक भी कहा है। वर्तमान में एक स्थान पर

---

15. यजु. 12.70: तैत्तिरीय संहितायाम् 'समज्यताम्' इत्यस्य स्थाने 'समक्ता' पाठः-4.2.5.20'; अथर्व.3.17.9.
16. यजु. 18.12
17. (1) व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्-अथर्व0 6.140.2 (2) यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्चकृष्ट्यः अथर्व भूमिसूक्तम् 12.1.42
18. Modern techniques of Raising Field Crops - Dr. Chhidda Singh, P-3
19. व्रीहीना हरेच्छुक्लाँश्च कृष्णाँश्च विचिनुयाद्ये शुक्लाः स्युस्तमादित्यं चरुं निर्वपेद् .... ये कृष्णाः स्युस्तं वारुणं चरुं निर्वपेद् 2.3.1.7-8: 1.8.9.1, 10.1
20. आशूनां व्रीहीणां सवित्रे .... महाव्रीहीणामिन्द्राय .... तै.सं. 1.8.10.1
21. ततोऽप्यधिककाले पक्षत्रयं पच्यमानाः षष्टिका व्रीहय आशवः- श.प.5.3.3.2

पौध उगाकर उसे अन्यत्र रोपते हैं, जिससे शीघ्र व अच्छी फसल होकर उत्पादन भी अधिक होता है। स्यात् इसी कारण इसे प्लाशुक कहा गया है। शतपथ-ब्राह्मण में हायन[23] का भी उल्लेख है। आचार्य सायण ने-**'संवत्सरं पक्वानां रक्तशालिनां हायना:'**-वर्ष भर में पकने वाले लाल रंग के चावल को हायन कहा है। एतदतिरिक तण्डुल[24], ओदन[25] आदि नाम से भी इसका उल्लेख हुआ है।

(2) **यव**-Barbey कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार-यव का मूल उत्पत्ति स्थान दक्षिण पूर्व एशिया विशेष रूप से चीन, तिब्बत और नेपाल है। उनके अनुसार-The Sanskrit name 'yava' which originally meaning a grain, which was later limited to barley and, from which the name 'jau' or 'jav' has been derived shows that barley was in those very early days regarded as one of the most important grains.[26]

आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा **'यव'** को अन्न सामान्य का वाचक मानने का मूल स्यात् शतपथ-ब्राह्मण की सोमयाग विषयक वह लघु आख्यायिका है, जिसमें-देवों के पास से समस्त औषधियों के चले जाने तथा मात्र **'यव'** के उनके पास रहने का वर्णन है। देवों ने औषधियों का रस यव में रख दिया। सब औषधियाँ सूखने पर भी यव हरे-भरे रहते हैं।[27] स्यात् इसका कारण-न्यून जल तथा सामान्य या कम उपजाऊ भूमि भी जौ उत्पादन में समर्थ होती है। साथ ही पौष्टिक गुणों से भरपूर होना भी इसकी महत्ता का मूल प्रतीत होता है। इसी महत्त्व के कारण व्रीहि के साथ समस्तपद (द्वन्द्व समास) के रूप में अनेकत्र पठित है।[28] अथर्ववेद में यव को प्राण और व्रीहि को अपान कहा गया है।[29]

(3) **गोधूम**-Wheat आधुनिक कृषि वैज्ञानिकों का मत है कि भारत में प्रागैतिहासिक काल से ही गेहूँ की खेती हो रही थी। गेहूँ का मूल उत्पत्ति स्थान निश्चित नहीं है, सम्भवत:

---

22. श.प. 5.3.3.2-'प्लाशुका: पुन: प्ररूढा व्रीहय:'-इति कर्कोक्ति:
23. श.प. 5.3.3.6 द्र0-सायणभाष्यम्
24. तण्डुलान्विचिनुयाद्-तै.सं. 1.8.9; श.प. 1.1.4.3; श.प. 1.1.4.3; 2.5.3.4
25. श.प. 2.3.5.4; 6-10.
26. Modern Techniques of Raising Field Crops - Dr. Chhidda Singh, P. 126-127.
27. श.प. 3.6.1.7-11
28. (1) यच्छमीधान्यं तद् व्रीहियवावे वैतेन भूयाथ्ठंसौ-श.प. 1.1.1.10 (2).... ताविमौ व्रीहियवौ-श.प. 1.2.3.7 (3) यस्यामन्नं व्रीहियवौ-अथर्व.12.1.42; प्राणापानौ व्रीहियवौ-वही.11.4.13
29. यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते-अथर्व.11.4.13

दक्षिण पश्चिम एशिया मूल उत्पत्ति स्थान है।[30] मिस्र, ग्रीस तथा रोम आदि देशों की प्राचीन सभ्यताओं का मुख्य आहार निस्सन्देह गेहूँ ही था। स्काटइलॉज के अनुसार ईसा से 10-15 हजार वर्ष पूर्व भी गेहूँ की खेती की जाती थी।[31] गेहूँ के कुछ नमूने इटली व स्विट्जरलैण्ड की प्रागैतिहासिक सभ्यताओं के अवशेषों में भी पाये गये हैं। राबर्ट ब्रेड वुड ने गेहूँ के कार्बनयुक्त दाने इराक के जारमो नामक स्थान से प्राप्त किये, जिन्हें 6700 वर्ष पुराना बताया जाता है।[32]

वैदिक वाङ्मय में व्रीहि एवं यव के साथ ही अनेकत्र गोधूम का उल्लेख उपलब्ध होता है।[33] व्रीहि के श्वेत, कृष्ण, हायन आदि अवान्तर भेदों के सदृश गेहूँ के भेद वहाँ वर्णित नहीं है।

2. **दलहन**-Culse Crops माष-उड़द, मुद्ग-मूँग, मसूर, खल्व-चना-ये चार दलहनी फसलें हैं। शरीर के लिए अपेक्षित पौष्टिक तत्त्वों प्रोटीन आदि की दृष्टि से दालें अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं।[34]

(1) **माष**-Black Gram वैदिक साहित्य में उपलब्ध उल्लेख के आधार पर उड़द का मूल स्थान स्यात् भारत है। जुकोवस्की Zokovskij (1962) के अनुसार उड़द का विकास इसकी जंगली जाति फेजिऔलस सबलोवेटस से हुआ है।[35] उड़द में 24 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स होता है।

यजुः एवं अथर्व संहिता में व्रीहि एवं यव के अनन्तर **'माष'** पद पठित है।[36] यद्यपि उड़द पोषक तत्त्वों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, किन्तु मैत्रायणी संहिता में-**'न**

---

30. Growing of wheat in India began near by in prehistoric times, so long ago that the origin of wheat is still a matter of speculation. From all possible records, it seems that its centre of origin is South Western Asia. Modern Techniques of Raising Field Crops-Dr. Chhidda Singh, P/.41
31. भारत की फसलें-पृ02 डॉ. अहलावत एवं ओम्प्रकाश
32. भारत की फसलें-पृ.1-डॉ. छिद्दा सिंह
33. यजु. 18.12; 19.22; तै.सं. 4.7.4
34. Lulses are important constituents of the Indian diet and supply a major part of the protien requirement. Modern Techniques of Raising Field Crops - Dr. Chhidda Singh, P. - 169.
35. Black gram (Urd) is probably a native of India as is seen from the Vedic Literature. According to Zokouskij (1962) urd originated in India from P. Sublobatus - Ibid. P.229.
36. (1) व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे ... यजु.18.12 (2) व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् अथर्व 6.140.2; तै.सं. 4.7.4

माषाणामश्नीयादयज्ञिया वै माषा'[37] उड़द को अयज्ञिय कहा गया है। सम्भवत: अभिचार कर्मों में उड़द का प्रयोग होने के कारण अयज्ञिय कहा गया हो।

(2) **मुद्ग**-Green Gram वेविलाव Vavilov (1926) के अनुसार मूंग का जन्म स्थान भारत तथा मध्य एशिया है।[38] मूँग का विकास भारत में जंगली रूप में उगती पायी जाने वाली-विग्नोरेडियंटा सबलोवेटस से हुआ है।[39] मूँग उत्तम श्रेणी के प्रोटीन का प्रमुख स्रोत है। इसमें 25 प्रतिशत प्रोटीन पाया जाता है। वैदिक वाङ्मय में मूंग का अनेकत्र वर्णन उपलब्ध है।[40]

(3) **मसूर**-Lentil एशिया माइनर, ग्रीक, इजिप्ट मसूर के मूल उत्पत्ति स्थान हैं।[41] हैलीना वेरुलिना के अनुसार-हिन्दुकुश पर्वत का मध्यक्षेत्र (वादियां) मूल स्थान है।[42] डॉ० छिद्दा सिंह के अनुसार-प्रागैतिहासिक काल से ही उक्त क्षेत्रें में मसूर की खेती की जाती थी। यूरोप, अफ्रीका और अमेरिका में यह बाद में पहुँची।[43] इसमें 25 प्रतिशत प्रोटीन तथा 60 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट्स होता है। यजुर्वेद[44] में गोधूम के अनन्तर इसका वर्णन हुआ है।

(4) **खल्व-चना**-Chick lea डी कण्डोल De Candalle के अनुसार चने का जन्म स्थान भारतवर्ष है।[45] इसमें 21.1 प्रतिशत प्रोटीन, 61.5 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट तथा 4.5 प्रतिशत वसा है। कैल्शियम तथा लौह आदि तत्त्व भी प्रचुर मात्रा में होते हैं। यजुर्वेद एवं तैत्तिरीय संहिता में मुद्ग के अनन्तर **'खल्वा:'** पद पठित है।[46] दलहन होते हुए भी यह गेहूँ एवं जौ के साथ अन्न रूप में भी प्रयुक्त होता है।

वानस्पतिक दृष्टि से माष, मुद्ग, मसूर, खल्व चना यह चारों Leguminosae के अन्तर्गत Papilionaceae परिवार के हैं।

3. **तिलहल**-तिलहल फसलों के प्रतिनिधि तिल sesamum का वर्णन वैदिक संहिताओं

---

37. मै.सं. 1.4.10.44
38. Modern Techniques of Raising Field Crops - P.217.
39. भारत की फसलें पृ० 110-छिद्दासिंह
40. यजु. 18.12; तै.सं. 4.7.4
41. भारत की फसलें पृ.184, छिद्दासिंह, हरवीर सिंह
42. वही पृ. 47
43. Modern Techniques of Raising Field Crops - P.184.
44. यजु. 18.12; तै.सं. 4.7.4
45. भारत की फसलें पृ. 34-छिद्द सिंह
46. यजु. 18.12; तै.सं. 4.7.4

में अनेकत्र उपलब्ध है।[47] तिल में 50 प्रतिशत तैल तथा 18-20 प्रतिशत प्रोटीन होता है। इसकी खल में 6.0-6.2 प्रतिशत नाइट्रोजन, 2.0-2.2 प्रतिशत फास्फोरस तथा 1.0-1.2 प्रतिशत पोटाश होती है।[48]

4. **लघु धान्य** -पौधों के आकार की अपेक्षा दानों के लघु होने तथा अधिकतर शुष्क क्षेत्रों में पैदा होने के कारण इन्हें लघु-धान्य कहा गया है। वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध प्रियङ्गु-काँगनी Kakun एवं अणु-चौलाई इन धान्यों के प्रतिनिधि हैं। काँगनी में 12.1 प्रतिशत प्रोटीन, 60.8 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, 4.7 प्रतिशत वसा व 3.2 प्रतिशत खनिज पाये जाते हैं।[49] यह Amaranthaceae परिवार के हैं।

उपरिवर्णित दस (3+4+1+2=10) कृष्टपच्या हैं। वैदिक वाङ्मय में विना खेती किये प्राप्त होने वाले अकृष्टपच्या का भी वर्णन उपलब्ध है-

(1) **श्यामाक**-Sawan सवां, सांवक-महीधर ने इसे-**"श्यामाकास्तृणधान्यानि ग्राम्याणि कोद्रवत्वेन प्रसिद्धानि"** ग्राम्यतृणधान्य कोदों कहा है। आधुनिक कृषि विज्ञानी सांवक एवं कोदों को पृथक् मानते हैं। सांवक में 9.2 प्रतिशत प्रोटीन, 65.5 प्रतिशत कार्बोहाइड्रेट, 4.5 प्रतिशत वसा तथा 9.7 प्रतिशत तक रेशा होता है, जबकि कोदों में 7.3-9.5 प्रतिशत प्रोटीन, 2.7-3.7 प्रतिशत वसा होता है।[50] इस विश्लेषण से भी दोनों पृथक् ही प्रतीत होते हैं। वैदिक वाङ्मय में अकृष्टपच्या होते हुए भी वर्तमान में पूर्वी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र और बिहार में इसकी खेती की जाती है।

(2) **नीवार**-**नीवारास्तृणधान्यान्यारण्यानि**-महीधर:-नीवार इसी नाम से प्रसिद्ध तृणधान्य है। तैतिरीय संहिता में श्यामाक एवं नीवार का वर्णन प्राय: चरु अथवा पुरोडाश प्रसङ्ग में हुआ है। अकृष्टपच्य होते हुए भी हव्य होने के कारण दोनों भक्ष्य हैं।

मृदा प्रबन्धन

मृदा प्रबन्धन फसलोत्पादन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार-मृदा का वैज्ञानिक अध्ययन 19वीं शती के मध्य से प्राप्त हुआ।[51] "Soil is that portion of the earth's surface which he can plougha and grow crops on to provide him with food

---

47. यजु. 18.12; तै.सं. 4.7.4; अथर्व. 18.4.26, 32-34, 43
48. Modern Techniques of Raising Field Crops. P.278
49. भारत की फसलें (खरीफ) पृ. 81 डॉ. अहलावत एवं ओमप्रकाश
50. वही पृ. 77-79
51. Text Book of Soil Science - T.D. Biswas - S.K. Mukherjee - P.2

and fibre for his own needs and that of his animals'.[52]

मृदा से तात्पर्य है-पृथिवी की वह उपरि सतह जिसकी जुताई कर फसलें उगाकर अन्न आदि का उत्पादन होता है। पर्यावरणीय असन्तुलन, अत्यधिक, अव्यवस्थित पशुचारण तथा मनुष्यों द्वारा उपेक्षित व्यवहार एवं उचित संरक्षण न होने के कारण मृदा का अपरदन होता है। अपरदन के कारण जहाँ भूमि में कटाव होता है, वहीं उसकी उत्पादक शक्ति का भी ह्रास होता है। यह अपरदन मुख्यत: जल एवं वायु द्वारा होता है।

(1) **जलज अपरदन**-Water Erosion भूमि की उपरि सतह पर वनस्पति न होने के कारण अथवा अत्यधिक पशुचारण से उनके खुरों द्वारा मिट्टी की उपरि परत के विखण्डित होने पर वर्षा के समय जल की बूँदों से वह ऊपर की उपजाऊ मिट्टी बह जाती है। अथवा जब वर्षा की बूंदें 30 k/h की गति से गिरती है, तब गतिज ऊर्जा Kinetic energy से मृदा का अपरदन होता है।[53]

(2) **वायुज अपरदन**-Wind Erosion मुख्यत: सूखे में जब हवायें 15-75kph की गति से चलती है, तब भूमि की उपरि सतह से मिट्टी हवा के साथ उड़कर अन्यत्र चली जाती है। यथा-उत्तरी मैदान में मार्च से जून के प्रारम्भ तक लू चलने के दिनों में।[54] इससे भी भूमि की उत्पादकता का क्षरण होता है।

वनस्पतियों का अमर्यादित दोहन, क्षुप् सदृश वनस्पतियों का अत्यधिक कटान एवं असमतल भूमि के संरक्षणार्थ पौधारोपण न किया जाना-भूक्षरण के महत्त्वपूर्ण कारक हैं। वैदिक वाङ्मय में मनुष्य को इस ओर सतर्क किया गया है कि वह अपने दैनन्दिन व्यवहार से पर्यावरण सन्तुलन बनाये रखे। औषधि, जल, पृथिवी की हिंसा का स्पष्ट निषेध किया गया है। तद्यथा-**'मापो मौषधीर्हिꣳसी:**[55]**, पृथिवीं दृꣳह पृथिवीं मा हिꣳसी:**[56] तथा जिन औषधि-वनस्पति को हम काटें अथवा कहीं से वृक्ष आदि काटें तो वहाँ दूसरे वृक्ष का रोपण भी करें, पृथिवी के मर्म का छेदन न करें।[57]

पर्यावरणीय सन्तुलन की दृष्टि से-**'मा द्यावापृथिवीऽअभि शोचीर्मान्तरिक्षं मा**

---

52. Ibid - P.1
53. Ibid - P.341
54. Ibid - P. 355.
55. यजु. 6.22
56. यजु. 13.18
57. अथर्व. 12.1.35

वनस्पतीन्[58] आदि वेद वचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। वर्षा जल पृथिवी को तृप्त करें[59] ऐसी कामनाओं से भी अर्थापत्ति से वर्षा जलों से मृदा-अपरदन से बचाव की प्रार्थना (तदनुकूल पुरुषार्थ/प्रयत्न जिससे भूक्षरण न हो) ही अभिप्रेत है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि आधुनिक कृषि विज्ञान के अन्तर्गत सस्यविज्ञान Agronomy जिसका तात्पर्य है फसल एवं मृदाप्रबन्धन Crops and Soil Management एतद्विषयक सङ्केत वैदिक वाङ्मय में फसलोत्पादन एवं मृदा संरक्षण विषयक भूमिकर्षण से लेकर मृडन् पर्यन्त क्रियाएँ तथा वृक्ष, वनस्पति का संरक्षण एवं पृथिवी के दृढ़ीकरणार्थ पर्याप्त सङ्केत उपलब्ध हैं।

58. यजु. 11.45

59. वाश्रा आप: पृथिवीं तर्पयन्तु- अथर्व. 4.15.1, 5

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ056-64)

वेदों में शिक्षा-विषयक अवधारणा

डॉ. सत्यदेव निगमालंकार,

रीडर, वैदिक शोधसंस्थान, गु0का0वि0वि0, हरिद्वार

मानव-समाज की उन्नति में शिक्षा का महत्त्व सर्वोपरि है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में शिक्षा समुचित विकास करती है। अन्य समस्त ज्ञान-स्रोतों के अनुसार शिक्षा का मूल स्रोत भी वेद ही हैं। जहाँ **"सर्वज्ञानमयो हि सः"**[1] कहकर महर्षि मनु ने वेदों में सभी विद्याओं के सूत्र विद्यमान होने की घोषणा की, वहीं महर्षि दयानन्द सरस्वती ने **"वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति?"** वेदों में सब विद्याएं है वा नहीं?-इस प्रश्न के उत्तर में **"सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः"**-वेदों में सब विद्याएं मूलरूप में हैं[2]" यह डिण्डिमघोष न केवल किया, अपितु वेदों में से ब्रह्मविद्या, वेदोक्त धर्म, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादि लोकभ्रमण, धारणाकर्षण, गणितविद्या, नौविमानादिविद्या, ताराविद्या, वैद्यकविद्या' एवंविध अनेकानेक विद्याओं का प्रकाश वेद संहिताओं से किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने तो वेदों को सब सत्य विद्याओं का पुस्तक[3] घोषित कर समाज में नूतन क्रान्ति लाने का अथक प्रयास किया। फिर यह कैसे सम्भव नहीं है कि जिससे मनुष्य विद्या आदि शुभगुणों की प्राप्ति, और अविद्यादि दोषों को छोड़ के सदा आनन्दित हो सके, उस शिक्षा का वर्णन वेदों में न हो?

सरस्वती शिक्षा की अधिष्ठात्री देवी है। जिस मनुष्य के पास इस देवी की उपस्थिति हो जाती है, उसे सुख और शान्ति की प्राप्ति अनायास हो जाती है। यह देवी शिक्षाविद् के जीवन में माधुर्य उत्पन्न कर देती है। यह उसे सुयोग्य पुत्रवान् बना देती है[4]। यह देवी एक माँ है, अपने पुत्र को यह समस्त सुख प्रदान करती है, उसका कल्याण कर देती है तथा उस शिक्षार्थी पुत्र के समस्त कार्य सम्पन्न करा देती है-

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः॥[5]

---

1. मनुस्मृति 2.7;
2. अथ ब्रह्मविद्याविषयः ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ0 66;
3. आर्यसमाज का तृतीय नियम;
4. अथर्व0 7.68.1-3;
5. अथर्व07.10.1.

इतना ही नहीं यह देवी अपने उपासक को दीर्घायु प्रदान करती है, यश और प्रतिष्ठा भी उसे भरपूर देती है।[६]

शिक्षा अपने उपासक के अज्ञान, अविद्या, अन्धविश्वास तथा मानसिक अपराधों को समाप्त कर देती है।[७] यह अपने उपासक को चरित्रवान्, सत्यनिष्ठ तथा झूठ, छल-प्रपञ्च आदि से दूर रहने वाला बना देती है। तभी तो यजुर्वेद में कहा है-**"इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि"**।[८] शिक्षित मनुष्य के समीप दु:ख कभी नहीं आते और सुखों की सदा वर्षा होती है, अतः महर्षि दयानन्द ने के भावार्थ में लिखा-**"जिज्ञासवो येषां विदुषां विद्वांसो वा जिज्ञासूनां सामीप्यं गच्छेयुस्ते नैव विद्याधर्मसुशिक्षाव्यवहारं विहायान्यत्कर्म कदाचित् कुर्युः यतो दुःखहान्या सुखं सततं सिध्येत्"**।।[९]

शिक्षाविद् के समीप से पाखण्ड वैसे ही भाग जाता है जैसे सिंह को देखकर हरिण आदि पशु पलायन कर जाते हैं।[१०]

शिक्षा-प्राप्ति का अधिकार सभी को है। **"परोपकारिभिर्विद्वद्भिर्नित्यं प्रयतनेन सुशिक्षाविद्यादानाभ्यां सर्वे मनुष्याः सुशिक्षिता विद्वांसः सम्पादनीयाः"**।[११] स्त्रियों को भी सुशिक्षा का अधिकार ग्रहण करने का निर्देश वेदों में प्राप्त होता है -

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।।[१२]

सुशिक्षित स्त्री ही सुशिक्षित पुरुष को पति के रूप में वरण करके सुख-प्राप्ति कर सकती है।

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।

अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।।[१३]

यह मन्त्र विदुषियों से कन्याएँ शिक्षा प्राप्त करने की प्रार्थना दर्शाता है। विदुषी स्त्रियों

---

6. अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरि धायसे। सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्।। अथर्व06.41.2;
7. क्षिपद् अशस्तिम् अप दुर्गतिं हन्, अथा करद् यजमानाय शंयो:।। ऋ0 10.182.3;
8. यजु0 175;
9. ऋग्0 1.107.2
10. यथा सिंहं दृष्ट्वा मृगादयः पलायन्ते तथैव सुशिक्षिता विदुषी: प्रजाः समीक्ष्य पाखण्डिनो विलीयन्ते-ऋ0 3.9.4 का दयानन्दभावार्थ।।
11. दयानन्दकृत ऋ0-1.61.16 का भावार्थ;
12 अथर्व0 11.5.18
13 ऋ02.81.16.

का भी कर्त्तव्य है कि वे कन्याओं को सुशिक्षित करें -

त्वे विश्वा सरस्वति श्रितायूंषि देव्याम्।

शुनहोत्रेषु मत्स्व प्रजा देवि दिदिड्ढि नः।।[१४]

वेद ने तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सबको शिक्षा प्राप्ति का अधिकार प्रदान किया हुआ है -

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय।।[१५]

यद्यपि छान्दोग्य-उपनिषद् में नारद मुनि आत्मविद्या का अध्ययन करने के लिए सनत्कुमार मुनि के समीप जाकर स्वयं पढ़ी हुई निम्न विद्याओं का वर्णन करते हैं -

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि।।[१६]

मुण्डक-उपनिषद् में आचार्य अङ्गिरा ने अपने अन्तेवासी शौनक के सम्मुख **'अपरा'** और **'परा'** विद्याओं का वर्णन करते हुए कहा है -

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। शिक्षा, कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति।[१७]

किन्तु अथर्ववेद में आठ प्रकार के शिक्षा-विषयों का वर्णन प्राप्त होता है -

तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्।।

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्।।[१८]

ब्रह्मचारी की ज्ञानाग्नि में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्यौ को समिधा बनाने का संकेत यह

---

14. ऋ 02.41.17
15. यजु0 26.2
16. छान्दोग्य-उपनिषद् 7.1.2
17. मु0उ0 1.4.5.
18. अथर्व0 15.6.8; 11.

सूचित करता है कि ब्रह्मचारी इन तीनों विषयों का ज्ञान प्राप्त करे।[19] इक्कीस विद्याओं के अध्ययन का भी संकेत वेद में उपलब्ध होता है।[20]

इस शिक्षा विषयक सूची से इतना तो अवश्य ज्ञात होता है कि वेदों में शिक्षा के विषयों का बहुत विस्तार है। शिक्षार्थी अपनी रुचि तथा योग्यता के आधार पर जिन विषयों को पढ़ना चाहे, वैसे ही शिक्षक के समीप उसे जाना होगा।

कोई भी वस्तु तब तक फलीभूत नहीं होती जब तक उसे उचित स्थान न प्राप्त हो। शिक्षा भी तब तक फल नहीं दे सकती, जब तक उसे उचित मनुष्य को प्रदान न किया जाये। कहते है एक बार विद्या ब्राह्मण के समीप जाकर बोली-हे ब्राह्मण! मेरी रक्षा करो, मुझे उस मनुष्य को देना जो ईर्ष्यालु न हो, कुटिल न हो, जो आलसी न हो, जो पवित्र हो, सावधान (जागरूक) हो, बुद्धिमान् हो, ब्रह्मचर्य-व्रत में श्रद्धालु हो तथा जो गुरु से द्रोह न करे-ऐसे मनुष्य को ही मुझे प्रदान करना।[21] यह कथानक आचार्य यास्क ने प्रस्तुत किया है। उपनिषद् के ऋषि तो माता-पिता तथा आचार्य के सेवक को उत्तम शिष्य मानते हैं।[22]

महर्षि दयानन्द ने शिष्य के लक्षण बताते हुए कहा-"शिष्य उसको कहते हैं जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा, और आचार्य का प्रिय करने वाला है।[23] वेदभाष्य के प्रकरण में महर्षि ने शिक्षार्थी के अनेकत्र लक्षण देते हुए दर्शाया है-"तानेव विद्वांसोऽतिथयो विशिष्टमुपदिशन्तु ये पवित्रात्मानो विद्याप्रिया: सत्क्रियां जिज्ञासवो भवेयु:।[24]" ये चोद्यमिन: सुबुद्धयो विद्याभ्यासे तत्परा बोधयुक्ता: स्युस्तान् सुपरीक्ष्य प्रोत्साहयेत्"।[25] "विद्वद्भि: सुशीलाय शुद्धधिये विद्यार्थिने परमप्रयत्नेन विद्या देया"।[26]

वेद स्पष्ट शब्दों में शिक्षार्थी के लक्षण बताते हुए कहते हैं-**"शिक्षेयम् इन्महयते**

---

19. इयं समित्पृथिविद्यौर्द्वितोयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।। 11.5.4;
20. ये त्रिषप्ता: परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रत:। वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे। अथर्व0 10101;
21. विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि। असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्।। यमेव विद्या: शुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्। यस्ते न द्रुह्येत् कतमच्चनाह, तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्।। या.0 निरु0 2.4;
22. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।। तैत्तिरीय उपनिषद् 1.11.2
23. सत्या0 प्रका0 स्वमन्त0 32;
24. ऋ0 भाष्य0 5.1.12 पर दयानन्दकृत भावार्थ।
25. ऋ0 भाष्य0 7.22.5 पर दयानन्दकृत भावार्थ।
26. यजु0 15.25; का दयानन्दकृत भावार्थ।

दिवेदिवे"[28]-अर्थात् आज्ञाकारी को शिक्षा प्रदान करनी चाहिए। आलसी, प्रमादी और व्यर्थ अधिक बकवास करने वाला व्यक्ति कभी भी शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता है।[28] अथर्ववेद ने शिष्य के चार गुण दर्शाये हैं -

इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।

ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति।।[29]

वस्तुतः यज्ञ में यथा घुन आदि दोषों से रहित, शुष्क समिधा उत्तम प्रकार से प्रज्वलित होती है तथा प्रकाश को प्रदान करती है, यथा कटिसूत्र बाँध कर दृढ़ निश्चयपूर्वक अपने निर्धारित लक्ष्य की ओर अग्रसर होना होता है, यथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु अत्यन्त कठोर परिश्रम करना होता है और यथा लक्ष्य प्राप्ति हेतु श्रम करते हुए सुख-दुःख तपों को सहन करना पड़ता है उसी प्रकार जो छात्र आलस्य, अहंकार, प्रमाद निन्दादि दोषों से रहित होकर अपने जीवन को विद्या-अध्ययन रूपी यज्ञ में प्रदान कर देता है, विद्या की प्राप्ति में दृढ़ निश्चय करता है, उस हेतु कठोर परिश्रम अपनाता है और श्रम करते हुए विद्या-मार्ग में समागत भूख, प्यास, मान, अपमान, सुख, दुःख द्वन्द्वों को सहता हुआ आगे बढ़ता है, वही उत्तम शिष्य होने योग्य है।

उत्तम उपजाऊ क्षेत्र होने पर भी यदि उसमें बोने बाला श्रेष्ठ मनुष्य न हो तो वह यथाभिलषित फल प्रदान नहीं करता है। ठीक इसी प्रकार योग्य शिष्य के होने पर भी योग्य आचार्य के अभाव में शिक्षा फलवती नहीं होती। महर्षि दयानन्द ने शिक्षा-प्रदाता के लिए तीन पदों का प्रयोग प्रायः अधिक रूप में किया है-आचार्य, गुरु और उपाध्याय। जो साङ्गोपाङ्ग वेदविद्याओं का अध्यापक, सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे वह **'आचार्य'** कहाता है।[30] आचार्य विषयक इसी प्रकार के भाव आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा व्यवहारभानुः नामक अपने ग्रन्थों में भी लिखे हैं। आचार्य यास्क ने आचार्यपद को परिभाषित करते हुए मानों शिक्षक का चित्र निर्मित किया हो ऐसा प्रतीत होता है-**"आचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा"**।[31] आचार्य को शास्त्रकारों नें द्वितीय जन्म का दाता माना है, जो द्वितीय जन्म सत्य तथा अमृत होता है -

शरीरमेव कुरुतो माता पिता च भारत।

---

27. ऋ0 6.32.19;
28. मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः।। ऋ0 8.48.14।
29 अथर्व011.5.4
30. सत्या0 प्रका0 स्वमन्त0 31;
31. निरुक्त 1 अ0, 2 पा0, 3 ख0 नैघण्टुक काण्डम्;

आचार्यतश्च यज्जन्म तत्सत्यं वै यथाऽमृतम्।।

अथर्ववेद में शिक्षक के लिए आचार्य पद का ही बहुशः प्रयोग किया गया है। यद्यपि आचार्य को मृत्यु, वरुण, सोम, औषधि और पयः नामों से भी जाना गया है -

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम औषधयः पयः।

जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्।।[32]

वस्तुतः ये पद शिक्षक के गुणों को दर्शाते हैं। छात्र के कुसंस्कारों को मारने का सामर्थ्य आचार्य में मृत्यु के समान होना चाहिए। योग्य छात्र को वरण करने का सामर्थ्य आचार्य के वरुण रूप को दर्शाता है। आचार्य के जीवन में सौम्यता का होना जरूरी है, जिससे छात्र आकृष्ट होवें। आचार्य औषधि के समान छात्र के दोषों को समाप्त कर उसे नवजीवन प्रदान करने वाला होना चाहिए, तथा जैसे दूध पुष्टिकारक होता है, वैसे ही आचार्य भी छात्र की वृद्धि का ध्यान रखे।

अथर्ववेद में आचार्य को ब्रह्मचारी होने का निर्देश है।[33] वह छात्र की समस्याओं का समाधान तभी कर सकता है, जब उसके समीप ज्ञान का अनन्त कोष विद्यमान हो।[34] शिक्षक छात्र को मानवीय गुणों से ओतप्रोत कर देता है।[35] वह वाणी का स्वामी बनकर तथा वसुओं के गुणों का ज्ञाता होकर अपने छात्र को वाचस्पति तथा वसुपति बना सकता है।[36]

वेदों में शिक्षक के लिए बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, विप्रः, ब्रह्मन्, पितरः शिक्षानरः तथा विपश्चित् आदि विभिन्न नामों का प्रयोग हुआ है, जो शिक्षक के विविध गुणों को वैदिक प्रसङ्गों से बताते हैं।

भारतीय संस्कृति में आचार्य का स्थान माता-पिता से अधिक पूज्य होता है। यतोहि माता-पिता तो केवल शरीर को ही जन्म देते हैं, किन्तु आचार्य विद्या प्रदान कर उस बालक को शिक्षा का जन्म प्रदान करता है- **"स विद्यातस्तं जनयति, तत् श्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः"**।[37] विद्याजन्मदाता आचार्य के प्रति शिष्य को सदा कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि उस महापुरुष आचार्य ने शिष्य के मानसिक, बौद्धिक दोषों को विनष्ट कर उसे सुयोग्य बनाया है।

---

32. अथर्व0 11.5.14.
33. आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।। 11.5.16;
34. अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य।। अथर्व0 11.5.10;
35. यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु।। अथर्व0 6.108.4;
36. पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह। वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्।। अथर्व0 1.1.2;
37. आप.धर्म0 1.1.15-17;

वेद में ऐसे आचार्य के लिए शिष्य दीर्घायु होने तथा यशस्वी बनने की प्रार्थना करता है -

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद् भव।

आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय।।[38]

सुयोग्य शिष्य शिक्षक से शिक्षा किस प्रकार ग्रहण कर सकता है, इसके लिए आवश्यक है कि शिक्षक की शिक्षण शैली सरल तथा सरस हो। इसके लिए वेद में अनेकत्र संकेत मिलते हैं। छात्रों में रुचि उत्पन्न करने के लिए छोटे-छोटे खेल खिलौने बनाने की भी एक विधि है, सामान को इधर-उधर गिराकर उपयुक्त स्थान पर लगाना भी बुद्धि-संग्रह में सहयोग देता है, आचार्य छात्र की उचाट बुद्धि को संग्रहीत करने की विधि को अपना कर उसे विद्या के प्रति लगाता है, अतः वेद ने कहा-**'धिय आ तनुध्वम्, नावम् .... कृणुध्वम्, इष्कृणुध्वम्, आयुधाकारं कृणुध्वम्"।**[39] इस शैली से बच्चे में एकाग्रता आती है। वेद में शिक्षण की एक शैली शास्त्रार्थ जैसी भी प्राप्त होती है। इसमें एक दूसरे को परास्त करने की स्थिति बनी रहती है। अतः यजुर्वेद में प्रश्निन्, अभिप्रश्निन् तथा प्रश्नविवाक पद प्राप्त होते हैं जो क्रमशः प्रश्नकर्ता, उत्तरदाता तथा निर्णायकों के अर्थ को सूचित करते हैं।[40] अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के प्रथम सूक्त के द्वितीय मन्त्र में शिष्य आचार्य से प्रार्थना करता है कि वह उन्हें खेल-खेल में पढ़ाये, तथा कुछ ऐसी सरल विधि से समझाये कि पढ़ाया हुआ पाठ कभी न भूले। ऋग्वेद में 7.03.5 पर मण्डूक सूक्त है, जो इस बात का संकेत करता है कि एक बार आचार्य उस पाठ को बोले, पुनः शिष्य उच्चारण करें। यह इसको भी द्योतित करता है कि पढ़े हुए पाठ की पुनःपुनः आवृत्ति आवश्यक है, इससे वह बुद्धि में स्थिर हो जाता है। यजुर्वेद में अध्ययन हेतु प्रश्नोत्तर विधि भी प्राप्त होती है। जिसमें एक शिष्य प्रश्न करता है, आचार्य उसका सरल उत्तर देते हैं -

किंः स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्।

यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।।[41]

किंः स्विद्वनं क ऽ उ स वृक्षऽआस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।

मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद् भुवनानि धारयन्।।[42]

---

38. अथर्व019.64.4.
39. ऋ0 10.101.2;
40. उत्सादेभ्यः कुब्जं प्रमुदे वामनं द्वार्भ्यः स्रामं स्वप्नायान्धमधर्माय बधिरं पवित्राय भिषजं प्रज्ञानाय नक्षत्रदर्शमाशिक्षायै प्रश्निनमुपशिक्षायाऽभिप्रश्निनं मर्यादायै प्रश्नविवाकम्।। यजु0 30.10.
41. यजु017.18

कः स्विदेकाकी चरति कऽउ स्विज्जायते पुनः।
किꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वावपनं महत्।।[43]

सूर्यऽएकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्।[44]

का स्विदासीत्पूर्वचित्तिः किꣳ स्विदासीद् बृहद्वयः।
का स्विदासीत्पिलिप्पिला का स्विदासीत्पिशङ्गिला।।[45]

द्यौरासीत्पूर्वचित्तिरश्वऽआसीद् बृहद्वयः।
अविरासीत्पिलिप्पिला रात्रिरासीत्पिशङ्गिला।।[46]

इस प्रकार वेदों में अध्यापन हेतु अनेकविध शैलियों को आचार्य अपनायें-ऐसा मूल संकेत दिया गया है।

आचार्य छात्र को शिक्षित करते रहें और छात्र शिक्षा ग्रहण करते रहें यह तारतम्य तो उत्तम है, किन्तु छात्र को विषय बुद्धिगम्य हुआ है अथवा नहीं? इसके लिये छात्र की परीक्षा होना अनिवार्य है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने छात्र की परीक्षा हेतु निम्न वाक्यों को लिखा है -**"नहि कस्यापि मनुष्यस्याध्यापनेन विना परीक्षया च विना विद्यासिद्धिर्जायते"**[47]

परीक्षा के विना शिक्षाप्राप्ति का प्रमाण असम्भव होता है। परीक्षा लेते समय अध्यापक को छात्र से ऐसा व्यवहार करना चाहिए जैसे वह छात्रों का विरोधी है, इससे प्रश्न कठिन पूछे जायेंगे और अनुकरण (नकल) से भी बचा जा सकता है -**'त एवाध्यापका विद्यार्थिनो विदुषः कर्तुं शक्क्नुवन्ति ये प्रीत्या सम्यगध्याप्य विरोधिवत् परीक्षयन्ति।'**[48] किन्तु कठोर परीक्षा से पूर्व छात्र को प्रेमपूर्वक पढ़ाना भी आवश्यक है।

छात्र की साधारण परीक्षा तो अगला पाठ पढ़ाने से पूर्व प्रायः प्रतिदिन पिछला पाठ सुनकर अथवा लिखवाकर अध्यापक ले, किन्तु मास के अन्त में शिक्षक से अतिरिक्त अन्य

---

42. यजु017.20
43. यजु023.9
44. यजु023.10
45. यजु023.11
46. यजु023.12.
47. ऋ0 1.9.3.1 का दयानन्दकृत भावार्थ।
48. ऋ0 6.52.7 का दयानन्दकृत भावार्थ।

कोई विद्वान् जो विषय का विशेषज्ञ हो, उसकी परीक्षा ले। उस परीक्षा के प्राप्त-प्रमाणों को देखकर तीक्ष्ण बुद्धि वाले छात्रों को विशेष रूप से परिश्रमपूर्वक शिक्षक पढ़ाये, जिससे शिक्षा का शीघ्र विस्तार हो।[49]

वेदों में इस प्रकार की शिक्षा को प्रदान करने वाले आचार्य के सम्मान की चर्चा की गयी है -

ओष्ठाविव मध्वास्ते वदन्ता स्तनाविव पिप्यतं जीवसे नः।

नासेव नस्तन्वो रक्षितारा कर्णाविव सुश्रुता भूतमस्मे।।[50]

वस्तुतः शिक्षा मनुष्य को मानवीय गुणों से ओतप्रोत करती है, फिर यह कैसे सम्भव न था कि ऐसी देवी का वर्णन वेदों में न होता? यह शिक्षा कल्पवृक्ष है, कामधेनु है, सुख-सौभाग्य की कुञ्जी है और शान्ति की कल्लोल करती हुई उच्च शिखर से बहती हुई नदी है, अतः कहा है-**'सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते'**-इस सरस्वती को दिव्यजन ही पुकारते हैं।।

---

49. द्रष्टव्य यजु0 7.34 पर दयानन्दभाष्य।

50. द्रष्टव्य-ऋ0 2.39.6 पर दयानन्दकृत भावार्थ।

गुरुकुल शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ065-74)

स्वामिदयानन्दस्य वेदार्थदिक् तदाधारश्च

डॉ० जितेन्द्र कुमार

(संस्कृत-विभाग), दयानन्द कॉलेज, अजमेर

पुराकालतो वेदस्याध्ययनमर्थान्वेषणञ्च मुनिभिः ऋषिभिः विद्वद्भिश्चाजस्रमद्य यावत् क्रियते। वेदभाष्यपरम्परायां बहवो वेदज्ञाः स्व-स्वभाष्यैः व्याख्याभिश्च वेदार्थं प्रतिपेदिरे। इदानीमेकोनविंशतेः वेदभाष्यकाराणां नामान्युपलभ्यन्ते तेषु वेदभाष्येषु विंशतितमशताब्द्यामन्यतमं प्रशस्यतमञ्च भाष्यं स्वामिनो दयानन्दस्य वेदभाष्यम्। आचार्योऽयं पूर्वाचार्याणामाधारं स्वीकृत्याग्रे सरति, अथ चाधुनिकसमाजेऽपि बहूपयोगिनी व्यावहारिकी व वेदव्याख्यां प्रस्तौति। केषुचित् स्थलेषु भाष्यकारोऽयं पूर्वभाष्यकाराणां सायणादीनां मन्तव्यानि सप्रमाणं खण्डयति। यतो हि ताः व्याख्याः विरोधाभासत्वेन, कर्मकाण्डमात्रत्वेन, कालदोषप्रसङ्गत्वेन, स्वप्रतिज्ञाभङ्गत्वेन व दूषिताः कलुषिताश्च तस्मात्ता अश्रद्धेयाः। स्वामिदयानन्द आचार्ययास्कं प्रमुखाधाररूपेणाङ्गीकृत्य स्वमन्तव्यानां वेदभाष्ये दाक्षिण्येन प्रतिपादयाम्बभूव। तथापि बहव एतादृशाः मन्त्राः सन्ति येषां मन्त्राणां भाष्यमाचार्ययास्केनापि निजे निरुक्तनाम्नि ग्रन्थे विहितं किन्तु स्वामिना तेषामेव मन्त्राणां तेभ्योऽतिरिक्तो भिन्नो वार्थः प्रस्तुतः, परन्तु तस्य वेदभाष्यस्य पद्धतिः सैव वर्तते या ऋषिभिर्मुनिभिश्चानुमोदिताभिनन्दिता च। स्वामिदयानन्दस्य वैशिष्ट्यमिदं विद्यते यदसौ भाष्यकारः व्यावहारिकमर्थमधिकं विदधाति। स हीश्वरस्य सर्वपदार्थानां कर्त्तृत्वं स्वीकृत्य तेषां प्रयोजनं प्रमुखत्वेन प्रतिपादयति। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायां स्वामिदयानन्दः प्रतिजानीते-**"अत्र चत्वारो वेदविषयाः सन्ति, विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादाभ्य तृणपर्य्यन्तपदार्थेषु साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्"**।[1]

स्वामिदयानन्दस्यैषा सुदृढा बलवती च धारणा विद्यते यद् वेदस्योभे प्रयोजने स्तः। एतयोर्मध्ये अन्यानि सर्वाणि प्रयोजनानि समाहितानि सन्ति। प्रमाणरूपेणोपनिषद्वाक्यमुद्धरति स्वामी-**"(तत्रापरा) वेदेषु द्वे विद्ये वर्त्तेते, अपरा परा चेति। तत्र यया पृथिवीतृणमारभ्यप्रकृतिपर्य्यन्तानां पदार्थानां ज्ञानेन यथावदुपकारग्रहणं क्रियते सा अपरोच्यते। यया चादृश्यादि विशेषणयुक्तं सर्वशक्तिमद्ब्रह्म विज्ञायते सा परा**

1. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदविषयविचारप्रकरणम्। (स्वामी दयानन्दः)

अर्थादपरायाः सकाशाद् अत्युत्कृष्टास्तीति वेद्यम्"।[2] अनेनोपनिषदुद्धरणेन विशदं प्रतिभाति यत् स्वामिमहोदयस्य वेदभाष्यप्रसङ्गे व्यावहारिक्याः पारमार्थिक्याश्च व्याख्यायाः पूर्वपीठिकात्वेन वाक्यमिदं पुष्णाति प्रमाणयति च। व्यावहारिकीव्याख्यायां कृत्स्नस्य जगतः पदार्थानां, गुणानां, ज्ञानं, प्रयोगः, परिचालनं, निर्माणञ्च सर्वं समागतम्। इतोऽतिरिक्तं नास्ति किञ्चित् वेद्यं वस्तुजातमिह। तथा च अपर ईश्वरो यस्य ज्ञाते सति न किमप्यवशिष्टं भवति परिज्ञातव्यम्। उपनिषदपि तथ्यमिदं सत्यापयति। ईश्वरज्ञानेन सर्वज्ञानं स्वत एव भवति-

"भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥[3]

स्वामिमहोदयस्य वेदभाष्यदिक् सप्रमाणा, सार्थवती, सोद्देश्या, वेदानुकूला च वर्त्तते। तेषां प्रामाणनि वैदिकसाहित्यसमन्वितानि सन्ति। तेषामुद्घोषणा वर्त्तते यत्-नाहं किमपि नूतनं लिखामि, परं पूर्वाचार्यैः या दिक् प्रदर्शिता तामेव सरणिम् अनुसृत्य स्ववेदभाष्यं लेखिष्यामि।[4] अत्र अधोलिखितेनोद्धरणेन अवधेयं वर्त्तते येषां ग्रन्थानां मन्तव्याः प्रकाशं नेतुं स्वामिमहोदयेन घोषणा कृता ते सर्वे ग्रन्थाः आर्षाः प्रामाणिकाश्च विद्यन्ते। एते सर्वे ग्रन्थाः वेदज्ञैः वेदव्याख्याभिश्च भाष्यकारैश्च प्रामाणिकरूपेणोररीक्रियन्ते। एतेन इदमपि स्पष्टं यत् ब्राह्मणग्रन्थान् वेदनाम्नाऽपि नैव सम्बोधयति आचार्यः। ते हि वेदव्याख्यानग्रन्थाः सन्ति न तु वेदाः।[5]

स्वामिदयानन्दः मध्यवर्त्तिनां पूर्वाचार्याणां सायणोव्वटमहीधरप्रभृतीनां वेदभाष्यकाराणां विषये स्वाभिमतं सप्रमाणेनोल्लिलेख-"यानि रावणोव्वट-सायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि, यानि चैतदनुसारेण इङ्गलेण्डशर्मण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोपखण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि, तथैवार्य्यावर्त्तदेशस्थैः कैश्चित्तदनुसारेण प्राकृतभाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च तानि सर्वाण्यनर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत्-प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च"।[6]

---

2. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वेदाविषयविचारप्रकरणम्। (स्वामी दयानन्दः)
3. मुण्डकोपनिषद् (2.2.8)
4. पूर्वाचार्यैः कृतं प्रकाश्यते। तद्यथा-यानि पूर्वैर्देवैर्विद्वद्भिर्ब्रह्माणमारभ्य याज्ञवल्क्यवात्स्यायनजैमिन्यन्तैर्ऋषिभिश्चैतरेयशतपथादीनि भाष्याणि रचितान्यासन् तथा यानि पाणिनिपतञ्जलियास्कादिमहर्षिभिश्च वेदव्याख्यानानि वेदाङ्गाख्यानि कृतानि, एवमेव जैमिन्यादिभिर्वेदोपाङ्गाख्यानि षट्शास्त्राणि एवमुपवेदाख्यानि च रचितानि सन्ति। एतेषां संग्रहमात्रेणैव सत्योऽर्थः प्रकाश्यते। न चात्र किञ्चिदप्रमाणं नवीनं स्वेच्छया रच्यत इति। -वही भाष्यकरणशंकरकासमाधानादि विषयः।- स्वामी दयानन्दः
5. ब्राह्मणानि तु वेदव्याख्यानान्येव सन्ति नैव वेदाख्यानीति।। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
6. वही- भाष्यकरणशंकासमाधानादि विषयः। स्वामी दयानन्दः

स्वामिमहोदयेन उपर्युक्तप्रकरणे आचार्यसायणमहीधरयोः भाष्ययोः उद्धरणानि प्रदर्श्य तेषां सप्रमाणं विवेचनं यथायथं विहितम्। इह सायणाचार्यस्योदाहरणपुरस्सरमेकस्यमन्त्रस्यालोचना-मुपस्थाप्यते महीधराचार्यस्य तु नात्र प्रदर्शनमर्हति अश्लीलत्वात्। आचार्य सायणस्यावधारणा वेदानां विषये **"सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डतत्पराः सन्ति"** इति वर्त्तते। स्वामिदयानन्दः एनां धारणामपाकरोति। यतो हि एतेषां मते **"वेदानां सर्वविद्यान्वितत्वात्"** सर्वा विद्याः वेदेषूपलभ्यन्ते। स्वामिचरणैर्विवेचितमेकं वेदमन्त्रमत्र प्रस्तौमि।

"(इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निम्) अस्य मन्त्रस्यार्थोप्यन्यथैव सायणेन वर्णितः। तद्यथा-तेन अत्र इन्द्र शब्दो विशेष्यतया गृहीतो मित्रादीनि च विशेषणतया। अत्र खलु विशेष्योऽग्निशब्द इन्द्रादीनां विशेषणानां सङ्गेऽन्वितो भूत्वा, पुनः स एव सद्वस्तुब्रह्मविशेषणं भवति। एवमेव विशेष्यं प्रति विशेषणं पुनः पुनः अन्वितं भवतीति, न चैव विशेषणम्। एवमेव यत्र शतं सहस्रं वैकस्य विशेष्यस्य विशेषणानि भवेयुः तत्र विशेष्यस्य पुनः पुनरुच्चारणं भवति, विशेषणस्यैकवारमेवेति। तथैवात्र मन्त्रे परमेश्वरेणाग्नि शब्दो द्विरुच्चारितो विशेष्यविशेषणाभिप्रायत्वात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्। निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेन एव वर्णितः। तद्यथा-**"इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदतीन्द्रं मित्रं वरुणामित्यादि"**॥[7] स चैकस्य सद्वस्तुनो ब्रह्मणो नामास्ति। तस्मादग्न्यादीनीश्वरस्य नामानि सन्तीति बोध्यम्। एवमेव सायणाचार्यकृतभाष्यदोषा बहवः सन्ति"।[8]

स्वामिमहोदयस्य विवेचनेन ज्ञायते यत् इन्द्राग्निमित्रवरुणादीनि ईश्वरस्यापि नामानि सन्ति। परमेतादृशं डिण्डिमघोषं न कोऽप्यन्यः भाष्यकारः कथमपि कर्तुं शशाक, किन्तु बहुषु स्थलेषु सर्वे भाष्यकारा एभिः पदैरीश्वरमपि विदाञ्चक्रुः। महीधराचार्यस्य भाष्ये महर्षिणा याः अश्लीलताः संकेतिताः दिग्दर्शनमप्यत्र नावश्यकम्। एतत् सर्वमन्वीक्ष्य स्वामिना एतेषां भाष्यकाराणां व्याख्यानं नैव श्रद्धेयमिति भणितम्। **"नैवेतेषां व्याख्यानानामाश्रयं कर्त्तुमार्य्याणां लेशमात्राऽपि योग्यता दृश्यते। तदाश्रयेण वेदानां सत्यार्थस्य हानिरनर्थप्रकाशकश्च। तस्मात्तद्व्याख्यानेषु सत्याबुद्धिः केनापि नैव कर्त्तव्या। किन्तु वेदाः सर्वविद्याभिः पूर्णाः सन्ति। नैव किञ्चित् तेषु मिथ्यात्वमस्ति"**।[9]

प्रायः वेदभाष्यकारैः याज्ञिकप्रक्रियायां वेदमन्त्राणामर्था अन्यूनीकृताः। अनल्पीयस्सु स्थलेषु

---

7. निरुक्त-7.18
8. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋग्वेद-(2.3.22) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयः। (स्वामी दयानन्दः)
9. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयः। (स्वामी दयानन्दः)

व्याख्याकाराः यत्र तत्र मन्त्राणामाध्यात्मिकानप्यर्थान् चक्रुः। आचार्ययास्कोऽपि वेदमन्त्राणाम् आध्यात्मिकाधिदैविकादिव्याख्याः अङ्गीचकार। असौ तु सर्वेषु वेदमन्त्रेषु आध्यात्मिकादयः त्रिविधाः प्रक्रियाः मन्यते, तद्यथा-**"अर्थ वाचः पुष्पफलमाह याज्ञदैवते पुष्पफले देवताऽध्यात्मे वा"**[10] प्रब्रुवन् यास्कः कृत्स्नाः वेदावाण्याः अधियज्ञाधिदैविकाध्यात्मिकांश्चार्थान् वाचः पुष्पं फलस्थानीयम् इति कृत्वा उररीकरोति। अस्य निरुक्तप्रकरणस्याभिप्रायोऽयं स्वमतेनोपस्थापयामि, वार्तेयं न तथ्यं सङ्गच्छते परं पञ्चशतमेकसहस्रसंवत्सरं प्राग् आचार्यस्कन्दस्वामी लिखति यत् यास्कस्य मते प्रतिवेदमन्त्रं तिसृषु प्रक्रियासु अर्थः प्रभवति। यथा-"सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय **"अर्थ वाचः पुष्पफलमाह"** इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्।"[11]

स्वामिदयानन्दस्यापि त्रिविधप्रक्रियाविषये यदभिमतं तदत्र प्रस्तौमि। "अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्र यत्राग्निहोत्राद्यश्वमेधान्ते यद्यत् कर्त्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्ते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-शतपथब्राह्मणमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्। पुनः तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुनरुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति। ... अथात्र यस्य यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते, परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थे अत्यन्तं त्यागो भवति।"[12]

अर्थात् पदार्थेषु याज्ञिकार्थाणां निर्देशमात्रं स्थास्यति। सर्वे याज्ञिकार्थान् न प्रदर्शयिष्यामः। केषाञ्चिदपि मन्त्राणामर्थेषु परमात्मनः परित्यागो न कदापि भवितुमर्हति। प्रत्येकं मन्त्रस्यार्थः परमेश्वरपरकोऽपि भविष्यतीति स्वामिवर्यस्य विशदं मन्तव्यमस्ति। अनेन स्पष्टमाभाति यत् स्वामिना पूर्ववर्त्तिवेदभाष्यकाराणां सुष्ठुरूपेणाध्ययनमर्थाणामन्वीक्षणं विश्लेषणं विवेचनञ्च विहितम्। एतावदेव न अपितु यत्र-यत्र समालोचनाया अवसरं प्राप तत्र-तत्र सप्रमाणं समीक्षणमपि वेदार्थं यथायथं परिज्ञातुं प्रस्तुतं स्थालीपुलाकन्यायात्। अन्ये वेदभाष्यकाराः वेदानां पारम्परिकमर्थमेव चक्रुः, परन्तु स्वामिमहाभागः पारम्परिकमर्थं तावन्न जग्राह यावदसौ अर्थः युक्तियुक्तो व्यावहारिको निरुक्त-ब्राह्मणारण्यकोपनिषदादिप्रामाणिकग्रन्थानुमोदितो न प्रतिभासते। अन्यथा पदानां वेदमन्त्रेष्वागतानामर्थाः यौगिका इति एव व्याख्याञ्चकार।

---

10. निरुक्त-(1.20) (आचार्ययास्कः)
11. निरुक्त-(7.5) भाग-3 स्कन्दस्वामी। पृ0 36-37
12. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-प्रतिज्ञाविषयः। (स्वामी दयानन्द)

अनया पद्धत्या भाष्यमिदं प्राचीनवैदिकग्रन्थानां सन्निकटतामधिकं भजते। वेदस्य शब्दानां विषये स्वामिमहोदयस्य सुव्यक्ता घोषणा वर्त्तते यत् वैदिकशब्दा उभयविधा यौगिकाः योगरूढाश्च।[13] न रूढयः। मन्मतेऽति एकोऽपि वेदभाष्यकारः एतादृशो न प्रतिभाति यो वैदिकान् शब्दान् रूढानङ्गीकरोति। अतः स्वामिमहाभागस्य मतं समीचीनं दृश्यते। स्वामिदयानन्देतर-वेदभाष्यकारैः बहुधा वैदिकशब्दाः त्रिप्रकारकाः यौगिकाः योगरूढाः रूढयश्चेति प्रतिपादिताः। रूढ्यर्थकरणे सति वेदाः पौरुषेयाः कालसीम्नः प्रतिबद्धाः भवन्ति, एतन्न न्यायोपेतम्। एतादृश्यामवस्थायां वेदाः सार्वदेशिकाः, सार्वकालिकाः अपौरुषेयाश्च कथं भवितुमर्हन्ति?

अस्मिन् त्रिविधप्रक्रियाविषये दुर्गाचार्यस्य निरुक्तटीकायां प्रस्फुटो आधारः प्राप्यते तत्राचार्यदुर्गो भाषते-विनियोगभेदेन मन्त्राणामर्थेषु वैविध्यं भविष्यति। एते मन्त्राः वक्तुरभिप्रायभेदेन भिन्नतां प्राप्नुवन्ति। अस्य मन्त्रस्य इयानेवार्थः इति नैवं वक्तुं शक्यते। एते मन्त्राः महदर्थैः समन्विताः सन्ति। ते हि महता प्रयत्नेन, अत्यन्तदुष्परिज्ञानेन, विद्यया योगादिभिश्च ज्ञेयाः। यथा-अश्वः अश्वारोहभेदेन तीव्रं तीव्रतरञ्चाधिगच्छति, सुष्ठु सुष्ठुतरञ्च धावति तथा वक्ता यावानधिकयोग्यः तपस्वी च भविष्यति तथैव वेदार्थेनापि तावानेवाधिकः साधूनां साधुतराणामर्थाणां च प्रकाशो भविष्यति। एवं प्रकारेण निरुक्तशास्त्रे लक्षणप्रदर्शयितुं संकेतमात्राय एकैकस्य शब्दस्य निर्वचनं प्रदर्शयामास। क्वचिद्-क्वचिदाध्यात्मिकाधिदैविकाधियज्ञानामर्थान् बोधयितुं पदानां निर्वचनमपि चकार। अतः एषु मन्त्रेषु यावन्तोऽर्था उपपन्नाः स्युस्ते आधिदैविकाधियज्ञाध्यात्मिकादयः भवेयुः तेषां सर्वेषां योजनं करणीयम्. नात्र दोषावसरः लवलेशोऽपि।[14]

आचार्ययास्कानुसारेणापि सर्वाणि नामपदानि धातुजानि भवन्ति। सर्वेषां नैरुक्तानामपि अयमेव सिद्धान्तः। एषा मान्यता बद्धपरिकराः दृश्यते।[15] पतञ्जलिमुनिरपि महाभाष्ये इदमेव स्वीकरोति।[16] अनेन ज्ञायते यत् स्वामिदयानन्दस्य उपर्युक्ता मान्यता यास्कपतञ्जलिप्रभृतिभिः ऋषिभिरनुमोदिताऽभिनन्दिता वेदानुकूला च वर्त्तते। स्वामिना यदुक्तं तत् सर्वं पूर्वाचार्यैः वेदव्याख्याकारैश्च परिपुष्टमाभाति।

---

13. निघण्टु की भूमिका-(स्वामी दयानन्दः)
14. तत्रैवं सति प्रतिविनियोगमस्यान्येनार्थेन भवितव्यम्। त एते वक्तुरभिप्रायवशादन्यत्वम् अपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेषु अर्थस्येयत्तावधारणमस्ति, महार्था ह्येते दुष्परिज्ञानाश्च। यथाऽश्वारोहवैशिष्ट्यादश्वः साधुः साधुतरश्च वहति, एवमेते वक्तृवैशिष्ट्यात् साधून् साधुतरांश्चार्थान् स्रवन्ति। तत्रैवं सति लक्षणोद्देशमात्रमेवैतस्मिञ्छास्त्रे निर्वचनमेकैकस्य क्रियते। क्वचिद् चाध्यात्मिकाधिदैवाधियज्ञोपदर्शनार्थम्। तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रया सर्व एव ते योज्या नात्रापराधोऽस्ति। निरुक्त-2.8 दुर्गटीका।
15. तत्र नामान्याख्यातजानीति शकटायनो नैरुक्तसमयश्च।। निरुक्त-(1.12)
16. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्। अष्टाध्यायी-(3.3.1) महाभाष्य (पतञ्जलिः)

वेदार्थमवगन्तुं वैदिकभाषापरिज्ञानं परमावश्यकं वर्त्तते। लौकिकभाषाज्ञानात् वैदिकभाषाज्ञानं न कदापि भवितुमर्हति। वैदिकशब्दाः लौकिकशब्देभ्यः भिन्नार्थका अपि भवन्ति। वार्त्तेयं सततं निजहृदि निधायावधेया विद्वद्भिः। लौकिकवैदिकशब्दयोः भेदो महाभाष्यकारपतञ्जलिमुनिः महाभाष्यस्यारम्भे प्रदर्शयाञ्चकार **"केषां शब्दानाम्? लौकिकानां वैदिकानाञ्च"** इतोप्यग्रे-**"नैगमरूढिभवं हि सुसाधु। नैगमाश्च रूढिभवाश्च"**। इत्युक्त्वा लौकिकवैदिकशब्दयोः भिन्नत्वमभिव्यञ्जितम्। अर्थात् नैगमो वेदस्य शब्दा रूढयो न भवन्तीति तेषां मतं निश्चप्रचम्। वैदिकनिघण्टुकोषे **"कण्वशब्दः"** मेधावी अर्थात् बुद्धिमतो नाम परन्तु बहवो जना एव नापितु वेदभाष्यकाराः अपि **"कण्व"** पदस्यार्थः कश्चिदृषिरिति चक्रुः। **"अहि"** शब्दो वेदे मेघवाचकः **"पुरीष"** शब्दः निघण्टुकोषे जलवाचकः किन्तु लौकिकभाषायामहिः सर्पवाचकः तथा पुरीषशब्दः मलवाचकः प्रसिद्धः। निघण्टौ कण्व-वेन-उशिक्-गृत्सादयः वेदे मेधावी नामसु पठिताः, परन्तु लोके एतं संज्ञावाचिनः शब्दाः सन्ति। **"कुरवः"** ऋत्विक्नामसु वर्त्तते कुरुवंशोत्पन्नाः राजानः न सन्ति। **"उशिक्"** कर्मनामसु पठितम्। नश् धातुः वेदे व्याप्त्यर्थबोधकः लोके च विनाशार्थे विद्यते।

स्वामिदयानन्दः तामेव सरणिमनुसृत्य स्ववेदभाष्यं प्रणीतवान्। तेषां मन्तव्यमस्ति वेदे लौकिकानां पुरुषाणामृषीणां, मुनीनां, पूर्वजानां यानि नामान्युपलभ्यन्ते तानि सर्वाणि नामानि वेदाल्लोके प्रसिद्धनि जातानि न तु लोकस्य नामानि वेदे प्राप्नुवन्ति।

सर्वेषां तु नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।[17]

उपर्युक्तेषु प्रमाणेषु स्वामिमहाभागस्य विश्वासो बहु वर्नते। एतेषां वाक्यानामाधारं मत्वैव महर्षिणा स्ववेदभाष्यस्य दिक् सुनिश्चिता। महर्षिः वेदभाष्यम् आम्नायमपौरुषेयं, सार्वकालिकं, सार्वदेशिकं सार्वभौमिकञ्च प्रमाणीकरोति।

अत्र केषाञ्चिद् भाष्यकायणां भाष्येषूपलब्धान् वैदिकपदानां यौगिकार्थान् द्योतयन्ती एका कनिष्ठा सूची प्रस्तोतुमीहते मे मनः। अस्मात् स्पष्टीभविष्यति यत् यौगिकार्थेन विना वेदार्थः कथमपि यथायथं नैवोद्घाटितुं शक्यते।

1.	अग्निः	एष परमात्मा अग्निः (अथर्व.भाष्य.-2.1.4) सायण:ब्राह्मणः। (शतपथ-ब्राह्मण भाष्य-1.4.2.2) सायण
2.	आपः	अप् शब्दो व्याप्तिवचनः आप्नोतेः, नोदकवचनः (ऋ.भा. 1. 91.1) स्कन्द बहुवचनान्तोऽपशब्दोऽन्तेरिक्षनामसु पठितः। (ऋ.

17. मनुस्मृति-1.21

		भा.1.52.12.) स्कन्द आपो वृत्तय:, अप्सु व्यापनशीलासु धीवृत्तिषु। (अथर्व. भा. 4.30.7) सायण
3.	इन्द्र:	परमैश्वर्यवान् मरुद्गण: (ऋ.भा. 1.6.7) स्कन्द। पर्जन्य: (ऋ. भा. 1.164.33) सायण। परमेश्वर: (ऋ.भा. 10.92.8) सायण
4.	इन्द्रम्	परमैश्वर्यापेक्षं देवं, वणिजम्, वाणिज्यकर्त्तारम्। (अथर्व.भा.3.1. 5.1) सायण
5.	इन्द्रस्य	परमात्मन:, परमेश्वरस्य। (ऋ.भा. 10.92.8) सायण।
6.	आदित्य:	परमेश्वर:। (ऋ.भा. 1.164.21) सायण।
7.	भ्राता	परोपकारक:। (ऋ.भा. 1.170.4) सायण।
8.	वसिष्ठ:	सर्वस्य वासयितृतम:। (ऋ.भा. 2.9.1) सायण
9.	रथ:	यज्ञ:। (ऋ.भा. 2.18.1) सायण
10.	बभ्रु::	भर्त्ता सर्वस्य। (ऋ.भा. 2.33.5) सायण
11.	वायव:	गन्तार:। (ऋ.भा. 10.4.6.9) सायण
12.	मनु:	मनुष्यो यष्टाठा माननीयो राजा वा। (ऋ.भा. 10.51.5) सायण
13.	बृहस्पते	परमेश्वर। (ऋ.भा. 10.98.4) सायण
14.	इन्द्रतमा	सर्वस्येश्वरतमा। अङ्गिरस्तमा = गन्तृतमा। (ऋ.भा. 7.7.9.3) सायण

अनया संक्षिप्ततालिकाया ज्ञायते यत् सायणाचार्यप्रभृतिवेदभाष्यकारा अपि यौगिकार्थं विना स्वभाष्यं कर्तुं न्न शेकु:। यद्यपि एतेषां भाष्यकाराणाम् एतादृशी काचन उद्घोषणा नासीत् तथापि अल्पीयस्सु स्थलेष्वेव ते पदानां यौगिकार्थान् प्रदर्शयामासु:। मन्मते तु स्वामिदयानन्देनाचार्यसायणस्य वेदभाष्यादपि यौगिकपद्धति: गृहीता इति स्वीकरणेऽपि नास्ति काचिद् विप्रतिपत्ति:। यतो हि पूर्ववर्त्तिभ्य: स्वामिमहोदय: परिवर्त्तिन: आचार्या: गृह्णन्त्येव। अयमपि स्वामिन: गुण एव वर्त्तते न तु दोष:। अत एव स्वामिमहोदय: स्वस्मिन् ग्रन्थे यां प्रतिज्ञामकरोत् सा वेदभाष्यार्थं यथार्थमर्थमवगन्तुमसाधारणमहत्त्वञ्च प्रतिपादयितुमत्यन्तमावश्यकी चासीत्। साम्प्रतमपि तस्या आवश्यकता तथैव वर्त्तते यथा तदाऽसीत्। अथ चाग्रेऽपि तत् सदैव वेदार्थ वेदितुं स्थास्यति। इयमेव पूर्वाचार्याणामृषिणां परम्परा आसीत्। तां परम्परामनुवर्त्य स्वामिनाऽपि स्ववेदव्याख्यानं प्रणीतम्। न कश्चिद् लवलेशोऽपि सन्दिग्धावसरोऽत्र दृश्यते।

स्वामिमहाभागेन जडपदार्थानां विषये मन्त्रेषु मध्यमपुरुषक्रियास्थाने प्रथमपुरुषक्रिया: सर्वत्र

वेदभाष्ये व्यत्ययेन विहिताः। अस्य नियमस्यापि घोषणा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायामृषिणा सुव्यक्ता प्रागेव। तस्मान्नात्रास्ति कश्चनाक्षेपविषयः। अस्माद् विपरीते तु कृते स्यात् तत्र आक्षेपस्यावसरः।

"व्याकरणरीत्या प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः क्रमेण भवन्ति। तत्र जडपदार्थेषु प्रथमपुरुष एव, चेतनेषु मध्यमोत्तमौ च। अयं लौकिकवैदिकशब्दयोः सार्वत्रिको नियमः। परन्तु वैदिकव्यवहारे जडेऽपि प्रत्यक्षे मध्यमपुरुषप्रयोगाः सन्ति। तत्रेदं बोध्यं जडानां पदार्थनामुपकारार्थं प्रत्यक्षकरणमात्रमेव प्रयोजनमिति। इमं नियममबुद्ध्वा वेदभाष्यकारैः सायणाचार्यादिभिस्तदनुसारतया स्वदेशभाषया अनुवादकारकैर्यूरोपारव्यदेशनिवास्यादिभिर्मनुष्यैर्वेदेषु जडपदार्थानां पूजाऽस्तीति वेदार्थोऽन्यथैव वर्णितः।"[18]

तदिमं नियमं स्वामी स्ववेदभाष्ये सर्वथा सर्वदा चानुकुर्वन् दृष्टिपथमायाति। यजुर्वेदीय-प्रथमाध्यायस्य द्वितीये मन्त्रे **"वसोः पवित्रमसि ....।"**[19] इत्यत्र **"असि"** इत्यस्य पदस्य **"भवति"** इत्यर्थो विहितः। अत्र सर्वत्र पुरुषव्यत्ययः इत्युक्त्वा महर्षिरसौ निजमर्थं चकार। स्वामिमहोदयस्यैषा सुदृढा मान्यता वर्त्तते यत् जडपदार्थस्योपासना न कदापि कथमपि कर्त्तव्या। यतो हि जडपदार्था अस्मभ्यं सन्ति न तु वयं जडपदार्थेभ्यः। तेभ्य उपयोगोऽस्माभिः गृहीतव्यः सुखञ्च प्राप्तव्यम्। ईश्वरादतिरिच्य कदापि कोऽपि पुरुषो महापुरुषो वा जडपदार्थो नोपासनीयः। ईश्वरस्तु निराकारः, निर्विकारः, देहरहितः, निर्व्रणः, स्नायुहीनः, शुद्धः, पूतः, सृष्टिकर्त्ता च। स हि स्थावरजडजङ्गमस्य कृत्स्नस्यापि निर्माता वर्त्तते। स एव सर्वैः मनुष्यैर्विद्वद्भिश्च पूजनीयः।[20]

नैकस्थलेषु स्वामिदयानन्देन वेदमन्त्राणां या देवता यजुःसर्वानुक्रमण्यां विद्यते सा देवता परिवर्त्तिता। साऽपि न कथमप्यनुपयुक्ता। यतो हि पूर्वेषामाचार्याणामपि एषा पद्धतिः विलोक्यते। सैव सरणिः स्वामिनाऽपि अनुसृता। तद्यथा-**"इषे त्वोर्जे त्वा वायवस्थ ....।"**[21] स्वामी दयानन्दः सवितारम् अस्य मन्त्रस्य देवतामाह। परं यजुःसर्वानुक्रमणीकारेण तु शाखा वायुरिन्द्रश्चेति देवता निर्दिष्टा। अस्मिन् मन्त्रे सर्वानुक्रमणीकारेण शाखादयो देवताः उक्तास्ता आचार्यदयानन्दवद् दुर्गस्कन्दयोरप्यनभिमताः। यथा **"तद्येऽनादिष्टदेवता मन्त्रास्तेषु देवतोपपरीक्षा"** इत्युपक्रम्य **"यद्देवतः स, यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति"**॥[22] यास्केनोच्यते। अत्र दुर्गो लिखति-"यद्देवतः स यज्ञः यद्देवतं प्रधानं हविः, तद्यथा प्रकृतावैन्द्रं सान्नाय्यं माहेन्द्रं वा,

---

18. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-वैदिकप्रयोगविषयः। (स्वामी दयानन्दः)
19. वसोः पवित्रमसि द्यौरसि पृथिव्यसि मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाऽअसि। यजुर्वेद-(1.2) स्वामी दयानन्दभाष्यम्।
20. स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳशुद्धमपापविद्धम्। यजुर्वेद-(40.7) (दयानन्दभाष्यम्)
21. यजुर्वेद-(1.1) स्वामी दयानन्दः।
22. निरुक्त-7.4

तत्संस्कारपरा "इषे त्वादयः" (यजु०1.1) तेऽनाविष्कृतदेवतालिङ्गा ऐन्द्रा एव भवन्ति माहेन्द्रा वा।।"

स्कन्दोऽपि तृतीयभागे संकेतयति- **"यद्देवत इति" ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्"**[23] इति श्रूयते **"माहेन्द्रं वा"**। इति तच्छेषभूताः शाखाच्छेदनादिषु सान्नाय्यासंस्कारत्वेन विनियुक्ताः **"इष त्वादयस्तद्देवत्याः"** अत एवमन्यत्रापि देवताभेदः प्राचीनर्षिमुनिसम्मत एव। यास्कादिभिः परमर्षिभिर्बृहद्देवतासर्वानुक्रमण्यादिनिर्दिष्टदेवतावादमनपेक्ष्य भिन्नदेवतावादस्यप्रदर्शितत्वात्। **"पारोवर्य्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति"**[24] इत्यादिशास्त्रवचनस्याश्रयणाच्च।।

अत एव स्वामिदयानन्दस्य वेदभाष्ये देवताविषयको यो भेदो दृश्यते सोऽपि ऋषिप्रोक्तत्वात् विषयभेदत्वात् पूर्वाचार्याणां निर्देशत्वात् यास्केनोक्तत्वात् च प्रामाणिको युक्तिसङ्गतश्च। अस्मिन् विषये आचार्य उव्वटोऽपि यजुर्वेदभाष्यारम्भे लिखति-

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शातपथश्रुतेः।
ऋषीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवता छान्दसं च यत्।।

अत्राचार्य उव्वटोऽपि देवताविषयमधिकृत्य यजुस्सर्वानुक्रमण्या नैव प्रतिबद्धः। स तु गुरुतः तर्कतो ब्राह्मणग्रन्थात् श्रुतितो वा वदिष्यामि देवता इत्युवाच। ऋषीन् छन्दांसि च सः स्वविवेकेन पूर्वर्षिपरम्पराप्राप्तेन लेखिष्यामीति प्रतिपेदे। स्वामिमहाभागेनाऽपि एतादृश्यामवस्थायां यजुर्वेदभाष्यस्य प्रथमाध्यायस्य एकत्रिंशन्मन्त्राणां मध्ये एकोनत्रिंशन्मन्त्राः देवताभेदेन प्रतिपादिताः तदपि नायुक्तम्।

इदानीमेकमेतादृशमिह मन्त्रं दर्शयितुमभिलषामि यमाचार्ययास्कः यज्ञपरकत्वेन व्याचक्षे। महर्षिपतञ्जलिः स्वमहाभाष्ये शब्दविषयत्वेन निर्दिदेश। दयानन्दश्चोभयोः तयोः भाष्ययोः मिश्रणं विधाय इतोऽप्यग्रे विविधार्थं चकार। अत्र यास्कदयानन्दयोः द्वयोरर्थयोः तुलनां प्रस्तौमि।

"**चत्वारि शृङ्गेति**=वेदा वा एत उक्ताः।[25] **त्रयो अस्य पादा इति**=सवनानि त्रीणि **द्वे शीर्षे**= प्रायणीयोदनीये। **सप्त हस्तासः**=सप्त छन्दांसि। **त्रिधा बद्धः**=त्रेधा बद्धो मन्त्र-ब्राह्मण-कल्पैः। **वृषभो रोरवीति**=रोरवणमस्य सवनक्रमेण। ऋग्भिः यजुर्भिःसामभिः। यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति। महो देव इति=एष हि महान्देवो यद्यज्ञो, **मर्त्यां आविवेशेति** एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय, तस्योत्तरा भूयसे निर्वचनाय"।। इति यास्कः।

---

23. तै.सं. 2.5.3.4

24. निरुक्त 13.12

25. चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश।। (ऋ.4.58.3) निरुक्त (13.17) (यास्काचार्यः)।

अथेश्वरविज्ञानमाह

पदार्थः-(चत्वारि) चत्वारो वेदाः (शृङ्गा) शृङ्गाणीव (त्रयः) कर्मोपासनाज्ञानानि (अस्य) धर्मव्यवहारस्य (पदाः) पत्तव्याः (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे (शीर्षे) शिरसी इव (सप्त) पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि वा कर्मेन्द्रियाणि अन्तःकरणमात्मा च (हस्तासः) हस्तवद्वर्तमानाः (अस्य) धर्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (त्रिधा) श्रद्धापुरुषार्थयोगाभ्यासैः (बद्धः) (वृषभः) सुखानां वर्षणात् (रोरवीति) भृशमुपदिशति (महः) महान् पूजनीयः (देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता (मर्त्यान्) मरणधर्मान् मनुष्यादीन् (आ) समन्तात् (विवेश) व्याप्नोति।

भावार्थ-हे मनुष्या अस्मिन् परमेश्वरव्याप्ते जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयधर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्मोपासनाज्ञानानि मनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्यौ शब्दात्मानावुदगायनप्रायणीयौ अध्यापकोपदेशकौ चैत्यादीनि शिरांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि शरीरात्मा चेत्यादयो हस्ताः त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषूरसि कण्ठे शिरसि श्रवणमनननिदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो महान् सत्कर्त्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति सर्वे विजानन्तु।[26] इति दयानन्द उवाच।

"चत्वारि" इत्यस्य पदस्याचार्ययास्केन **'वेद'** इति अयमर्थो निर्दिष्टः। स्वामिदयानन्देन पदार्थे तु **'चत्वारो वेदा'** इत्ययमेवार्थोऽनुकृतः परन्तु भावार्थे चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाताः, विश्वतैजसप्राज्ञतुरीयाः, धर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्येतेऽतिरिक्ता अर्थाः विहिताः। आचार्ययास्केन **"त्रयो अस्य पादाः"** इत्येतेषां पदानां **"सवनानि त्रीणि"** इति अर्थो निगदितः। स्वामिना तु **"त्रयः"** इत्यस्य कर्मोपासनाज्ञानानि, अर्थः कृतः। भावार्थो च तेन त्रीणि सवनानि, त्रयः कालाः कर्मोपासनाज्ञानानि, मनोवाक्छरीराणि इत्यादयः अर्थाः कृताः।

उक्तरीत्या सम्पूर्णं मन्त्रं वीक्ष्य एवं प्रतिभाति यद् आचार्ययास्केन या पद्धतिः प्रतिपादिता तां पद्धतिमनुसृत्यैव स्वामिना स्ववेदभाष्यं विहितम्। बहुषु स्थलेषु स्वामिना अद्यतनीये युगे यास्कप्रोक्ताः वेदमन्त्राणां संक्षेपास्पष्टार्थाः स्वभाष्ये स्पष्टीकृताः विशदीकृताश्च।

तदेवं स्वामिदयानन्दस्य वेदार्थस्य दिक् तदाधारश्च नैकेः प्रमाणैः अन्तःसाक्ष्यैश्च स्पष्टीकर्तुं मयैको लघुतरः प्रयासो विहितः। स्वामिनः वेदभाष्यविषये एतावदेव वक्तुं शक्नोमि यद् भाष्यमिद् विविधार्थबोधकः, वैदिकसाहित्येन प्रमाणितः, ऋषि परम्परयाऽनुमोदितः, व्याकरणेन पुष्टः, वैदिककोषवद् व्यवहरणीयः, ज्ञानविज्ञानकर्मोपासनानां प्रसारकः, पारमार्थिकव्यावहारिकयोरर्थयोरुद्घाटकश्च वर्त्तते।।

---

26. ऋग्वेद-(4.58.3) (स्वामिदयानन्दभाष्यम्)

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ075-81)

वेद और प्रर्यावरण

डॉ (श्रीमती) आशा रानी वर्मा
वरिष्ठ प्रवक्ता (संस्कृत-विभाग)
नेशनल पी.जी. कालेज
भोगाँव (मैनपुरी), उ0प्र0

पर्यावरण शब्द **'परि'** उपसर्ग के साथ **'आवरण'** शब्द के संयोग से बना है। सामान्यतया **'परि'** का अर्थ है- चारों ओर या परिधि। आवरण का अर्थ है आच्छादित करने वाला। इस प्रकार पर्यावरण का अर्थ हुआ कि जो हमारे चारों ओर फैल कर हमें ढके हुये है वह पर्यावरण है। मनुष्यादि प्राणियां तथा वृक्ष-वनस्पतियों के चारों ओर पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश नामक पाँच महाभूतों एवं मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि विविध जीवों की अवस्थिति है, वही हमारा पर्यावरण है। इसमें प्राकृतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि सभी प्रकार के पर्यावरणों का समावेश हो जाता है।

अन्य जीवों के समान ही मानव भी पर्यावरण का एक अङ्ग है, परन्तु एक विभिन्नता जो सहज ही परिलक्षित होती है वह यह है कि मनुष्य में, अन्य जीवों की तुलना में, पर्यावरण को प्रभावित और नियन्त्रित करने की पर्याप्त क्षमता होती है। उपभोक्तावाद की बढ़ती हुयी प्रवृत्ति ने मनुष्य को इतना स्वार्थी बना दिया है कि उसने अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग कर पर्यावरण में असन्तुलन और प्रदूषण उत्पन्न कर दिया है। पर्यावरणविद् प्रदूषण रोकने के उपाय और पर्यावरण रक्षण के साधनों के विषय में बताते रहते हैं, पर समस्या दिन प्रतिदिन विकराल होती जा रही है। यह समस्या एकदेशीय नहीं अपितु वैश्विक है। आजकल पर्यावरण रक्षण व प्रदूषण निवारण के विषय में जो बातें कही जा रही हैं, उन सब के विषय में बहुत कुछ जानकारी एवं पर्यावरण विषयक सामग्री वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है। वैदिक ऋषि पर्यावरण के प्रति मानव को सचेत ही नहीं करता अपितु उसके संरक्षण के लिए प्रेरित भी करता है। इसके लिए उसने पर्यावरण से जुड़े संभी पदार्थों को देवत्व का पद प्रदान कर उनके प्रति न केवल आदरभाव प्रकट किया है, अपितु पर्यावरण की सुरक्षा को सुनिश्चित आधार प्रदान करने के लिए उसे धार्मिक आस्था से जोड़कर निरन्तर संरक्षण और संवर्द्धन का मार्ग प्रशस्त किया है।

पूरे सौर मण्डल में हमारी पृथ्वी एकमात्र ऐसा ग्रह है जिस पर जीवन के योग्य

पर्यावरण पाया जाता है। पृथ्वी के प्राकृतिक पर्यावरण के मुख्य घटक हैं-स्थलमण्डल, जलमण्डल और वायुमण्डल।

स्थलमण्डल को हम पार्थिव पर्यावरण भी कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत पृथ्वी में विद्यमान, उसमें उत्पन्न होने वाली और उसकी विकारभूत सभी वस्तुएँ आती हैं। इस भूमण्डल पर मनुष्य का अस्तित्व केवल दस लाख वर्ष पुराना है और हम इस अवधि के केवल चार पाँच हजार वर्षों के विषय में ही जानते हैं। इस छोटी सी अवधि में मनुष्य ने लोभ के वशीभूत होकर पृथ्वी के साधनों का ऐसा विवेकहीन दोहन किया है कि पूरा परिस्थतिक तन्त्र असन्तुलित हो गया है।

वैदिक काल में सृष्टि साम्यावस्था में थी, परन्तु मानवीय प्रवृत्ति को जानने वाले ऋषियों ने प्रकृति की इस प्रकार व्याख्या की जिससे प्रदूषण की समस्या उत्पन्न ही न हो। अथर्ववेद का कवि पृथ्वी को माँ कहता है। पृथ्वी पर रहने वाले हम सभी धरती माँ की सन्तान हैं-**माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।**[1]

ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि हे पृथ्वी मातः! हमें सोत्साह उत्तम मार्ग की ओर ले चल। तू हमें पीड़ा न दे। हमारे लिये सुखदायी बन। हे सर्वोत्पादिके! जैसे माता पुत्र को अपने आँचल में ढकती है वैसे ही तू भी रक्षक बन-

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि।।[2]

अथर्ववेद में एक पूरा सूक्त पृथ्वी को समर्पित है जहाँ विस्तार से पृथिवी की विशेषताएँ तथा संरक्षण के उपाय बताये गये हैं। सम्भवतः वैदिक काल में ही मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियाँ उजागर हो गयी थीं, तभी तो अथर्ववेद का ऋषि पृथ्वी का दोहन करने वालों का नाश करने की बात कहता है-**'हन्मि दोधतः।'**[3] यजुर्वेद में पृथ्वी से प्रार्थना की गयी है कि हे पृथ्वी मातः! तू मुझे न सता और मैं तुझे न सताऊँ।[4] पृथ्वी से अहिंसा भाव से संयुक्त रहना और फिर उससे समृद्धि की कामना वेदों में अनेक स्थलों पर मिलती है। वैदिक ऋषि धरती की तरह सहनशील बनकर हर प्रकार के दोषों और प्रदुषणों को दूर करने की कामना करता

1. अथर्ववेद 12.1.12
2. ऋग्वेद 10.18.11
3. अथर्ववेद 12.1.58
4. यजुर्वेद 10.23

है।[5] इस पृथ्वी की रक्षा आलस्य रहित व्यक्ति ही करते हैं।[6] इस प्रकार से रक्षित हुई विश्वंभरा, हिरण्यवक्षा पृथ्वी माँ, प्रिय और हितकर पदार्थ प्रचुरता से देती है।

भूमण्डल पर स्थित पर्वत मानव जीवन को विविध प्रकार से प्रभावित करते हैं। वे अनेकों बहुमूल्य धातुओं के कोष हैं। उनसे प्रवाहित होने वाली जलधारायें मनुष्य के लिए विविध प्रकार से उपयोगी हैं। इसलिए वैदिक ऋषि **'शं नो अद्रिः'**[7] तथा **'शं नः पर्वता ध्रुवयः'**[8] कहकर पर्वतों के शान्तिपूर्ण और कल्याणकारी होने की प्रार्थना करता है। पर्वतों का शान्त वातावरण मन में सात्त्विकभाव जागृत करता है, वे मन को प्रबुद्ध करते हैं। उनकी पवित्र गोद में नदियों के सङ्गम पर, ज्ञानियों की बुद्धि उद्‌बुद्ध होती है

उपहरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।

धिया विप्रो अजायत।[9]

आधुनिक जीवन की अनगिनत आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए मनुष्य ने पहाड़ों को काट-काट कर नगर, मार्ग, कल-कारखाने आदि बना डाले हैं। प्रकृति के इस वैभव को नष्ट करने वाले मानव के लिए वैदिक ऋषि की प्रार्थनाओं की उपादेयता आज और बढ़ गयी है।

स्थल मण्डल के अन्तर्गत वन और वनस्पतियाँ पर्यावरण के प्रमुख आधार हैं। वनों के विनाश से मनुष्य का जीवन अत्यधिक प्रभावित होता है। वे मनुष्य के प्राणों का अक्षयकोष है क्योंकि प्रकाश संश्लेषण की क्रिया द्वारा पेड़ कार्बनडाई-ऑक्साइड लेकर वातावरण में ऑक्सीजन छोड़ते हैं। औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों को भी वन रोकते हैं। उनके कारण ही वर्षा होती है। इनके विनाश से वर्षाचक्र बदल जाता है। कभी अतिवृष्टि होती है तो कभी अनावृष्टि। वृक्ष भूक्षरण की गति को काम करते हैं। मृदा की एक इंच मोटी पर्त बनाने में प्रकृति को लगभग एक सहस्र वर्ष से अधिक का समय लगता है, जबकि भूक्षरण से यह मृदा पानी के साथ कुछ समय में ही बह जाती है। इसलिए वनों का अस्तित्व मानवमात्र के कल्याण के लिए है। वनस्पति शब्द के अर्थ पर विचार करें तो विदित होगा कि यह दो शब्दों से मिलकर बना है वन और पति। बीच में सुडागम है। वन का अर्थ वैदिक शब्दकोष यास्कीय निघण्टु में जल और सूर्यकिरण है। पति शब्द का यौगिक अर्थ रक्षा करने वाला होता है। इस प्रकार वनस्पति शब्द

---

5. अथर्ववेद 12.1.54
6. अथर्ववेद 12.1.7
7. अथर्ववेद 19.10.03
8. अथर्ववेद 19.10.8
9. यजुर्वेद 26.15

का अर्थ ग्रहण किया जा सकता है कि जो जल की रक्षा करता है तथा सूर्य की किरणों के ताप से आश्रितों की रक्षा करता है, वह वनस्पति है। वृक्षों या वनस्पतियों से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ती है, वे वर्षा में भी सहायक होते हैं। इसलिए ऋग्वेद में वनस्पतियों को लगाकर वन को बढ़ाने की बात कही गयी है। **'वनस्पतिं वन आस्थापयध्वम्।'**[10] ऋग्वेद के दशम मण्डल का औषधिसूक्त तथा अरण्यानी सूक्त तो नाना प्रकार की औषधियों तथा वनों के गुणों और उपयोगिताओं से परिपूर्ण है। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में हरे-भरे वृक्षों तथा उनके रक्षकों को विशेष आदर सत्कार देने की बार-बार प्रेरणा दी गयी है। इस सम्बन्ध में कतिपय मन्त्रांश द्रष्टव्य हैं-

१. **नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः**[11]

२. **वनानां पतये नमः।**[12]

३. **वृक्षाणां पतये नमः।**[13]

पेड़ पौधों से रहित स्थान अशान्त और उपद्रवग्रस्त रहता है, जबकि वेदों में वनस्पतियों को शान्ति का कारण बताया गया है- **'वनस्पतिं शमितारम्।'**[14]

इसी प्रसङ्ग में शाकाहार का उल्लेख भी किया जा सकता है शाकाहार का पर्यावरण संरक्षण में महत्त्वपूर्ण योगदान है। जिस प्रकार मानव पर्यावरण का अङ्ग है, उसी प्रकार अन्य पशु-पक्षी भी पर्यावरण के अङ्ग हैं। मनुष्य ने अपनी अनियन्त्रित इच्छाओं के कारण पशु-पक्षियों के माँसादि का भोजन प्रारम्भ कर दिया, जिससे पर्यावरण असन्तुलन की समस्या उठ खड़ी हुई। कितने आश्चर्य की बात है कि मनुष्य उन्हीं पशुओं का माँस खाता है, जो शाकाहारी होते हैं। माँसाहारी मनुष्य भी शेर, चीता, भेड़िया आदि माँसाहारी पशुओं का माँस नहीं खाता। सम्भवतः इसका कारण यह है कि मनुष्य मूलतः शाकाहारी है। मनुष्य की शारीरिक संरचना शाकाहार हेतु ही है। यजुर्वेद में कृषिरूप यज्ञ से उत्पन्न अनाजों को खाने का वर्णन है।[15] अथर्ववेद का ऋषि कहता है कि हे ऊपर नीचे की दन्तपक्तियो! तुम चावल खाया करो, जौ खाया करो, उड़द की दाल और तिल खाया करो। हे दन्तो! यह अन्न का भाग शरीर में उत्तम बल की प्राप्ति रूप

---

10. ऋग्वेद-10.101.11
11. यजुर्वेद-16.17
12. यजुर्वेद-16.18
13. यजुर्वेद-16.19.
14. यजुर्वेद-28.10
15. व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽणवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।- यजुर्वेद 18.12

फल के लिए नियत किया गया है, परन्तु कभी भी नर या मादा पशुओं को अपने खाने के लिए हिंसित मत करो

व्रीहिमत्तं यवमत्तममथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च।।[16]

स्थल मण्डल के बाद जलमण्डल का पर्यावरण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रायः विश्व की सभी संस्कृतियों की पुरा कथाओं में सृष्टि का आरम्भ जल से माना गया है। ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में कहा गया है कि जब न सत् था, न असत् था, जब न पृथ्वी थी और न आकाश था, उस समय भी जल था।[17] यजुर्वेद में ऋषि प्रार्थना करता है कि हे परमात्मान्! आपने पृथ्वी में, अन्तरिक्ष में, द्युलोक में तथा औषधियों में जल धारण किया हुआ है। आपकी कृपा से ये दिशायें मेरे लिए सदा सरस और सजल रहें-

पयः पृथिव्या पयऽओषधीषु पयो दिव्यन्तरिक्षे पयो धाः।
पयस्वती प्रदिशः सन्तु मह्यम्।।[18]

जीवन की सत्ता जल से है। चेतन-अचेतन सभी प्रकार के अस्तित्व के लिये उपयोगी जल को इसीलिए जीवन कहा जाता है। जल के अशुद्ध होने से अन्य तत्त्व भी अशुद्ध हो जाते हैं। शुद्ध पेय जल के प्रति ऋषि की जागरूकता इसी से स्पष्ट है कि वह इनके लिए प्रर्थना करता है-

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि।।[19]

वैदिक ऋषि कल्याणकारी जल के प्रवाहित होने के लिए प्रार्थना करता है-**'शन्नो देवीरभिष्ट्य आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभिस्रवन्तु नः।।**[20] जल को शिवतम रस कहा गया है।[21]

जल शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को ठीक रखता है। जल में औषधीय गुण होते

---

16. अथर्ववेद-6.140.2
17. नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम्।। ऋग्वेद 10.129.1
18. यजुर्वेद- 18.36
19. अथर्ववेद-12.1.30
20. यजुर्वेद -32.12
21. यजुर्वेद-32.13

हैं।[22] वैदिक ऋषि प्रार्थना करता है कि हे जलो! मेरे शरीर के लिए संरक्षक औषधि दो, जिससे नीरोग रहकर चिरकाल तक सूर्य को देखें अर्थात् चिरायु रहें।[23]

वैदिक **'इन्द्रवृत्र'** आख्यान वर्षा जल के महत्त्व को प्रकट करता है। वृष्टि का आच्छादन करने वाले दैत्य का वध इन्द्र वज्र के द्वारा करते हैं, जिससे स्वच्छन्द जलधारायें बहने लगती हैं। निघण्टु वैदिक कोश में जल शब्द के सर्वाधिक पर्याय मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता कि वैदिक ऋषि जल के विविध गुणों और उसके महत्त्व से परिचित थे। सदानीरा नदियों का जलापूर्ति की दृष्टि से सदैव ही महत्त्व रहा है। वैदिक ऋषि पेयजल उपलब्ध कराने वाली इन नदियों में भी देवत्व का अंश मान कर उनकी वन्दना करता है।[24]

वेदों में वायुमण्डल की शुद्धता पर भी विचार किया गया है। हृदय को सुख और शान्ति प्रदान करने वाली औषधि के समान कल्याणकारी वायु की कामना की गई है-

वात आ वातु भेषजं मयोभु नो हृदे। प्र ण आयूँषि तारिषत्।[25]

अन्यत्र भी प्रार्थना की गयी है कि वायु कल्याणकारी होकर प्रवाहित हो, सूर्य कल्याणकारी बन कर तपे तथा गरजते हुए मेघ कल्याणकारिणी वर्षा करें-

शन्नो वातः पवताꣳ शन्नस्तपतु सूर्य्यः।

शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु॥[26]

हम अन्न जल के विना तो कुछ समय तक रह सकते हैं, लेकिन प्राण वायु के विना एक पल भी जीवित नहीं रह सकते। वैज्ञानिकों का मानना है कि एक व्यक्ति को प्रतिदिन श्वास लेने के लिए 14 कि.ग्रा. वायु की आवश्यकता होती है, जबकि भोजन 1.4 कि.ग्रा. और पानी 2 कि.ली. काफी होता है। श्वास के अतिरिक्त बादल को बनाने, उन्हें उड़ा ले जाने, समुद्र में ज्वारभाटा उठाने तथा झंझावात उत्पन्न करने में वायु की भूमिका कई प्रकार से प्रभावित करती है। वायु के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान को उड़ने वाले पराग, बीजों आदि से जो अंकुरण होता है वह पर्यावरण का महत्त्वपूर्ण भाग है। इसीलिए वैदिक ऋषि की दृष्टि में वायु न केवल देवता तुल्य है, वरन् जीवनदाता, मित्र, भाई और पालनकर्ता भी है-

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।

---

22. ऋग्वेद-1.23.19
23. ऋग्वेद-1.23.21
24. ऋग्वेद-10.75.6
25. ऋग्वेद-10.186.1
26. यजुर्वेद-36.10

स नो जीवातवे कृधि।[27]

वायु देवता के पास शुद्ध वायु का अमृतकोश सञ्चित है। ऋषि वायु देवता से उसी कोश की याचना करता है।[28] लेकिन आज के औद्योगीकरण ने भैषजीय गुणों से युक्त वायु को रोगकारक बना दिया यह वायु प्रदूषण मानवजनित है, अत: इसे मानव को ही प्रयास कर दूर करना होगा। इसके लिए वैदिक दिशा निर्देशों का सहारा भी लिया जा सकता है। पर्यावरण की शुद्धता के लिए वेदों में वर्णित यज्ञ महत्त्वपूर्ण साधन हो सकते हैं। यजुर्वेद आदि से अन्त तक यज्ञ की महिमा का वर्णन करता है। यज्ञ अनेक प्रकार के हैं और उनके भिन्न-भिन्न लाभ तथा प्रयोजन हैं। यज्ञ से पर्यावरण परिशोधन की दिशा में अनेक शोध कार्य चल रहें हैं। मध्यकाल में वेदों का प्रचार लगभग लुप्त हो जाने से लोग भूल गये कि वायुमण्डल और जलमण्डल को शुद्ध करने का अचूक उपाय यज्ञ है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने यज्ञ के विषय में लिखा है कि मनुष्य लोग यज्ञ में जो आहुति देते हैं वह वायु के साथ मेघमण्डल में जाकर सूर्य से खिंचे हुए जल को शुद्ध करती है और फिर वहाँ से जल आकर औषधियों को पुष्ट करता है।[29] इस प्रकार यज्ञ जलशोधक, वायुशोधक और अन्तरिक्षशोधक भी है।

27. ऋग्वेद-10.186.2
28. ऋग्वेद-10.186.3
29. महर्षि दयानन्द सरस्वती, यजुर्वेदभाष्य-2.16

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ082-86)

वेदों में सामाजिक एवं राष्ट्रिय विकास

डॉ० रेखा सेमवाल
संगठक महाविद्यालय, बादशाहीथौल,
टिहरी गढ़वाल (उत्तरांचल)

भारत एक बहुत विशाल देश है। इसमें अनेक प्रकार के धर्म, भाषा और आचार व्यवहार को अपनाने वाले जन-समूह रहते हैं। इन सभी धर्मों, भाषाओं आचार विचारों के अलग-अलग होते हुए भी हम सब भारतीय एक समाज की रचना करते हैं। इसका कारण हमारी एक राष्ट्रियता है। हम सभी लोग थोड़ा-बहुत त्याग करते हुए परस्पर उपकार-परायण तथा एक-दूसरे की भावनाओं का आदर करते हुए समन्वयात्मकता का रूप ले लेते हैं। यही समन्वयात्मकता समाज का रूप ले लेती है। पूरे भारत के सम्बन्ध में जब विद्वानों में विचार-मन्थन हुआ तो उनका एक मात्र सन्देश यही था कि यही समन्वयात्मकता तथा एकता ही भारतीय समाज का अस्तित्व है।

भारतीय समाज का प्रथम स्वरूप वैदिक साहित्य में मिलता है। वेद ही मुख्य रूप से भारतीयों की ज्ञान-निधि हैं। वेदों में 'मैं' और 'मेरा' के स्थान पर 'हम' और 'हमारा' का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद में लिखा गया है -

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।[1]

अर्थात् पृथ्वी अनेक धर्म (संस्कृति) और भाषा के बोलने वालों को वैसे ही धारण करती है, जैसे घर। इस सूक्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में अनेक संस्कृतियों को ग्रहण करने वाले तथा अनेक भाषाओं को बोलने वाले सभी को पृथ्वी-रूपी एक घर के सदस्य होने का विचार विकसित हो चुका था। इसी विचार से **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की अवधारणा स्थापित हुई थी।

इस युग में सामाजिक एकता का आधार था एक ब्रह्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का उद्भव होना।[2] ऋग्वेद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रों के विषय में लिखा है -

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

---

1. अथर्ववेद 12.1.45
2. यजु031.11

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥[3]

अर्थात् समाज रूपी पुरुष के लिए ब्राह्मण मुख-रूप से, क्षत्रिय बाहु रूप से, वैश्य ऊरू रूप से और शूद्र पाद-रूप से विकसित हुए। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सामाजिक एकता एवं प्रतिष्ठा के लिए चारों वर्गों को एक मन होकर कर्तव्य पालन करना अनिवार्य है।

इस प्रकार यह कह सकते हैं कि वैदिक युग की सुसंस्कृत जीवन पद्धति थी। उस समय ब्राह्मण और ऋषि ज्ञान-निधि के संचेता थे। क्षत्रिय प्रजा-रक्षक शक्ति का संवर्धन करता था। वैश्यवर्ग व्यवसाय के रूप में कृषि-पशुपालन आदि कार्य करता था। शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा आदि कार्य किया करते थे। इन वर्णों में एक दूसरे के प्रति आत्मीयता व सौहार्द्र की भावना थी। ये सभी अपना-अपना कार्य ईमानदारी से करते थे। इससे समाज में सुव्यवस्थता बनी हुई थी।

वैदिक युग सदाचार और सच्चरित्रता का युग था। क्योंकि सच्चरित्रता और सदाचार के विना सुश्लिष्ट सामाजिक जीवन असम्भव होता और व्यक्तिगत सुख शान्ति भी न होती। वैदिक कालीन आचार-पद्धति में ऋत अथवा सत् या सत्य की सर्वोच्च प्रतिष्ठा थी। ऋग्वेद में सामाजिकता के विषय में लिखा भी है-

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।[4]

अर्थात् मन्त्रणा में, समितियों में, विचारों में और चिन्तन में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य और दुर्भावना न हो।

वैदिक व्यक्ति अपने बारे में, अपने पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रिय जीवन के बारे में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण संसार के कल्याण की कामना करता था। यजुर्वेद में मानवता का सुन्दर उदाहरण -

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।[5]

अर्थात् मैं मनुष्य क्या, सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूं। हम सब परस्पर मित्र

---

3. ऋग्वेद 12.1.15
4. ऋग्वेद 10/191 14
5. यजुर्वेद 36/18

की दृष्टि से देखें।

और भी-याश्च पश्यामि यांश्च न तेषु मा सुमतिं कृधि।[6]

अर्थात् भवगन् ऐसी कृपा कीजिए जिससे मैं मनुष्य के प्रति, चाहे मैं उनको जानता होऊँ या नहीं, सद्भावना रख सकूँ।

ऋग्वेद, यजुर्वेद की भाँति अथर्ववेद में भी सामाजिकता का पूर्ण निर्वाह हुआ है। पारिवारिक-सम्बन्धी प्रेम व सौहार्द्र की भावना अथर्ववेद में परिस्फुटित होती है-

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।

अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्ति वाम्।।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।

सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।[7]

इस तरह वैदिक समाज पवित्र एवं समुन्नत था। वैदिक समाज में शासन-व्यवस्था एवं सामाजिक व्यवस्था पर पुरुष का अधिकार था, किन्तु स्त्रियों को भी समान आदर दिया जाता था। स्त्रियों को उचित शिक्षा दी जाती थी। विदुषी महिलाओं में लोपामुद्रा, घोषा, अपाला आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समानता तथा सामाजिकता के साथ-साथ वेदों में आदर्श दाम्पत्य जीवन की मनोरमता भी दिखाई देती है। विवाह के समय वर वधू से कहता है-

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।[8]

अर्थात् हे वधू! हम दोनों की सौभाग्य-समृद्धि के लिए मैं तुम्हारा पाणिग्रहण कर रहा हूँ। मैं समझता हूँ कि मैंने तुम्हें देवताओं से प्रसाद-रूप में गृहस्थधर्म के पालन के लिए पाया है। अन्य भी -

अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।[9]

समाज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।[10]

---

6. यजुर्वेद 17/17
7. अथर्ववेद 3/30/1-3
8. ऋग्वेद 10/85/36
9. ऋग्वेद 10/85/27
10. वही 10/85/46

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती।

सुगेभिर्दुर्गमीतामप द्रान्त्वरातयः॥[११]

वैदिक साहित्य की इस प्रकार की भावनाएँ अगर हर किसी व्यक्ति के हृदय में घर कर जाएँ तो दाम्पत्य जीवन खुशियों से भरा हो सकता है।

राष्ट्रियता

ऋग्वैदिक युग में ही राष्ट्रियता तथा देशभक्ति की भावना का उदय हो चुका था। ऋग्वेद में उल्लिखित है कि अनेक उपायों से अपने स्वराज्य की रक्षा करनी चाहिए। वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र सम्पूर्ण विश्व के लिए भी एक राष्ट्र की कल्पना की थी। वेदों में कहा गया है कि राजा ऐसा होना चाहिए, जिसको प्रजा चाहे और वह राजा अपने राज्य में कभी भ्रष्टाचार उत्पन्न न होने दे। वह राजा एकनिष्ठ होकर पूर्ण दृढ़ता से राष्ट्र की रक्षा करे।[१२]

अथर्ववेद में राष्ट्र प्रेम की जैसी अभिव्यञ्जना मिलती है, वैसी अभिव्यञ्जना अन्यत्र साहित्य में उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेद 12वें काण्ड के 'पृथिवीसूक्त' में कहता है **"माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः"** अर्थात् मैं अपनी मातृभूमि और उसके कष्टविमोचन के लिए सब प्रकार के कष्ट सहने के लिए तैयार हूँ, क्योंकि भूमि मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूँ। और भी-

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।

अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः॥[१३]

अपनी मातृभूमि के लिए जो मैं कहता हूँ वह उसकी सहायता के लिए है। मैं ज्योतिपूर्ण, तेजस्वी और बुद्धिसम्पन्न होकर मातृभूमि का दोहन करने वाले शत्रुओं का विनाश करता हूँ।

वैदिक व्यक्ति कभी ठगी धोखाधड़ी में विश्वास नहीं करते थे। दूसरों द्वारा कमाये गये धन पर लालच नहीं रखते थे, वे कभी ऋण नहीं लेते थे। अगर किसी से ऋण ले भी लिया तो उसे तुरन्त वापस कर देते थे। इस युग के व्यक्ति बड़े ही समृद्ध एवं शक्तिशाली थे। वे अपनी भुजाओं की शक्ति पर विश्वास करते थे। वैदिक जनता में राष्ट्र के उदय, उत्थान एवं संगठन की भावना भरी हुई थी। उनका मानना था-**'यतेमहि स्वराज्ये'** अर्थात् आओ स्वराज्य के लिए यत्न करें।' **उपसर्प मातरं भूमिम्'**-मातृभूमि की सेवा करें। हम सब परिश्रम करें। ऋग्वेद

---

11. वही 10/85/32
12. ऋग्वेद 10.173.3.
13. अथर्व0 12.1.54

में यह भी निबद्ध है कि व्यक्ति को दूसरों के धन का लालच नहीं करना चाहिए, क्योंकि धन-सम्पत्ति तो आती जाती रहती है।

इस प्रकार ऋग्वैदिक व्यक्तियों का जीवन बड़ा ही पवित्र एवं तपोपय था। उनके जीवन का आदर्श महान् था। वे यह मानकर चलते थे कि यदि हम सन्मार्ग पर चलेंगे और सत्कर्म करेंगें तो ईश्वर हम पर प्रसन्न होकर हमको आशीर्वाद व वरदान देगें। इसके विपरीत अगर हम दुष्कर्म करते हैं तो ईश्वर हमें दण्डित करेंगें। वैदिक व्यक्ति हर पल देवों की दिव्य अनुभूति का अनुभव करते थे। यही कारण था कि वे सत्कर्म, सन्मार्ग पर चलते थे। इसके परिणामस्वरूप उनका वैयक्तिक सामाजिक एवं राष्ट्रिय जीवन पवित्र एवं आनन्दमय था। आज के युग में भी अगर हर व्यक्ति के हृदय में वैदिक युग के समान सामाजिकता राष्ट्रियता की भावना प्रवेश कर जाये तो हमारा समाज एवं राष्ट्र दोनों का चहुँमुखी विकास सम्भव है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ087-93)

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्: एक विश्लेषणात्मक अनुचिन्तन

डॉ. श्रीकृष्ण शर्मा
प्रोफेसर संस्कृत एवं प्राच्यविद्या संस्थान,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र

वेदमन्त्रों के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने कतिपय सहायक ग्रन्थों का प्रणयन किया था, जिन्हें **'वेदाङ्ग'** के नाम से जाना जाता है। शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष और कल्प-इन छः वेदाङ्गों में परिगणित निरुक्तशास्त्र को वेदपुरुष का श्रोत्र कहा गया है।

यास्कप्रणीत निरुक्त वेदाङ्ग निरुक्त का प्रतिनिधि ग्रन्थ है, किन्तु यास्कीय निरुक्त के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि यास्क से पूर्व भी निरुक्तशास्त्र के अनेक आचार्य अपने-अपने ग्रन्थ लिख चुके थे। यास्क ने अपने निरुक्त में अठारह आचार्यों का समरण किया है। निरुक्त के प्रख्यात टीकाकार दुर्गाचार्य निरुक्त की व्याख्या करते हुए लिखते है कि **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्, व्याकरणमष्टप्रभेदम्'**। इस कथन का तात्त्विक भाव स्पष्ट करना ही प्रस्तुत पत्र का विवेच्य विषय है।[1]

कुछ विद्वान् **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्, व्याकरणमष्टप्रभेदम्'** का यह अर्थ लगाते हैं कि निरुक्त के चौदह भेद हैं और व्याकरण के आठ भेद हैं। उनके कथन का तात्पर्य यास्कीय निरुक्त के चौदह अध्यायों और पाणिनीय व्याकरण के आठ अध्यायों के संकेत में पर्यवसित होता है। निरुक्त 1.13 तथा 1.20 पर दुर्ग की टीका पर बैजनाथ काशीनाथ राजवाडे ने इस प्रकार टिप्पणी की है-**निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्=निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायाः। यास्कात् पुरातनानि सर्वाणि निरुक्तशास्त्राणि चतुर्दशाध्यायात्मकान्यासन्निति कथं ज्ञायते।**[2] इसी प्रकार एक अन्य प्रसङ्ग में दुर्गाचार्य का कथन है:-**'व्याकरणमष्टधा, निरुक्तं चतुर्दशधा।'**[3] इस पंक्ति को भी पूर्वप्रदर्शित उद्धरण का ही केवल शब्दान्तर मानकर उपरिनिर्दिष्ट तात्पर्य की पुष्टि की जाती है।

उपरिवर्णित प्रयोगों में **'धा'** प्रत्यय का प्रयोग विशेष महत्त्व का है। **'धा'** प्रत्यय का

---

1. निरुक्त 1.13 पर दुर्ग।
2. राजवाडे द्वारा सम्पादित निरुक्त का टिप्पणी भाग, पृ0 27 और 48।
3. निरुक्त 1.20 पर दुर्ग

प्रयोग प्रकार कथन में किया जाता है। अष्टाध्यायी का सिद्धान्त है-**'संख्याया विधार्थे धा।'**[4] इसका अर्थ है कि क्रिया प्रकार को सूचित करने के लिए संख्यावाची शब्द से स्वार्थ में **'धा'** प्रत्यय होता है। बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित लिखते है-**'विधाशब्दस्य अर्थः प्रकारः विधार्थः।'** इससे स्पष्ट है कि सामान्य प्रचलित निरुक्त के साथ-साथ अन्य विशेष निरुक्तग्रन्थों को मिलाकर कुल चौदह निरुक्तग्रन्थों का बोध कराने के लिए ही **'निरुक्तं चतुर्दशधा'** यह उल्लेख किया गया है। न्यायशास्त्र में **'षोढा सन्निकर्षः'** इस वाक्य के द्वारा यही प्रतिपादित किया जाता है कि सन्निकर्ष एक प्रकार का नहीं, अपितु छः प्रकार का है। व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्तों में प्रयुक्त **'यत्नो द्विधा-आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा। बाह्यस्त्वेकादशधा। समासः पञ्चधा'**-इस प्रयोगों में **'धा'** प्रत्यय प्रकारवाचक है, अंश, खण्ड अथवा आन्तरिक विभाजन का प्रत्यायक नहीं।

इसी प्रसङ्ग में दुर्ग का एक अन्य उद्धरण महत्त्वपूर्ण है। वह इस प्रकार है-**'एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। एकशतधा आध्वर्यवम्। सहस्रधा सामवेदम्। नवधा आथर्वणम्।'**[5] इन प्रयोगों में भी **'धा'** प्रत्यय प्रकारवाची है और इस आधार पर ऋग्वेद की 21 विधाएँ अर्थात् शाखाएँ हैं, यजुर्वेद 101 प्रकार का है अर्थात् यजुर्वेद की 101 शाखाएँ हैं, अथर्ववेद नौ प्रकार का है अर्थात् अथर्ववेद की नौ शाखाएँ हैं-ऐसा अर्थ निर्गलित होता है। यदि **'निरुक्तं चतर्दशधा, व्याकरणमष्टधा'**-इत्यादि प्रयोगों में **'धा'** प्रत्यय को अध्याय आदि आन्तरिक विभाजन का वाचक मान कर निरुक्त में चौदह अध्याय और व्याकरण में आठ अध्याय होने की सङ्गति की जाएगी, तब तो उपर्युक्त उदाहरणों का अर्थ इस प्रकार होगा कि ऋग्वेद में 21 मण्डल है, यजुर्वेद में 101 अध्याय है, सामवेद में एक हजार अध्याय हैं, अथर्ववेद में नौ काण्ड हैं और यह अर्थ किसी भी रूप में सङ्गत नहीं है। अतः तात्त्विक दृष्टि से यही अर्थ ग्राह्य है कि निरुक्तशास्त्र चौदह और व्याकरणशास्त्र आठ प्रकार का है।

चौदह निरुक्तकारों का निर्णय करने से पूर्व आठ प्रकार के वैयाकरणों का निर्देश किया जाना उपयुक्त रहेगा। आठ व्याकरणशास्त्रियों को एक श्लोक में इस प्रकार परिगणित किया जाता है-

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः।

---

4. अष्टाध्यायी 5.3.42

5. निरुक्त 1.20 पर दुर्ग, तुलना कीजिए-एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। नवधाऽऽथर्वणो वेदः॥ महाभाष्य, प्रथम आह्निक, 'सर्वे देशान्तरे' वार्तिक।

पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥[६]

अर्थात् इन्द्र, चन्द्र, काशकृत्स्न, आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, अमर और जैनेन्द्र ये आठ शब्दशास्त्री सबसे बढ़कर हैं।

अब चौदह नैरुक्तों के परिगणन का प्रश्न उपस्थित होता है। यास्क ने अपने निरुक्त ग्रन्थ में अठारह आचार्यों का नामनिर्देश किया है और उनकी विभिन्न मान्यताओं को यथास्थान संकलित किया है। इन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं: **आग्रायण, औदुम्बरायण, औपमन्यव, और्णवाभ, कात्थक्य, कौत्स, क्रौष्टुकि, गार्ग्य, गालव, चर्मशिरा, तैटीकि, वार्ष्यायणि, शतबलाक्ष मौद्गल्य, शाकटायन, शाकपूणि, शाकपूणिपुत्र, शाकल्य, स्थौलाष्ठीवि।** इनमें से आचार्य आग्रायण की चार मान्यताएँ यास्कीय निरुक्त में समाहृत की गई हैं। प्रथम दो मान्यताओं में यास्क ने **'अक्षि'** और **'कर्ण'** शब्दों की आग्रायणसम्मत निरुक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। तृतीय मान्यता में **'नासत्यौ'** (अश्विनौ) पद का निर्वचन किया गया है। चतुर्थ मत में मध्यमस्थानीय देवताओं में इन्द्र का वर्णन करते हुए **'इन्द्र'** शब्द का निर्वचन किया गया है। आचार्य औदुम्बरायण को शब्द की नित्यानित्यता पर विचार करते हुए यह कहते उद्धृत किया गया है कि शब्द उतने समय तक नित्य है, जब तक वह वक्ता की वागिन्द्रिय और श्रोता की श्रवणेन्द्रिय में रहता है। आचार्य औपमन्यव को यास्कीय निरुक्त में दस बार उद्धृत किया गया है। इनमें से आठ मत शब्दों के निर्वचनों से सम्बद्ध हैं, जिनमें क्रमशः निघण्टु, दण्ड, ऋषि, कुत्स (वज्रनाम), काक, यज्ञ, काण, विकट तथा इन्द्र शब्दों के निर्वचन किए गए हैं। शेष दो मतों में क्रमशः गो शब्द और पञ्चजन शब्द का अर्थ निर्धारित किया गया है। आचार्य

---

६. वोपदेवकृत कविकल्पद्रुम 1.1

७. अक्षि चष्टेः। अनक्तेरित्याग्रायणः। कर्णः कृन्ततेर्निकृत्तद्वारो भवति। ऋच्छतेरित्याग्रायणः॥ निरुक्त 1.6 नासत्यौ (अश्विनौ) सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः॥ निरुक्त 6.13 इन्द्र इदंकरणात् इत्याग्रायणः॥ निरुक्त 10.8

८. इन्द्रियनित्यं वचनमौदुम्बरायणः॥ निरुक्त 1.2

९. **निघण्टु**-ते निगन्तव एव सन्तो निगमनान्निघण्टव उच्यन्त इत्यौपमन्यवः। 1.1 **दण्ड**-दमनादित्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 2.5 पर्ववति भास्वतीत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 2.6 **ऋषि**-ऋषिदर्शनात्। स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 2.12 **पञ्चजन**-चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 3.8 **कुत्स**-ऋषिः कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 3.12 **काक**-न शब्दानुकृतिर्विद्यते इत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 3.18 **काण और विकट**-काणोऽविक्रान्तदर्शनः। विकटो विक्रान्तगतिः॥ निरुक्त 6.30 **इन्द्र**-इदंदर्शनादित्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 10.8 **यज्ञ**-बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः॥ निरुक्त 3.16

और्णवाभ[10] को यास्क ने पाँच स्थलों पर उद्धृत किया है। पहले चार स्थलों में क्रमशः उर्वी, नासत्यौ, होता और अश्विनौ शब्दों के निर्वचन किये गए हैं। पाँचवाँ मत विष्णु की त्रिपदी की सङ्गति से सम्बद्ध है। आचार्य कात्थक्य[11] को छः स्थानों पर स्मृत किया गया है। इन मतों में **'इध्म'** का अर्थ यज्ञेध्म (समिधा), **'तनूनपात्'** का अर्थ आज्य, **'नराशंस'** का अर्थ यज्ञ, **'द्वार'** शब्द का अर्थ गृहद्वार, **'वनस्पति'** शब्द का अर्थ यूप तथा **'देवीजोष्ट्री'** पद का अर्थ शस्य और समा (वर्ष) निर्धारित किया गया है। आचार्य कौत्स[12] को वेदमन्त्रों की अर्थवत्ता पर सन्देह व्यक्त करते हुए उद्धृत किया गया है। आचार्य क्रौष्टुकि[13] का मत है कि **'द्रविणोदा'** इन्द्र का ही नामान्तर है, क्योंकि वही बल और धन का श्रेष्ठ दाता है। आचार्य गार्ग्य[14] को उपसर्गों की अर्थवत्ता पर विचार करते हुए उद्धृत किया गया है। एक अन्य स्थल पर गार्ग्य को सभी नामपदों को आख्यातज घोषित करने वाले शाकटायन का विरोध करते हुए प्रस्तुत किया गया है। तीसरे स्थान पर गार्ग्य द्वारा प्रदर्शित उपमा का लक्षण उल्लिखित किया गया है। गालव[15] को **'शिताम'** पद का अर्थ मेदस् निर्धारित करते हुए उद्धृत किया गया है। चर्मशिरा[16] को **विधवा** शब्द के निर्वचन के प्रसङ्ग में स्मृत किया गया है। आचार्य तैटीकि[17] को **'शिताम'** पद का अर्थ यकृत् तथा **'बीरिट'** शब्द का अर्थ अन्तरिक्ष बातते हुए उद्धृत किया गया है। यास्क द्वारा स्मृत आचार्य वार्ष्यायणि के अनुसार प्रत्येक क्रियाव्यापार छः विकारों से गुजरता है।[18] शतबलाक्ष मौद्गल्य[19] को

---

10. **उर्वी**-उर्व्य ऊर्णोतेर्वृणोतेरित्यौर्णवाभः।। निरुक्त 2.26 **नासत्यौ**-सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः।। निरुक्त 6.13 **होता**-होतारं ह्वातारं जुहोतेर्होतेत्यौर्णवाभः।। निरुक्त 7.15 **अश्विनौ**-अश्वैरश्विनावित्यौर्णवाभः।। निरुक्त 12.1 **विष्णुपद**-समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यौर्णवाभः।। निरुक्त 12.19
11. **इध्म**-यज्ञेध्मः इति कात्थक्यः।। निरुक्त 8.5 **तनूनपात्**-तनूनपादाज्यमिति कात्थक्यः।। 8.5 **नराशंस**-नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यः।। निरुक्त 8.7 **द्वार**-गृहद्वार इति कात्थक्यः।। निरुक्त 8.11 **वनस्पति**-यूप इति कात्थक्यः।। निरुक्त 8.18 **देवीजोष्ट्री**-शस्यञ्च समा चेति कात्थक्यः।। निरुक्त 6.43
12. यदि मन्त्रार्थप्रत्ययाय, अनर्थकं भवतीति कौत्सः। अनर्थका हि मन्त्राः।। निरुक्त 1.5
13. तत्को द्रविणोदा इन्द्र इति क्रौष्टुकिः।। निरुक्त 8.1
14. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः। उच्चावचाः पदार्था भवन्ति-इति गार्ग्यः।। निरुक्त 1.4; न सर्वाणीति गार्ग्यः। निरुक्त 1.12 यद् अतद् तत्सदृशमिति गार्ग्यः।। निरुक्त 3.13
15. शितामतः। शिति मांसतः मेदस्तः इति गालवः।। निरुक्त 4.3
16. विधवा विधातृका भवति। विधवनाद्वा। विधावनाद्वेति चर्मशिराः। निरुक्त 3.15
17. श्यामतः यकृत् इति तैटीकिः।। निरुक्त 4.3 बीरिटं तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह।। निरुक्त 5.17
18. षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।। निरुक्त 1.3
19. मुखं व्यावर्तयतीति वा शतबलाक्षो मौद्गल्यः।। निरुक्त 11.6

मृत्यु शब्द का निर्वचन करते हुए उद्धृत किया गया है। आचार्य शाकटायन[20] को दो स्थलों पर संकीर्तित किया गया है-एक तो उपसर्गों की अर्थवत्ता पर विचार करते हुए; दूसरे सभी नामपदों को आख्यातज कहते हुए। आचार्य शाकपूणि[21] को यास्क ने 21 बार संकीर्तत किया है। शाकपूणि के तेरह मत शब्दों के अर्थविनिश्चय से सम्बद्ध है, जिनमें क्रमशः विद्युत् (तडित्), शिताम (योनि), कन्या, अच्छ (प्राप्ति), वैश्वानर (अग्नि), द्रविणोदा (अग्नि), आप्रिय (अग्नि), तनूनपात् (अग्नि), नराशंस (अग्नि), द्वार (अग्नि), त्वष्टा (अग्नि), यूप (अग्नि) शब्दों के अर्थ निर्धारित किये गए हैं। तीन मतों में महान्, ऋत्विक् और अप्सरा शब्दों के निर्वचन किये गए हैं। शेष पाँच मत मन्त्रगत देवताओं के निश्चय से सम्बद्ध हैं। शाकल्य को पदपाठकार के रूप में स्मृत किया गया है और ऋग्वेद का शाकल्यसम्मत पदपाठ प्रदर्शित किया गया है।[22] आचार्य स्थौलष्ठीवि को 'वायु' शब्द का निर्वचन करते हुए उद्धृत किया गया है।[23] शाकपूणि के पुत्र[24] अज्ञातनामा आचार्य को वाणीगत अक्षरों को आदित्य कहते हुए प्रस्तुत किया गया है।

अब यह विचारणीय है कि इन अठारह आचार्यों में से तेरह आचार्य कौन से हैं, जिन्हें यास्क के साथ उपसंख्यात करके चौदह नैरुक्तों को निर्धारत किया जा सके। इसका निर्धारण निरुक्तशास्त्र के प्रयोजन को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। निरुक्तशास्त्र की प्रवृत्ति मन्त्रों के अर्थप्रत्यायन, व्याकरणशास्त्र की कृत्स्नता, मन्त्रों के पदों का ज्ञान, मन्त्रगत देवताओं का परिचय और ज्ञान का विस्तार[25]-इन प्रयोजनों को लक्ष्य करके हुई है। पूर्वनिर्दिष्ट अठारह आचार्यों में से औदुम्बरायण, कौत्स, शाकटायन और शाकल्य को निरुक्ताचार्यों में परिगणित नहीं किया जा सकता, क्योंकि निरुक्त से उद्धृत इनकी मान्यताएँ निरुक्तशास्त्र के प्रयोजनों से साक्षात्

---

20. न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति शाकटायनः।। निरुक्त 1.4 तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च।। निरुक्त 1.12

21. शाकपूणिः सङ्कल्पयाञ्चक्रे सर्वा देवता जानामीति।। निरुक्त 2.8 विद्युत् तडिद् भवतीति शाकपूणिः।। निरुक्त 3.12 महान् कस्मात् मानेनान्याञ्जहातीति शाकपूणिः।। निरुक्त 3.13 योनिः शितामेति शाकपूणिर्विषितो भवति।। निरुक्त 4.3 अन्य उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य निरुक्त 4.15, 5.13, 5.28, 7.23, 7.23, 7.28, 8.2, 8.5, 8.6, 8.11, 8.14, 8.20 इत्यादि।

22. वेति च य इति च चकारः शाकल्यः।। निरुक्त 6.26

23. वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः, एतेरिति स्थौलष्ठीविः।। निरुक्त 6.28

24. आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः।। निरुक्त 13.11

25. अथापीदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यते। अर्थमप्रतियतो नात्यन्तं स्वरसंस्कारोद्देशः। तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यम्। स्वार्थसाधकं च। अथापीदमन्तरेण पदविभागो न विद्यते। अथापि याज्ञे दैवतेन बहवः प्रदेशा भवन्ति। तदेतेनोपेक्षितव्यम्। निरुक्त 1.15, 1.17, 1.18

सम्बद्ध नहीं है। शाकपूणि के पुत्र को भी एक ही स्थल पर पद का अर्थ निर्धारित करते हुए उद्धृत किया गया है। बहुत सम्भव है कि उसने अपने पिता शाकपूणि के निरुक्तप्रवचन में ही कुछ योगदान दिया हो। अतः उसे भी पृथक्तया नैरुक्तों में परिगणित नहीं किया जा सकता। औदुम्बरायण की मान्यता शब्द की नित्यता से सम्बद्ध है, जो मुख्यतया ध्वनिशास्त्र अथवा व्याकरणशास्त्र के दार्शनिक पक्ष का विवेच्य विषय रहा है। आचार्य कौत्स को मन्त्रों की सार्थकता पर सन्देह व्यक्त करते हुए उद्धृत किया गया है। अतः कौत्स को वेदाङ्गप्रवक्ता नहीं माना जा सकता। शाकटायन को एक स्थान पर उपसर्गों की अर्थवत्ता पर विचार करते हुए स्मृत किया गया है और दूसरे स्थान पर सभी नाम पदों को धातुज सिद्ध करते हुए नैरुक्तों के समर्थक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शाकटायन ने निरुक्तसिद्धान्त का अनुगमन करते हुए सभी नामपदों को आख्यातज घोषित किया था और अपने मत की स्थापना के लिए कुछ प्रयोगात्मक निदर्शन भी प्रस्तुत किये थे। किन्तु कुछ प्रसङ्गों में शाकटायन की इस अत्युक्ति की कटु आलोचना भी की गई थी।[26] इससे इतना तो स्पष्ट है कि शाकटायन एक प्रख्यात भाषाशास्त्री के रूप में प्रतिष्ठित थे। आचार्य पाणिनि[27] और पतञ्जलि[28] ने भी आचार्य शाकटायन को अपने ग्रन्थों में संकीर्तित किया है। नैरुक्तों के साथ शाकटायन का विशेष रूप से उल्लेख किया जाना इस तथ्य का परिचायक है कि शाकटायन नैरुक्तेतर सम्प्रदाय के विलक्षण पण्डित थे और नामपदों के विषय में उनकी धारणा नैरुक्त विद्वानों के समान थी। आचार्य शाकल्य को पदकार के रूप में उद्धृत किया गया है। इस प्रकार इन पाँच आचार्यों को नैरुक्ताचार्यों की श्रेणी से बाहर रखकर शेष तेरह आचार्यों के साथ यास्क का उपसंख्यान कर लेने पर चौदह निरुक्तकारों की संख्या पूरी हो जाती है।

चौदह नैरुक्तों की गणना में पं० भगवद्दत्त की मान्यता कुछ भिन्न है। वे लिखते हैं 'यास्क अपने निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों को उद्धृत करता है, उनमें से निम्नलिखित बारह निरुक्तकार प्रतीत होते हैं 1. औपमन्यव, 2. औदुम्बरायण, 3. वार्ष्यायणि, 4. गार्ग्य, 5. आग्रायण, 6. शाकटायन, 7. और्णवाभ, 8. तैटीकि, 9. गालव, 10. स्थौलष्ठीवि, 11. क्रौष्टुकि, 12. कात्थक्य। तेरहवाँ निरुक्तकार यास्क स्वयं है। चौदहवाँ कौन था, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका। सम्भव है, वह शाकपूणि का पुत्र हो। इसका उल्लेख निरुक्त 13.12 से मिलता है। इससे भी अधिक सम्भव है कि वह कौत्सव्य हो, इसका निरुक्त निघण्टु आथर्वण परिशिष्टों में से एक है। महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार बृहस्पति भी निरुक्तकार था। काश्यप का भी एक निरुक्त

---

26. अथानन्वितेऽर्थेऽप्रादेशिके विकारे पदेभ्यः पदेतराधान् संचस्कार शाकटायनः।। निरुक्त 1.14
27. अष्टाध्यायी 3.4.11, 8.3.18, 8.4.50
28. नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।। अष्टाध्यायी सूत्र 3.3.1 पर महाभाष्य।

था।

इस उद्धारण से स्पष्ट है कि पं० भगवद्दत्त ने चर्मशिरा और शतवलाक्ष मौद्गल्य को निरुक्तकारों में परिगणित नहीं किया है। इन दोनों के स्थान पर एक स्थान औदुम्बरायण को दिया है तथा दूसरा स्थान शाकपूणि के पुत्र अज्ञातनामा निरुक्तकार, कौत्सव्य, बृहस्पति और काश्यप में से किसी एक को देने की सम्भावना व्यक्त की है। किन्तु यह मान्यता समुचित प्रतीत नहीं होती। यास्क द्वारा उद्धृत की गई चर्मशिरा और शतबलाक्ष मौद्गल्य की मान्यताएँ सर्वथा निरुक्तविषयक हैं। अत: इन्हें नैरुक्तों की श्रेणी में परिगणित न किया जाना युक्तिसङ्गत नहीं है। पक्षान्तर में, आचार्य औदुम्बरायण का मत व्याकरणशास्त्र के दर्शनिक पक्ष से सम्बन्धित है, इसलिए औदुम्बरायण को वैयाकरण मानना ही अधिक ठीक है। इस प्रकार औदुम्बरायण को वैयाकरणों की श्रेणी में रखकर तथा चर्मशिरा और शतबलाक्ष मौद्गल्य को नैरुक्तों में परिगणित करके चौदहवें निरुक्तकार की कल्पना का विवाद भी समाप्त हो जाता है।

उपर्युक्त प्रस्तावित मान्यता भी केवल अनुमान का ही विषय है, किन्तु यास्क द्वारा उद्धृत मान्यताओं के अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि यह सम्भावना वास्तविकता के पर्याप्त समीप है और दुर्गाचार्य के कथन **'निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम्'** के अनुकूल भी है।

---

२०. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग [illegible], पृ० [illegible]

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ094-101)

शब्द-निर्माण की प्रक्रिया- एक दृष्टि

प्रो. अमरनाथ पाण्डेय

वाराणसी

भाषा का स्वरूप जटिल है। बड़ी साधना के बाद उसका स्वरूप समझा जा सकता है। प्राचीन काल में पाणिनि आदि महर्षियों ने लोक को भी देखा था तथा समग्र वाङ्मय का भी आलोडन किया था। तब उन्होंने व्याकरण का सुदृढ़ आधार तैयार किया था, जो आज विश्व में सबसे अधिक वैज्ञानिक माना जा रहा है। पाणिनि का व्याकरण-शास्त्र व्याकरण के समग्र स्वरूप को तो प्रस्तुत करता ही है, उस पद्धति का भी निर्देश करता है, जिसका आश्रय लेकर हम विभिन्न शास्त्रों के रहस्यों का साक्षात्कार कर सकते हैं।

हम तकनीकी अथवा वैज्ञानिक शब्दावली अथवा कोश के निर्माण के लिए जब शब्दों का निर्माण करते हैं, तब मूल में कहीं न-कहीं संस्कृत-व्याकरण का सिद्धान्त भी कार्य करता रहता है और वर्तमान काल में प्रचलित वैज्ञानिक पद्धति तथा भाषाओं का ज्ञान भी हमारी सहायता करता है। जो संस्कृत नहीं जानते, वे भी किसी-न-किसी रूप में संस्कृत-व्याकरण की प्रक्रिया से प्रभावित होते हैं, क्योंकि हिन्दी आदि भाषाओं पर उसका पूरा प्रभाव देखा जा सकता है। इस प्रसङ्ग में दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं- (1) शब्द के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझा जाए तथा (2) दूसरी भाषा के शब्द के द्वारा उसे ठीक-ठीक व्यक्त कर दिया जाए। इसके लिए आवश्य है कि सम्बद्ध भाषाओं पर अच्छा अधिकार होना चाहिए। जहाँ पारिभाषिक शब्दों का प्रसङ्ग आता है, वहाँ स्थिति अधिक जटिल हो जाती है' यदि किसी पारिभाषित शब्द के द्वारा व्यक्त किया गया अभिप्राय दूसरी भाषा में नहीं हैं, तब नये शब्द के निर्माण की स्थिति आती है। यहाँ ध्यान देना आवश्यक हैं कि इस प्रसङ्ग से विशाल शब्द-राशि एकत्र हो जायगी और उसके लिए निरन्तर शब्द-निर्माण की आवश्यकता होगी। इसके लिए वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का महत्त्व निरन्तर बना रहेगा। चूँकि विज्ञान का विकास पाश्चात्य देशों में हो रहा है, अत: अंग्रेजी पदावली निर्मित होती जा रही है। उस स्थिति में हमें अपनी भाषा में व्यक्त करने के लिए शब्दों का निर्माण करना आवश्यक होगा। यदि हमारे देश में भी विज्ञान तथा तकनीकी के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य होते, तो हमारी भाषा समृद्ध होती, एक विशाल शब्दराशि सङ्गृहीत होती। उस स्थिति में हमारी पदावली का अनुवाद अंग्रेजी आदि भाषाओं में होता। उससे हमारी भाषा का क्षेत्र बढ़ता, कई प्रसङ्गों में वे शब्द भी गृहीत होते। इस प्रकार हमारी संस्कृति, हमारी विचारधाराएँ, हमारी ज्ञानसम्पदा का व्यापक आधार बनता और विश्व में

हमारे देश का गौरव बढ़ता। जिस देश की भाषा की मौलिक शब्दराशि की वृद्धि होती है, उस देश की उन्नति मानी जाती है। यह ध्यान देना होगा कि यदि निरन्तर शब्दनिर्माण की स्थिति बनी रहेगी, तो हमारा देश बौद्धिक धरातल पर पिछड़ जायेगा। हमें भाषा को तो समृद्ध करना ही है, चिन्तन को भी समृद्ध करना है। प्राचीन काल में चिन्तन समृद्ध था, इसलिए भाषा समृद्ध हुई। देश में तो इसका प्रभाव पड़ा ही, अन्य देशों पर भी प्रभाव पड़ा और धर्म तथा दर्शन का प्रचार-प्रसार हुआ। प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसके ग्रन्थों का अनुवाद अन्य भाषाओं में करना पड़ा। पञ्चतन्त्र की लोक-यात्रा प्रसिद्ध ही है।

शब्दनिर्माण के सम्बन्ध में बहुत चिन्तन-मनन करना पड़ता है और यह किसी एक व्यक्ति का कार्य नहीं है। यहाँ यह भी देखना पड़ता है कि बनाये गये शब्द को लोक किस प्रकार स्वीकार करता है। एक क्षेत्र को अथवा एक समुदाय को ध्यान में रखकर सिद्धान्त नहीं बनाना है। पूरे देश की मानसिक स्थिति तथा लोक-व्यवहार का सम्यक् आकलन करने के बाद ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करना है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में इस प्रश्न को प्रस्तुत करके उसका समाधान किया है।

शब्द निर्माण लोक के लिए होता है। शब्द अपेक्षित भाव भले ही व्यक्त कर दे, किन्तु यदि लोक उसे स्वीकार नहीं करता, तो उसका महत्त्व नहीं रह जाता। महाभाष्य में पाणिनि-सूत्र 'अजेर्व्यघञपोः'[1] के भाष्य के प्रसङ्ग में एक वैयाकरण तथा सूत का संवाद उद्धृत किया गया है-

कश्चिद् वैयाकरण आह- कोऽस्य रथस्य प्रवेतेति।

सूत आह- अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजिता।

वैयाकरण आह- अपशब्द इति।

सूत आह- प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न त्विष्टिज्ञः। इष्यत एतद्रूपमिति।

वैयाकरण आह- अहो नु खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति'

सूत आह-न खलु वेञः सूत सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।

वैयाकरण ने सूत से कहा- इस रथ का प्रवेता (सारथि) कौन है? इस पर सूत ने कहा- आयुष्मान्, मैं इस रथ का प्राजिता हूँ। फिर वैयाकरण ने कहा- यह तो अपशब्द है। फिर सूत ने कहा कि आप तो प्राप्ति को जानने वाले हैं अर्थात् नियम के अनुसार जो रूप बनता है,

1. अष्टा० 2.4.56

उसे जानते हैं, किन्तु इष्टि को नहीं जानते अर्थात् प्रयोग में क्या अभीष्ट है, इसका ज्ञान आपको नहीं है। प्रवेता तथा प्राजिता दोनों शब्द व्याकरण की प्रक्रिया से भले शुद्ध हों, किन्तु लोक व्यवहार की दृष्टि से प्राजिता का प्रयोग समीचीन है यह सूत का अभिप्राय है। इस प्रसङ्ग से यह शिक्षा लेनी है कि उन्हीं शब्दों को रखा जाए, जिन्हें लोक ने ग्रहण कर लिया है अथवा उन्हें लोक सरलता से ग्रहण कर सकता है। केवल विशिष्ट शास्त्रीय शब्दों का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

शब्दनिर्माण के कार्य के लिए एक-दो कोशों को आधार बनाकर कार्य करना चाहिए। ऐसा देखा जाता है कि कोश निर्माण के लिए प्रायः अंग्रेजी-हिन्दी कोशों को आधार रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। ऐसे कोशों को आधार मानकर चलने पर तो अनुवाद की प्रामाणिकता पर ही सन्देह हो जाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि अंग्रेजी के कोशों को ही आधार मानकर चला जाय। फादर कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेजी-हिन्दी कोश के लिए अधोलिखित कोशों को आधार माना है

(1) the concise oxford Dictionary, 1964

(2) Webster's New world Dictioary, 1964

(3) The penguin English Dictionary

पारिभाषिक शब्दों के अनुवाद के लिए उन्होंने वैज्ञानिक शब्दावली भाग I (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, दिल्ली, 1964) को आधार मानकर अनुवाद किया है।

वी.एस. आप्टे अपने अंग्रेजी संस्कृत कोश की अनुवाद-योजना के सम्बन्ध में लिखते हैं "when I resolved to make this Dictionary as complete, as possible consistently with it's again of being useful for the student, I took the latest edition of webester's complete Dictionary, and taking that as my bisis proceeded with the work of compilation." उन्होंने आनन्द राम बरुआ तथा मॉनियर- विलियम्स के कोशों का भी उल्लेख किया है।

डॉ० बदरीनाथ कपूर अपने वैज्ञानिक पारिभाषा-शब्दकोश की भूमिका में लिखते हैं 'सरकारी पारिभाषिक शब्दसंग्रह में विधिक क्षेत्र के प्रसिद्ध will शब्द के लिए इच्छापत्र सुझाया गया है और Probate के लिए इच्छापत्र दिया गया है। अंग्रेजी के दो ऐसे शब्दों के लिए एक ही शब्द देना जिनके अर्थों में मौलिक अन्तर हो अनुचित भी है और भ्रामक भी। इसके अतिरिक्त जो सबसे बड़ी भूल हुई है, वह है कि will में जो भाव है, वे इच्छापत्र से व्यक्त होते ही नहीं। एक तो यह कि will मौखिक भी होता या हो सकता है, परन्तु इच्छापत्र केवल उसका लिखित रूप ही होगा। दूसरे यह कि will का सम्बन्ध सम्पत्ति से होता है, जबकि

इच्छापत्र से कोई ऐसा आशय नहीं निकलता। तीसरे will सदा मृत्यु के बाद कार्यान्वित होता है तथा अन्तिम इच्छा का परिचायक होता है, जबकि इच्छापत्र से कोई संकेत नहीं मिलता। will के लिए इच्छापत्र की अपेक्षा वसीयत ही ठीक है जिसे सरकारी कोश में स्थान नहीं मिला है। Probate के लिए वसीयत प्रमाण ठीक रहेगा, क्योंकि यह अदालत के प्रमाणपत्र के रूप में होता है।''

संस्कृत शब्द-निर्माण के लिए बहुत उपयोगी है। संस्कृत में लगभग 1900 धातुएँ हैं। इन्हीं से संज्ञाएँ तथा क्रियाएँ बनती हैं। प्रत्येक धातु से पाँच प्रकार के विभिन्न रूप बनाये जाते हैं- सामान्य क्रिया के रूप, प्रेरणार्थक, कर्मवाच्य, सन्नन्त, यङ्न्त। इनके अतिरिक्त नाम धातुएँ भी बनाई जाती हैं। मॉनियर-विलियम्स का कथन है कि इतनी धातुओं के रहने पर और उनसे बनने वाले रूपों की स्थिति में अंग्रेजी की कोई भी क्रिया ऐसी नहीं होगी, जिसके समान अर्थवाली क्रिया संस्कृत में न हो:-

"It might reasonably be imagined that amongst a collection of 1900 roots, each capable of five-fold multiplication, besides innumerabule nominals, There will be little difficulty in findiing equivalents for any form of English verb that might present itself."

इस प्रकार देखा जाए तो हम कह सकते हैं कि विशाल धातु-प्रक्रिया का आश्रय लेकर अंग्रेजी की किसी भी क्रिया को व्यक्त करने में समर्थ हो सकते हैं। कल् धातु के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कामधेनु है-**'कलतिः कामधेनुः**। मॉनियर विलियम्स ने कल् के अर्थ दिये हैं to impel, incite, urge on, to bear, carry, to betake one's seft to, to do, make, accomplish, to utter a sound, some times in conection with nouns merely expressing the verbal conceptin, e.g., मूर्च्छां कलयति to swoon, जलस्य चुलुकं कलयति-to take a draught of water) to tie on, attach, affix, to furnish with to observe, perceive, to consider, count, take for आदि।

उपसर्गों के योग से धातुओं के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है-

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।

प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत्॥

ह धातु में प्र आदि उपसर्गों के योग से बनाये गये शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों को व्यक्त कर रहे हैं। इसी प्रकार द्या धातु को लें-उपधान, समाधान, सन्धान, अपिधान, पिधान, प्रधान, अभिधान, परिधान, विधान, निधान, आधान आदि शब्द बनते हैं। जिस प्रकार ह या धा धातु में

भिन्न-भिन्न उपसर्गों को लगा देने से अर्थों में परिवर्तन हो गया है, उसी प्रकार विचार करके धातुओं में उपसर्गों की योजना करनी चाहिए। शब्द-निर्माण करने वाले शब्दशास्त्री का यह कार्य है कि वह देखें कि किस प्रकार वह अपने अभीष्ट अर्थ को उपसर्गों के योग से प्रकट करने में समर्थ होता है।

संस्कृत-साहित्य में उपसर्गों से बने हुए शब्दों पर एक छोटी-सी पुस्तक उपलब्ध होती है। वह है महादेव भट्टाचार्य-विरचित

उपसर्गवर्ग-इस कोश का प्रकाशन मैंने किया है। इस कोश में एक महत्त्वपूर्ण शब्द मिलता है-**उद्दोह**। इसका अर्थ किया गया है-"**जलनिःसारणे ख्यात उद्दोहस्तु जलाशयात्।**"

जलाशय से जल निकालने के अर्थ में **उद्दोह** शब्द प्रसिद्ध है। इसी शब्द से **उदहना** शब्द निकला हुआ है। आजकल गाँवों में जलाशय से जिससे जल निकालते हैं, उसे **दुबला** कहते हैं। जल निकालने की क्रिया को **उदहना** कहते हैं। **उद्दोह** शब्द संस्कृत के किसी कोश में नहीं मिलता। हम देखते हैं कि किस प्रकार एक विशेष अर्थ को व्यक्त करने के लिए शब्द का निर्माण किया गया है।

श्री रामचन्द्र वर्मा ने Standerd शब्द के लिए सबसे पहले **'मानक'** शब्द का प्रयोग किया, जो मानक बन गया।

इधर श्री चारुदेव शास्त्री ने उपसर्गार्थचन्द्रिका नाम से उपसर्गों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण काम किया है, जो पाँच खण्डों में प्रकाशित हुआ है। वे भूमिका में कूर्मपुराण का सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं। वायु को सात नेमियाँ प्रसिद्ध हैं। एक ही धातु में भिन्न-भिन्न उपसर्गों के योग से उन नेमियों को अभिहित किया गया है-

आवहः प्रवहश्चैव तत्रैवानुवहः पुनः।
संवहो विवहश्चैव तदूर्ध्वं स्यात्परावहः।
तथा परिवहश्चैव वायोर्वै सप्त नेमयः॥[2]

इसी प्रकार हिरण्यकशिपु के चार पुत्रों के नाम भी एक ही धातु से बनाये गये हैं-

हिरण्यकशिपोः पुत्राश्चत्वारो प्रथितौजसः।
प्रह्लादंश्चानुह्लादश्च संह्लादो ह्लाद एव च॥[3]

यह ध्यान रखना चाहिए कि जिस-किसी उपसर्ग को जिस-किसी धातु से सम्बद्ध नहीं

---

2. कूर्मपुराण पूर्वभाग 41/6
3. कूर्म० 16/46/46

किया जा सकता। यह भी देखा जाता है कि कुछ उपसर्गकृत् प्रत्यय के साथ जिस अर्थ को व्यक्त करते हैं, उस वे तिङ् के साथ नहीं व्यक्त करते। यहाँ **श्री** धातु को ले सकते हैं। **क्त** प्रत्यय लगाने से **प्रश्रित** शब्द बना हुआ है। उसका अर्थ है- आदृत या विनीत, किन्तु वही प्रायः उपसर्ग **श्रि** धातु के साथ लगकर आश्रय लेकर बैठने के अर्थ को व्यक्त करता है-**कुड्यं प्रश्रयते**=दीवार का आश्रय लेकर बैठता है। **आग्रह** निबन्ध के अर्थ को व्यक्त करता है, किन्तु **आगृह्णाति**=घोड़े को वश में करने, रोकने के अर्थ को व्यक्त करता है।

उपसर्ग के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं- (1) उपसर्ग द्योतक हैं, (2) उपसर्ग वाचक हैं। द्योतक-पक्ष का मत है कि उपसर्गों का अपना कोई अर्थ नहीं होता। वाचक-पक्ष में माना जाता है कि उपसर्गों का अर्थ होता है।

यह भी देखा जाता है कि अनिर्दिष्ट अर्थों में भी धातुओं के प्रयोग होते हैं। **वप्** धातु का अर्थ बीज बोना है, किन्तु छेदन के अर्थ में भी प्रयोग होता है-**वपति केशान्**-बाल काटता है। **ईड्** धातु स्तुति के अर्थ में पठित है, किन्तु प्रेरणा के अर्थ में भी प्रयोग होता है-**अग्निर्वा इतो वृष्टिमीट्टे**। **चर्च** अध्ययन के अर्थ में पठित है, किन्तु प्रयोग विलेपन के अर्थ में भी मिलता है-**चन्दनचर्चितभालः**। **शंस्** धातु स्तुति के अर्थ में भी पठित है, किन्तु प्रयोग हिंसा के अर्थ में भी मिलता है-**नृन् शंसति हिनस्तीति नृशंसः**। **चर्** धातु गति तथा भक्षण के अर्थ में पठित, किन्तु वि पूर्वक भ्रमण तथा पर्यटन के अर्थ में देखी जाती है। **चि** चयन अर्थ में है, प्र तथा उप के योग से वृद्धि अर्थ को व्यक्त करती है। **प्रचीयन्ते गात्राणि उपचीयन्ते**। केवल चीयते से भी वही अर्थ प्रकट होता है **'चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः'**।[1]

शब्द-निर्माण के क्षेत्र में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग का कार्य प्रशस्त है। उसने हिन्दी-लेखन को गति प्रदान की है। विज्ञान के क्षेत्र में अनुवादकों को उससे पर्याप्त सहायता मिलती है। Drainage के लिए अपवाह शब्द बनाया गया है, जो उपसर्ग तथा धातु के योग से निर्मित हुआ है। अंग्रेजी के जिन शब्दों के उच्चारण के अन्त में शन् आ रहा है। उनके लिए बनाये गये शब्द प्रायः ल्युट् प्रत्ययान्त हैं। ल्युट् प्रत्यय लगाने पर अन्त में अन आता है। उदाहरण- Elongation दीर्घीकरण, Induction प्रेरण, Inundation आप्लावन, Lamination पटलन। यद्यपि पटल धातु नहीं है, किन्तु पटल धातु मानकर पटलन शब्द बनाया गया है। संस्कृत के कोशों के आधार पर ऐसा किया गया है-Indication व्यञ्जन, सूचन, Igniton ज्वलन Impositin स्थापन निवेशन। आयोग ने Braiding के लिए अच्छा शब्द बनाया है-गुम्फन। आयोग ने अंग्रेजी के अनेक शब्दों को ले लिया है। कुछ शब्दों में अंग्रेजी शब्द तथा संस्कृत-प्रत्यय दोनों की सत्ता

---

1. मुद्राराक्षस।

देखी जा सकती है- Voltage वोल्टता। आयोग ने **इत्र** प्रत्यय की कल्पना करके अनेक सुन्दर शब्दों का निर्माण किया है-Compressor सम्पीडित्र। यह प्रत्यय यन्त्र के बोध के लिए प्रयुक्त होता है।

कुछ अंग्रेजी शब्दों को संस्कृत का स्वरूप देकर स्वीकार किया जा सकता है। आनन्दराम बरुआ ने कुछ शब्दों को इस रूप में स्वीकार किया है-sponge- स्पञ्जः, Duke द्युकः, soap साबनम् आदि। पण्डित रामावतार शर्मा ने calcutta के लिए कालकूट, पाञ्जाब के लिए पंजाब, Barrister के लिए वरास्तर, oxford के लिए उक्षप्रतर cambridge के लिए कामसेतु, Berlin के लिए वरलीन इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया है। मैंने अपनी पुस्तक शब्द विमर्श में कुछ शब्दो पर विचार किया है। मैंने spelling के लिए वर्णदेशना शब्द का प्रयोग किया है। यह प्राचीन शब्द है और इसी अर्थ को व्यक्त करता है।

यह बताना आवश्यक है कि संस्कृत भाषा में अन्य भाषाओं के शब्द लिये गए हैं। ग्रीस से भारत का सम्पर्क बहुत दिनों तक रहा। वे ज्योतिःशास्त्र के मर्मज्ञ थे। ज्योतिषशास्त्र के अठारह प्रवर्तकों का उल्लेख हुआ है, जिनमें दो विदेशी हैं-

लोमशः पौलिशश्चैव च्यवनो यवनो मनुः।

पौलिश अलेक्जेन्ड्रिया के Paul हैं और यवन ग्रीक हैं। वराह मिहिरकृत बृहज्जातक में ग्रीक भाषा के शब्द आये हैं-

क्रिय (Krios), तावुरि (Jauros), जितुम् (Didomoi), कर्की-कुलीर (Karkinos), लेय (Leon), पाथेन, पार्थोन, पाथोन (Pathenos), जूक (zugon), कौर्प्य (scorpios) तौक्षिक (Joxotes), हृद्रोग (Hudrochoos), Hora होरा, द्रेष्काण (dekanos), केन्द्र (Kendron), यामित्र या जामित्र (diamethron), हेलि (helios), सुनंफा (sunapha), अनफा (anapha) आदि।

रमल में प्राप्त अरबी भाषा के शब्द दिये जा रहे हैं- लह्यान, कब्जुदाखिल, कब्जुल खारिज, जमात, फरहा, उकला, अंकीश, हुमरा, बयाज, नकी, अतबेदाखिल आदि- ये शकलों के नाम हैं,

दीनार (denarius) भी विदेशियों के सम्पर्क से संस्कृत में प्रयुक्त होने लगा। महल्ल (महल्लिक) शब्द का मूल अरबी भाषा है। इसका अर्थ हैं- नपुंसक, हिंजड़ा,

इस प्रकार हम देखते हैं कि विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रयोग संस्कृत की प्रकृति में ढाल दिया गया है। इससे शिक्षा मिलती है कि हम विदेशी भाषाओं के शब्दों को ले सकते हैं और उन्हें अपनी भाषा के ढाँचे में ढाल सकते हैं।

यहाँ कुछ शब्दनिर्माण की समस्या के कुछ मूल बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है। हम यथावसर इनका अनुसरण कर सकते हैं और इन्हीं निर्देशों के आधार पर अन्य प्रकार की उद्भावनाएँ भी कर सकते हैं। शब्द जनता में अपना स्थान स्वयं बना लेते हैं। लोक-प्रवृत्ति को निरन्तर ध्यान में रखना पड़ेगा। अनेक अप्रयुक्त (obsolete) शब्दों का परित्याग कर दिया जाता है। जब शास्त्र और लोक-दोनों मिलकर चलते हैं, तब अभीष्ट की प्राप्ति होती है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0102-110)

ऋषि दयानन्द की दृष्टि में जीव का परिमाण

डॉ. राजेन्द्र
संस्कृत प्रवक्ता
मारकंडा नेशनल कालेज
शाहाबाद मारकंडा, कुरुक्षेत्र, हरियाणा

वैदिक साहित्य की जीव विषयक जिज्ञासा महती प्रबल है। जीव के अस्तित्व, स्वरूप एवं वस्तुजगत् के साथ उसके सम्बन्धों से जुड़ी अनेक प्रश्नात्मक जिज्ञासाएँ संहिताओं से लेकर उत्तरवर्ती साहित्य तक बहुशः उपलब्ध हैं।[1] इन जिज्ञासाओं के फलस्वरूप आत्मा के अस्तित्व एवं स्वरूप के विषय में जो प्रस्थापनाएँ हुईं, उनका बड़ा ही संक्षिप्त किन्तु रोचक दिग्दर्शन सदानन्द ने अपने वेदान्तरसार में दिया है।[2] सदानन्द का यह विवरण भारत में समानान्तर विकसित हुई दर्शन की भौतिकवादी धारा का भी सामान्य परिचय देता है। उन्नीसवीं शताब्दी के युगान्तकारी विचारक और सुधारक ऋषि दयानन्द ने भारतीय दर्शन को नूतन तार्किक संस्पर्श दिया। ऋषि दयानन्द के हस्तक्षेप से प्रचलित कई प्रस्थापनाओं को सम्बल मिला तो कई को नूतन स्वरूप। जीवात्मा विषयक प्रस्थापनाओं पर ऋषि दयानन्द ने अनेक टिप्पणियाँ की हैं। सामान्यतया ऋषि दयानन्द जीव को अनादि, कर्मफल का भोक्ता, ईश्वर की व्यवस्था में रहने वाला, अणुस्वरूप, संख्यात्मक दृष्टि से अनेक तथा सावधि मोक्ष प्राप्त करने वाला मानते हैं। जीवात्मा के स्वरूप के विषय में एक मुख्य प्रश्न उसके आकारिक परिमाण से सम्बद्ध है। वैदिक ऋचाओं के अनेक सन्दर्भ जीवात्मा के परिमाण पर सांकेतिक रूप से रोचक टिप्पणी करते मिलते हैं।[3] निबन्ध जीव के परिमाण की दयानन्दीय दृष्टि पर केन्द्रित है।

---

1. (क) कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि। यजुर्वेद 7.29 (ख) को ह कस्मिन्नसि श्रितः। ऋग्वेद 1.75.3 (ग) भगवन्नेतस्मिन् पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सं प्रतिष्ठिता भवन्तीति। प्रश्नोपनिषद् 4.1 (घ) येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ कठोपनिषद् 1.1.20 (ङ) छान्दोग्योपनिषद् 5.3 से 10 खण्ड तक।
2. वेदान्तसार, सम्पादक डॉ. राममूर्ति शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली, तृतीय संस्करण 1989, पृ. 69-70
3. स भूमिं सर्वतस्पृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्। यजुर्वेद 31.1

जीवात्मा के परिमाण पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के आचार्यों ने तर्कपोषित अनेक विचार और सुझाव प्रस्तुत किए हैं। जीव के परिमाण से सम्बद्ध इन विचारों के मुख्यत: तीन वर्ग हैं। कुछ दार्शनिकों का मत है कि जीवात्मा का परिमाण अणु है। इसके विपरीत दूसरे दार्शनिक इसका परिमाण विभु मानते हैं। एक तीसरा विचार अन्य दर्शनिकों, मुख्यत: जैनों का है कि जो जीवात्मा को मध्यम परिमाणी घोषित करते हैं। मध्यम परिमाण का अर्थ है कि जितना बड़ा शरीर होता है, उतना ही आकार आत्मा भी ग्रहण कर लेता है। स्याद्वादमञ्जरी[4] का कहना है कि व्यक्तिरूप आत्मा अपने शरीर मात्र में ही सीमित रहता है। यह अनुमान द्वारा प्रमाणित होता है, क्योंकि उसके गुणों का प्रकाशक उसके शरीर हैं, वह उस स्थानमात्र में ही सीमित होता है जैसे घट-पट आदि पदार्थ।

जैन दार्शनिकों का तर्क है कि यदि जीव अणु होगा तो उसे सम्पूर्ण शरीर में हो रही क्रियाओं का ज्ञान नहीं होगा और यदि विभु होगा तो वह शरीर से बाहर निकला रहेगा।[5] इसलिए जीव मध्यम परिमाण विशिष्ट है अर्थात् जितना बड़ी देह उतना बड़ा जीव। दीपक के प्रकाश के समान वह संकोच तथा विकासशील होता है।[6] सर्वदर्शनसंग्रह के शांकरदर्शन प्रकरण में जैन दार्शनिकों के इस मध्यम परिमाणवाद की आलोचना की गई है।[7] चिदानन्द पण्डित ने भी अनित्यता आदि दोषों को उद्धृत कर इस सिद्धान्त की तीव्र आलोचना की है।[8] महर्षि दयानन्द ने जैन आचार्यों द्वारा स्वीकृत जीव के मध्यम परिमाण की अवधारणा को अनेक युक्तियों के द्वारा अस्वीकार कर दिया है। जीव का आकार शरीर के सदृश न होने में महर्षि दयानन्द युक्ति देते हैं कि **'जो यह बात सत्य हो तो हाथी का जीव कीड़ी और कीड़ी का जीव हाथी में न समा सके।.....जीव एक सूक्ष्म पदार्थ है जो कि एक परमाणु में भी रह सकता है।'**[9] जैन आचार्यों द्वारा स्वीकृत शरीर की लम्बाई को उद्धृत कर महर्षि दयानन्द अन्यत्र जीव के मध्यम परिमाण की असम्भाव्यता को प्रदर्शित करते हैं। महर्षि दयानन्द ने जैनमत के **'संग्रहसूत्र'** नामक ग्रन्थ के प्रमाण से जैन आचार्यों द्वारा चार हजार कोश तक की लम्बाई वाले शरीरों के व्याख्यान

---

४. कायव्यतिरिक्तदेशे तद् गुणानां बुद्धवादिनाम्। वादिना प्रतिवादिना जानम्युपगमात्।। स्याद्वादमञ्जरी, (सम्पादक) जगदीशचन्द्र जैन श्रीमद् रामचन्द्र शास्त्रमाला, प्रकाशन, अगास, 1970, पृष्ठ 68.

५. द्रष्टव्य मानमेयोदय; नारायणपण्डित (सम्पादक) स्वामी योगीचन्द्रनन्द, षड्दर्शन प्रकाशन प्रतिष्ठान; उदासीन संस्कृत विद्यालय; दुण्ढिराज वाराणसी 1978, पृष्ठ 196-197

6. प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्। तत्त्वार्थ सूत्र 5.16

7. द्रष्टव्य सर्वदर्शनसंग्रह, शांकर दर्शन प्रकरण।

8. मध्यमपरिमाणत्व च कार्यत्वेन अनित्यता प्रसंगात्। नीतितत्त्वाविर्भाव, चिदानन्द पण्डित, त्रिवेन्द्रम, पृष्ठ 222

9. सत्यार्थप्रकाश द्वादश समुल्लास, परोपकारिणी सभा अजमेर, 38वां संस्करण, पृष्ठ 442

का उल्लेख किया है।[10] कहीं-कहीं जैन आचार्यों ने तीन-तीन कोश के शरीर भी माने हैं। स्वामी जी इस पर टिप्पणी करते हैं कि '......**तीन कोश के शरीर वाले मनुष्य इस भूगोल में बहुत थोड़े समा सकें...... उनके सन्तान भी तीन-तीन कोश के शरीर वाले होने चाहिए; जैसे मुम्बई में दो एक और कलकत्ते में तीन व चार मनुष्य निवास कर सकते हैं। जो ऐसा है तो जैनियों ने एक नगर में लाखों मनुष्य लिखे हैं तो उनके रहने का नगर भी लाखों कोशों का चाहिए तो सब भूगोल में वैसा एक नगर भी न बस सके।**'[11]

आत्मा के परिमाण के विषय में दूसरा पक्ष विभुत्वावादियों को है। इनके अनुसार जीवात्मा व्यापक है। आत्मा के विभु परिमाणवादियों को दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे हैं जो आत्मा को अनेक मानने पर भी विभु मानते हैं और दूसरे वे हैं जो केवल एक ही आत्मतत्त्व को अनेक मानते हैं।[12] प्रथम प्रकार के विभुत्ववादियों में न्याय-वैशेषिक है।[13] वात्स्यायन मुनि और प्रशस्तपाद ने अनेक स्थलों पर आत्मा को आकाश के समान व्यापक बतलाया है।[14] वैशेषिक सूत्रों के विद्वान् भाष्यकार शंकर मिश्र भी उपस्कार टीका में आत्मा को परममहत् (विभु) ही स्वीकार करते हैं।[15] आचार्य उदयवीर शास्त्री ने वैशेषिक सूत्रों के विभिन्न भाष्यकारों द्वारा आत्मा के विभुत्व का प्रत्याखान करते हुए इस मान्यता को सूत्रकार कणाद की धारणा के विरुद्ध बताया है। उदयवीर शास्त्री ने वैशेषिक सूत्र की व्याख्या करते हुए आत्मा को अणु परिमाण वाल ही माना है।[16] द्वितीय प्रकार के विभुत्वादियों में अद्वैतवेदान्ती[17] आते हैं। वेदान्तसार में अध्यारोप अपवाद निरूपण द्वारा इसकी व्याख्या की गई है।[18]

आत्मपरिमाण के विषय में तीसरा पक्ष अणुत्ववादियों का है। वस्तुतः यह पक्ष वेद द्वारा

---

10. वही, पृष्ठ 484
11. वही, पृष्ठ 483
12. द्रष्टव्यः वैदिक दर्शन, जयदेव वेदालंकार, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1977, पृष्ठ-32।
13. विभवान्महानाकाशस्तथाचात्का। वैशेषिक सूत्र 7.1.22
14. द्रष्टव्य, वही, प्रशस्तपादभाष्य
15. यथाकाशं विभवात् सर्वमूर्तसंयोगित्वात् परमहत् तथात्माऽपि परममहान्...। वैशेषिक दर्शन (सं) जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, सरस्वती, यन्त्रालय, कलिकाता नगरी 1886, पृष्ठ 138
16. वैशेषिक-दर्शनम् (विद्योदयभाष्य), उदयवीर शास्त्री, विरजानन्द वैदिक संस्थान गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 249-253
17. आचार्य शंकर ने उपनिषदों पर भाष्य करते हुए जीव के अणुत्व को भी स्वीकार किया है। द्रष्टव्य बृहदारण्यकोपनिषद् 5.6.1 पर शांकरभाष्य

18. द्रष्टव्य वेदान्तसार, पृ. 69-86

मान्य है। नित्यत्व के लिए पदार्थ का अणु परिमाण या विभुपरिमाण होना आवश्यक है। मध्यम परिमाण पदार्थ नित्य नहीं अनित्य होते हैं। जीवात्मा का विभु परिमाण मानने में अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं। विभु परिमाण केवल परमात्मा का है। प्रथम दृष्ट्या यह सही है कि उपनिषदों के अनेक स्थल आत्मा स्थल आत्मा के विभु परिमाणी होने का आभास देते हैं।[19] समानान्तर अनेक स्थल आत्मा के परिमाण की अनेक वस्तुओं से सांकेतिक तुलना भी करते हैं। इस विषय में डॉ. जयदेव लिखते हैं कि जहाँ उपनिषदों में आत्मा के विभु परिमाण की गन्ध प्रतीत हो वहाँ दो बातें हो सकती हैं- एक तो जीवात्मा का वर्णन न होकर परमात्मा का वर्णन हो सकता है। दूसरे जीवात्मा की महिमा का वर्णन अतिशयोक्ति द्वारा किया गया हो।[20]

वस्तुत: उपनिषद् के ऋषियों ने जीवात्मा के परिमाण विषयक प्रश्न को गम्भीरता से लिया है। छान्दोग्य के एक वाक्य में हृदयकमल में विद्यमान आत्मतत्त्व को धान के दाने, जौ, सरसों, श्यामाक अथवा श्यामाक के चावल से भी अणु बतलाते हुए इस आत्मा (वस्तुत: आत्मज्योति) को पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक अथवा इन सब लोकों की अपेक्षा बड़ा बतलाया गया है।[21] इसके विपरीत अन्य स्थलों पर इसे प्रादेशमात्र[22] एवं अंगुष्ठ[23] परिमाण वाला[24] भी कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् का ऋषि जीवात्मा को अणु घोषित करता है।[25] श्वेताश्वतर का ऋषि उपनिषदों में जीवतत्त्व के लिए प्रयुक्त किए गए इन विभिन्न शब्दों का क्रमिक विश्लेषण करता है। पहले वह इस जीवतत्त्व को अंगुष्ठमात्र कहता है, किन्तु आगे उसी श्रुति में उसे आराग्रमात्रा

---

19. अद्वैतवाद के प्रतिपादक आचार्यों ने उपनिषद् के अनेक वाक्यखण्डों को महावाक्य कहकर उनकी एतादृश व्याख्या की है। जैसे अहं ब्रह्मास्मि बृहदारण्यक 1.4.10 तत्त्वमसि छान्दोग्योपनिषद् 6.8.7 अयमात्मा ब्रह्म माण्डूक्योपनिषद् 2
20. द्रष्टव्य वैदिक दर्शन, पृ. 325
21. एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्य:। छान्दोग्योपनिषद् 3.14.3 तुलना-मनोमयोऽयं पुरुषो भा: सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशान: सर्वस्याधिपति: सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च। बृहदारण्यकोपनिषद् 5.6.1
22. यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानम्...। छान्दोग्योपनिषद 5.18.1
23. उपनिषदों में अंगुष्ठमात्र शब्द परमात्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। द्रष्टव्य कठोपनिषद् 2.3.17, श्वेताश्वतरोपनिषद् 3.13
24. द्रष्टव्य कठोपनिषद् 2.1.12-13
25. एषोऽणुरात्मा। मुण्डकोपनिषद् 3.1.9

अर्थात् सुई की नोक के बराबर कहने लगता है।[26] सम्भवतः श्वेताश्वतर का ऋषि उसकी अणुता के लिए इस उपमा को भी अपर्याप्त मानता है, अतः वह अगली ही श्रुति में कहने लगता है कि यदि बाल के अगले हिस्से के सौ भाग किए जाएं, फिर उन सौ में से एक टुकड़े के सौ हिस्से किए जाएँ तो उतना भाग=परिमाण जीव का समझना चाहिए, परन्तु इतना सूक्ष्म होते हुए भी जीवात्मा अनन्त सामर्थ्य वाला है।[27] अथर्ववेद में भी जीव को बाल से भी सूक्ष्म कहा गया है।[28] इस प्रकार जीवात्मा के आकार का उल्लेख करते हुए बड़े ही रोचक विचार वेद और उपनिषदों में मिलते हैं।

जीवात्मा के अणु परिमाण की ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य में अनेक स्थलों पर सम्पुष्टि मिलती है। महर्षि दयानन्द की दृष्टि में जीव के अणुत्व में सबसे प्रबल हेतु उसका एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करना है। विभु में गति सम्भव नहीं है।[29] ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य में अनेक स्थलों पर कहा है कि जीवात्मा अपने कर्मानुसार विभिन्न शरीरों को प्राप्त होता है। जीव को बारम्बार गर्भ में जाना पड़ता है।[30] ऋग्वेद में एक स्थान पर **'अतिथिम्'** पद का व्याख्यान करते हुए दयानन्द कहते हैं कि यह जीव अतिथि के सदृश देह-देहान्तर और स्थान-स्थानान्तर में जाने वाला है।[31] गर्भ में विभु जीव नहीं जा सकता, अणु ही जा सकता है। यदि जीव को विभु माना जाएगा तो मृत शरीर में भी उसकी प्राप्ति का प्रसङ्ग उठेगा। स्वामी दयानन्द जीवात्मा का निवास स्थान हृदयदेश को ही स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद का भाष्य करते हुए ऋषि दयानन्द कहते हैं कि जीवतत्त्व हृदयस्थ है और परमेश्वर उसे मानता है।[32] वस्तुतः जीव को हृदय देशस्थ कहने से ही उसके अणु होने का कथन हो जाता है। जीवात्मा के निवास स्थान इस **'हृदयदेश'** की पिण्ड में कहाँ स्थिति है? इसको लेकर मनीषियों में तीव्र मतभेद है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक,[33] पण्डित उदयवीर शास्त्री, स्वामी आत्मानन्द[34] और स्वामी विद्यानन्द प्रभृति[35] विद्वान्

---

26. अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः संकल्पाहंकारसमन्वितो यः। बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः।। श्वेतराश्वतरोपनिषद् 5.8
27. बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।। वही 5.9
28. बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते। अथर्ववेद 10.8.25
29. द्रष्टव्य सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ 300
30. द्रष्टव्य यजुर्वेदभाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती 12.36-37, 35.2.3
31. ऋग्वेदभाष्य, स्वामी दयानन्द सरस्वती 1.58.6 (हिन्दी पदार्थ)
32. ....हृदयस्थं प्राणं जीवं चापि जानाति तस्मात् सर्वज्ञोऽस्ति। ऋग्वेदभाष्य 1.23.14
33. द्रष्टव्य, वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक, पृष्ठ 203-222
34. द्रष्टव्य; सन्ध्या अष्टांग योग; हरियाणा साहित्य संस्थान गुरुकुल झज्जर, पृष्ठ 17-37, 57-58

आत्मा के निवास स्थान **'हृदय'** की स्थिति मस्तिष्कान्तर्गत मानते हैं, जबकि आचार्य विशुद्धानन्द मिश्र, पण्डित राजवीर शास्त्री और स्वामी विद्यानन्द विदेह आदि मनीषी वक्षोगत रक्तक्षेपक हृदय को ही आत्मा का निवास स्थान स्वीकार करते हैं।[36]

वेद में अनेकत्र जीव का बहुवचन[37] से कथन कर उनके बहुत्व होने का दिग्दर्शन कराया है। जीवों का अनेक होना भी जीवात्मा के विभुत्व का निषेध करता है। महर्षि दयानन्द ने **'रुद्र'** शब्द का बहुवचनान्त जीवात्मावाची अर्थ करके जीवात्मा का बहुत्व स्वीकार किया है।[38] इसमें युक्ति भी बड़ी प्रबल है। मनुष्यों की स्थिति में भेद देखा जाता है। एक ही समय में एक ही स्थान पर कोई सुखी और कोई दु:खी, कोई धनी, कोई निर्धन, किसी का जन्म और किसी की मृत्यु आदि हो रही होती है। यदि सर्वत्र शरीरों में एक ही आत्मा हो तो एतादृश भेद नहीं हो सकता। एक ही आत्मा होने की स्थिती में सभी का जन्म-मृत्यु, सुख-दु:ख, बन्ध-मोक्ष आदि युगपत् होना चाहिए। बौद्धिक स्तर पर भी सबको समान होना चाहिए। एतादृश अनेक प्रश्न ईश्वरकृष्ण और उनके व्याख्याकार वाचस्पति मिश्र ने बड़ी रोचकता से उठाए हैं।[39] जीवात्मा को विभु स्वीकार करने पर कर्मफल व्यवस्था में व्यापक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। क्योंकि जो विभु है उसका सम्बन्ध प्रत्येक के कर्मफलों से होगा, जिससे किसी के भी द्वारा किसी के भी फलभोग का अवैदिक प्रसङ्ग उठेगा। जबकि ऋषि दयानन्द वेदभाष्य में कर्मफल व्यवस्था के प्रति प्रबल आस्था व्यक्त करते हैं। भावी जन्म को कृत कर्मानुसार बतलाते हुए दयानन्द कहते हैं कि जो जीव शरीर को छोड़कर जाते हैं, उन्हें यथायोग्य अवकाश देकर परमेश्वर उनके कर्मानुसार सुख-दु:ख देता है।[40] ऋग्वेद की श्रुति का अर्थ करते हुए दयानन्द लिखते हैं कि **'जीव ईश्वर के न्यायनियम से अपने किए शुभाशुभ कर्म के सुख-दु:ख रूप फल को भोगता है।'**[41] एक अन्य मन्त्र के भाष्य में वे कहते हैं कि **"मनुष्य को यही निश्चय करना**

---

35. द्रष्टव्य; अनादि तत्त्वदर्शन, लक्ष्मीदत्त दीक्षित, विरजानन्द वैदिक संस्थान, संन्यास आश्रम, गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश, पृष्ठ 70-72
36. द्रष्टव्य; दयानन्द सन्देश (मासिक पत्रिका) हृदय मीमांसा विशेषांक, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, 455 खारी बावली, दिल्ली, जनवरी 1991
37. हे जीवा:.........। यजुर्वेदभाष्य 12.26 जीवा जन्मवन्त:। वही 16.63
38. द्रष्टव्य; यजुर्वेद भाष्य, 16.63, 22.28, 38.16
39. सांख्यकारिका 18 एवं इसी कारिका पर सांख्यतत्त्वकौमुदी
40. ये जीवा: शरीरं त्यक्त्वा गच्छन्ति तेभ्यो यथायोग्यमवकाशं दत्त्वा परमेश्वरस्तेषां कर्मानुसारेण सुखदु:खानि ददाति। यजुर्वेद भाष्य 35.1
41. ईश्वरनियोगेन स्वकृतस्य शुभाशुभाचरितस्य कर्मण: सुख दु:खात्मक फलं......। ऋग्वेद भाष्य 1.58.2

चाहिए कि मैं अब जैसा कर्म करता हूँ वैसा ही परमेश्वर की व्यवस्था से फल भोगता हूँ और भोगूँगा। सब प्राणी अपने कर्म से विरुद्ध फल को कभी नहीं प्राप्त होते।'[42] एक अन्य मन्त्रभाष्य में वे कहते हैं कि जीव अपने कर्म के फलभोग से एक क्षण भी अलग नहीं रहता।[43] ऋषि दयानन्द सृष्टि वैचित्र्य का हेतु ही कर्म और कर्मफल वैचित्र्य को मानते हैं। इस प्रकार ऋषि दयानन्द कृत वेदभाष्य में व्याख्यात कर्मफलभोग का सिद्धान्त प्रकारान्तर से जीव के विभुत्व का प्रतिवाद ही करता है। एक याजुष श्रुति पशुपति का निवास स्थान पुरीतत् नाड़ी में होने की घोषणा करती है।[44] स्वामी दयानन्द और श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर की दृष्टि में यह पशुपति दर्शनशील का पालन जीवात्मा ही है।

ऋषि दयानन्द कृत एक ऋक्श्रुति का भाष्य जीव के मध्यम परिमाणी होने का भ्रम पैदा करता है। इस मन्त्र के भाष्य में दयानन्द कहते हैं कि-**जीव जिस-जिस देह को धारण करता है उस-उस प्रत्येक देह के स्वरूप से तदाकार वर्तमान होता है।**[45] वस्तुत: देह के स्वरूप से तदाकार की व्याख्या इसी मन्त्रभाष्य के भावार्थ में की गई है। जहाँ स्पष्ट किया गया है कि- जैसे बिजली पदार्थ-पदार्थ के प्रति तद्रूप होता है, वैसे ही जीव शरीर-शरीर के प्रति तत्तत् स्वभाव वाला होता है।[46] इस प्रकार यहाँ देह के स्वरूप से तदाकार का तात्पर्य देह के स्वभाव वाला होने से है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द जीव के मध्यम परिमाण को स्वीकार नहीं करते। यदि जीव का परिमाण मनुष्य-शरीर के परिमाण के बराबर हो तो मनुष्य शरीर में ही जीव जन्म के समय छोटा होगा और जैसे-जैसे शरीर में वृद्धि होगी वैसे-वैसे जीवात्मा भी शरीर में फैलता जाएगा। बच्चे का जीव छोटा और युवा का बड़ा होगा। इसी प्रकार यदि आत्मा को मध्यम-परिमाण वाला माना जाए तो शरीर के किसी अङ्ग के कटने पर उसका कटना भी मानना पड़ेगा। इससे जीव अवयवी हो जाएगा क्योंकि निरवयव पदार्थ का शरीरों के अनुसार घटना बढ़ना नहीं हो सकता। सावयव होने पर अवयवों के संयोग-वियोग के कारण जीव विकारी हो जाएगा।[47] इसीलिए ऋषिभाष्य में जीव को अज,[48] अविनाशी[49] और नाशरहित जीव[50] कहकर

---

42. यजुर्वेद भाष्य 2.28 (भावार्थ)
43. न हि चिन्मयो जीव: स्वकर्मफलभोगविरह एकक्षणमपि वर्तते। ऋग्वेद भाष्य 1.70.2
44. पशुपते पुरीतत्। यजुर्वेद 39.9
45. प्रतिरूप:=तदाकारवर्तमान: भवति। ऋग्वेदभाष्य, 6.47.18
46. हे मनुष्या यथा विद्युत् पदार्थं पदार्थं प्रति तद्रूपा भवति जीव: शरीरं प्रति तत्स्वभावो जायते। वही (भावार्थ)
47. अनादि तत्त्वदर्शन, पृष्ठ 69
48. जीवा अजा:। यजुर्वेदभाष्य 17.32
49. यथेश्वरस्य जगत्कारणस्य जीवानां वाऽनादित्वाज्जन्मराहित्येनाविनाशित्वं वर्त्तते। वही 5.288

उसके मध्यम-परिमाणवाद का प्रतिवाद किया गया है। उपनिषद्, ब्राह्मण-ग्रन्थ, चरक एवं दर्शन आदि ऋषि-प्रणीत ग्रन्थों में जीवात्मा को हृदयदेश में रहने वाला कहा गया है।[51] इस प्रकार जीवात्मा के एक स्थान विशेष में निवास करने का कथन करने से उसके विभुत्व का तो स्वतः खण्डन हो जाता है। पिण्ड में जीवात्मा यदि व्यापक होता तो भी उसके लिए पिण्ड में एक स्थान विशेष का निर्देश करने की अवश्यकता नहीं थी, पिण्ड में जीवात्मा के लिए एक स्थानविशेष के निर्देश से ही आकारिक रूप में उसके लिए अणुत्व की स्वतः सिद्धि हो जाती है। वेदों के विश्रुत व्याख्याकार आचार्य सायण भी अथर्ववेद की एक श्रुति के **'अव्यसः'** पद का व्याख्यान करते हुए जीव को परिच्छिन्न=अणु निरूपित करते हैं।[52] स्वामी दयानन्द जीव को परिछिन्न घोषित करते हुए लिखते हैं कि '(जीव) परिच्छिन्न (हैं)। जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता। इसीलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है।[53]

जीवात्मा को अणु निरूपित करने से मध्यम-परिमाण और विभुत्ववादियों का यह प्रश्न तो प्रश्न ही रह जाता है कि यदि जीवात्मा अणु है तो उसे सम्पूर्ण शरीर में हो रही क्रियाओं का ज्ञान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर बड़ा स्पष्ट है कि जीवात्मा अपने सम्पूर्ण व्यवहारों का अन्तःकरण और बाह्यकरणों के साहाय्य से सम्पादित करता है। बुद्धितत्त्व जो कि महत्तत्व है, आत्मतत्त्व के सान्निध्य में आकर उसकी ज्ञान-ग्राहकता को ग्रहण कर लेता है तथा मन, इन्द्रियाँ एवं असंख्य नाडियों के साहाय्य से जीवात्मा को इन शारीरिक क्रियाओं का युगपत् बोध होता रहता है। महर्षि दयानन्द ऋग्वेदभाष्य में स्पष्ट शब्दों लिखते हैं कि-**जो जीव के शरीर में बिजली के सहित असंख्य नाडियाँ हैं उन नाडियों से यह सब शरीर के समाचार को जानता है।**[54] सत्यार्थप्रकाश में भी स्वामी दयानन्द इसी विचार को अभिव्यक्त करते हैं-**'(जीव) की शक्तियाँ शरीर में प्राण बिजुली और नाड़ी आदि के साथ संयुक्त हो रहती हैं, उनसे सब शरीर का वर्तमान जानता है।**[55]

---

50. अमृतंपु=नाशरहितेषु जीवादिपदार्थेषु। वही 29.8
51. स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं मनोमयः। तैत्तिरीयोपनिषद् 1.6 एवं इसका शांकरभाष्य, स एषोऽअन्तर्हृदये हृदयस्यान्तरहृदयमिति।
52. अव्यसः अव्यापकस्य परिच्छिन्नस्य जीवात्मनः। अर्थववेद 19.68.1 पर सायणभाष्य
53. सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास, परोपकारिणी सभा अजमेर, 38वां संस्करण, पृष्ठ 203
54. या अस्य शरीरे विद्युत् सहिता। असंख्या नाडयः सन्ति ताभिरयं सर्वस्य शरीररस्य समाचारं जानाति। ऋग्वेदभाष्य 6.47.18
55. सत्यार्थप्रकाश द्वादश समुल्लास, श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर 38वां संस्करण, पृष्ठ 442

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता हैं कि जीवात्मा न महत् परिमाण वाला है और न मध्यम परिमाण वाला, अपितु वह एक सूक्ष्मतत्त्व है। मध्यम परिमाण वाला मानने पर उसमें घटने-बढ़ने सम्बन्धी दोष आएगा तथा विभु मानने पर जन्म-मरण के चक्र में बाधा उत्पन्न होगी। अत: वेद एवं महर्षि दयानन्द के अनुसार आत्मा का अणु-परिमाण ही युक्तिसङ्गत है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0111-119)

योग में ईश्वर की अवधारणा

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवंअध्यक्ष
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

योग शब्द की व्युत्पत्ति

व्याकरणशास्त्र में **'युज् समाधौ'**, **'युजिर योगे'** व **'युज् संयमने'** धातुएँ प्राप्त होती हैं, जिनसे योग शब्द निष्पन्न होता है। इनमें प्रथम समाधि के अर्थ में, द्वितीय मिलन, संयोग के अर्थ में तथा तृतीय संयम के अर्थ में योग शब्द का बोध कराती हैं। तीनों के अर्थ को व्यापकरूपेण मोक्ष प्रतिपादक योग विधा के रूप में लिया जा सकता है किन्तु महर्षि पतंजलि द्वारा प्रदत्त योग की परिभाषा **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**[1] की स्थिति समाधि की ओर इंगित करती है। महर्षि व्यास भी योगसूत्र की व्याख्या करते हुए **'योगस्समाधिः'**[2] शब्द कहकर समाधि के अर्थ में योग का प्रयोग करते हैं। वाचस्पति मिश्र भी **'युज् समाधौ इत्यस्मात् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु युजिर् योगे इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थः'**[3] कहकर 'मिलन', 'संयोग' के अर्थ में योग को नहीं देखते, अपितु समाध्यर्थक योग शब्द का प्रयोग करते हैं। अतः समाध्यर्थक योग शब्द को ही लक्ष्य प्राप्ति **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'**[4] में उचित और सङ्गत कहा जा सकता है।

योग की कुछ परिभाषाएँ

1. श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है-**'योगः कर्मसु कौशलम्'**[5] अर्थात् कर्मों में कुशलता योग है। यहाँ कर्म में कुशलता का तात्पर्य अच्छी तरह से कर्म सम्पन्न करना अर्थात् जो कार्य वह प्रतिदिन कर रहा है, उन कार्यों को भली प्रकार करें जो फल देने वाले हों-यह नहीं है। कर्म में कुशलता से तात्पर्य है, ऐसे कर्म जिन्हें करने के बाद फल की प्राप्ति न हो। अनासक्त

---

1. योगसूत्र -1/2
2. योगसूत्र-व्यास भाष्य- 1/1
3. योगसूत्र-तत्त्ववैशारदी 1/1
4. योगसूत्र-1/3
5. श्रीमद्भगवद्गीता- 2/50

भाव से किया गया, ब्रह्म को अर्पित कर्म ही कुशल कर्म है।[6] ऐसे कर्मों से संस्कार नहीं बनते, जो बन्धन में बांधने वाले हैं, अपितु मोक्ष मार्ग अनावृत होता है।

2. गीता में कहा गया है-**'समत्वं योग उच्यते'**[7] अर्थात् सुख-दुःख, गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास आदि विपरीत परिस्थितियों में भी एक भाव से रहना, किसी प्रकार का विकार न होना योग है। मनुष्य का सहज स्वभाव है सुख में बहुत प्रसन्न होना तथा दुःख में अत्यधिक रोना। यह संसार असार है। इसके समस्त दुःख और सुख भी अनित्य हैं। परमानन्द तो मोक्ष में है। ये सुख भी दुःखरूप हैं। अतः त्याज्य हैं। इसलिए सुख और दुःख दोनों अवस्थाओं में एक जैसा बने रहना ही **'योग'** की अवस्था है।

3. कठोपनिषद् का ऋषि कहता है-

> **'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।**
> **बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥**
> **तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणात्॥'**[8]

अर्थात् जब पाँचों ज्ञानेन्द्रिय, मन व बुद्धि अपना क्रिया-व्यापार बन्द कर दें तो उसे परमगति या योग कहा जाता है। चित्त की स्थिरता होने पर समाधि की स्थिति बनती है और कैवल्य पथ पर अग्रसर होकर साधक परमानन्द की अनुभूति करता है।

4. महर्षि पतंजलि कहते हैं-**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'**[9]। चित्त की वृत्तियों का निरोध करना योग है। अन्तःकरण व बाह्यकरण समस्त क्रियाओं को सम्पादित करते हैं। चित्त में क्रिया के साथ उसकी वृत्ति की छाप पड़ती है, जो चित्त का परिणाम है। बार-बार विषय के ग्रहण से यह परिवर्तित होती रहती है। इस कारण चित्त एक स्थान पर नहीं ठहरता। चित्त को एक स्थान पर ठहरा लेना-उसकी समस्त क्रियाओं का रुक जाना-एक ही वृत्ति पर एकाग्र होना और उसमें ही लीन हो जाना **योग** है।[10] पहले सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। उसके बाद ऋतम्भरा प्रज्ञा प्रकट होकर विवेकख्याति को उत्पन्न करती है। वह एक वृत्ति भी समाप्त हो जाती है, तब असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है जिसे निर्बीज समाधि भी कहा जाता है। उसके पश्चात् कैवल्य की अवस्था आती है।

---

6. वही-5/10
7. वही-2/48
8. कठोपनिषद्-2/3/10-11
9. योगसूत्र- 1/2
10. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः - योगसूत्र 3/3

उपर्युक्त परिभाषाओं के सन्दर्भ में यह कहना समीचीन होगा कि चित्त को एकाग्र करके अनासक्त भाव से प्रभु प्रेम में मग्न रहना ही योग की अवस्था है। ऐसा साधक ही स्वरूपावस्थान की स्थिति प्राप्त करता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के लिए योग में अनेकानेक उपाय बताए गए हैं जिनमें मुख्य हैं-

१. **अभ्यास व वैराग्य**[11]:- चित्त को स्थिर करने का प्रयास तथा विरक्ति का भाव दृढ़ होना।

२. **ईश्वर-प्रणिधान**[12]:-ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पण। ईश्वर के सच्चिदानन्द, निराकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्यामी, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता के स्वरूप का चिन्तन, मनन करते हुए उसी के आनन्द में स्नात होकर हर क्षण उसी की वर्षा अपने ऊपर होती हुई अनुभव करना।

३. **क्रियायोग**:- तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान का समन्वय क्रियायोग कहलाता है।[13] इससे क्लेशों[14] की तनु अवस्था प्राप्त होती है, जिससे तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर योग सिद्ध हो जाता है।

4. अष्टाङ्ग योग:- यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि रूप आठ अङ्गों वाला योग अष्टाङ्ग योग के नाम से कहलाता है।[15] अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह[16] रूप यम सार्वभौम महाव्रत[17] के रूप में जाने जाते हैं। शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वर-प्रणिधान[18] रूप नियम व्यक्तिगत रूप से आचरणीय तत्त्व हैं। इन दोनों से वैयक्तिक व सामाजिक उन्नति होती है। आसनों से शरीर दृढ़ होता है[19] तथा रोगों से बचा जा सकता है।[20]

---

11. अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः। -योगसूत्र - 1/12
12. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र- 2/45 ईश्वरप्रणिधानाद्वा। योगसूत्र -
13. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। योगसूत्र- 2/1
14. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र- 2/3
15. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि। योगसूत्र- 2/29
16. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः। योगसूत्र-2/30
17. योगसूत्र- 2/31
18. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। योगसूत्र- 2/32
19. आसनेन भवेद् दृढम्। घेरण्ड संहिता- 1/10
20. आसनेन रुजो हन्ति। गोरक्षसंहिता- 2/11

प्राणायाम से चित्त की चंचलता नष्ट होती है[21] तथा इन्द्रियों के दोष दूर होते हैं।[22] जैसे धातुजन्य मलों को अग्नि शुद्ध कर देती है, वैसे ही प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।[23] विवेक ज्ञान पर पड़ा अज्ञान का आवरण दूर होता है[24] तथा धारणा में गति हो जाती है।[25] प्राणायाम के सूत्रकार द्वारा चार भेद तथा हठयोग के ग्रन्थों में आठ प्रकार वर्णित हैं।[26] प्रत्याहार से इन्द्रियों की वश्यता होती है[27] तथा वे अपने विषयों से विमुख हो जाती हैं जिससे चित्त एकाग्र होने लगता है। धारणा[28] और ध्यान[29] के निरन्तर अभ्यास द्वारा समाधि[30] की स्थिति प्राप्त कर साधक स्वरूपावस्थान प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह साधना पद्धति साधक को चरम लक्ष्य तक पहुंचा देती है।

उपर्युक्त विधियों का आश्रय लेकर साधक कल्याणपथ पर अग्रसर होता है किन्तु तत्त्वज्ञान के अभाव में इन मार्गों का चयन भी कठिन है। ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन, निजस्वरूप का बोध व दृश्यजगत् का यथार्थज्ञान हुए विना साधक स्फलता प्राप्त नहीं कर सकता। अत: ईश्वर के प्रति समर्पण रूपी ईश्वरप्रणिधान का आश्रय लेकर साधक को ईश्वर की अनुरुक्ति प्राप्त करनी चाहिये। यहाँ ईश्वर का स्वरूप विचारणीय है।

पुरुषविशेष (ईश्वर)

योग जिस परमतत्त्व को अन्य पुरुषों से सर्वथा भिन्न विशेष पुरुष के रूप में मानता है, वह ईश्वर, परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्म, वासुदेव, हरि, कृष्ण, राम, विष्णु आदि नामों से भी जाना जाता है। उसी को अल्लाह या GOD कहा जाता है। सभी दार्शनिक उस तत्त्व को सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वकर्ता, सृष्टि रचयिता, सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनन्त, नित्य, चेतन, सर्वाधार आदि स्वीकार करते हैं। यही वह तत्त्व है, जिसकी इच्छा से सम्पूर्ण जगत् की जड़ व जङ्गम सृष्टि निज व्यापार में व्याप्त है, किन्तु फिर भी उसका यथार्थ स्वरूप वर्णन करना दुष्कर कार्य है।

---

21. चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्। हठप्रदीपिका
22. तथेन्द्रियकृतादोषा: दह्यन्ते प्राणनिग्रहात्। अमृतनादोपनिषद्- 7
23. दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मला:। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।। मनुस्मृति
24. तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्। योगसूत्र- 2/52
25. धारणासु च योग्यता मनस:। योगसूत्र- 2/53
26. (क) योगसूत्र- 2/50-51, (ख) हठयोगप्रदीपिका
27. तत: परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। योगसूत्र-2/55
28. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। वही-3/1
29. तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम्। वही- 3/2
30. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:। वही- 3/3

यही तत्त्व विचित्र है जो ज्ञात होकर भी अज्ञात है, श्रुत होकर भी अश्रुत है, सबका आत्मा होकर भी पृथक्‌भूत है। अनेकानेक विद्वानों ने अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार इसका वर्णन करने का प्रयास किया है, किन्तु सबने अपने अनुभव के आधार पर अभिव्यक्ति की है। आज तक कोई सर्वमान्य मत कोई नहीं बन सका। यहाँ पर कुछ आचार्यों के विचार अपेक्षित हैं-

आचार्य शंकर

इनके मतानुसार ब्रह्म अंतिम सत्य है। परमार्थ और व्यवहार रूप में भेद है। परमार्थ रूप से ब्रह्म निर्गुण, निर्विशेष, निश्चल, नित्य, निर्विकार, असङ्ग, अखण्ड, सजातीय, विजातीय, स्वगत भेद से रहित, कूटस्थ, एक, शुद्ध, चेतन, नित्यमुक्त, स्वयम्भू है। **'साक्षीचेता केवलो निर्गुणश्च'**[31], **'विज्ञानं ब्रह्म'**[32], **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**[33], **'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन'**[34], **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्'**[35] आदि श्रुतियों से ब्रह्म के निर्गुणत्व, निर्विशेषत्व तथा चैतन्य स्वरूप का प्रमाण मिलता है। माया के कारण भी ब्रह्म में द्वैत नहीं आता, क्योंकि यह माया सत् और असत् से विलक्षण वस्तु है। ब्रह्म ही जगत् का उपादान व निमित्त कारण है। यद्यपि वह न तो किसी का कारण है, न उसका कोई कारण है। यह कारणभाव मिथ्या है। तथापि अनादि काल से जब जगत् का कारण खोजने का प्रयास किया जाता है तो ब्रह्म ही सबका कारण प्रतीत होता है, अन्य नहीं। यद्यपि श्रुति का कथन है कि **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।'**[36]

आचार्य रामानुज

इनके अनुसार ब्रह्म के दो रूप हैं- स्थूल चिदचिद् विशिष्ट तथा सूक्ष्म चिदचिद् विशिष्ट। यह विशेषता उसमें विकार या परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। ब्रह्म निर्गुण नहीं हो सकता, क्योंकि इस अवस्था में व्यावहारिक जगत् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। **'एकमेवाद्वितीयम्'**[37] वाक्य ब्रह्म की एकता व अद्वितीयता का प्रतिपादन करता है, सगुणत्व का प्रत्याख्यान नहीं करता। निर्गुण का अर्थ हेय तथा निकृष्ट गुणों से रहित होना है। श्रेष्ठ गुणों से तो ब्रह्म को मंडित किया गया है,

---

31. श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/11
32. तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मा- 4
33. तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मा- 1
34. तैत्तिरीयोपनिषद्-ब्रह्मा- 9
35. तैत्तिरीयोपनिषद्-भृगु.- 2
36. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 6/8
37. छान्दोग्योपनिषद्-6/2/1

जैसे- सत्यसंकल्प, सत्यकाम, सर्वशक्तिमान्, दयालु आदि। उसका पारमार्थिक रूप भी यही है। वह गुणों से रहित कभी नहीं होता। वे ब्रह्म में स्वगत भेद मानते हैं। जीव व जगत् ब्रह्म के शरीर हैं, किन्तु दोनों पृथक् हैं फिर भी वे अभिन्न हैं। सत्ता, ज्ञान और आनन्द ब्रह्म के विशेषण हैं। इसी कारण वह सविशेष है। उसमें सत्यसंकल्पत्व, सर्वशक्तिमत्व, सर्वकर्तृत्व, भक्तवत्सलता आदि गुण हैं। अत: वह सगुण है।

आचार्य मध्व

इनके अनुसार ब्रह्म सगुण व सविशेष है। वह सदा जीव व जगत् से भिन्न रहता है। ये उसके शरीर नहीं, स्वतन्त्र तत्त्व हैं। ब्रह्म भी अनन्त गुणों का समुदाय स्वतन्त्र तत्त्व है। ये गुण ही परमेश्वर के स्वरूप हैं। ब्रह्म को 'हरि' कहते हैं। वही देवाधिदेव है, मुक्तिदाता है, रचयिता, पालक व संहारक है। देश, काल, गुणों की उसमें कोई सीमा नहीं है।

आचार्य निम्बार्क

इनके मतानुसार ब्रह्म का नाम 'कृष्ण' है। यह समस्त गुणों का आलय, दोषों से सर्वथा, सर्वदा पृथक् है, सर्वजनवरेण्य व भक्तवत्सल है।[38] वे वसुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार व्यूहों से सम्पन्न होकर जगत् की व्यवस्था करते हैं। भक्तों की रक्षा और रंजन हेतु अवतार धारण करते हैं।

आचार्य वल्लभ

इनके अनुसार ब्रह्म सगुण, सर्वज्ञ, साकार, सर्वशक्तिमान्, सर्वकर्त्ता, सच्चिदानन्दस्वरूप, चैतन्य और नित्य है। इनका मत अन्य आचार्यों से विलक्षण है। ये कहते हैं कि ब्रह्म कभी भी अशुद्ध नहीं होता। माया के दोष से सर्वथा अलग रहता है।[39] वह सविशेष होकर भी निर्विशेष है। वह लीला के लिए जड़ और जीव के रूप में आविर्भूत होता है, किन्तु इस आविर्भाव में वह अविकृत, अपरिवर्तित और शुद्ध रहता है।

महर्षि दयानन्द

महर्षि का मत है कि ईश्वर सगुण व निर्गुण दोनों है।[40] निर्गुण इसलिए है क्योंकि उसमें रूप, रस, आकार आदि गुणों का सर्वथा अभाव है। मनुष्य, पशु आदि के रूप में वह अवतार

---

38. स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्। व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम्।। दशश्लोकी 4

39. मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

40. सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास

नहीं लेता। जो जड़-चेतन सब तत्त्वों में सर्वव्यापक है, उसे किसी विशेष रूप में अवतरित होने की क्या आवश्यकता है? उसमें दया, दाक्षिण्य, उदारता, न्याय, सर्वज्ञता आदि अनेक गुण हैं, अतः वह सगुण भी है। वह निराकार है।[41] विना हाथ-पाँव या इन्द्रियों के वह समस्त कार्य करने में सक्षम है।[42] वह निष्क्रिय नहीं है। यदि ऐसा होता तो सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय कैसे होता? अतः वह चेतन और क्रियाशील मानना होगा।[43] श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है-**'परास्यशक्तिर्विविधैर्श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।'**[44] जगत् की व्यवस्था तथा मोक्ष सुख प्रदान करना भी उसी का कार्य हैं। ईश्वर का स्वरूप स्वामी जी के मतानुसार है **'ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है, उसी की उपासना करनी योग्य है।'**[45]

योगदर्शन

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप बताया गया है-**'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।'**[46] पंचक्लेश,[47] कर्म, कर्मफल और संस्कारों से सदा सर्वदा अलग अन्य पुरुषों से विशिष्ट पुरुष ईश्वर है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक ये पाँचों क्लेश जिसको छू नहीं सकते, पुण्य, पाप और मिश्रित तीनों प्रकार के कर्मों से सर्वथा अलग रहने वाला, कर्मफल जिसको सुख या दुःख रूप भोग प्रदान नहीं करते तथा कर्मों के संस्कार, जाति, आयु व भोगरूप[48] फल के रूप में आगामी जन्मों का हेतु नहीं बनते, वह ईश्वर कहलाता है। इस प्रकार अन्य पुरुषों से वह सर्वथा पृथक् है क्योंकि अन्य पुरुष क्लेश के सम्पर्क से कर्म बन्धन में बन्धते हैं और शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्लकृष्ण कर्म करके सुख, दुःख व मिश्रित फल के भागी हो रहें हैं। संस्कारवशात् बार-बार जन्म धारण कर रहे हैं। ये मुक्त होने के बाद भी उस 'ईश्वर' के 'तुल्य' नहीं हो सकते क्योंकि वह ईश्वर तो कभी जन्म-मृत्यु

---

41. सत्यार्थप्रकाश-सप्तम समुल्लास
42. अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥ श्वेता. 3/19
43. सत्यार्थप्रकाश सप्तम समुल्लास
44. श्वेताश्वतरोपनिषद्- 6/8
45. आर्यसमाज का द्वितीय नियम
46. योगसूत्र-1/24
47. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। योगसूत्र 2/3
48. सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः। योगसूत्र 2/13

के भवचक्र में फँसा ही नहीं। इसी बद्ध पुरुष (जीव) को मोक्ष की आवश्यकता है, ईश्वर को नहीं।

वह सर्वज्ञ है।[49] उसके ज्ञान के बराबर किसी का ज्ञान नहीं। वह काल से बाधित न होने के कारण सभी पूर्व गुरुओं का भी गुरु है।[50] वह तीनों कालों में सदा वर्तमान है। उस ईश्वर को **'ओ३म्'** नाम से जाना जाता है।[51] ओ३म् को धानुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बताने वाली मुण्डकोपनिषद् की ऋचा मोक्ष का मार्ग प्रशस्त कर रही है-

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥[52]

ओ३म् ब्रह्म है, ओ३म् ही सब कुछ है।[53] ओ३म् के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि के क्रियाकलाप हैं। ओ३म् ही भूत, वर्तमान और भविष्यत् है।[54] इस 'ओ३म्' को ही जाप और अर्थ का चिन्तन करना चाहिए।[55] इससे ही साक्षात्कार होता है तथा साधना मार्ग में आने वाले समस्त विघ्न दूर हो जाते हैं[56] तथा साधक लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार यहाँ हमने ईश्वर के स्वरूप पर चिन्तन किया। ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा साधक की समस्त जिम्मेदारियां वह परमेश्वर खुद अपने ऊपर ले लेता है तथा शीघ्र समाधि लाभ करा देता है।[57]

गीता में कहा गया है-

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥[58]

अर्थात् ब्रह्म को अर्पित करके आसक्ति रहित होकर साधक जब कर्म करता है तो वह

---

49. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। योगसूत्र-1/25
50. पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। योगसूत्र-1/26
51. तस्य वाचकः प्रणवः। योगसूत्र- 1/27
52. मुण्डकोपनिषद्- 2/4
53. तैत्तिरीयोपनिषद्-शी. 8
54. माण्डूक्यो. -1
55. तज्जपस्तदर्थभावनम्। योगसूत्र-1/28
56. ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च। योगसूत्र-1/29
57. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। योगसूत्र-2/45
58. गीता- 5.10.

जल में कमल की भाँति पाप से लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मफल भोग के आधीन होकर जन्म-मरणचक्र में नहीं पड़ता। मुक्त हो जाता है।

योगसूत्र में 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' कहकर अन्य उपायों की अपेक्षा ईश्वर-प्रणिधान को साक्षात् समाधिस्थिति प्रदाता कहा गया है, जिसके पश्चात् मोक्ष या कैवल्य की स्थिति प्राप्त हो जाती है। अत: ईश्वर की योग में अत्यन्तावश्यकता है।

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0120-129)

दर्शनशास्त्र का भावी स्वरूप एवं आधुनिकयुग

डॉ० रञ्जन कुमार
उपाचार्य, अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र
एम.जे.पी. रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय, बरेली

दर्शनशास्त्र शिक्षा जगत् में मार्गद्रष्टा और पथनियन्ता के रूप में जाना जाता रहा है। आज भी इसमें वही ओज और तेज है, परन्तु काल और परिस्थिति के दुष्चक्र ने इसे इस स्थिति में ला दिया है कि आज स्वयं इसके भावी स्वरूप के निर्धारण की बात चल पड़ी है।

दर्शनशास्त्र का ऊहापोह

आज विश्व में दार्शनिक चिन्तन की दो धाराएँ प्रायः साथ-साथ चल रही हैं। एक धारा दर्शन को मात्र विचार एवं कल्पना लोक तक सीमित रखना चाहती है, वहीं दूसरी धारा दर्शन को एक जीवनपद्धति बनाकर इसे जीवन के अभिन्न अङ्ग के रूप में प्रस्तुत करना चाहती है। जबकि इन दोनों को एक साथ कदम से कदम मिलाकर चलना चाहिए। पूर्व में इसी परम्परा का निर्वाह दार्शनिक करते थे। फलतः उस समय आज की भाँति दर्शन के स्वरूप निर्धारण की समस्या नहीं आती थी। धीरे-धीरे इस क्षेत्र में परिवर्तन आता गया। कालान्तर में दर्शन एक बुद्धिजीवी वर्ग का विषय बन गया। सामान्य लोगों ने इसमें रुचि लेना बन्द कर दिया। प्रायः यह माना जाने लगा कि दर्शन के परिक्षेत्र में ज्ञान की बातें तो हैं, परन्तु जीवन को उन्नत बनाने के व्यावहारिक समाधान इस ज्ञान में शायद निहित नहीं है। दार्शनिक इस तथ्य को शायद ही स्वीकार करें, परन्तु यही सत्य है, ऐसा सामान्यजन मानते हैं।

दर्शनशास्त्र के प्रति इस धारणा ने सचमुच दर्शन को उस दोराहे पर खड़ा कर दिया है जहाँ वह विभ्रम की स्थिति में है। यह एक तरफ अपनी उस परम्परा को सुरक्षित रखने को इच्छुक है जिसमें वह पला-बढ़ा है, तथा दूसरी तरफ यह वर्तमान युग के वैज्ञानिक और आनुभविक मनोवृत्ति की उपेक्षा भी नहीं करना चाहता। इसी आन्तरिक ऊहापोह में दार्शनिक अपने चिन्तन को गतिशील बनाने को इच्छुक है और इसके भावी स्वरूप के निर्धारण का ताना-बाना बुनता रहता है। कभी दर्शन को कला के साथ जोड़कर तो कभी विज्ञान के साथ सामञ्जस्य बैठाकर इसे भी लौकिक सुख की प्राप्ति के ज्ञान का सफल साधन बनाना चाहता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह सम्भव है? अगर यह सम्भव है तो क्या उचित

है? अगर उचित है तो फिर दर्शन की उस पहचान को कि यह अध्यात्म प्रधान है तथा पारलौकिक विषयों पर केन्द्रित रहकर मानवमात्र को सच्चा सुख प्रदान करने का पथ प्रदान करता है, उसका क्या होगा? सचमुच यह आसान नहीं है। परन्तु इसका समाधान भी अपेक्षित है। इस ऊहापोह से ऊपर उठने का एक सामान्य ढंग यह हो सकता है कि एक तरफ दर्शन अपनी परम्परा को नए ढंग से प्रतिष्ठापित करते हुए इसे आधुनिक समय की समस्याओं से जोड़कर सुसङ्गत तरीके से प्रस्तुत करे। इसे **'रिच्युलिस्टिक'** एवं **'स्प्रीच्युलिस्टिक'** होने के साथ **'कन्वेन्शनल'** एवं **'मोडेलिस्टिक'** बनना होगा।

प्रत्यक्ष शान्ति-सुख और दर्शनशास्त्र

दर्शन का प्रतिपाद्य सर्वोच्च सुख की प्राप्ति रहा है। भारतीय दर्शन में इस सर्वोच्च सुख को विविध नाम दिए हैं-मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, मुक्ति आदि। दार्शनिकों के लिए यह सर्वोच्च उपलब्धि अवश्य है, परन्तु सामान्य जन के लिए यह रहस्यात्मक एवं कपोल-कल्पना ही है। क्योंकि प्राय: इस सम्बन्ध में यह धारणा प्रस्तुत की जाती है कि **'मरने के बाद ही मोक्ष मिलता है'**। मृत्यु के पश्चात् क्या ....? दर्शन की यह विकट समस्या है और अपने स्थान पर सही भी। लेकिन लौकिक जगत् को तो प्रत्यक्ष शान्ति और सुख चाहिए, मृत्यु के बाद का सुख उन्हें स्वीकार नहीं।

'जीवन' और **'जगत्'** का प्रयोजन दार्शनिकों ने निर्धारित किया है। **'मृत्यु'** की अनिवार्यता पर भी प्रकाश डाला है-इन सबकी व्याख्या शरीर, मन, इन्द्रिय, प्रवृति, प्रवृति-नियन्त्रण आदि अन्यान्य अवधारणाओं के परिप्रेक्ष्य में किया है। इस अनुक्रम में कभी अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुँचना तो कभी भौतिकता के उच्चतम शिखर को पकड़ने का प्रयास दार्शनिकों ने किया है। दोनों ही स्थितियों में उसका एकमात्र ध्येय- शान्ति और सुख की प्राप्ति रहा है। इस हेतु जो विधि दार्शनिक अपनाते हैं, प्राय: जनसामान्य के लिए मात्र कपोल-कल्पना एवं रहस्यात्मक अनुभूति के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यद्यपि यह नितान्त मिथ्या धारणा है और दर्शनशास्त्र को इस दिशा में गम्भीरता पूर्वक ऐसी व्यवस्था की खोज करनी होगी जो जनसामान्य को प्रत्यक्ष सुख और शान्ति प्रदान कर सके।

लौकिक जीवन एवं लोक-व्याप्त समस्याओं का निराकरण सभी को चाहिए। सामान्य अवस्था में यही व्यवहार है। इस वास्तविक महत्त्व के बोध को दर्शन को इस प्रकार प्रस्तुत करना होगा कि वह अपनी मूल प्रकृति से विलग न होकर मनुष्य को लौकिक एवं पारलौकिक पक्ष के महत्त्व से अवगत करा सके। जीवन में प्रत्यक्ष शान्ति एवं सुख के लिए इन दोनों का समान महत्त्व है, इस दृष्टिकोण की सम्यक् व्याख्या अपेक्षित है। इस हेतु प्रकृति एवं प्रवृति नियन्त्रण की प्राचीन अवधारणा को बदलकर उसका परिमार्जित स्वरूप प्रस्तुत करना होगा। यहाँ

यह बताना होगा कि जगत् चाहे प्रपञ्च हो अथवा आनन्दप्राप्त कराता हो। परन्तु इस हेतु जीव से सम्यक् साधना एवं विहित-मान्य कर्मों का अनुपालन भी अपेक्षित है।

ज्ञानदर्शन और दर्शनशास्त्र

'ज्ञान' शब्द की व्याख्या आसान नहीं है। दर्शन जब **'ज्ञान'** का विश्लेषण प्रारम्भ करता है तो अनेकविध समस्याओं का निराकरण होने के साथ नई-नई जिज्ञासाएँ भी उत्पन्न होने लगती हैं। दार्शनिक इस दिशा में प्रगति करते जाते हैं। परन्तु उनकी यह प्रगति जीवन की सामान्य समस्याओं का निदान प्रस्तुत नहीं कर पाती है, ऐसी कल्पना समाज में परिव्याप्त है। इस दिशा में दर्शन को नए तरीके से विचार करना होगा। उन्हें यह स्पष्ट करना होगा कि ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण कोई समस्यामूलक अवबोध नहीं है। इसका जितना महत्त्व दर्शन के लिए है उतनी ही अपेक्षा समाज को भी है, क्योंकि दर्शन मात्र मर्मज्ञ विद्वानों की तर्कणा का ही परिणाम नहीं है। इसे विकसित एवं जीवित रखने में जनसाधारण जनता का योगदान कहीं अधिक है। यह दूसरी बात है कि जनसाधारण के ज्ञान को दार्शनिक परिमार्जित रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह परिमार्जित ज्ञान सबके लिए उपादेय बन जाता है।

यहाँ दर्शनशास्त्र को यह स्पष्ट करना होगा कि दर्शन मात्र कुछ विशिष्ट लोगों के ज्ञान का ही परिणाम नहीं है। यह भी जनसाधारण का ज्ञानदर्शन है। भारतीय दर्शन के कई प्रस्थान जैसे-न्याय, वैशेषिक, सांख्य, जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि का ज्ञान (प्रत्यक्ष) सम्बन्धी मत जनसाधारण जनता के विचारों पर आधृत है। यह ठीक है कि इन प्रस्थानों को एक स्वरूप कुछ मर्मज्ञ विद्वानों ने दिया है। अत: यहाँ दर्शन को यह बताना होगा कि दर्शन की शास्त्रीय धारा को यद्यपि मर्मज्ञ विद्वानों ने गति दी है, परन्तु इसे लोक-लुभावन स्वरूप दर्शन से अलग रहने वाले जिज्ञासुओं ने प्रदान किया है। अस्तु, ज्ञानदर्शन मात्र दर्शन विशेष के लिए आरक्षित अवबोध न होकर सामान्यजन की भी थाती है। इस बात को विशेष रूप से बताना होगा।

आत्मतत्त्व और दर्शनशास्त्र

'आत्म' विषयक अवधारणाओं को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर इसे जनसामान्य में विस्तारित करना दर्शनशास्त्र की युगीन अपेक्षा है। जनसाधारण **'आत्मतत्त्व'** को स्वीकार करता है परन्तु दर्शन द्वारा आत्म विषयक प्रतिपादित विचारधारा को शायद आत्मसात् करना नहीं चाहता है। मानवमात्र को यह बताने की आवश्यकता है कि चेतनतत्त्व ही आत्मा है। यही सृष्टि का मूलाधार है। लोक-परलोक, जन्म-मरण, कर्म-अकर्म, बन्धन-मुक्ति, पुनर्जन्म जैसी अनेक समस्याओं का निराकरण **'आत्मतत्त्व'** को स्वीकार किए विना शायद ही सम्भव है। लेकिन इस स्वीकृति के लिए **'आत्मतत्त्व'** की दार्शनिक व्याख्या के साथ-साथ व्यावहारिक एवं लौकिक परिप्रेक्ष्य को ध्यान में रखकर करना होगा।

समाज में सुख-दुःख, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु, हेय-उपादेय, श्रेय-प्रेय, कर्त्ता-भोक्ता जैसे अनेक युग्म पाये जाते हैं। इन सबका समाधान आत्मतत्त्व की परिधि में रहकर ही किया जा सकता है, ऐसा मत प्रतिष्ठापित कर दर्शन आत्मतत्त्व को जनसाधारण में स्वीकृति प्रदान करा सकता है। इसे यह बताना होगा कि इन सबका बोध कौन करता है? इस हेतु एक चेतन सत्ता की आवश्यकता है। यह चेतन सत्ता **'आत्मा'** के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? इसी अनुक्रम में चरम सत्ता, ब्रह्मतत्त्व, ईश्वर जैसी विविध अवधारणाओं के अवबोध का भी प्रसङ्ग उठेगा, जिन पर अत्यन्त व्यापक एवं व्यावहारिक चिन्तन की अपेक्षा रहेगी।

बन्धन, मोक्ष और दर्शनशास्त्र

बन्धन और मोक्ष दर्शनशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रायः अज्ञान को बन्धन का कारण एवं ज्ञान को मोक्ष प्राप्ति का उपाय माना जाता है। बन्धन एवं मोक्ष प्रायः दुःख एवं सुख (आनन्द) के प्रतिरूप हैं। भारतीय दर्शन का यह चिन्तन तो मान्य है, लेकिन इसी परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक जब बन्धन एवं मोक्ष की व्याख्या प्रारम्भ करता है, तो यह जनसामान्य के लिए प्रायः बेकार का चिन्तन बन जाता है। लोग दार्शनिक के इस तर्क से घबराकर इसे प्रलाप एवं बकवाद तक कह देते हैं। दर्शन को इन दोनों ही अवधारणाओं का व्यावहारिक चिन्तन प्रस्तुत करना होगा।

बन्धन को अज्ञान, अविद्या, वासनाजन्य कुसंस्कारों का परिणाम बताने के पूर्व इसके औचित्य की व्याख्या अपेक्षित है। इसे ही जन्म-मरण का कारण क्यों माना गया है, यह भी स्पष्ट करना होगा। इन सबका व्यावहारिक प्रयोजन भी बताना पड़ेगा। इस दिशा में यद्यपि दार्शनिकों ने पर्याप्त परिश्रम किया है, लेकिन उनका यह श्रम तब व्यर्थ प्रतीत होता है, जब एक प्रस्थान दूसरे प्रस्थान की समीक्षा करते हुए उन्हें दार्शनिक अर्थ प्रदान करने लगते हैं। बन्धन की अवधारणा को दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में व्याख्यायित करने के साथ जगत् की समस्याओं के साथ भी जोड़ना होगा। जगत् की विविध दुष्प्रवृत्तियों को बन्धन का परिणाम बताना होगा। इसे न समाप्त होने वाले जन्म-मरण का कारण सिद्ध करने का प्रयत्न करना होगा। जन्म-मरण को संसार चक्र बताकर इसके दुष्परिणाम की समीक्षा करनी होगी। इन सबको नियन्त्रित करने के लिए संयम का आश्रय लेना अपेक्षित है, यह बताना पड़ेगा। वर्तमान युग में दार्शनिकों का 'बन्धन' के सम्बन्ध में किया गया यह प्रयास शायद जनसामान्य में स्वीकृत हो सके।

'बन्धन' की इस धारणा को स्पष्ट कर 'मुक्ति' के स्वरूप निर्धारण में दार्शनिक कुछ नवीन मत को स्थापित कर सकते हैं जो समाज को एक नई दिशा प्रदान कर सके। **'जीवनमुक्त'**, **'तीर्थंकर'**, **'बोधिसत्व'**, **'योगी'** आदि की जीवन-गाथा **'मुक्ति'** के अवैधानिक स्वरूप को एक व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर सकेगी। व्यक्ति इस आधार पर यह

स्वीकार करने में किसी तरह की कठिनाई नहीं महसूस कर सकेगा कि-**'मुक्ति'** ज्ञान का ही प्रतिरूप है अथवा यह **'ज्ञान'** के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। वस्तुतः बन्धन दुःखमूलक है जबकि **'मुक्ति'** दुःखविनाशक है। **'दुःखनाश'** सभी को इष्ट है। इस इष्ट की प्राप्ति तृष्णानाश द्वारा सम्भव है, तृष्णा का नाश **'ज्ञान'** अर्जन के विना कथमपि सम्भव नहीं है। ज्ञान-अर्जन की इस धारणा को भी एक नवीन स्वरूप प्रदान करना पड़ेगा।

'मोक्ष' अथवा **'मुक्ति'** को मृत्यु बाद की धारणा से अलग कर एक सौन्दर्यबोधात्मक रूप प्रदान करना आवश्यक माना जा सकता है। यहाँ यह स्पष्ट करना होगा कि सङ्गीत, गायन, वादन आदि सारे कर्म नैतिक एवं धार्मिक कर्म की ही भाँति **'मुक्ति'** की अनुभूति करा सकते हैं। लौकिक कर्म सिर्फ बन्धनकारी नहीं है। इनकी सहायता से भी कुसंस्कारों को संस्कारित कर सद्गति प्राप्त की जा सकती है। यह भी अमरत्व के समान **'श्रेय'** हो सकता है। **'कर्म'** सिर्फ बाधाएँ ही नहीं उत्पन्न करते वरन् विवेक के साथ जुड़कर जन्म-जन्मान्तर के बन्धन को अल्प भी कर सकते हैं। पुनर्जन्म दुःखकारक नहीं वरन् कर्मों के पूर्णभोग का एक अवसर है, जिसे सद्प्रवृत्तियों द्वारा समाप्त किया जा सकता है।

धर्म और दर्शनशास्त्र

दर्शन का धर्म के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। जनसाधारण की रुचि धर्म में अधिक दर्शन में कम है। धर्म तो धारण करने की वस्तु है, परन्तु मोह, अज्ञान एवं स्वार्थलोलुपता ने धर्म के सार्वभौम स्वरूप को विकृत कर इसे **'सम्प्रदाय'** का रूप प्रदान कर दिया है। यह कर्मकाण्ड के विद्रूप जाल में फंस गया है। आज जनसाधारण सम्प्रदाय मोह से शायद ही मुक्त होना चाहे। अगर इस दिशा में प्रयास किया जाए तो शायद जो दर्शनशास्त्र आज जनसाधारण के जीवन से तिरस्कृत हो गया है, एक स्थान बना सके। अतः दर्शनशास्त्र को **'सम्प्रदायरूपी'** धर्म को उसके विकृत स्वरूप से मुक्त कराने का प्रयत्न सावधानीपूर्वक करना होगा। धर्म को **'रिच्यूलिस्टिक'** कहने के स्थान **'स्प्रीच्युलिस्टिक'** कहकर इसकी महत्ता को सिद्ध करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके कतिपय कठोर एवं अव्यावहारिक कर्मकाण्ड को मृदु एवं व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करने की पहल करनी होगी। आराध्यदेव को प्रसन्न करने के साथ-साथ आध्यात्मिक शान्ति प्राप्ति के लिए कर्मकाण्ड के विधानों को स्वीकृति करना होगा। नरक और स्वर्ग के भय के स्थान पर धर्म को तात्कालिक परिणाम प्राप्त कराने वाला साधन बनाना होगा।

धर्म के नाम पर होने वाले भक्तिभाव, पूजा, अर्चना के प्रयास को समाप्त कराने की अपेक्षा इन्हें ऐहिक जीवन की सुख-शान्ति से जोड़ना अधिक श्रेयस्कर होगा। खान-पान के धार्मिक स्वरूप पर आक्षेप करने की अपेक्षा शारीरिक-मानसिक स्वास्थ्य के साथ जोड़ना अधिक

प्रभावकारी होगा। विविध प्रावधानों को तार्किक एवं वैज्ञानिक कसौटी पर कसकर तात्कालिक माांग के अनुरूप धार्मिकता के तत्त्व को दार्शनिक स्वरूप प्रदान कर इन्हें जनसामान्य में लोकप्रिय बनाया जा सकता है। धर्म और सम्प्रदायों को विलग न करके इनके विविध तत्त्वों को जीवन-मूल्यों के साथ प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न वर्तमान समय में दर्शन को भावी स्वरूप प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास माना जा सकता है।

जीवनसंघर्ष और दर्शनशास्त्र

दर्शन जीवन प्रणाली में मूलभूत परिवर्तन का सिद्धान्त स्थापित कर जीवन-संघर्ष के कतिपय अवसरों को समाप्त कर सकता है। यह इसके भावी कार्यक्रम का एक अभिन्न अङ्ग बन सकता है। **'अस्तित्व के लिए संघर्ष', 'योग्यतम की विजय'** जैसे संघर्ष बढ़ाने वाले सिद्धान्तों का परिष्कार करके मनुष्य को अपने जीवन-यापन हेतु सहकार का मार्ग प्रस्तुत करना दर्शन के भावी स्वरूप का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष बन सकता है। एक दूसरे का सहयोग करना जीवन का ध्येय है। जीवन-यात्रा पारस्परिक सहयोग से चलती है। जीवन के दूसरे रूप का विनाश करके अपने अस्तित्व को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता है। ये सारे सन्दर्भ जीवन-संघर्ष के प्रयत्न को एक नवीन मार्ग दे सकते हैं। मानव-संघर्ष को एक मृदु पथ प्रदान कर सकता है।

दर्शनशास्त्र का यह प्रयत्न सचमुच अत्यन्त व्यावहारिक माना जा सकता है। मनुष्य इस अद्भुत संसार की सबसे जटिल परन्तु महत्त्वपूर्ण रचना है। वह प्रकृतिप्रदत्त संसाधनों की सहायता से अपना जीवन-यापन करता है। प्रकृति भी मनुष्य का सहयोग चाहती है। अपने असीम संसाधनों की रक्षा एवं उपयोग हेतु मनुष्य का सहकार प्रकृति को भी अपेक्षित है। जीवन मात्र संघर्ष का ही नाम नहीं, अपितु एक प्रकार का सहकार भी है। दर्शन चिन्तन की इस दिशा में पर्याप्त सहयोग कर सकता है। वह **'जीवन-संघर्ष'** के स्थान पर **'जीवन-सहकार'** का नारा देकर जनसामान्य को शान्ति का पथ प्रदान कर सकता है, जिसकी अपेक्षा मानवमात्र को सदैव रही है।

योगसाधना और दर्शनशास्त्र

साधना और दर्शन का मेल स्वयं सिद्ध है। योगसाधना का सहज स्वरूप है। आज **'योग'** एक ऐसा साधन बन गया है, जिसे मनुष्य शारीरिक-स्वास्थ्य हेतु व्यायाम के रूप में अभ्यास करता है। आज योग को एक वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान कर दिया गया है। जबकि योग कभी आध्यात्मिक विद्या थी जो मनुष्य को ऐहिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख प्रदान करती थी। यह एक रहस्यमयी साधना थी जिसे 'योगीजन' विशेष प्रयोजन हेतु स्वीकार करते थे। दर्शन को योग की इस प्राचीन परम्परा को जीवित रखते हुए वर्तमान कालिक अपेक्षा के अनुरूप मनुष्य को शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक स्वास्थ्य प्रदाता साधन स्वीकृत करना होगा। योग

के अष्टाङ्ग साधन को आज की आवश्यकता के अनुरूप ही नियोजित करना होगा। अपनी व्यावहारिकता की सिद्धि के लिए दर्शन को योग के रूप को स्वीकृति प्रदान करनी ही पड़ेगी।

'यम' और **'नियम'** को वृत्तियों को संयमित करने वाला सहज सिद्धान्त मानना होगा। **'आसन'**, **'प्राणायाम'**, **'धारणा'**, **'ध्यान'**, **'समाधि'**, जैसे अन्यान्य योगाङ्गों को इस आधार पर स्वीकृति प्रदान नहीं करनी होगी कि इनसे पारलौकिक जीवन में कोई उपलब्धि होगी, अपितु इन्हें वैयक्तिक तनाव-मुक्ति, मानसिक शान्ति एवं शारीरिक-स्वास्थ्य के लिए प्रासंगिक बनाना अधिक श्रेयस्कर होगा। **'प्रत्याहार'** को आचारगत मान्यता न प्रदान करते हुए विनम्रता का एक साधन मानना होगा। संभवतः योगसाधना की पारम्परिक शैली में विश्वास करने वालों के लिए यह बात स्वीकार न हो। परन्तु आज की युगीन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में दर्शन को 'योगसाधना' के इस स्वरूप को स्वीकृति प्रदान करनी ही पड़ेगी।

अनुप्रयुक्त दर्शन और दर्शनशास्त्र

दर्शनशास्त्र का स्वरूप भविष्य में अनुप्रयुक्त दर्शन (Applied Philosophy) के रूप में ही स्वीकृत होगा। आज दर्शन की जो अवगति हो रही है उसमें सुधार करने का प्रमुख उपाय सैद्धान्तिक दर्शन को व्यावहारिक दर्शन बनाना मात्र ही हो सकता है। इस हेतु पर्याप्त चिन्तन एवं परिश्रम की आवश्यकता है। दर्शनशास्त्र ज्ञान का मूल विषय है। इससे ही अन्य सभी विषय अपनी आधार सामग्री प्राप्त करते हैं। दर्शन की अपनी इस मान्यता की रक्षा भी करनी है और इसे लोकलुभावन भी बनाना है। इस हेतु पाठ्यक्रम विन्यास की दिशा में विशेष सावधानी बरतने की आवश्यकता है।

आज का युग रोजगारोन्मुखी शिक्षा प्राप्त करने के नाम से विख्यात है। आज वही शिक्षा अधिक फलवती एवं विकसित मानी जा रही है, जो शिक्षार्थियों को रोजगार प्राप्त कराने के अधिक अवसर सुलभ करा सके। दर्शनशास्त्र निःसन्देह आज इस दिशा में अधिक कारगर नहीं हो पा रहा है। अतः दर्शनशास्त्र को आज शायद ही कोई अपने कैरियर बनाने के लिए चयन करना चाहता हो। दर्शन के विशेषज्ञ विद्वान् इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं। वे उस दिशा में प्रयत्नशील भी हैं और इस विषय की रक्षा करना चाहते हैं, फिर भी उनका प्रयास पर्याप्त फलीभूत नहीं हो पा रहा है। कारण क्या है? शायद समझ में नहीं आ रहा है, परन्तु इस दिशा में सफलता प्राप्त करनी होगी।

शायद! दर्शनशास्त्री अपनी इस धारणा को आज भी नहीं छोड़ पा रहे हैं कि दर्शनशास्त्र अपनी परम्परा से किस प्रकार अलग हो। संभवतः वे सही हों, लेकिन युगीन आवश्यकता के अनुरूप उन्हें अपनी इस धारणा में परिवर्तन करना ही पड़ेगा। आज दर्शन के भावी स्वरूप को निर्धारित करते समय उन्हें कुछ आधुनिक एवं रोजगारोन्मुखी विषयों के साथ दर्शन को जोड़ना

ही पड़ेगा। उन्हें दर्शन की व्यापकता को भी अक्षुण्ण रखना है और दर्शन के यथार्थपरक व्यामोह से मुक्त भी होना पड़ेगा। इन्हीं कुछ तथ्यों को ध्यान में रखकर वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र के भावी स्वरूप के परिक्षेत्र को सीमांकित करके इसे एक नया नाम प्रदान करने की अपेक्षा है, जिसे 'अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र' (Applied Pholosophy) कहा जा सकता है। इसके पाठ्यक्रम की रचना हेतु पारम्परिक एवं आधुनिक विषयों को साथ लेकर चलने की आवश्यकता है-

पारम्परिक-परिक्षेत्र

1. तत्त्वमीमांसा। 2. ज्ञानमीमांसा। 3. आचारमीमांसा। 4. मूल्यमीमांसा

अन्तरविषयीय परिक्षेत्र

1. विज्ञान और दर्शनशास्त्र। 2. विधि और दर्शनशास्त्र। 3. भाषा और दर्शनशास्त्र। 4. शिक्षाशास्त्र और दर्शनशास्त्र। 5. मनोविज्ञान और दर्शनशास्त्र। 6. समाजशास्त्र और दर्शनशास्त्र। 7. इतिहास और दर्शनशास्त्र। ८. कला और दर्शनशास्त्र

सामाजिक परिक्षेत्र

1. धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र। 2. राजनीतिशास्त्र और दर्शनशास्त्र। 3. अर्थशास्त्र और दर्शनशास्त्र। 4. सामाजिक संस्था और दर्शनशास्त्र।

वर्तमानकालिक परिक्षेत्र

1. व्यापार-प्रबन्धन एवं दर्शनशास्त्र। 2. संगणक एवं दर्शनशास्त्र। 3. पर्यावरण एवं दर्शनशास्त्र। 4. प्रोफेशनल इथिक्स एवं दर्शनशास्त्र। 5. एप्लाइड इथिक्स एवं दर्शनशास्त्र। 6. कृषि एवं दर्शनशास्त्र। 7. प्रजनन एवं दर्शनशास्त्र। 8. औषधिविज्ञान एवं दर्शनशास्त्र। 9. पत्रकारिता एवं दर्शनशास्त्र। 10. सूचनाप्रसारण एवं दर्शनशास्त्र। 11. प्रौद्योगिकी एवं दर्शनशास्त्र

उपर्युक्त परिक्षेत्र वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र के व्यावहारिक स्वरूप निर्माण में एक संभावित पाठ्यक्रम विन्यास हेतु प्रस्तुत किये गए हैं। जहाँ तक दर्शनशास्त्र के इस भावी स्वरूप के भविष्य के सम्बन्ध में विचार करने की बात है, यह मान्य तथ्य है कि नवीन विषयों की सफलता उसकी प्रकृति और उपयोगिता के आधार पर निर्धारित होती है। अनुप्रयुक्त दर्शन के साथ भी यही होगा। परन्तु अधिसंख्य शिक्षासंस्थानों द्वारा जब यह विषय स्वीकृत होगा। इस क्षेत्र में पुस्तक/लेख/पत्र आदि का प्रकाशन होगा। जनसाधारण इनसे अवगत होगा। साथ ही साथ चूँकि यह विषय जीवन को सुखमय बनाने के सभी पक्षों को अपने में समाहित किए हुए है, अतः समय के साथ विकास पथ की ओर अग्रसर होगा।

दर्शनशास्त्र का भावी स्वरूप: कुछ बिन्दुगत सुझाव

दर्शनशास्त्र के भावी स्वरूप का निर्धारण सामान्य संदर्भ नहीं है। इस दिशा में विशेषज्ञ विद्वान् आपस में मिलकर संवाद करेंगे, तत्पश्चात् नवनीत के रूप में जो कुछ भी निकलेगा वही इस दिशा में एक आधार बन सकेगा। इस हेतु कुछ बिन्दुगत सुझाव प्रस्तुत किए जा रहे हैं-

1. दर्शनशास्त्र के विचारपरक सैद्धान्तिक पक्ष को कार्यमूलक बनाना।

2. तत्त्वमीमांसा के आध्यात्मिक संदर्भ की लौकिक उपयोगिता सिद्ध करना।

3. तर्कशास्त्र की तर्कना का उपयोग व्यावहारिक समस्याओं के सामधान हेतु प्रयोग में लाना।

4. आचारशास्त्र की सैद्धान्तिक मान्यताओं का व्यावहारिक प्रयोग।

5. मूल्यमीमांसा एवं सौन्दर्यशास्त्र की विषयवस्तु जनसाधारण की भाषा में प्रस्तुत करना।

6. योगविद्या को मात्र अध्यात्मपरक-साधन नहीं वरन् लौकिक जनजागरण का एक सहज साधन बनाना।

7. धर्म के कर्मकाण्डात्मक स्वरूप को अध्यात्मप्रधान बनाना।

8. अनुप्रयुक्त दर्शनशास्त्र और दर्शन के अन्तर को भलीभाँति स्पष्ट करना।

9. वर्तमान समय में दर्शनशास्त्र के अध्ययन की प्रासंगिकता को सिद्ध करना।

10. रोजगारपरक शिक्षा के साथ दर्शनशास्त्र के सन्दर्भों की तुलना एवं उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालना।

11. दर्शनशास्त्र के नए प्रतिरूप जैसे-Applied Ethics, Professional Ethics, Biomedical Ethics, Environmental Ethics आदि को सामान्य शब्दावली में परिभाषित कर इसकी उपयोगिता को प्रकाशित करना।

12. दर्शन को शिक्षा के अभिन्न अङ्ग के रूप में प्रस्तुत करना।

आधारग्रन्थ

An Introduction to Applied Ethics, Edts, John. H. Piet&Ayodhya Prasad, COSMO Publications, New Delhi - 2000.

Applied Philosophy, Edt. R.P. Singh, Om Publications, New Delhi,2003

An Introduction to Indian Philosophy, Chattopadhyay&Dutta, Univ. of Calcutta, 1960.

□ *Contemporary Thought of India*, A.C. Underwood, William&Norgate Ltd. London, 1930

□ *Indian Thought. Past and Present*, T.Fisher, Unwin Ltd. London, 1915

□ *Indian Thought and its Development,* Trans. Mrs. Charles B.Russel, Henry Colt&Co., New York, 1936.

□ *Indian Philosophy in Modern Times*, V. Brodov, Progress Publishers, Moscow, 1984.

□ *New Ideas in India,* John Morrisom, Macmillan, London, 1907.

□ *Outlines of Indian Philosophy,* M.Hiriyanna, Munshi Ram Manoharlal, Delhi-1958.

□ *What is Living and What is Dead in Indian Philosophy,* D.P. Chattopadhyaya, People's Publishing House, New Delhi, 1977.

□ Philosophy in India; Traditions, Teaching&Research, K. satchidanandas Murty, ICPR, 1985.

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0130-134)

औपनिषदिक तप- एक विवेचन

कु० संगीता
शोधछात्रा

तप शब्द का अर्थ:- 'तप' शब्द को अभिव्यक्त करने वाली तीन धातुएँ[1] हैं-**'तप सन्तापे' 'तप ऐश्वर्य' तप दाहे। 'तप्'** धातु से **'असुन्'**[2] प्रत्यय करने पर तपस्(=तप) शब्द उपपन्न होता है। सामान्यत: तप शब्द कष्ट सहने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। संस्कृत-हिन्दी-कोश में तप के निम्न अर्थ प्रकट किये गए हैं-

1. ताप, गर्मी, अग्नि 2. पीड़ा, कष्ट 3. धार्मिक कठोर साधना आत्मनियन्त्रण का उपाय, 4. आत्मदमन और आत्मोत्सर्ग के अभ्यास से सम्बद्ध ध्यान 5. नैतिक गुण 6. किसी विशेष वर्ण का विशेष कर्त्तव्य पालन 7. सप्तलोकों में एक लोक अर्थात् 'जनलोक' के ऊपर का लोक।[3] वैदिक कोष में तप का अर्थ प्राणायाम, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, ताप, का हेतु माघ मास किया है। इसके अतिरिक्त स्वाध्याय, यज्ञ, ब्रह्म, मन को भी तप कहा है।[4]

तप करने का अर्थ जहाँ द्वन्द्वों को सहन करना कहा गया है, वहीं तप शब्द अन्य शास्त्रों में भिन्न-भिन्न अर्थों में वर्णित है। शतपथ-ब्राह्मण में आया है कि- यदि कोई व्यक्ति सुगन्धित तेल लगाकर और शृङ्गार किये हुए अच्छी प्रकार से सुखदायक बिछौने पर लेटा हुआ स्वाध्याय करता है तो समझना चाहिए कि वह शिखाग्र से लेकर नखाग्र तक तप कर रहा है।[5] महर्षि मनु ने लिखा है-''द्विज द्वारा शृङ्गारित होकर यथाशक्ति स्वाध्याय का किया जाना परम तप है।[6] महर्षि दयानन्द ने सदा धर्मानुष्ठान करने को तप कहा है।[7] उनके कथनानुसार- तप 'जैसे सोने की अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और

---

1 तप सन्तापे (भ्वादिगण,) तप ऐश्वर्ये (दिवादिगण), तप दाहे (चुरादिगण) धातुपाठ।

2 सर्वधातुभ्योऽसुन्- उणादिकोश 4/189

3 संस्कृत-हिन्दी-कोश, आप्टे, पृ. 421।

4 वैदिककोष, पृ. 410।

5 यदि ह वा अप्यभ्यक्त:। अलंकृत: सुहित: सुखे शयने शयान: स्वाध्यायमधीते आ हैव स नखाग्रेभ्य: तप्यते। शतपथ ब्रा0-11/3/7/4।

6 आ हैव स नखाग्रेभ्य: परमं तप्यते तप:। य: स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्।। मनुस्मृति 2/167।

7 तप: सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्। ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका- उपासना विषय।

शुभगुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देगा।

तप से मनुष्य का जीवन शुद्ध और मन प्रसन्न हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार के लिये तप सर्वोत्तम साधन है। तप को ऋषियों ने स्वर्ग का साधन कहा है।[8] लौकिक साधनों के इच्छुक अथवा परमार्थ साधनों की प्राप्ति करने वाले सभी मनुष्य सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं, किन्तु सभी कर्म तप के अन्तर्गत नहीं आते। जब मनुष्य योगमार्ग का पथिक बन कर धर्माचरण करता हुआ विद्या की प्राप्ति करने में प्रयत्नशील होता है तब वह जो शीतोष्ण, मानापमान, लाभ-हानि आदि को प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है, उसको तप कहते हैं।

तप करने का प्रयोजन ब्रह्म का दर्शन करना है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ऋषि भृगु अपने पिता वरुण के पास जाकर पूछते हैं भगवन्! ब्रह्म क्या है? वरुण ने कहा- तप से ब्रह्म को जानो। तप ब्रह्म तपमय है उसने तप को तपा है। यह जानकर कि तप से ब्रह्मज्ञान होता है, भृगु ऋषि ने तप किया।[9] एकादशोपनिषद् में तप का वर्णन विशद रूप से प्राप्त होता है।

केनोपनिषद् में ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के साधनों में तप ग्रहण किया गया है-**"तस्य तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्।"**[10] ब्रह्म विद्या की तप, दम, कर्म तथा वेद-वेदाङ्ग-प्रतिष्ठा है एवं सत्य आयतन है। शरीर, इन्द्रिय और मन के समाधान होने को तप कहते हैं। दम विषय विकारों से मुक्त होने का नाम है। कर्म से अभिप्राय यज्ञादि शुभकर्म हैं। इन साधनों अनुपालपन करने से चित्त की शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध होने पर तत्त्व ज्ञानोपलब्धि होती है। जिनके चित्त का मल निवृत्त नहीं होता है उनको ब्रह्मविषयक उपदेश दिये जाने पर भी ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान नहीं होता, जैसे इन्द्र व विरोचन संवाद में विरोचन को नहीं हुआ।[11] अथवा विपरीत ज्ञान हो जाता है। अत एव इस जन्म में वा पूर्वजन्मों में तपादि साधनों से जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वस्तुतः उन्हें ही श्रुत्युक्त ब्रह्मज्ञान होता है।[12]

कठोपनिषद् के आचार्य कहते हैं- सब वेदादि सत्य शास्त्र सब ब्रह्मचर्य, गृहस्थ,

---

8 तपः पवित्रवेदस्य तपः स्वर्गस्य साधनम्!- महाभारत सूक्ति सुधा, पृ. 11।

9 पुनरव वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो भगवो ब्रह्मेति। तं होवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। तैत्तिरीयोपनिषद्-भृगुवल्ली, तृ. अनु.।

10 केनोपनिषद्- 4/8।

11 नोपदेशश्रवणऽपिकृतकृत्यता विरोचनवत्-

12 तपः कायेन्द्रियमनसां समाधानम्। दमः उपशमः कर्म अग्निहोत्रादि। एतैर्हि संस्कृतस्य सत्त्वशुद्धिद्वारा तत्त्वज्ञानोत्पत्तिर्दृष्टा। दृष्टा ह्यमृदितकल्मषस्योक्तेऽपि ब्रह्मण्यप्रतिपत्तिर्विपरीतप्रतिपत्तिश्च, यथेन्द्रविरोचनप्रभृतीनाम्। यस्मादिह वातीतेषु वा बहुषु जन्मान्तरेषु तपादिभिः कृतसत्त्वशुद्धेर्ज्ञानं समुत्पद्यते यथाश्रुतम्। केन 04/8 शा0भा0

वानप्रस्थ, संन्यास आश्रमों में धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण, योगाभ्यासादि नियम ईश्वर का ज्ञान कराने में प्रवृत्त है। उस ब्रह्म का वाचक **'ओम्'** नाम है।[13] छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार परमेश्वर ने मनुष्यों को वेद ज्ञान दिया, उस ज्ञान से सत्य विद्याएँ प्रकट हुईं। उन विद्याओं का ईश्वर ने मन्थन किया। उस मन्थन से भूर्भुव: स्व: तीन अक्षर प्रकट हुए। फिर परमेश्वर ने उन अक्षरों को तपाकर मन्थन किया, जिससे ओंकार प्रकट हुआ। ओम् का प्रकाशन ब्रह्म ने तप द्वारा किया है।[14] कठोपनिषद् ने ब्रह्म के स्वरूप को तपयुक्त माना है।[15] इसका ज्ञाता नित्य तप नियम का अनुष्ठान करता है। गीता में तप को दैवी सम्पत्ति में गिना है।[16]

प्रश्नोपनिषद् में एक आख्यान आता है, जिसमें छ: ब्रह्मजिज्ञासु एकत्र होकर महर्षि पिप्पलाद के पास जाते हैं। ब्रह्मविद्या के अधिकारी बनने के लिये वे महर्षि के आदेशानुसार एक वर्ष पर्यन्त तप- ब्रह्मचर्यपूर्वक रहते हैं। तदनन्तर कबन्धी कात्यायन को ऋषि पिप्पलाद दो मार्गों का वर्णन करते हैं- एक पितृयाण और दूसरा देवयान। पितृयाण का अवलम्बन करने वाले लोग इष्ट और पूर्त्त को कर्त्तव्य-कर्म समझते हैं तथा प्रजाकाम होते हैं। पितृयाण एवं दक्षिणायन के व्रत पर चलते हुए वे रयि से परिपूर्ण चान्द्रमस लोक को प्राप्त कर लेते हैं। इसके विपरीत देवयान के पथिक तपस्या, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा एवं अध्यात्मविद्या से ब्रह्म का अन्वेषण करते हैं। वे उत्तरायण को अपना आदर्श बनाते हैं।[17] बृहदारण्यकोपनिषद् में तप के विभिन्न प्रकारों पर गहन प्रकाश डाला गया है-

(क) व्याधिग्रस्त पुरुष को जो ताप होता है, उसको प्रसन्नतापूर्वक सहना व उसकी निन्दा न करना निश्चय से परम तप है। जो ऐसा जानता है वह परमलोक को जीत लेता है।[18]

(ख) मृतपुरुष को जो वन में ले जाते हैं, निश्चय ही यह परम तप है, जो मनुष्य ऐसा जानता है वह परमलोक का अधिकारी बनता है।[19]

आचार्य शंकर के अनुसार मरणासन्न पुरुष आरम्भ से ही सोचता है कि मृत्यु के उपरान्त

---

13 सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्। कठोपनिषद्- 1/2/15।

14 छान्दोग्योपनिषद्-2/23/2,3।

15 य: पूर्वं तपसो जातमद्भ्य: पूर्वमजायत। कठ0-2/1/6।

16 स्वाध्यायस्तप आर्जवम्। गीता 16/1।

17 तद् ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एवं पुनरावर्तन्ते। तस्मादेते ऋषय: प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्य: पितृयाण:। प्रश्नोपनिषद् 1/9।

18 एतद् वै परमं तपो यद् व्याहितस्तप्यते परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। बृह0 उप0 5/11/1।

19 एतद् वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यं हरन्ति परमं हैव लोकं जयति य एवं वेद। बृह0 उप0 5/11/1।

मुझे ऋषिगण अन्त्येष्टि कर्म हेतु ग्राम से वन ले जायेंगे, यह निश्चय ही परम तप होगा। ग्राम से वनगमन में समानता होने के कारण मेरा परम तप हो जाएगा, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि ग्राम से वन में जाना परम तप है। जो ऐसा जानता है वह परमलोक को जीत लेता है।[20]

(ग) मृतक शरीर को अग्नि के समर्पित करके दाह संस्कार करना परम तप है, क्योंकि अग्निप्रवेश से इसकी समानता है। ऐसा तपकर्त्ता श्रेष्ठ लोक को प्राप्त करता है।[21]

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वैदिक रीति से किये जाने वाले संस्कार तप के अन्तर्गत आते हैं।

श्रेष्ठ तप वही है जो निष्काम भाव से किया जाता है।[22] निष्काम भाव से किये जाने वाला तप सात्त्विक, शुद्ध व ज्ञान-विज्ञान को बढ़ाने वाला होता है। इसलिए तैत्तिरीयोपनिषद् में बार-बार यह पद दोहराया गया है-**"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा।"**[23] उपनिषद् में ज्ञानपूर्वक तप करने का विधान पाया जाता है, क्योंकि ब्रह्म का लक्षण-ज्ञानमयं तपः[24] कहकर किया है। इसलिये दूध में घृत की भाँति विद्यमान रहने वाले सर्वव्यापक ब्रह्म को जानने का साधन ज्ञानपूर्वक तप करना है।[25]

वस्तुतः सम्पूर्ण सृष्टि के मूल में तप सन्निहित है। तपोमय ब्रह्म के भय से अग्नि तपता है, सूर्य तप करता है, विद्युत् चमकती है, वायु बहता है, मृत्यु भी उसी के भय से इधर-उधर भागकर प्राणियों को मारता है।[26] मुण्डकोपनिषद् में ज्ञानमय परमेश्वर के ज्ञान को तप बताया है।[27] परमेश्वर अपने तप अर्थात् ज्ञान-इच्छा से प्रकृति में प्रकट हुआ[28] उसी से अन्न, अन्न से प्राण, मन, बुद्धि, सत्य, लोक और सत्कर्मों में अमृत-मोक्षपद का उद्भव हुआ।[29] ईश्वरोपासक के तपयुक्त शुद्ध व्यवहार स्वरूप नचिकेता का यम के द्वार पर तीन दिन तक निराहार रहने

---

20 बृह0उप0 शांकरभाष्य- 5/11/1।

21 तथैतद् वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति; अग्निप्रवेशसामान्यात्, परमं हैव लोक जयति य एवं वेद। बृह0 उप0 (शां0 भा0) 5/11/1।

22 श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः। अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते। गीता। 17/17

23 तैतिरीयोपनिषद्- भृगुवल्ली-2,3,4,5 अनुवाक।

24 य सर्वज्ञः सर्वविद्यास्य ज्ञानमयं तपः।-मुण्डकोपनिषद्-1/1/1।

25 सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् आत्मविद्या तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत् परम्।। श्वेता0 उप0 1/16।

26 भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः। कठ. उप. 6/3।

27 यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमात्रं च जायते। मु0 उप0- 1/1/9।

28 तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम्।। मु.उप.- 1/9।

29 तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। कठ. उप.- 1/9।

उपकोसल का मानस व्याधि से अनशन धारण करते हुए तपपूर्वक साधना करने में प्रत्यक्ष होता है।[30] उपनिषद् में 'तप' ब्रह्म का एक गुण है जिसके द्वारा ब्रह्म सृष्टि की रचना व वेद विद्या को प्रकाशित करता है।[31]

इस प्रकार उपनिषदों के परिशीलन करने पर हम देखते हैं कि मानव जीवन में तप की महती आवश्यकता है। शारीरिक, मानसिक, वाचिक तप करने से मानव की बाह्य व आन्तरिक वृत्तियों का शोधन होने पर संस्कारों का परिष्कार हो जाता है और तपस्वी इहलोक व परलोक में श्रेष्ठ फलों को प्राप्त करता है।

---

30 स ह व्याधिनानशितुं दध्रे- छा० उप०- 4/10/3।

31 (क) सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत्।। एत. उप. 1/3/2

(ख) तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निः। ऐत. उप. -1/1/4

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0135-146)

तथागतबुद्धसम्मत शील

डॉ० राजेश्वर मिश्र
संस्कृत, पालि एवं प्राकृत-विभाग,
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र-136119 (हरियाण)

भगवान् बुद्ध ने जगत् के अस्तित्व को यथावत् स्वीकार किया है, अत: उनके उपदेश भी जागतिक दु:खों के निवारण के लिए हैं। भौतिक जगत् के समग्र दु:खों का मूल कारण अविद्या है। अत: बुद्ध के अनुसार दु:खों के आद्यकारण अविद्या का आत्यन्तिक निरोध हो जाने पर स्वत: ही दु:खनिरोध हो जाता है, क्योंकि अविद्या के कारण इस जगत् में नानाविधकर्म किए जाते हैं, जो क्लेश (दु:ख) के जनक हैं। कर्म-क्लेश के आत्यन्तिक निरोध के लिए भगवान् बुद्ध ने जिस मध्यम मार्ग का उपदेश किया है, वह अष्टांगिक मार्ग के नाम से जाना जाता है जो बुद्ध की आचारमीमांसा का चरम साधन है, क्योंकि बुद्ध के मत में आचार की प्रधानता है। उन्होंने जो कुछ भी उपदेश किया है उसके मूल में सत्त्वों का दुराचार और सदाचार रहा है। वे दुराचरणों के सर्वथा परित्याग और सदाचरणों के पालन पर बल देते हैं। 'दीर्घनिकाय' के 'संगीतसूत्र' में उन्होंने आठ मिथ्या-आचरणों-**मिथ्या-दृष्टि, मिथ्यासंकल्प, मिथ्यावाक्, मिथ्याकर्मान्त, मिथ्या-आजीव, मिथ्या व्यायाम, मिथ्यास्मृति और मिथ्यासमाधि**[1] का उल्लेख करते हुए इनके प्रतिपक्षीभूत आठ सदाचरणों- **सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यागाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति और सम्यक्समाधि**[2] का उपदेश किया है, जो उनके अनुसार सुखकर और अमृतगामी मार्ग हैं[3] तथा निर्वाण की ओर ले जाने वाले हैं।[4] जो भिक्षु इसका आचरण करता है वह राग-द्वेष एवं मोह से मुक्त होकर बार-बार

1. द्रष्टव्य दीर्घनि0, 3.245.।
2. द्रष्टव्य वही, 2.311, 3.255, तु0 मज्झि0 नि. 1.49, संयु0 नि0, 5.8-10, विभंग, 104, विशुद्धिमग्ग, 16.31, अभिधम्मत्थसंगहो, 7.33।
3. संयु0नि0 5.8: अयमेव अरियो अट्ठंगिको मग्गो अमतगामि मग्गो।
4. वही, 5.38।

अष्टांगिक मार्ग का अभ्यास करता है।[5] तथागत बुद्ध के मत में यह निर्मल चित्तप्राप्ति का एकमात्र मार्ग है। इसका आचरण करता हुआ जीव अपने दुःखों को दूर कर सकता है, अतः यह सभी मार्गों में श्रेष्ठ हैं।[6] इसीलिए बुद्ध ने 'संयुक्तनिकाय' में इस मार्ग को ब्रह्मयान, धर्मयान और अनुत्तरसंग्रामविजय कहा है।[7] इस मार्ग की प्रशंसा करते हुए आचार्य अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' में इसे सम्यग्दृष्टि रूपी सूर्य से प्रकाशित होने वाले, सम्यक्संकल्प रूपीरथ से अहर्निश चलने वाले अनेक उपदेशों में रमणीय सम्यग्वाणी में विश्राम करने वाले, सम्यक्कर्मान्त रूपी उपवन में सदैव विहार करने वाले सम्यगाजीव रूप अनामय भोजन वाले तथा सम्यग्व्यायाम रूपी सेवकों वाले चक्रवर्ती सम्राट् से उपमित किया है।[8] अश्वघोष के मत में यह दुःख को अभिभूत कर सुख से भी परे का मार्ग है तथा सभी जीवों के लिए सुलभ भी है।[9] 'संयुक्तनिकाय' में यह उल्लिखित है कि सदाचरण से ही सत्त्व शुद्ध होता है। उसका अभ्यास करने वाला स्थिरात्मा अत्यधिक सुखी और सन्तोषी होता है।[10] अतः यह अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म का आचार मार्ग है और अन्य मार्गों में श्रेष्ठ है-**''मग्गानां अट्ठङ्गिको सेट्ठो''**।[11] यह अष्टांगिक मार्ग निर्वाण के मुख्य साधनात्रय-शील, समाधि और प्रज्ञा का ही पल्लवित रूप है। अष्टांगिक मार्ग के-सम्यग्वचन, सम्यक्कर्मान्त एवं सम्यगाजीव इन तीन मार्गों को ही सम्मिलित रूप से **'शील'** कहा जाता है।

'शील' शब्द शील् (शील उपधारणे, उपधारणमभ्यासः)[12] धातु से अच् प्रत्यय के संयोग से निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- सद्गुण, नैतिकता, सदाचरण का अभ्यास। शील, समाधि और प्रज्ञा रूप स्कन्धत्रय बौद्धधर्म की आधार शिला हैं और शील इस स्कन्धत्रय का आधार है। यह सदाचार और कुशल कर्म है। शील से मन, वाणी और काया तीनों शुद्ध होते

---

5. तत्रैव 5.38: एवं खो विक्खवे, भिक्खु योनिसोमनासिकारसम्पन्नो अरियं अट्ठकिं मग्गं भावेति, अरियं अट्ठङ्गिकं बहुली करोतीति।
6. द्रष्टव्य धम्म. प0, गाथां 273 एवं वही, 20.1: मग्गानट्ठङ्गिको सेठ्ठो सच्चानं चतुरो पढ़ो।
7. संयु. नि, 55: भगवा अवोच- इमस्से व खो एवं आनन्द, अरियस्स अट्ठङ्गिकस्स मग्गस्स अधिवचनं- ब्रह्मयानं, इति पि, धम्मयानं, इति पि, अनुत्तरो संगामविजयो इति पीति।
8. द्रष्टव्य बुद्धच., 15.41-44।
9. वही, 15.53।
10. द्रष्टव्य संयुक्तनि., 1.48।
11. धम्म0 20.1
12. मा0धा0 10.265

हैं।[13] सभी पापों और सभी अकुशल कर्मों का न करना, अकुशल कर्मों की ओर प्रवृत्ति न होना तथा समस्त तृष्णा का विरोध करते हुए कुशल कर्मों का उपार्जन करना ही शील है।[14] तृष्णा निरोध से समस्त सांसारिक विपत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, क्लेशों का निरोध हो जाता है और शील के आचरण से भिक्षु अर्हत्व प्राप्ति के लिए अग्रेसर होता है। शील और समाधि से ही प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। इससे अनाचार का नाश और सुख की वृद्धि होती है, अत: शील निर्वाण का उत्तम मार्ग है। 'संयुक्त निकाय' में ऐसा उपदिष्ट है कि शीलवान् प्रज्ञायुक्त होकर एकाग्रचित्त और संयम द्वारा भवरूपी दुस्तर बाढ़ को सहज ही तैर जाता है।[15] भगवान् बुद्ध ने स्वयं यह उपदेश किया है कि जो प्रज्ञावान्, वीर्यवान् पण्डित शील में प्रतिष्ठित होता है, वही समाधि और प्रज्ञा की भावना करता हुआ तृष्णा रूपी जटा का समूल नाश करता है तथा धर्मबुद्धि से महानता को प्राप्त करता है।[16]

अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' ओर सौन्दरनन्द' में 'शील' को बहुधा निरूपित किया है। उनका मत है कि वर्षा के अभाव में सूखे धान्यवाली वसुन्धरा की भाँति शील के विना सम्पत्ति शोभाहीन होती है।[17] तथा छिद्रयुक्त पात्रों में जल की भाँति जीवों में विना शील के धर्म भी स्थैर्य को नहीं प्राप्त करता।[18] उनका मन्तव्य है कि दु:शील प्राणी सदा भयभीत रहता है, अविश्वासी और निन्दित होता हुआ अशान्ति को प्राप्त करता है तथा मृत्यु के उपरान्त भी दु:ख को प्राप्त करता है।[19] उनकी धारणा है कि जिस प्रकार विना पंख के उड़ना असम्भव है, विना नाव के नदी पार करना असम्भव है, उसी प्रकार विना शील के निर्वाण कदापि प्राप्त नहीं किया जा सकता।[20] शील से रहित रूपवान् धनाढ्य भी फले-फूले कटीले वृक्ष की भाँति होता है।[21]

---

13. द्रष्टव्य अभिधम्मत्थसंगोहं पर विभावनी टीका, पृ0 133: सीलयतीति सीलं कायवाची कम्मानि सम्मादहति सम्मा ठपेतीति अत्थो; मिलिन्दपञ्ह, पृ0 36-39।
14. धम्मपद, गाथा 183: सब्बापापस्य अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा। सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनं।।
15. संयु. नि., 1.53: यो सीलवा पञ्ञवा भावितत्तो, समाहितो झानरतो सतीमा। सब्बस्स सोका विगता पहीना, खीणासवो अन्तिमदेहधारी।।
16. वही, 1.13: सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं। आतापी नियको भिक्खु सो इमं विजटये जटं।।
17. बुद्ध च., 25. 4-5।
18. वही, 23.26।
19. वही, 23.27।
20. वही, 23.19: बिना पक्षैर्न डीयन्ते बिना नावा न तार्यते। विनाशीलेन निर्वाणो लभ्यते न कदाचन।।
21. वही, 23.20।

अतः शीलरहित साधना, तीर्थस्थान, हवन आदि करना सब व्यर्थ हैं।[22] अश्वघोष का यह विश्वास है कि शील वह आभूषण है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्त्व चमकता है।[23] तथा शील से इन्द्रियों के विषय उसी प्रकार रोक दिए जाते हैं, जिस प्रकार चरवाहा दण्ड से गायों को धान्य से रोकता है।[24] शील गहन कान्तार में मार्गदर्शक है, यह बन्धु, मित्र और संरक्षक भी है।[25] उनका यह मन्तव्य है कि शील के कारण ही सभी श्रेयस्कर कार्य प्रतिष्ठित होते हैं।[26] शील वह आचार है जिसके नाश होने पर प्रव्रज्या तो नष्ट होती ही है, गार्हस्थ्य जीवन भी नष्ट हो जाता है।[27] अतः पवित्र शील मानसिक पीड़ा के अभाव की कसौटी है।[28] 'महाभारत' में भी शील की महिमा बताते हुए वेदव्यास ने यह उल्लेख किया है कि शीलवान् दयालु राजामान्धाता, जनमेजय और नाभाग ने एक सप्ताह में ही सम्पूर्ण पृथ्वी का राज्य प्राप्त कर लिया था तथा दैत्यराज प्रह्लाद ने भी शील के बल पर महेन्द्र सहित तीनों लोकों को अपने अधीन कर लिया था।[29] अतः निःसन्देह शीलवानों के लिए संसार में कुछ भी असाध्य नहीं है। अश्वघोष के अनुसार शील वसुन्धरा की भाँति निखिल गुणों का आश्रय है।[30] और शान्ति, यश, विश्वास तथा पारलौकिक आनन्द-ये सब शील के सुपक्व फल हैं।[31] शील से चित्त की शुद्धि होती है।[32] अतः शील परमज्ञान है, परममोक्ष एवं परमधर्म है जिससे अक्षय निर्वाण प्राप्त होता हैं-

शीलमेव परं ज्ञानं शीलमेव परं तपः।
शीलमेव परो धर्मः शीलान्मोक्षश्च नैष्ठिकः।।[33]

इसी से जीव पापरहित होकर अनामया निर्वाण को प्राप्त करता है।[34] अतः

---

22. वही, 23.23।
23. वही, 23.11: न तथा द्योतते भव्यं रूपमाभरणानि ते। न महार्घाणि वस्त्राणि शीलं संशोभते यथा।।
24. वही, 26.35।
25. सौन्द नन्द, 13.28: शीलं हि शरणं सौम्य कान्तार इव दैशिकः। मित्रं बन्धुश्च रक्षा च धनं च बलमेव च।।
26. वही, 13.21 शीलमास्थाय वर्तन्ते सर्वा हि श्रेयांसि क्रियाः।
27. वही, 13.19
28. वही, 13.26।
29. द्रष्टव्य महाभारत, शान्ति प., 124.15-20।
30. बुद्धच., 23.18: चराचरस्य विश्वस्य यथा धारो वसुन्धरा। निखिलानां गुणानां च तथा शीलं शुभाश्रयः।।
31. बुद्धच., 23.17: शान्तिर्यशश्च विश्वासो मोदोऽथ पारलौकिकः। शीलवृक्षस्य पक्वानि फलान्येतानि मानद।।
32. वही, 23.29।
33. बुद्धच. 26.34
34. वही, 18.61

'संयुक्तनिकाय' का यह कथन असत्य नहीं है कि 'जिस प्रकार आकाश में लालिमा का छा जाना सूर्योदय का पूर्व लक्षण है, उसी प्रकार शील का आचरण आर्य अष्टांगिक मार्ग के लाभ का पूर्ण लक्षण है।[35] भर्तृहरि 'ने भी शील को परमभूषण स्वीकार किया है।[36]

आचार्य बुद्धघोष ने अपने ग्रन्थ 'विसुद्धिमग्ग' में शील के भेदोपभेद की भी चर्चा की है। उनके अनुसार शील मूलतः चार होते हैं- चेतना, चैतसिक, संवरणशील और अवीति क्रम।[37] इनमें संवरणशील श्रेष्ठ माना जाता है। भिक्षु-भिक्षुणी, श्रामणेर और गृहस्थ के भेद से भी शील चार प्रकार का होता है। इसमें अष्टाङ्ग शील अर्थात्-प्राणातिपात (हिंसा) अदत्तादान (चोरी), मिथ्याचार (व्यभिचार), मृषावञ्चन (झूठ), विकाल में भोजन (अपराह्न भोजन), सुरा-मैरेय मादक पदार्थों का त्याग, नृत्यगीत विद्या आदि का त्याग, माला-गन्ध-विलेपन-मण्डन आदि का त्याग रूप ये अष्ट शील गृहस्थों के लिए निर्धारित किये गए हैं।[38] तथा भिक्षु, भिक्षुणी और श्रामणेरों के लिए (1) इन्द्रिय संवरणशील, (3) आजीवपरिशुद्धिशील और (4) प्रत्ययसन्निश्रित शील इन चार शीलों का विधान किया गया है।[39] आचार-गोचर सम्पन्न होना, अल्पमात्र भी दोषों से न डरना, भलीभाँति पारणादि व्रतों का सम्पादन, प्रातिमोक्ष का सम्यक् पाठ आदि को प्राप्तिमोक्षसंवरण-शील कहा जाता है। रूप, रस, गन्धादि के क्लेशों और बन्धन के कारणों को त्यागने का स्वभाव एवं इन्द्रियों पर संयम रखना ही इन्द्रियसंवरण शील कहा जाता है तथा तन की लज्जा ढकने एवं शरीर को सर्दी तथा दंशमच्छर आदि के कष्ट से बचाने के लिए चीवर धारण करना,[40] धर्मसाध हेतु शरीर की सुरक्षा के लिए पिण्डपात अर्थात् भोजन ग्रहण करना,[41] थोड़े विश्राम के लिए शय्यासन का उपयोग करना तथा शरीर के छोटे-मोटे रोगों को दूर करने के लिए भैषज्य रखना प्रत्ययसन्निश्रितशील कहा गया है।

---

35. द्रष्टव्यसंयुक्तनि., 5.30।

36. नीतिशतक, 82 : अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता। सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शील परं भूषणम्।। तु. पञ्चतं. 5.2।

37. द्रष्टव्य. विशुद्धिमग्ग, 1.17।

38. वही, पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी, कामिमिथ्याचारा वेरमणाी, मुसावादा वेरमणी, सुरामेरयमज्जापमादट्ठाना वेरमणी, विकालभोजना वेरमणी, नच्चगीतवादितविस्सूकदस्सना वेरमणी, मालागन्धविलेपनधारणमण्डनविभूसनट्ठाना वेरमणी एवं अट्ठसीलं उपासकोपासिकानां।

39. तत्रैव, 1.42, पृ0 10-11

40. विसुद्धिमग्ग, 1.86-88।

41. वही, 1.89: पिण्डपातं ति यं किञ्चि आहारं। यो हि कोचि आहारो भिक्खुनो पिण्डोल्येन पत्ते पतितत्ता पिण्डपातो ति वुच्चति। पिण्डानं व पातो पिण्डपातो। परन्तु भिक्षुओं को सांघिक भोजन, उद्देश्यभोजन निमन्त्रण, उपोसथ-भोजन-आगन्तुक भोजनादि 14 प्रकार के भोजन ... हैं। (द्रष्टव्य विसु. म., 2.27)।

भगवान् बुद्ध के मत में शील के आचरण से ही शरीर की शुद्धि होती है। अत: गृहस्थों तथा भिक्षु-भिक्षुणियों दोनों को ही सात्त्विक-कर्मरूप कतिपय शीलों का पालन अनिवार्य है। 'दीर्घनिकाय' में उन्होंने उपासकों अर्थात् गृहस्थों के लिए त्यागरूप पञ्चशील का विधान किया है। गौतम बुद्ध द्वारा गृहस्थों के लिए निर्धारित शील स्मृतियों और धर्मसूत्रों में चारों वर्णों के लिए विहित सत्य, अंहिसा, अस्तेयादि गुणों से साम्य रखते हैं।[42] बौद्धधर्म में भिक्षुओं के लिए आत्मदमन के नियम कठोर हैं। अत: इन सार्वजनीन शीलों के अतिरिक्त उन्हें अपराह्ण भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण तथा अमूल्य शय्या का त्याग-ये पाँच अतिरिक्त कर्म भी नित्य करणीय हैं। इस प्रकार बुद्ध ने गृहस्थों के लिए पाँच तथा भिक्षुओं के लिए दशशीलों के पालन का उपदेश किया है। पुनश्च शील के सम्यक् विवेचन के लिए इसके तीन अङ्गों-सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त और सम्यगाजीव का भी विस्तरेण प्रतिपादन अपेक्षित है-

सम्यग्वाक्

सम्यग्वचन का तात्पर्य हैं-यथार्थ वचन, सम्भाषण अथवा यथार्थ वाणी का व्यवहार। 'दीघनिकाय' के अनुसार असत्य न बोलना, चुगली न करना, कठोर वचन तथा असङ्गत प्रलाप (बकवास) न करना ही सम्यग्वचन है।[43] मज्झिमनिकाय में भी भगवान् बुद्ध ने स्वयं यह उपदेश किया है कि दो ही बातें करने योग्य हैं-धार्मिक चर्चा अथवा आर्य मौन,[44] क्योंकि हितकारी वचन ही सम्यग्वाणी का मूल है। 'अर्थविनिश्चयसूत्र' में भी भिक्षुओं को सम्बोधित करते हुए बुद्ध के द्वारा यही उपदेश किया गया है। कि पारुष्य, अनृत, पैशुन्य और सम्भिन्नप्रलाप वर्जित वचन ही सम्यग्वाक् है।[45] इस प्रकार बुद्धसम्मत यही चार वाचिक कर्म सभी के लिए विहित हैं। कठोर वाणी का व्यवहार ही परुषवाक् अथवा पारुष्य कहलाती हैं। जो वचन अपने लिए और दूसरों के लिए भी कठोर है अथवा जो वचन स्वयं कठोर है, हृदयङ्गम नहीं है वही वचन पारुष्य कहा जाता है।[46] 'अभिधम्मकोश' के अनुसार अप्रिय का नाम ही पारुष्य है।[47]

---

42. द्रष्टव्य मनुस्मृति, 10.64: याज्ञ, 1.22, गौत. धर्म. 8.23-24 इत्यादि।
43. दीर्घ. नि., 2.312: मुसावाद वेरमणी पिसुणाय वाचाय वेरमणी फरुसाय वाचाय वेरमणी सम्फप्पलाय वेरमणी-अयं वुच्चति भिक्खवे सम्मावाचा।
44. मज्झि. नि. 1.161: सन्निपतितानां वो, भिक्खवे, द्वयं करणीयं-धम्मी व कथा, अरियो व तुण्हीभावो।
45. अर्थ वि० सू० पृ० 35: इह भिक्षव: पारुष्यानृतपैशुन्यसम्भिन्नप्रलापवर्जिता वाक्। इयमुच्यते भिक्षव: सम्यग्वाक्।
46. अट्टसालिनी, पृ० 82: या पन अत्तानं पि परं पि फरुसं करोति, या वाचा सयं पि फरुसा नेव कण्णसुखा, न हदयंगमा, अयं फरुसा वाचा नाम।
47. अभिध. को., 4.76: पारुष्यमप्रियम्: तु यदप्रियम्, अभ्रान्त्या क्लिष्ट-चित्तस्य यद्वचनं तत्पारुष्यमिति (तु० अभि० दी० वृ० का० 198 पृ० 163)

'अर्थविनिश्चयसूत्र' में दूसरों को दु:ख देने की इच्छा से अनिष्ट वचनों का सुनाना अथवा 'इसे दु:ख हो' ऐसी बुद्धि से अनिष्ट वचन सुनाना भी पारुष्य माना गया है।[48] असत्य, अभूत, तुच्छवचन अनृत कहा जाता है। जिस चेतना द्वारा मृषा अर्थात् अमृत का कथन किया जाता है वह चेतना ही मृषावाद अथवा अनृत कही जाती है।[49] जो वस्तु जैसी है, उसके विषय में पूछे जाने पर उससे विपरीत मिथ्या बतलाना भी अनृत है। अत: अर्हत् न होते हुए भी अपने को अर्हत् मानना भी अनृत है।[50] जो वाणी दो जीवों के परस्पर ऐक्य को नष्ट करती है अथवा जो अपना प्रिय बनाने के लिए किसी दूसरे को प्रेम अथवा मैत्री भाव से पृथक कराती है वह पैशुन्य कही जाती है। वस्तुत: सत्य अथवा असत्य से परस्पर भेद करने वाले वचन को पैशुन्य कहा जाता है।[51] पैशुन्य का अर्थ है चुगली करना अर्थात् परस्पर दो मित्रों की या सत्वों की बातों को उनमें फूट डालने के लिए इधर की बात उधर तथा उधर की बात इधर कहना भी पैशुन्य है। चतुर्थवाचिक कर्म सम्भिन्नप्रलाप है अर्थात् जिससे हित-सुख का नाश होता है ऐसी वाणी का उच्चारण जिस चेतना विशेष से होता हैं, वह सम्भिन्नप्रलाप कही जाती है।[52] इस वाणी से इष्ट का नाश तो होता ही है साथ ही प्रलाप अर्थात् व्यर्थ बकवास एवं रोना-पीटना आदि क्लिष्ट वचन भी होता है, यही सम्भिन्न प्रलाप है।[53] इस प्रकार 'अर्थ विनिश्चयसूत्र' के अनुसार जो वचन अपने और दूसरों को पीड़ित नहीं करता, दु:खित नहीं करता, संक्लिष्ट नहीं करता और न ही अपकार अथवा निरादर ही करता है, वह आर्यानुकूल वाणी समाधि, प्रीति वचनों से युक्त

---

48. अर्थवि. सू., पृ. 37: परदु:खचिकीर्षोऽनिष्टवचनश्रावणं पारुष्यम्। दु:खमस्य भवत्वित्यनया बुद्धया यदनिष्टवचनश्रावणं क्रियते तत् पारुष्यम्।

49. अट्ठसालिनि, 3.148: मुसाति अभूतं अतच्छं वत्थु। वा दो ति तस्स भूततो तच्छतो विञ्ञापनं। लक्खणतो पन अतथं वत्थुं तथतो परं विञ्ञापेतु कामस्स तथा विञ्ञतिसमुट्ठापिका चेतना मुसाबादोति, विभा, पृ0 131।

50. अर्थवि. सू., पृ. 37: साक्षि प्रश्ने यथाभूताद वितथवचनमनृतम्। अनर्हतो वा अर्हन्नस्मीति परिहासवर्जनम्। इदमुच्यते अनृतम्। अनर्हतो वा अर्हन्नस्मीति परिहासवर्जनम्। इदमुच्यते अनृतम्।

51. तत्रैव, अभूतेन सत्येन वा भेदकरं वचनं पैशुन्यं तत्।

52. परमत्थदीपिनी, पृ0 191-92: विभा., पृ0 132: सं सुखं हितञ्च फलति विसरति विनासेति हितसुखमग्गं भिन्दतीति सम्फं। तं वा फलति भिज्जति एतेना ति सम्फं। सम्फं पल्पन्ति पकारेन कथयन्ति एतेना ति सम्फप्पलापो।

53. अट्ठासालिनी, पृ0 82-83: येन सम्फं पलयति निरत्थके सो सम्फप्पलापो।, तुलनीय अभिधम्म को. भाष्य- सर्वं क्लिष्टं वचनं सम्भिन्नप्रलापः।

होती है और वही सम्यग्वाणी है।[54] इसीलिए 'धम्मपद' में भगवान् बुद्ध ने उपदेश दिया है कि बैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती प्रत्युत अबैर से होती है ओर यही सनातन धर्म भी है-

न हि वैरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं।

अवेरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनन्तनो।।[55]

सम्यक्कर्मान्त:

इसका तात्पर्य है-'ठीक कार्य, यथार्थ कार्य'। हिन्दू धर्म के समान बुद्ध धर्म में कर्म-सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। मनुष्य की सद्गति या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कर्म के ही कारण जीव इस लोक में सुख या दु:ख भोगता है तथा परलोक में भी स्वर्ग या नरक भोगता है। अत: हिंसा, चोरी, व्यभिचार आदि निन्दनीय कर्मों का सर्वथा तथा सर्वदा परित्याग अपेक्षित है। 'दीघनिकाय' में हिंसा चोरी और काम मिथ्याचार से विरत रहना सम्यक्कर्मान्त माना गया है।[56] 'अर्थविनिश्चय-सूत्र में दश कुशल कर्मपाथों में मनसा, वाचा, कायेन व्यापार को सम्यक्कर्मान्त स्वीकार किया गया है।[57] प्राणातिपात, अदत्तादान और काममिथ्याचार इन तीन कर्मों से विरत होना कायिक कुशल कर्म है, अनृत, पैशुन्य, पारुष्य और सम्भित्र प्रलाप इन चारों से विरत होना वाचिक कुशल कर्म है तथा अभिध्या, व्यापाद और मिथ्यादृष्टि से विरत होना मानसिक कुशलकर्म है। अनृत, पैशुन्यादि वाचिक कर्मों का विवेचन सम्यग्वाक् के प्रसङ्ग में किया जा चुका है, अत: कायिक और मानसिक कुशलकर्मों का सविस्तर विवेचन यहाँ अपेक्षित हैं।

किसी शस्त्रादि से आक्रमण कर जीवों के प्राणों का विघात करना प्राणातिपात है। यह हिंसा है, जिसका विरोध सभी धर्मों में किया गया है। अत: बुद्ध ने 'सुत्तनिपात' में इसे निरर्थक बतलाया है तथा प्राणियों के प्रति संयम न रखने वाले को क्रूर और दुराचारी माना है।[58]

---

54. अर्थ वि0 सू0, पृ0 32। : यया वाचानात्मानं न परांश्च लापयति नात्मानं न परांश्च क्लेशयति नात्मानं न परांश्च क्लेशयति नात्मानं न परांश्च अपकरोति, तया आर्ययुक्तानुकूलया वाचा समाधिप्रीतिवचनैर्युक्तो भवति। इयमुच्यतं सम्यग्वाक्।

55 धम्म. 1.5

56. दीघनि0, 2.312: पाणातिपाता वेरमणी, अदिन्नादाना वेरमणी कामेसुमिच्छाचारा वेरमणी, अयं वुच्चति सम्माकम्मन्तो-।

57. अर्थवि0सू0, पृ0 36: कायवाङ्मनसां दशकुशलेषु कर्मपथेषु व्यापार:।

58. द्रष्टव्य सुत्तनिपात, 243 एवं 249।

अदत्तवस्तु का ग्रहण करना अथवा उस विषय में सोचना अदत्तादान है।[59] अदत्त वस्तु चाहे पड़ी हो, रखी हो, उसे उठाना, छुड़ाना, छीनना, चोरी करना झूठ बोलकर उसे ग्रहण करना या बलात् छुड़ा लेना भी अदत्तादान है।[60] इस प्रकार चोरी की भावना से दूसरों की वस्तु स्वीकार करना भी अदत्तादान है।[61] इसके अतिरिक्त 'अर्थविनिश्चय सूत्र-' में चोरी की भावना अथवा चोरी करने का उपक्रम या प्रयत्न करना और उस वस्तु को चुरा कर लेना भी अदत्तादान माना गया है।[62] इसी प्रकार अगम्य अर्थात् जिसके साथ मैथुन करना वर्जित है यथा परकीय स्त्रियों व पत्नियों के साथ मैथुन क्रिया तथा परकीय स्त्रियों में कामोपभोग की भावना करना काममिथ्याचार है।[63] अतः प्रायः सभी बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार स्वामी राजा, माता और पिता द्वारा रक्षित अथवा अस्थान में अगम्य विना देश-काल देखे परकीय स्त्रियों का उपभोग करना काममिथ्याचार है।[64] सुरापान आदि नशीली वस्तुओं का पान करना भी काममिथ्याचार के अन्तर्गत माना गया है, क्योंकि पंचकामगुणों में काम स्पर्श स्प्रष्टव्यालम्बन काम गुण होता है।[65]

लोभवश दूसरे की सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा से युक्त चित्त का भाव ही अभिध्या नामक मानसकर्म है।[66] प्रायः सभी बौद्ध ग्रन्थों में परद्रव्य को देखकर **'यह मेरा हो जाय'** ऐसी लोभयुक्त भावना को अभिध्या कहा गया है।[67] यह तीन प्रकार की होती है- (1) आत्मीय अभिध्या, (2) परकीय अभिध्या, (3) उभयातिरिक्त अभिध्या अर्थात् भूमि में नीचे गड़ी हुई निधि की अभिध्या। विद्वेष की भावना से दूसरों के हित, सुख को ठेस पहुँचाने की कामना से

---

59. अट्ठसालिनी, 3.144: अदिन्नस्स आदानं अदिन्नादानं, परस्स हरणं थेय्यं चोरितं ति वुत्तं होति। तस्मिं पन परपरिग्गहिते परपरिग्गहितसञ्ञिनो तदादायकउपक्कमसमुट्ठापिका थेय्यचेतना अदिन्नादानं।
60. अभि0 को0, 4.73: अदत्तादानं परस्वीकरणं बलाच्छलात्।
61. अर्थवि. सू., पृ. 36 : स्तैयचित्तस्य परद्रव्यस्वीकरणमदत्तादानम्।
62. द्रष्टव्य अट्ठासा0, पृ0 81 एवं अभि0 को0 भा, 4.73।
63. अभि0 को0, 4.74: अगम्यागमनं काम मिथ्याचारः, अभि0 दी0 का0 196: परस्त्रीगमनं काममिथ्याचारः, विकल्पवान्।
64. अर्थवि0 सू0, पृ0 36: परस्त्रीणामुपभोगः भर्तृराजमातृपितृरक्षितानामथवा अस्थानागम्यादेशकालेषु विप्रतिपत्तिः।
65. द्रष्टव्य अभिधम्म संगोह पर हिन्दी प्रकाशिनी टीका, पृ0 537
66. अभिधम्मसंगोह पर विभावनी टीका, पृ0 132: परसम्पत्तिं अभिमुखं झायति लोभवसेन चिन्तेतीति अभिज्झा।
67. अट्ठासा0, 3.157 : अभिज्झायतीति अभिज्झा। परभण्डाभिमुखी हुत्वा तन्निन्नताय अत्थो। सो अहो तव इदं ममस्सा ति एवं परभण्डाभिज्झायनलक्खणा, तु0 अभि0 को, 4.77: अभिध्याया परस्वे विषमा स्पृहाः, अभि0 को0 भा0 4.177 : सर्वैवकामवचरी तृष्णा अभिध्येत्यपरे; अर्थ वि0 पृ0 83. परद्रव्य स्वीकरणेच्छा अभिध्या। यान्यस्य द्रव्याणि तानि मम स्युरिति, इत्यादि।

उन्हें कष्ट करने की प्रवृत्ति 'व्यापाद' नामक द्वितीय मानस कर्म है।[68] अतः दूसरे प्राणियों को सुखी देखकर उसके नष्ट हो जाने की इच्छा करना अथवा एतदर्थ उपाय सोचना इत्यादि विनाश की इच्छा रूप द्वेष ही व्यापाद कहा जाता है।[69] यह भी द्वैषिक (द्वेष प्रधान) और ऐर्षिक (ईर्ष्या) रूप से दो प्रकार का होता है। 'अभिधम्मकोश' के अनुसार शुभ (कुशल) और अशुभ (अकुशल) के अस्तित्व को न मानना मिथ्या दृष्टि नामक तृतीय मानस कर्म है।[70] इसके अतिरिक्त रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इनमें से किसी एक को अथवा इनकी समष्टि को आत्मा मानना भी मिथ्यादृष्टि है। 'दीघनिकाय' के ब्रह्मजाल सुत्त में भगवान् बुद्ध ने संसार में प्रचलित 62 मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान करवाया है।[71]

इस प्रकार सम्यक्कर्मान्त जीवों को पाप से ऊपर उठाने वाला धर्म है। अतः यह सब के लिए अनुष्ठेय है। 'धम्मपद' में इनका परित्याग करने वाले अथवा इसके विपरीत आचरण करने वाले व्यक्ति को अपनी ही जड़ खोदने वाला कहा गया है।[72] इस प्रकार गौतम बुद्ध के मत में आत्मा ही अपना नाथ अर्थात् स्वामी हैं, अतः आत्मदमन से ही जीव को दुर्लभनाथ (निर्वाण) की प्राप्ति होती है-

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।

अत्तनो व सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं।।[73]

भगवान् बुद्ध का यह आत्मविजय रूप शील बौद्ध धर्म का मूलमन्त्र है, जो 'भगवद्गीता' में भी प्रतिपादित है।[74]

सम्यगाजीव

बुद्ध के मत में प्रशस्त आजीविका से जीवन निर्वाह करना ही सम्यगाजीव हैं।[75] जिस

---

68. अभिधम्मत्यसगोह पर विभा0 टीका, पृ0 132: व्यापज्जति हितसुखं एतेनाति व्यापादो।
69. परमत्थदोपिनी, 193 : व्यापादेन्ति पर सत्ते विनासं आपन्न कत्वा चिन्तेति एतेना ति व्यापादो।
70. अभि0 को0, 4.78 नास्ति दृष्टिः शुभाशुभे। मिथ्यादृष्टि--एवं अभि0 वृ0, पृ0, 164: मिथ्यादृष्टिरपि हेतुं वा फलं वा क्रियां वा सद्वा वस्तु नाशयतः वा दृष्टिर्मतिरित्येवमादि सा मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते।
71. द्रष्टव्य दीघ0 नि0, 1.12-46।
72. धम्मपद, 18.12-13 यो पाणमतिपातेति मुसावादं च भासति। लोके अदिन्नं आदियति परदारञ्च गच्छति।। सुरामेरयपानं च यो नरो अनुयुञ्जति। इधेवमेसो लोकस्मिं मूलं खनति उत्तनो।।
73. अभि0 12.4
74. गीता, 6.5-6: उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसादयेत्। आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः। बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः। अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।
75. अट्टहासा0 3.472. सुन्दरो [illegible]

साधन से जीवन नारकीय बन जाता है, वे साधन ही यहाँ त्याज्य हैं। अतः आर्यश्रावक को इस मिथ्या आजीविका का परित्याग कर सम्यगाजीविका से जीवन निर्वाह करने का उपदेश किया गया है।[76] 'दीघनिकाय' में भगवान् बुद्ध द्वारा नाना जीवों की अनेकविध दुश्चर्याएँ और आजीविकाएँ उपदिष्ट हैं।[77] 'अर्थविनिश्चयसूत्र' में उपासकों (गृहस्थों) और भिक्षुओं के लिए पृथक् सम्यगाजीव का विधान विहित है। यहाँ शस्त्र, विष, मांस, मद्य और सत्त-विक्रय से अपने आपको बचाना तथा विना देखे (अप्रत्यवेक्षित) तिल, सर्षपापीड़न से भी अपने आप को विरत रखना उपासकों का सम्यगाजीव माना गया है।[78] इनके अतिरिक्त तथागत बुद्ध ने त्रिशरण-गमन (अर्थात् बुद्ध) धर्म और संघ की शरण में जाना) को भी उपासकों का शील बताया है। परन्तु भिक्षुओं के लिए सावर्जनीन इन सम्यगाजीवों के साथ-साथ कुहना, लपना, नैमित्तिकत्व, नैष्पोषिकत्व और लाभ से लाभ की प्रतिकांक्षा नहीं रखना ये अन्य सम्यगाजीव भी विहित हैं।[79]

दानी स्वामी को देखकर भिक्षु द्वारा पालथी लगाकर लाभ-सत्कार की इच्छा से मार्ग अथवा एकान्त में बैठना अथवा ध्यान करना 'कुहना' है।[80] लाभ सत्कार-हेतु अनेकानेक (तुम मेरी माता हो, तुम मेरे पिता हो, तुम मेरी बहिन हो इत्यादि) प्रियवचनों का बोलना 'लपना' कहा जाता है।[81] भोजनोपरान्त दुबारा लाभ की इच्छा से **'जैसा यह भोजन है वैसा दूसरे उपासकों के यहाँ नहीं प्राप्त होता'** इस प्रकार दूसरों से कहना नैमित्तिकत्व है।[82] भोजन न देने वालों को नरक जाने का भय दिखाकर नरक से भयभीत उपासकों द्वारा पिण्डपात रूप रूप

---

76. दीघ0 नि0, 2.312 इध, भिक्खवे, अरियसावको मिच्छा आजीवं पहाय सम्माआजीवेन जीवितं कप्पेति। अयं वुच्चति भिक्खवे सम्माआजीवो।

77. द्रष्टव्य दीघ. नि., 1.9-12।

78. अर्थवि. सू., पू. 40 : इह खलु भिक्षवः उपासकस्य मिथ्याजीवः। विषविक्रयः, शस्त्रविक्रयः, सत्त्वविक्रयः, मद्यविक्रयः, मांसविक्रयः, अप्रत्यवेक्षिततिलसर्षपपीडनं मिथ्याजीवः। अस्माद् विरतिः। अयमुच्यते। भिक्षवः सम्यगाजीवः।

79. वही, पृ. 39 : भिक्षोस्तावत् कुहना लपना नैमित्तिकत्वं नैष्पोषिकत्वं लाभेन लाभप्रतिकांक्षा च।

80. अर्थ वि. सू., पृ. 39: भिक्षुर्दानपतिं दृष्ट्वा पर्यङ्कं बध्वा पथिशून्यागारे वा निषीदति ध्यायी भिक्षुरयमर्हन्निति लाभसत्कारो मे भविष्यति। एयमादिका कुहनेत्युच्यते।

81. तत्रैव, : इह भिक्षुर्लाभसत्कारनिमित्तमेव 'त्व मे माता, त्वं मे पिता, त्वं मे भगिनी त्वं मे दुहितेति एवमन्यान्यपि प्रियवचनानि ब्रवीति। एवमादिका लपनेत्युच्यते।

82. तत्रैव, : भिक्षुस्तावत् पिण्डपातं परिभुज्य असकृद् ब्रूते- 'यादृशोऽयं पिण्डपातस्तादृशोऽन्येषूपासकगृहेषु न लभ्यते। अलाभसत्कारचित्तस्य तु नरको दोषः। इदमुच्यते नैमित्तिकत्वम्।

भोजन प्राप्त कर उसे खाना नैष्पोषिक है।[83]

स्वयं अपने धन से सुन्दर चीवर खरीदकर उसे उपासकों को दिखाते हुए 'हमें ऐसे, वस्त्र प्राप्त हुए हैं, ऐसा कहकर उन्हें शर्मिन्दा करके उनसे वैसे वस्त्र प्राप्त कर उनका परिभोग करना लाभ से लाभ की प्रतिकांक्षारूप मिथ्या आजीव माना गया है।[84] इन मिथ्या आजीविका के साधनों से विरत रहना ही भिक्षु का सम्यागाजीव है।

इस प्रकार तथागत बुद्ध द्वारा उपदिष्ट उपर्युक्त शील (सदाचरण) जीवों को अर्हत् बनाने में सहायक बनता है। अत: इस शील को बुद्ध की रहस्यात्मक तीन बातों में समाहित किया जा सकता है- (1) सब पापों का परित्याग (2) पुण्य अर्थात् कुशल कर्मों का संचय, तथा (3) अपने चित्त की परिशुद्धि-

सब्बपापस्स अकरणं कुसलस्स उपसम्पदा।

स चित्त-परियोदनं एतं बुद्धान सासनं॥[85]

अत: यही संक्षेपेण बुद्धसम्मत शील हैं, जो सभी के लिए अनुष्ठेय है।

---

83. तत्रैव, पृ. 40 :, भिक्षुस्तावत् यत्र पिण्डपातं न लभते दापयितुकामश्च भवति, तत्र ब्रूते-'अदानपतयो हि निरयं गच्छन्ति। यूयमप्यदानपतयो व्यक्तं निरयगामिन' इति। नरकभयभीता: पिण्डपातमनुप्रयच्छन्ति। तं च लब्ध्वा परिभुङ्क्ते। इदमुच्यते नैष्पोषिकत्वम्।

84. तत्रैव, पृ. 40 :, भिक्षुस्तावंत् आत्मीयेन धनेन शोभनानि चीवरानि चोपक्रीय उपासकेभ्यो दर्शयति- 'ईदृशानि वयं वस्त्राणि लभामहे 'इति। ते लज्जिता यानि वस्त्राणि प्रयच्छन्ति तानि परिभुङ्क्ते। इयमुच्यते भिक्षवो लाभेन लाभ-प्रतिकाँक्षा।

85. धम्मपदा, 14.5

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0147-152)

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में योगवाशिष्ठगत कर्मसिद्धान्त

डॉ. रश्मि देवी
द्वारा-प्रो0 डॉ0 वेदप्रकाश उपाध्याय
जी-12 पंजाब यूनिवर्सिटी कैम्पस, सैक्टर 14
चण्डीगढ़-160014

'योग-वाशिष्ठ' को भारतीय दर्शनशास्त्र और अध्यात्मविद्या के प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्यता प्राप्त है। योगवाशिष्ठ में संसार को मायामय एवं निस्सार अवश्य कहा गया है, परन्तु गृहस्थ आश्रम अथवा सांसारिक व्यवहार को बुरा बिल्कुल नहीं कहा गया है। इसलिए 'योगवाशिष्ठकार' ने यही उपदेश दिया है कि सांसारिक कर्मों को त्यागने की आवश्यकता नहीं है और उनमें आसक्ति न होना ही ज्ञानी का लक्षण है। इसकी विवेचना करते हुए 'निर्वाण-प्रकरण' में कहा गया है कि जो शरीर की अवस्था के अनुसार व्यवहार नहीं करता, वह तलवार से आकाश को काटता है।[1] चित्त की शान्ति और समता की भावना तो योग से ही प्राप्त होती है, कर्मेन्द्रियों को स्थगित करने से नहीं। समस्त कर्म प्रकृति द्वारा ही किए जाते हैं, इसलिए स्वाभाविक कामों को करने से किसी को कोई दोष नहीं लगता। भगवद्गीता में भी इसी आशय का वचन प्राप्त होता है।[2]

इस प्रकार लेखक ने पुरुषार्थ और कर्म को ही सफलता का मूल माना है। तीनों लोकों में जो कुछ भी श्रेष्ठ वस्तुएँ है; वे सभी पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त हैं। जो जैसा प्रयत्न करता है, वैसा ही फल उसे मिलता है-**'यो यो यथा प्रयतते स स तत्तत्फलैकमाप।'**

योगवाशिष्ठ में 'कर्म' की महत्ता के विषय में कहा गया है-'कर्म और मन में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि और उसकी उष्णता भिन्न नहीं होती, वैसे ही मन, कर्म को ही पुरुष और पुरुष को ही कर्म माना गया है। इसलिए दैव, कर्म और पुरुष आदि समान हैं।'

योगवाशिष्ठकार ने यह सिद्ध किया है कि अद्वैत सिद्धान्त का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य संसार के कार्यों,को माया समझकर उसका परित्याग कर दे और समाज पर ही निर्भर होकर रह जाए। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों का उपयोग कर्म करने के लिए ही होता है, अतः

1. यो. वा. पृ. 8.
2. प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः-गी.

उनको निष्क्रिय रख कर कर्म न करना समाज की दृष्टि से अपराध है।[३]

जब व्यक्ति अपने कर्मों में आसक्त हो जाता है और प्रत्येक कर्म से तरह-तरह की वासनाओं की पूर्ति की इच्छा करता है, तब वे दुःख और पतन के कारण बन सकते हैं। इस तथ्य को 'भगवद्गीता' में इस प्रकार कहा गया है कि विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उनमें आसक्ति उत्पन्न हो जाती है; आसक्ति से कामना पैदा होती है। और कामना में विघ्न आने से क्रोध उत्पन्न होता है।

क्रोध से सम्मोह अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, सम्मोह से स्मृति में भ्रम हो जाता है, स्मृति भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि के नष्ट हो जाने पर वह नष्ट हो जाता है अर्थात्, पुरुषार्थ के अयोग्य हो जाता है।[४]

इस प्रकार 'योगवाशिष्ठ' में कर्म पर आसक्त होना हानिकारक बताया गया है कि अज्ञानी को अपने सब कर्मों का फल इसलिए भोगना पड़ता है, क्योंकि वह वासना के आधार पर ही कर्म करता है।[५] वासना के अभाव से सभी क्रियाएँ फलरहित हो जाती हैं, इसलिए ज्ञानीजन को कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता।

योगवाशिष्ठ का सिद्धान्त है कि मनुष्य को अपनी मानसिक भावनाओं के कारण ही सुख दुःख आदि के बन्धन में पड़ना होता है, इसलिए मन से कार्य किया जाता है, वही 'कर्म' है और जो मन से नहीं किया जाता, वह 'कर्म' नहीं होता, इसलिए मनुष्य को विवेक द्वारा शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों का नाश करना चाहिए।[६]

'गीता और योगवाशिष्ठ' दोनों ही ग्रन्थों में मनुष्य को कर्म-बन्धन से मुक्त रहने के लिए कहा गया है। दोनों में यह अन्तर है कि 'गीता' में भी कर्मों का मूल स्रोत ईश्वर को मानकर कर्म करते रहने को श्रेष्ठ बताया गया है, किन्तु 'योगवासिष्ठ' में ज्ञानी के लिए कर्म और अकर्म एक समान बतला कर मनुष्य की इच्छा पर ही निर्णय छोड़ दिया गया है।[७] ज्ञानी पुरुष को कर्म छोड़ने या करने से कोई लाभ नहीं होता, अत एव वह संयोग के अनुसार ही कर्म करता है, परन्तु गीता में ज्ञानी के लिए कर्म करने को ही श्रेष्ठ एवं अनिवार्य बताया गया है। ज्ञानी पुरुष

---

3. यो. वा. पृ. 5
4. ध्यायतो विषयान्पुसः संगस्तेषूपजायते। संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।। गीता 2/62 क्रोधाद् भवति सम्मोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।- गी.2.63
5. यो. वा. पृ. 5
6. यो. वा. पृ. 5
7. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ.

स्थिति को समझकर सदैव आसक्तिरहित होकर कार्य करता है एवं आसक्ति छोड़कर कर्म करने वाले मनुष्य को परमगति प्राप्त होती है।

'योगवाशिष्ठ' में अनेक स्थानों पर संसार को मायारूपी बताया गया है तथा संन्यास का समर्थन किया गया है, इसी कारण उसका मूल आशय 'कर्मयोग' से मिलता है। श्रीराम की कर्मत्याग की भावना का निराकरण करते हुए वसिष्ठ जी ने उन्हें समझाया था कि जब तक शरीर स्थित है, तभी तक कर्मों, इच्छाओं व कामनाओं का त्याग करते हुए आत्मभाव में स्थित होकर कर्म करते रहना चाहिए।[8] संन्यास और कर्मयोग दोनों श्रेयस्कर हैं, परन्तु दोनों में कर्मसंन्यास की अपेक्षा कर्मयोग अधिक श्रेष्ठ है।

'योगवाशिष्ठ' में निष्कर्म संन्यास के मुकाबले जीवन के अन्तिम क्षण तक सांसारिक कर्तव्यों को अनासक्त भाव से पूर्ण करने वाले की ही नहीं, अपितु उन पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने वाले ज्ञानियों की निन्दा की गई है, जो उसके अनुसार आचरण नहीं करते। ऐसे व्यक्तियों को लेखक ने 'ज्ञानबन्धु' कहकर पुकारा है। जैसे शिल्पकार जीविका के लिए शिल्पकला को सीखता है, उसी प्रकार जो मनुष्य भोगोपार्जन के लिए शास्त्र पढ़कर उसकी व्याख्या करता है, परन्तु स्वयं उसे व्यवहार में नहीं लाता, वह 'ज्ञानबन्धु' है।[9] जो प्रवृत्तिमार्ग अथवा भौतिक सफलता को ही शास्त्राध्ययन का फल समझ कर सत्यज्ञान से दूर बने रहते हैं, वे 'ज्ञानबन्धु ही समझे जाने चाहिए।' जो परमात्म-ज्ञान को न पाकर अन्य प्रकार से ज्ञानलेश की प्राप्ति से ही सन्तुष्ट होकर लौकिक सुख के लिए कष्टसाध्य प्रयत्न किया करते हैं, वे ज्ञानबन्धु माने जाते हैं।

यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने के लिए न तो उपदेश तथा प्रवचन की आवश्यकता है और न ही बहुत से ग्रन्थों को पढ़ने की अपेक्षा है।

'योगवाशिष्ठ' के अनुसार संसार से पार उतरने का एकमात्र उपाय योग है, जिसके दो रूप हैं-आत्मज्ञान और प्राण-निरोध।[10] सामान्य रीति से पहले मार्ग को 'ज्ञानमार्ग' और दूसरे को 'योगमार्ग' कहा जाता है। ये दोनों ही अभ्यास द्वारा सिद्ध किये जाते हैं।

विना अभ्यास के सच्चा ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता। अभ्यास करने वाले को अन्त में शान्ति प्राप्त होती है। तत्त्व का गहरा अभ्यास, प्राणों का निरोध, मन का निग्रह ये तीन उपाय अभ्यास के लिए प्रमुख हैं।

प्राण-निरोध में सांस के लगातार नियमित रूप से चलने पर ध्यान देना पड़ता है। इस

8. यो. वा. प्रथम खण्ड. पृ. 11
9. यो. वा. पृ. 14
10. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 16

सम्बन्ध में 'योगवाशिष्ठ' का मत है कि जिस प्रकार पंखे की गति रुक जाने पर हवा की गति रुक जाती है, वैसी ही प्राणों की गति रुक जाने पर मन शान्त हो जाता है।[11] प्राणविद्या से जीव के सभी दुःखों का नाश होता है। 'हृदयकमल में रहने वाली वायु प्राण कहलाती है। इसकी एक शक्ति आंखो में जाकर उनका संचालन करती है, एक त्वचा में जाती है, एक नाक में, एक भोजन का पचाती है और एक वाणी का संचालन करती है।' 'प्राण' की गति अग्निशिखा की तरह हृदय से ऊपर की ओर बाहर को होती है और अपनी गति जल की तरह हृदयाकाश की ओर बाहर से भीतर नीचे की ओर कही गई है।

मन के लय को ज्ञानप्राप्ति का तृतीय उपाय माना गया है। मन के लय का अर्थ है- मन को नियन्त्रण में रखकर इच्छानुसार रख सकने का अभ्यास।[12] इसको नियन्त्रित करने से समस्त संसार वश में आ जाता है। यह सारा संसार ही मन के आश्रित है। जब मन को जीत लिया जाएगा, तभी सब कुछ जीता जा सकता है। संसार के सभी उपद्रवों, और दुःखों से छूटने का उपाय केवल मन का निरोध करना है। यही **'योग'** का सार है।

वासनाओं को चित्त का स्वरूप माना गया है। यह भी कहा जा सकता है। सभी प्रकार से वासनाओं और इच्छाओं का त्याग कर देने से जीवन्मुक्ति हो जाती है।[13] इसलिए मनुष्य को बन्ध और मोक्ष, सुख और दुःख तथा सत् और असत् भावनाओं को त्याग देना चाहिए।

अहंकार के कारण मनुष्य माया के बन्धन में पड़ता है। अहंभाव के कारण तपस्वियों का भी पतन हो जाता है। विभिन्न प्रकार के भ्रम और विकारयुक्त भाव अहंकार से उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य के मन में समता की भावना बद्धमूल हो जाती है तो अंहभाव का उदय नहीं होता। वाल्मीकि मुक्ति के उपायों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'निषिद्ध कर्म और विषयों के साथ इन्द्रियों से सुख की इच्छा को त्याग कर प्राणायाम करने से अहंकार से मुक्ति मिल सकती है।'[14]

एक सच्चे ज्ञानी के लिए साम्य-भाव जीवन को महान् बनाने वाला स्तम्भ है। जब तक मनुष्य के हृदय में किसी वस्तु के प्रति आकर्षण और अन्य के प्रति विकर्षण का भाव बना रहेगा, तब तक उसे सच्ची सुख-शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती, अतः योगवाशिष्ठ में यह उपदेश दिया गया है कि निम्न श्रेणी की वस्तु की कामना न करो। समता से युक्त मनुष्य के सारे शत्रु

---

11. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 16
12. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 16
13. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 21
14. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 22

मिट जाते हैं।[15] वह यथार्थदर्शी होता है।

मनुष्य को अपना उत्तरदायित्व पूरे लग्न व परिश्रम के साथ करना चाहिए।[16] उसमें कभी आसक्ति और मोह नहीं रखना चाहिए। विना परिश्रम किए दूसरे पर आश्रित रहने से कभी शान्ति नहीं मिल सकती है। योगवाशिष्ठ में बतलाए गए मार्ग पर आचरण करने से संसार में कभी दुःख या कष्ट का उद्भव नहीं हो सकता। 'योगवाशिष्ठ' में यह कहीं भी नहीं कहा गया है कि मनुष्य को सांसारिक कर्म का त्याग करके साधु-वैरागी का जीवन बिताना चाहिए। इसके पश्चात् भी यदि लोगों को वैराग्य, तप और त्याग ही दिखाई पड़े तो यह उनका दृष्टिदोष ही है।

योगवाशिष्ठ के पहले प्रकरण में श्री रामचन्द्र जी के मुख से इस संसार की असारता और ज़ीवन के क्लेशों का वर्णन किया गया है, जिसके कारण उसे ग्रहण करके मनुष्य वैराग्य को ही सर्वोत्तम समझने लगता है। कौन सी ऐसी दिशा है, जिसमें दुःख का दाह न हो? कौन सी ऐसी उत्पन्न वस्तु है, जो नाशवान् न हो और कौन सी ऐसी क्रिया है जो माया से युक्त न हो।[17]

मानव-जीवन महत्त्वपूर्ण होते हुए भी बड़ा ही अनिश्चित है। हर आयु के हजारों व्यक्ति जो स्वस्थ दिखाई पड़ते हैं, एक-दो मिनट के भीतर ही काल के ग्रास बन जाते हैं। जो मनुष्य लोभ, मोह से मुक्त रहते हुए उचित कर्मों की पूर्ति में लगा रहता है, वही कर्त्तव्यनिष्ठ कहलाता है।[18]

तृष्णा के दोषों को दर्शाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने कहा था कि तृष्णा मनुष्य को इस प्रकार जलाती है कि उसकी जलन अमृत से भी शान्त नहीं की जा सकती। संसार के सब दोषों में तृष्णा ही सबसे अधिक दुःख देने वाली है। शारीरिक और मानसिक दुःखों का कारण तृष्णा ही है। तृष्णा के कारण ही मनुष्य कभी सुखी नहीं रह सकता।[19] कामासक्तता के निवारण के लिए योगवाशिष्ठ में नारी के रूप को विषयविकार का कारण कहा गया है। जिस प्रकार विष की लता सुंदर फलों से मनोहर लगती है, नये-नये पल्लवों से सुशोभित होती है, भ्रमरों की क्रीड़ास्थली बनती है, पुष्पगुच्छ धारण करती है, उसी प्रकार कमनीया कामिनी फूलों का शृङ्गार करने के कारण मनोहारिणी लगती है, फूलों के केसर की भाँति सुनहरी गौर-कान्ति से प्रकाशित

15. यो. वा. प्रथम खण्ड,पृ. 25
16. यो. वा. प्रथम खण्ड,पृ. 28
17. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 30
18. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 34
19. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 34

होती है और मनुष्य के विनाश के लिए तत्पर रहती है।[20]

---

20. यो. वा. प्रथम खण्ड, पृ. 36

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0153-160)

मृच्छकटिक में काव्यदर्शन

डॉ० राजिन्द्रा शर्मा

रीडर संस्कृत-विभाग

हि0प्र0 विश्वविद्यालय समरहिल

शिमला (हि0प्र0)

संस्कृत-साहित्य में शूद्रक विरचित मृच्छकटिक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। शूद्रक की केवल एकमात्र रचना मृच्छकटिक उपलब्ध है। दण्डी और वामन उल्लेखों से यह प्रतीत होता है कि शूद्रक की अन्य भी कोई कृति रही होगी, परन्तु वह आजतक उपलब्ध नहीं हो पाई।

मृच्छकटिक को रूपक के भेद प्रकरण की कोटि में रखा जाता है। प्रकरण का लक्षण साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह है प्रकरणरूपक का एक भेद है। इसमें वृत्त लौकिक तथा कविकल्पित होता है। शृङ्गार मुख्य रस होता है, ब्राह्मण, अमात्य या वणिक् में से कोई एक नायक होता है। वह नायक धीरप्रशान्त होता है तथा विपरीत परिस्थितियों में भी धर्म, अर्थ, काम में परायण होता है। प्रकरण की नायिका कुलस्त्री या वेश्या होती है। किसी प्रकरण में कुलस्त्री तथा वेश्या दोनों ही नायिका रूप में दिखलाई जाती हैं। इन नायिकाओं की त्रिविधता से प्रकरण के भी तीन भेद हो जाते हैं। इन तीनों प्रकरण भेदों में तीसरा जो प्रकरण है (जिसमें कुलजा तथा वेश्या दोनों नायिका होती हैं) वह धूर्त जुआरी, विट, चेट आदि से भरा होता है। यह प्रकरण नाटक का हो एक परिवर्तित रूप है, अतः शेष सन्धि, प्रवेशक आदि नाटक के ही समान होते हैं।[1] मृच्छकटिक के स्थिति काल के सम्बन्ध में किसी निश्चय पर पहुँचना तो सम्भव नहीं है, परन्तु फिर भी अनेक प्रकार से निर्णय करने पर मृच्छकटिक का समय ई.पू. 500 का अन्तिम तथा ई.पू. 600 का आदि भाग माना जा सकता है।

मृच्छकटिक नामक प्रस्तुत प्रकरण में 10 अंक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में नाट्य साहित्य की लम्बे समय से चली आ रही परम्पराओं को त्यागकर रचनाकार ने नूतन परम्पराओं और

---

1 भवेत् प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितं शृंगारोऽङ्गी नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः।। नायिका कुलजा क्वापि वेश्या क्वापि द्वयं क्वचित्। तेन भेदास्त्रयः तस्य तत्र भेदस्तृतीयकः।। कितवद्यूतकारादिविटचेटसंकुलः। अस्य नाटकप्रकृतित्वात् शेषं नाटकवत्, साहित्यदर्पण, 6.224-227

व्यवस्थाओं को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। शूद्रक का साहित्य से सम्बन्धित ज्ञान भी उच्चकोटि का था। मृच्छकटिक नामक प्रकरण चारुदत्त और वसन्तसेना की कल्पित प्रेम कथा के आधार पर लिखा गया है। चारुदत्त उज्जयिनी का सम्मानित व्यापारी है, जाति से ब्राह्मण है, परन्तु परिस्थितिवश लगातार दान देने से दरिद्र हो जाता है। रूपवती गणिका वसन्तसेना चारुदत्त के गुणों के कारण उससे प्रेम करती है। चारुदत्त का मित्र शर्विलक वसन्तसेना की दासी मदनिका से प्रेम करता है। मदनिका को दासीपन से मुक्त कराना चाहता है। मित्र चारुदत्त के दरिद्र होने के कारण शर्विलक मदनिका के कारण चोरी करता है। इधर सिद्धों के द्वारा आर्यक के राजा बनने की भविष्यवाणी की जाती है। भविष्यवाणी पर विश्वास कर राजा के साले शकार के द्वारा आर्यक को बन्दी बना दिया जाता है। दूसरी ओर शकार के प्रणय प्रस्ताव को ठुकराने पर शकार के द्वारा वसन्तसेना का गला घोट दिया जाता है और उसको सूखी पत्तियों में दबाकर भाग जाता है। परन्तु बौद्धभिक्षु वहाँ आता है और वसन्तसेना को फिर से जीवित कर देता है।

शकार न्यायालय में जाता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का अभियोग लगाता है। दुर्भाग्यवश सिद्ध हो जाता है और चारुदत्त को मृत्युदण्ड दिया जाता है। चारुदत्त को चाण्डाल वधस्थल पर ले जाते हैं। फांसी लगने से पूर्व भिक्षु वसन्तसेना को लेकर पहुँच जाता है। इधर पालक को मारकर आर्यक राजा बनता है। चारुदत्त के स्थान पर शकार को मृत्युदण्ड दिया जाता है। परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। राजा वसन्तसेना को वधू पद से अलंकृत कर देता है और अन्त में चारुदत्त और वसन्तसेना का विवाह हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में जो नान्दीपाठ किया गया है, उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शूद्रक को भगवान् शिव की ही कृपा से ज्ञान प्राप्त हुआ था। श्लोक में योग की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन करने के पश्चात् प्रार्थना की गई है कि यथार्थ ज्ञान के द्वारा इन्द्रिय व्यापार को भीतर ही रोक देने वाले, जिन्होंने अपने भीतर ही आत्मा के दर्शन कर लिए हैं, ऐसे पर्यङ्क नामक योगासन में बैठे शिव ब्रह्मलग्न समाधि के कारण आप सब सहृदयों की रक्षा करें।[2]

शिव जी का काले मेघों जैसा कृष्णवर्ण कण्ठ जिसमें पार्वती की श्वेतवर्ण भुजा रूपी लता विद्युत् पंक्ति के समान सुशोभित होती है आप सब की रक्षा करें।[3]

एक अमेरिकन आलोचक हेनरी वेल्स ने अपनी नव-प्रकाशित पुस्तक में प्रस्तुत नान्दी

---

2 पर्यङ्कग्रन्थिबन्धद्विगुणितभुजगाश्लेषसंवीतजानोरन्तः प्राणावरोधव्युपरतसकलज्ञानरुद्धेन्द्रियस्य। आत्मन्यात्मानमेव व्यपगतकरणं पश्यतस्तत्त्वदृष्ट्या शम्भोर्वः पातु शून्येक्षणघटितलयब्रह्मलग्नः समाधिः।। मृच्छकटिक, 1.1

3 पातु वो नीलकण्ठस्य कण्ठः श्यामाम्बुदोपमः। गौरीभुजलता यत्र विद्युल्लेखेव राजते।। मृच्छकटिक, 1.2

के मर्म का उद्घाटन करते हुए लिखा है कि शंकर के कण्ठ के उल्लेख से कवि नाटककार ने शिव से वाणी के वरदान की याचना की है और बादल तथा बिजली की उपमा से इस स्थान की पुष्टि की है कि पुरुष बादल है और नारी बिजली है। पञ्चम अंक में चारुदत्त ने स्वयं वसन्तसेना ध्यान मेघ तथा विद्युत् के मिलन दृश्य की ओर आकर्षित किया है, जिससे संकेत ग्रहण कर वसन्तसेना उसके भुजापाश में लिपट गई है।[4] इस प्रकार नारी वसन्तसेना की बिजली को पुरुष चारुदत्त ने उधार ले लिया है। वसन्तसेना की शक्ति की आग से उसके भीतर की अग्नि जल रही है।[5]

नान्दी के पश्चात् प्रस्तुत प्रकरण में शूद्रक की विद्वत्ता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने शिवजी की कृपा से ऋग्वेद, सामवेद, गणित, कलाओं, नाट्यशास्त्र और हस्तिचालन की शिक्षा प्राप्त करके अज्ञानरूपी तिमिर को दूरकर ग्रन्थ के माध्यम से ज्ञान का प्रकाश प्रसारित किया।[6] प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट होता है कि उस समय ऋग्वेद का पाठ होता था सामवेद के मन्त्रों का भी सस्वर पठन-पाठन होता था। सम्भवत: गायन कला और सङ्गीत विज्ञान इसी से उत्पन्न हुआ हो। शूद्रक को वेदों के अतिरिक्त अनेक विद्याओं का ज्ञान था। वह वैशिकी कला और हस्तिविद्या में भी कुशल था।

मृच्छकटिक नामक प्रस्तुत प्रकरण के छठे अंक में वर्णित विशेष घटना के आधार पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम मृच्छकटिक रखा गया। मृच्छकटिक (मृत्+शकटिक) के नाम से शरीर या भौतिक जीवन की ओर संकेत है। चारुदत्त का पुत्र रोहसेन पड़ोसी के पुत्र को सोने की गाड़ी से खेलते हुए देखता है। बच्चे को सोने की गाड़ी को देखने पर वह भी सोने की गाड़ी बनवाने का आग्रह करता है। रदनिका नामक चारुदत्त की दासी रोते बालक को वसन्तसेना के पास ले जाती है और उसे बालक के रोने का कारण बताती है। वसन्तसेना बच्चे के आग्रह की पूर्ति के लिए अपने आभूषणों को उतार कर बच्चे की मिट्टी की गाड़ी पर रख देती है और कहती है कि बेटा! रो मत। इन सुवर्ण के आभूषणों से तुम सोने की गाड़ी बना लेना। यह घटना मृच्छकटिक में महत्त्व रखती है। प्रस्तुत घटना हमें यह संदेश देती है कि सारा संसार असंतोष का प्रतीक है। एक अबोध बालक भी अपनी वस्तु से असन्तुष्ट है। दूसरे बच्चे की गाड़ी को देखकर वैसी ही गाड़ी की याचना करता है।

---

[4] एषाम्भोदसमागमप्रणायिनी स्वच्छन्दमभ्यागता। एषा कान्तामिवाम्बरं प्रियतमा विद्युत् समालिङ्गति।। मृच्छ० 5-46

[5] Henry vl. viells : The clasical Drama of India (1963) Page 139 - 140

[6] ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां, ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य। राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः।। मृच्छ०1.4

अनेक समालोचकों के अनुसार यहाँ (मृत्+शकट) मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर **'सुवर्ण शकटिक'** होना चाहिए था। साहित्यदर्पण के नियमानुसार इसका नाम **'वसन्तसेना-चारुदत्तम्'** होना चाहिए था जैसे कि मालती-माधव इत्यादि नाम हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मिट्टी की गाड़ी नाम अधिक उपयुक्त है, क्योंकि कवि इस नाम के माध्यम से लोगों को यह संदेश देना चाहता है कि व्यक्ति मिट्टी में ही मिल जाता है। जैसे मिट्टी का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार व्यक्ति भी पञ्चतत्त्व के साथ मिट्टी में समा जाता है। सारा संसार असन्तुष्ट है। एक दूसरे को देखकर काम, क्रोध, लोभ-मोह, ईर्ष्या के उत्पन्न होने से अनेक प्रकार की समस्याओं में फंस जाता है। प्रस्तुत प्रकरण से हमें यह शिक्षा मिलती है कि हमें अपनी परिस्थितियों के अनुकूल ही इच्छाएँ रखनी चाहिए। कम इच्छाओं वाला व्यक्ति ही सदा सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है।

संस्कृत साहित्य में मृच्छकटिक (मिट्टी की गाड़ी) ही एक ऐसा नाटक है, जिसमें विशुद्ध यथार्थवाद का अभिनिवेश किया गया है। मृच्छकटिक का नामकरण नाटक को परम्परा के शिष्ट सामन्तीय वातावरण से अलग कर मिट्टी के जन साधारण वातावरण में ले आता है। शूद्रक ने मिट्टी के पात्रों का वर्णन किया है, जिनका सम्बन्ध स्वर्ग अथवा देवता के साथ नहीं बताया गया है। मृच्छकटिक का यथार्थवाद निम्नस्तरीय परम्पराओं को त्यागकर काफी आगे निकल जाता है। अनेक घटनाओं एवं दृश्यों में यथार्थवाद स्पष्ट झलकता है। डॉ() राइडर को भी अन्त में यही कहना पड़ा कि नाटक में से किसी दृश्य को छोड़ा नहीं जा सकता।[7] मृच्छकटिक में "विवेचित अनेक दृश्यों और महत्त्वपूर्ण घटनाओं को क्रम से देखा जा सकता है।

मृच्छकटिक के प्रथम अंक में राजा के साले शकार द्वारा पीछा की जाती हुई वसन्तसेना का चित्रण बड़ा ही मार्मिक बन पड़ा है।[8] इसी प्रकार दूसरे अंक में द्यूतकर संवाहक का पीछा अन्य द्यूतकर करते हैं। मञ्च पर ही मारपीट होती है।[9] इस प्रकार के दृश्य सामाजिकों में विशेष मनोरंजन उत्पन्न करते हैं। तृतीय अंक सन्धिछेद में गहन रात्रि में चोर शर्विलक चुपके से आता है और संध लगाने का वैज्ञानिक ढंग प्रस्तुत करता है। अनेक प्रकार की संधों का वर्णन करते हुए कहता है कि खिला हुआ कमल, सूर्य (गोल) बालचन्द्रमा (अर्ध-चन्द्राकार), बावड़ी, स्वस्तिक के चिह्न जैसा पूर्ण कुम्भ अर्थात् संध लगाने के इन प्रकारों में से किसका प्रयोग करके

---

7 In the little clay cart at any rate we could ill-afford to spare a single scene. Dr. A.W. Ryder: The little clay cart (Introduction)

8 मृच्छकटिक, पृ. 1.21-23

9 वही, पृष्ठ संख्या। 76

किस स्थान पर अपना कौशल दिखलाएँ जिससे देखकर कल को नागरिक लोग आश्चर्य को प्राप्त हो जाएँ।[10]

दुर्दिन नामक पाँचवें अंक में मूसलाधार वर्षा, गरजते बादल और कड़कती बिजली का वर्णन किया गया है।[11] इस तरह के मौसम में वसन्तसेना अभिसारिणी बनकर चारुदत्त के घर जाती है। छठे अंक में गाडियों का बदल जाना, पैरों में लोहे की जंजीर पड़े आर्यक का कारागर से भाग जाना[12] आदि दृश्यों में भी यथार्थवाद ही झलकता है। इसी अंक में चारुदत्त के पुत्र रोहसेन द्वारा मिट्टी की गाड़ी से खेलना मना करने पर सोने की गाड़ी से खेलने का आग्रह सम्बन्धी चित्रण बाल मनोविज्ञान की झलक प्रस्तुत करता है। इस प्रकार प्रकरण का वातावरण यथार्थवादी 'स्पिरिट' से ओत-प्रोत है। डॉ0 भाट के अनुसार यह वास्तविक जीवन से काटा गया एक छोटा टुकड़ा (a slice cut from real life) प्रतीत होता है।[13]

आठवें अंक में वसन्तसेना मोटन का भयानक दृश्य है। नवें अंक में चारुदत्त पर अभियोग चलाया जाता है और दसवें अंक में चाण्डालों द्वारा चारुदत्त को वध स्थान की ओर ले जाया जाता है, परन्तु भाग्य के अनुकूल होने और वसन्तसेना के अचानक आ जाने से चारुदत्त का वध नहीं किया जाता। चारुदत्त की पत्नी धूत्ता भी पुत्र रोहसेन सहित वधस्थल पर पहुँच जाती है। अन्त में वसन्तसेना भी वधू पद से सम्मानित होती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि रचनाकार ने प्रकृति के विभिन्न रूपों के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक इत्यादि अनेक अवस्थाओं को ध्यान में रखते हुए वर्णन किया है।

इस प्रकार रचनाकार अपने यथार्थवाद वर्णन में तो सफल दिखाई पड़ते हैं, परन्तु उन्होंने इस वर्णन के साथ-साथ प्रकृति के भी विभिन्न रूपों का स्वाभाविक चित्रण किया है। प्रकृति वर्णन से यह स्पष्ट प्रतीति होती है कि रचनाकार के मन में काव्यात्मक सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति को समझने के वैज्ञानिक भाव भी विद्यमान थे। रचयिता का मस्तिष्क रचना के समय एक ही वस्तु पर केन्द्रित न होकर अनेक तथ्यों को प्रस्तुत करने में सक्षम रहा है। शूद्रक के परिचय से ही उसकी साहित्यिक, वैज्ञानिक एवं कलात्मक योग्यताओं का ज्ञान हो जाता है।

शूद्रक के पञ्चम अंक में वर्णित प्रकृति वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रक अन्य

---

10 पद्मव्याकोशं भास्करं बालचन्द्रं वापीविस्तीर्णं स्वस्तिकं पूर्णकुम्भम्। तत्कस्मिन्देशे दर्शयाम्यात्मशिल्पं दृष्ट्वा श्वो यं यद्विस्मयं यान्ति पौराः। वही, 3/13

11 वही, 5. 1-4

12 मृच्छकटिक, 6.1

13 Dr. Bhat : Preface to Mrcch. Page 13-14

प्राचीन कवियों से भिन्न प्रकृति को समझने में सक्षम था। यही उसकी अलग से विशेषता भी रही है। परवर्ती आचार्यों में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी प्रकृति के विभिन्न पहलुओं का कहीं कहीं इसी प्रकार से वर्णन किया है।

दुर्दिन नामक पाँचवे अंक में विष्णु के स्वरूप का मनोरम चित्रण करते हुए शूद्रक कहते हैं कि जल से गीला, भैंसे के पेट और भौंरे के समान नीला, बिजली की कान्ति से निर्मित पीताम्बर तुल्य वल्कल धारण करने वाला, एकत्रित हुए बगुले रूपी शंख को धारण करने वाला दूसरे विष्णु के समान आकाश को व्याप्त करने को उद्यत मेघ शोभायमान है।[14]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी विष्णु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् (विष्णो)! आप अज होकर भी जन्म ग्रहण करते हैं, निरीह होकर भी शत्रुओं को मारते हैं, सोये हुए भी जागरूक रहते हैं, आप का यथार्थ स्वरूप कौन जान सकता है?[15]

विश्वनाथ प्रथम परिच्छेद में विष्णु के दस अवतारों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसके एक किनारे में सारा समुद्र समा गया वह मत्स्यावतार है। जिसकी पीठ पर अखण्ड ब्रह्माण्ड समा गया वह विष्णु का कूर्मावतार है। दाढ़ में पृथिवी के छिप जाने से वराह अवतार तथा नाखूनों में हिरण्यकशिपु के लिपटने से नृसिंहावतार है। पैर में पृथ्वी तथा आकाश दोनों के व्याप्त होने से वामनावतार तथा क्रोध में क्षत्रिय जाति के विलीन होने पर परशुरामवतार है। जिसके बाण में रावण का (राम), हाथ में प्रलम्बासुर का (कृष्ण), ध्यान में जगत् का (बुद्ध) और खड्ग में अधर्मी लोगों का लय हुआ उस अलौकिक तेज को नमस्कार हो।[16]

विश्वनाथ दशम परिच्छेद में विष्णु के अलौकिक मार्ग का वर्णन करते हुए कहते हैं कि चाहे पुरुषत्व अर्थात् पुरुष का स्वरूप त्यागना पड़े चाहे नीचे अर्थात् पाताल में जाना पड़े और चाहे प्रणयन अर्थात् प्रतिष्ठा भी न मिले तो भी संसार का कल्याण करना चाहिए। यह मार्ग किसी अलौकिक पुरुषोत्तम अर्थात् मोहिनी रूप, वराह रूप और वामन रूप (विष्णु) ने प्रकट

---

14 मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो, विद्युत्प्रभारचितपीत पटोत्तरीयः। आभाति संहतवलाकगृहीतशङ्खः खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः।। मृच्छकटिक, 5.2

15 अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः। स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तवः।। साहित्यदर्पण, पृष्ठ संख्या 352

16 यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलम्, दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः पदे रोदसी। क्रोधे क्षत्रगणः शरे दशमुखः पाणौ प्रलम्बासुरो, ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं कस्मैचिदस्मै नमः।। साहित्यदर्पण, पृष्ठ संख्या 20

कर दिया है।[17]

दुर्दिन नामक पांचवे अंक में निर्मल जलधाराओं का वर्णन करते हुए शूद्रक कहते हैं कि पिघले हुए चाँदी के द्रव की भाँति, बादलों के पेट से वेग पूर्वक गिरती हुई बिजली रूपी दीपक की लौ के द्वारा क्षण भर दिखाई देकर नष्ट हो जाने वाली ये जल की धाराएँ मानो आकाश रूपी वस्त्र के विच्छिन्न छोर के समान गिर रही हैं।[18]

साहित्यदर्पणकार भी दशम परिच्छेद में स्वच्छ जल की बून्दों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि तपस्या करती हुई पार्वती के ऊपर पहली जल की बूँद रुकी, फिर वहाँ से अधरोष्ठ पर गिरी और इसके अनन्तर उन्नत पयोधरों पर गिरकर चूर्णित हुई, फिर त्रिवली में स्खलित हुई और बहुत देर में नाभि में पहुँची।[19]

दुर्दिन नामक पाँचवे अंक में मेघाच्छादित आकाश की उपमा अन्धे धृतराष्ट्र से करते हुए शूद्रक कहते हैं कि बादलों के आने से अन्धकारयुक्त गगन धृतराष्ट्र के मुख की भाँति हो गया है अर्थात् आकाश सूर्य और चन्द्रमा के अभाव में अन्धकारयुक्त हो जाता है अर्थात् उसी प्रकार नेत्ररहित होने से धृतराष्ट्र भी गगन की भाँति अन्धकारयुक्त हो गया था। ऐसे समय में प्रसन्न और गर्वित अवस्था को प्राप्त मोर दुर्योधन के समान गरज रहे हैं।[20]

अलंकारन्यास नामक प्रथम अंक में चन्द्रोदय का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है। नक्षत्र समुदाय रूपी परिवार सम्पन्न युवती के कपोल सदृश श्वेत कान्तियुक्त राजमार्ग की दीपक उदित हो रहा है। गहन अन्धकार में अभिनव चन्द्रमा की उज्ज्वल किरणें जल रहित कीचड़ में दूध की धाराओं के समान पड़ रही हैं।[21]

साहित्य दर्पण के दशम परिच्छेद में भी इसी प्रकार का वर्णन करते हुए रचयिता कहते हैं कि जिस नगरी में मेघमण्डलों से भी ऊँचे और चन्द्रमा की किरणों के पड़ने से टपकते हुए

---

17 पुरस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्। अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं केनापि दिक् प्रकटिता पुरुषोत्तमेन।। वही, दशम परिच्छेद, पृ० सं० 344

18 एता निषिक्तरजतद्रवसन्निकाशा धारा जवेन पतिता जलदोदरेभ्यः विद्युतप्रदीपशिखया क्षणदृष्टनष्टाश्छिन्ना इवाम्बरपटस्य दशाः पतन्ति।। मृच्छकटिक, 5.4

19 स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः। वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः।।

20 एतत्तद्धृतराष्ट्रवक्त्रसदृशं मेघान्धकारं नभो हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी। अक्षतद्यूतजितो युधिष्ठिर इवाध्वानं गतः कोकिलो हंसाः संप्रति पाण्डवा इव वनादज्ञातचर्यां गताः।। मृच्छकटिक, 5, 6

21 उदयति हि शशांकः कामिनीगण्डपाण्डुः ग्रहगणपरिवारो राजमार्गप्रदीपः। तिमिरनिकरमध्ये रश्मयो यस्य पौराः स्रुतजल इव पंके क्षीरधाराः पतन्ति।। मृच्छकटिक, 1.[illegible]

चन्द्रकान्त मणिमय (प्रासादस्थ) कुट्टियों (फर्शों) के जल से क्रीड़ावन बढ़ता है। महलों की अट्टारियाँ मेघों से भी ऊँची हैं, अतः उनमें चन्द्रमा की किरणें सदा प्रकाशित हो रही हैं। नीचा होने के कारण बादल वहाँ की चन्द्रिका को रोक नहीं सकता अतः वहाँ से चन्द्रकान्त मणि जल टलकाया करते हैं और उससे क्रीड़ावन के वृक्ष फलते-फूलते हैं।[22]

संस्कृत नाटकों में मृच्छकटिक ही ऐसा नाटक है, जिससे उद्भावना का नाटक (a drama of invention) कहा जा सकता है। सुन्दर पदों का प्रयोग कर पूर्ण कथानक को अभिव्यक्ति प्रदान करने में शूद्रक प्रवीण हैं। शूद्रक के चित्रण में यथेष्ट काव्यात्मक सौंदर्य दिखलाई पड़ता है। इनका प्रकृति चित्रण भी श्लेष एवं रूपक से सुन्दर बन पड़ा है। स्वाभाविक प्रकृति चित्रण के लिए रूपकों में आदर्श रूप है। प्रकृति का मानव हृदय के साथ भी सच्चा चित्रण दिखाया गया है।

संस्कृत रूपकों में भी मृच्छकटिक का अपना शास्त्रीय विशिष्ट स्थान है। इसकी महत्ता इसी से स्पष्ट है कि अनेक प्रसिद्ध भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने प्रस्तुत ग्रन्थ पर उत्तम टीकायें और विस्तृत भूमिकायें लिखकर इसे गौरव प्रदान किया। आज इस पर कई अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। संस्कृत-साहित्य का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं जिसमें मृच्छकटिक का किसी न किसी रूप में वर्णन न मिलता हो। प्रस्तुत ग्रन्थ में यथार्थ जगत् के चित्रण के साथ-साथ भविष्य के लिए भी सहृदयों को संदेश दिया गया है कि व्यक्ति को यथार्थ पर अटल रहकर जीवन यापन करना चाहिए। वास्तविक रूप में वही व्यक्ति व्यक्ति कहलाने का अधिकारी है जो सत्य के निकट है, क्योंकि सारा संसार तो क्षणिक है। यथार्थ से दूर है। सत्य को समझने व पहचानने वाला व्यक्ति ही इस क्षणिक संसार में वास्तविक रूप में जीवनयापन करता है, बाकि लोग तो मानो केवल सांसे लेते हैं।

---

22 अधः कृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम्। ज्योत्सना निपातात्क्षरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुररीकरोति।। साहित्यदर्पण, दशम परिच्छेद, पृ० सं० 366

गुरुकुल शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0161-176)

कुमाऊँ के प्रमुख संस्कृत काव्यकार

डॉ० किरण टण्डन
संस्कृत-विभाग
कुमाऊँ विश्वविद्यालय,
नैनीताल (उत्तरांचल)

भारतवर्ष का अभिनव राज्य उत्तराञ्चल आदिकाल से ही ऋषियों, मुनियों, साहित्यकारों तथा शास्त्रज्ञों की लीलाभूमि रहा है। संस्कृत वाङ्मय की दृष्टि से किये गए सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि इस राज्य के कुमाऊँ मण्डल को अपनी विद्वता से गौरवान्वित करने वाले विद्वान् के रूप में सर्वप्रथम नाम श्रीहरिहर का है। जिन्होंने पारस्कर गृह्यसूत्र पर अपनी टीका प्रस्तुत की थी। इस ऋषिकल्प विद्वान् का समय सातवीं शताब्दी है। अत एव इन्हें महाकवि बाणभट्ट के समकक्ष माना जा सकता है। आश्चर्यमिश्रित खेद का विषय है कि इसके बाद यहाँ के रचनाकारों का विशिष्ट परिचय नहीं मिल पाता। किन्तु ईसा की सोलहवीं शताब्दी से आज तक कुमाऊँ के विद्वान् संस्कृत वाङ्मय की विविध विधाओं में अपनी रचनाशीलता को प्रमाणित करते रहे हैं। अपने इस लेख में मैं कुमाऊँ के प्रमुख संस्कृत काव्यकारों एवं उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत कर रही हूँ-

१. राजा रुद्रचन्द

चन्द्रवंश चूडामणि राजा रुद्रचन्द संस्कृत भाषा के प्रौढ़ एवं प्रतिभाशाली कवि थे। इनके पिता कल्याणचन्द कुमाऊँ के शासक थे। जिनकी असमय मृत्यु के कारण रुद्रचन्द 1568 ई0 में गद्दी पर बैठे। पण्डित विश्वेश्वर पाण्डेय एवं पण्डित अनन्तदेव ने अपने-अपने ग्रन्थों में इनका स्मरण किया है (क- आर्यासप्तशती, 61-62, ख- स्मृतिकौस्तुभ, श्लोक सं0 7)। रुद्रचन्द की तीन कृतियाँ हैं, जिनका अब प्रकाशन हो चुका है-उषारागोदय नाटिका, श्यैनिक शास्त्र तथा त्रैवर्णिक धर्मनिर्णय।

उषारागोदय नाटिका शोणितपुरनरेश बाणासुर की पुत्री उषा एवं श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के विवाह की पौराणिक कथा पर आधारित है। इस नाटिका पर हर्ष की रत्नावली का पर्याप्त प्रभाव है तथा वसन्तवर्णन इसकी प्रमुख विशेषता है।

२. शिवकवि

शिवकवि कूर्माचल के चन्द राजा कल्याणचन्द के शासनकाल सन् 1729-1747 के

राजपुरोहितकुल में उत्पन्न काश्यपगोत्रीय पाण्डेय ब्राह्मण हैं। इनके पिता पण्डित विश्वरूप राजा बाजबहादुरचन्द के राजदरबार में (सन् 1638-1778 में) प्रतिष्ठित थे। इनकी दो रचनाएँ मानी गई हैं:- कल्याणचन्द्रोदय एवं कूर्मांचलकाव्य। इनमें से सात सर्ग वाला कल्याणचन्द्रोदय ही प्रकाशित हुआ है।

३. लक्ष्मीपति पाण्डेय

लक्ष्मीपति पाण्डेय **'अब्दुल्लाचरित'** एवं **'फर्रूखसियरचरित'** नाम दो ऐतिहासिक काव्यग्रन्थों की रचना से संस्कृत-साहित्यकारों में प्रतिष्ठित हैं। इनका समय ईस्वीय सन् 1660 के पास का है। विश्वरूप पाण्डेय जी के पुत्र लक्ष्मीपति, अल्मोड़ा के पाटियाग्राम के पाण्डेय ब्राह्मण थे। इनके ग्रन्थों में स्पष्ट संकेत मिलता है कि इन्होंने अपने चाचा लक्ष्मीधर (विश्वेश्वर पाण्डेय के पिता) से शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी। इनकी रचनाओं में अरबी-फारसी, उर्दू आदि भाषाओं का प्रयोग इन्हें बहुभाषाविद् सिद्ध करता है। इनकी तीन कृतियाँ हैं-**फर्रूखसियरचरित, अब्दुल्लाचरित** तथा **योगेश्वर माहात्म्य**। फर्रूखसियरचरित एवं अब्दुल्लाचरित-ये दोनों रचनाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। और वस्तुत: पतनोन्मुख मुगल साम्राज्य का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती हैं।

फर्रूखसियरचरित 1837 श्लोकों का ऐतिहासिक प्रबन्धकाव्य है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन 1959 ईस्वीय सन् में प्राच्यवाणी कलकत्ता से हुआ और इसका सम्पादन यतीन्द्र विमल चौधरी ने किया था। इसका एक और नाम **'नृपनीतिगर्भवृत्तम्'** भी है। मुगल बादशाहों में से एक बादशाह फर्रूखसियर के चरित को आधार मानकर लिखे जाने के कारण इसका नाम 'फर्रूखसियरचरित' है। यह सम्पूर्ण काव्य अनुष्टुप् छन्द में, तीन भागों में विभक्त है।

अब्दुल्लाचरित का सम्पादन भी यतीन्द्र विमल चौधरी ने किया है। इसका प्रथम प्रकाशन 1947 ई० सन् में प्राच्यवाणी, कलकत्ता से ही हुआ है। 18वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में प्रणीत यह काव्यग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित एक ऐतिहासिक चम्पूकाव्य है। यह पूरा ग्रन्थ 1804 अनुच्छेदों में है। इस काव्य के पद्य भी अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध हैं तथा इसमें गद्य की अपेक्षा पद्यों की मात्रा अधिक है। काव्य के प्रारम्भिक 500 श्लोकों में भारतीय स्मृतियों, उपनिषदों, पुराणों एवं धर्मशास्त्रानुसार गृहस्थों एवं राजाओं के कल्याण के लिए नीति एवं आचार-व्यवहार की शिक्षा का वर्णन किया गया है। काव्य में स्थान-स्थान पर रामायण, महाभारत, पञ्चतन्त्र, गीता, कुरान, याज्ञवल्क्यस्मृति और हितोपदेश की सूक्तियाँ भी उद्धृत की गई हैं। इस काव्य में अब्दुल्ला एवं उसके छोटे भाई हुसैन अली का राजाओं के नियोक्ताओं के रूप में वर्णन है। राज्यप्रतिष्ठापक अब्दुल्ला का वजीर के रूप में निष्पक्ष चरित्राङ्कन करने के साथ ही हुसैन अली, मुहम्मद शाह के चरित्रों पर प्रकाश डाला गया है।

पण्डित लक्ष्मीपति पाण्डेय के दोनों काव्य हर्षचरित, नवसाहसाङ्कचरित, हम्मीरकाव्य,

पृथ्वीराजविजय, गउडवहो आदि ऐतिहासिक काव्यों की परम्परा में विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। इनकी तीसरी कृति यागेश्वरमाहात्म्य की पाण्डुलिपि इण्डिया ऑफिस लन्दन में सुरक्षित है। इसमें दारुकावनस्थल के मध्य में विद्यमान यागेश्वर के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। जो द्वादश ज्योतिर्लिंग के बीच मान्य है।

४. आचार्य विश्वेश्वर पाण्डेय

उत्तराञ्चल के संस्कृत काव्यकारों में आचार्य विश्वेश्वरपाण्डेय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनको उत्तराञ्चल का बाणभट्ट कहना भी अनुचित न होगा। इन्होंने अपने पिता का परिचय मन्दारमञ्जरी नामक अपनी गद्यकृति में इस प्रकार दिया है -

जयति यथाजातानां वाग्जातसुजातपारिजातश्रीः।

श्रीलक्ष्मीधरविबुधावतंस-चरणाब्जरेणुकणः॥

पण्डित लक्ष्मीधरपाण्डेय अल्मोड़ा के अन्तर्गत पाटियागाँव के निवासी भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। वृद्धावस्था में काशी जाकर भगवान् शङ्कर की आराधना के फलस्वरूप पुत्र की प्राप्ति होने के कारण, इन्होंने उसका नाम विश्वेश्वर पाण्डेय रखा। पण्डित विश्वेश्वर ने अपने पिता से ही सम्पूर्ण शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। विद्वानों के मतानुसार एवं इनकी कृतियों के साक्ष्यानुसार इनका समय ईस्वीय सन् 1680-1750 के बीच अर्थात् 18वीं शताब्दी का पूर्वार्ध ठहरता है। इनके द्वारा की गई नैषध एवं रसमंजरी की टीका से पता चलता है कि इनके परशुराम एवं जयकृष्ण नामक दो पुत्र थे। संस्कृत वाङ्मय की सभी विद्याओं पर इनका समान अधिकार था। इनकी प्रमुख काव्यकृतियों का परिचय प्रस्तुत है:-

(क) मन्दारमञ्जरी

बाणभट्ट प्रणीत कादम्बरी के समान यह एक सुन्दर गद्यकाव्य है। इसका पूर्वार्ध श्रीविश्वेश्वर की रचना है और उत्तरार्ध के विषय में किंवदन्ती है कि यह भाग उनके किसी शिष्य की कृति है। इसका पूर्वार्ध तारादत्त पन्त की कुसुमाख्या टीका सहित पर्वतीय प्रकाशन मण्डल, काशी से प्रकाशित है। इसमें पुष्पपुरी नगरी के राजा राजशेखर-रानी मलयवती के अतिरिक्त चित्रभानु एवं मन्दारमञ्जरी तथा राक्षस मानसकेतु और मदयन्तिका की प्रेमकथा का वर्णन है। इसकी कथावस्तु कादम्बरी की कथावस्तु से समानता रखती है और वर्णनशैली सुबन्धुकृत वासवदत्ता के समान है। अत एव इसमें भावपक्ष का तिरस्कार करके कलापक्ष की प्रधानता दी गई है; शृङ्गार, करुण एवं अद्भुत रस प्रस्तुत किये गए हैं; और परिसंख्या, रूपक, उपमा, विरोध, श्लेषादि अलङ्कारों का आश्रय लिया गया है। यह रचना कवि के विविध शास्त्रज्ञान की भी परिचायिका है।

(ख) आर्यासप्तशती

यह मुक्तकाव्य है इसमें 764 पद्य आर्या-छन्द में निबद्ध है। गोवर्धनाचार्य की आर्यासप्तशती से यह सर्वथा भिन्न है। इसमें अकरादि क्रम से शकार पर्यन्त अक्षरों के आधार पर आर्या-छन्द की रचना की गई है।

(ग) शृङ्गारमञ्जरी

यह कवि का शौरसेनी तथा महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में लिखा गया सट्टक नामक उपरूपक है। यह राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी के बाद की महत्त्वपूर्ण कृति है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस कृति की अत्यधिक प्रशंसा की है।

(घ) रोमावलीशतक

यह शृङ्गारिक 100 पद्यों का उत्प्रेक्षालङ्कार परक शतककाव्य है।

(ड) होलिकाशतक

यह हास्य-व्यङ्ग्य प्रधान काव्य है। इसमें 100 पद्यों में होली एवं वसन्तोत्सव में होने वाले आमोद-प्रमोद का शृङ्गारपरक हास्य प्रस्तुत किया गया है।

(च) लक्ष्मीविलास

इसमें सौ से अधिक पद्यों में लक्ष्मी की आराधना की गई है। यह रचना अप्रकाशित है।

(छ) षड्ऋतुवर्णनम्

इसमें ऋतुओं का तथा प्रकृति की दशाओं का आलङ्कारिक वर्णन है।

(ज) अभिरामराघव

आचार्य विश्वेश्वर ने अपने इस नाटक के उदाहरण अपने अलंकार ग्रन्थों में दिए हैं।

(झ) नवमालिकानाटिका

चार अंकों में उपनिबद्ध इस नाटिका में अवन्तिनरेश एवं अंगराजपुत्री नवमालिका की प्रणयकथा का चित्रण है।

(ञ) रुक्मिणीपरिणय

इस नाट्यकृति का उल्लेख संस्कृत-साहित्यकारों ने किया है। इसके उदाहरण भी कवि ने अपने अलङ्कारग्रन्थों में दिए हैं।

इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर ने व्याकरण सिद्धान्त-सुधानिधि, न्यायदीधिति-प्रवेश, तर्ककुतूहल, अलंकार कौस्तुभ, अलंकारमुक्तावली, अलंकारप्रदीप, रसचन्द्रिका की रसमंजरी टीका, कवीन्द्रकर्णाभरण, नैषधीयचरित की टीका आदि कृतियों की भी रचना की है।

५. सुकृतिदत्त पन्त

पिथौरागढ़ जनपद में उप्राड़ा ग्राम निवासी भारद्वाजगोत्रीय पाण्डेय ब्राह्मण बाद में नेपाल में स्थायी रूप से रहले वाले रमापति जी के वंश में पण्डित सुकृतिदत्त पन्त जी हुए। इन्होंने अपने कार्त्तवीर्योदय नामक महाकाव्य के प्रत्येक सर्गान्त पद्य में अपने माता-पिता का उल्लेख नैषधकार श्रीहर्ष की शैली में किया है। इनका समय विक्रम संवत् 1779-1832 (तदनुसार ईशवीय सन् 1718-1881) के बीच माना गया है। कार्त्तवीर्योदय के अतिरिक्त इनकी दक्षिणकालीस्तोत्र नामक कृति भी है। कार्त्तवीर्योदय 18वीं शती के प्रारम्भ का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सोलह सर्ग का महाकाव्य है जो किरतार्जुनीय एवं नैषधीयचरित से भी साम्य रखता है। इसमें भारवि के समान अर्थगौरव एवं दण्डी के समान पदलालित्य का सुन्दर समन्वय है। एक श्लोक में अनुप्रास-यमक की मिश्रित छवि देखिए-

जनता न नता न भूपतेरहिता नो रहिता न सम्पदा।

न हिताः सहिता न च श्रिया न रमा नाचरमा रमातरम्।।[1]

अर्थचमत्कृति का उदाहरण भी द्रष्टव्य है -

चित्रं तु शब्दस्मृतिभाग्जनोऽपि वृद्ध्या गुणं न प्रतिवेधतीह।

ह्रस्वोऽपि सुंबुद्धिशादगुणादयः संबुद्धिनाशे न करोति यत्नम्।।

६. पण्डित त्रिलोचन जोशी

पण्डित त्रिलोचन जोशी का जन्म अल्मोड़ा जनपद के चीनाखान नामक स्थान में ईस्वीय सन् 1739 में हुआ था। इनके पिता पण्डित लक्ष्मीपति जोशी ज्योतिषादि शास्त्रों के प्रसिद्ध ज्ञाता थे। इनका जन्म लक्ष्मीपति जी की दूसरी पत्नी श्रीमती ललिता मञ्जरी से हुआ है। इनकी प्रमुख संस्कृत रचनाएँ हैं-**भक्ति प्रबन्ध काव्य, बदरीश लीला, साहित्यसार, सिद्धान्त संग्राहकनिर्णय** आदि। **'भक्तिप्रबन्ध'** इनका उपलब्ध काव्य है, जो श्रीकृष्ण की भक्तिभावना से परिपूर्ण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार तरंगों में विभक्त है। प्रथम धर्माख्य तरङ्ग में 105, अर्थाख्य तरङ्ग में 103, कामाख्या तरङ्ग में 188, मोक्षाख्या तरङ्ग में 175 इस प्रकार कुल मिलाकर 571 पद्य हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन पण्डित श्री कृष्ण जोशी ने सन् 1912 में किया था। इस रचना में भगवान् श्रीकृष्ण को सब देवों में श्रेष्ठ मानकर कवि ने कहा है-

रुक्मिणीनायकं गोपिकावल्लभं कृष्णचन्द्रं भजे।

राधिकावल्लभं देवकीबालकं कृष्णचन्द्रं भजे।।

---

[1] कार्त्तवीर्योदय, 2/3

वेणुना भूषितं बालकैरावृतं कृष्णचन्द्रं भजे।

गुञ्जयाभूषितं चन्द्रकैराजितं कृष्णचन्द्रं भजे॥ - ४/९२

७. लोकरत्नपन्त गुमानी

लोकरत्नपन्त गुमानी का जन्म काशीपुर (नैनीताल) में ईस्वीय सन् 1791 में हुआ था। इनके पिता का नाम देवनिधि पन्त एवं माता का नाम देवमंजरी था। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा अपने पितामह पण्डित पुरुषोत्तम पन्त से ग्रहण की; इसके बाद इन्होंने अपने चाचा पण्डित राधाकृष्ण वैद्यराज से शिक्षा प्राप्त की; तत्पश्चात् परमहंस परिव्राजकाचार्य के शिष्य बनें; तथा क्लौन निवासी हरिदत्त ज्योतिर्विद से विद्या ग्रहण की। इनका विवाह छत्तीस वर्ष की आयु में हुआ। इनके दो पुत्र थे- रामदत्त एवं गङ्गादत्त। भक्त, दार्शनिक एवं बहुशास्त्रविद् इस कवि का देहान्त ईस्वीय सन् 1846 में हो गया। इनकी उपलब्ध काव्यकृतियों का परिचय इस प्रकार है -

(क) देवतास्तोत्राणि

इस कृति में कवि गुमानी ने बीस पद्यों में प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष में मान्य देवी देवताओं की स्तुति की है। इस कृति में दण्डक छन्द का सर्वाधिक प्रयोग किया गया है।

(ख) श्रीरामसहस्रगणदण्डक

इस रचना में एक हजार गणों अर्थात् तीन हजार अक्षरों में निबद्ध दण्डक नामक विशालकाय छन्द के माध्यम से राम के सम्पूर्ण जीवन को प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है।

(ग) रामभक्तिमहिमा

श्लेष अलंकार के माध्यम से 127 आर्या छन्दों में विष्णु के सभी अवतारों में राम का रूप मानकर राम के प्रति अपनी अगाध भक्ति का परिचय कवि ने दिया है।

(घ) भक्तविज्ञप्तिसार

यह वसन्तलिका छन्द में निबद्ध 101 पद्यों की ऐसी रचना है, जिसमें कवि ने राम को द्रवित करने का प्रयास किया है। इस रचना को मुक्तक काव्य और स्तोत्र काव्य की कोटि में रखा जा सकता है।

(ङ) विज्ञप्तिसार

इसमें 29 पद्य पृथिवी और अन्तिम पद्य मालिनी छन्द में निबद्ध है, इसका विषय है अर्थान्तरन्यास के माध्यम से भगवान् राम के प्रति विनम्र निवेदन।

(च) रामाष्टपदी

इसमें राम गुणों का गान करने वाले दश पद्य हैं।

(छ) गङ्गार्या

इस कृति में 102 आर्याएँ हैं। इस शतकाव्य में कवि ने पुण्यसलिला भागीरथी का माहात्म्य प्रकट किया है।

(ज) जगन्नाथाष्टकस्तोत्रम्

इस रचना में भुजङ्गप्रयात नामक छन्द में निबद्ध दश पद्यों में से आठ पद्यों में भगवान् जगन्नाथ की स्तुति की है और अन्तिम दो पद्यों में स्तोत्र के माहात्म्य पर प्रकाश डाला गया है।

(झ) हितोपदेशशतक

अर्थगौरव से युक्त यह कृति काव्यविधा एवं विषय की दृष्टि से नीतिशतक के समकक्ष ठहरती है। पौराणिक एवं ऐतिहासिक आख्यानों और अर्थान्तरन्यासपरक सूक्तियों द्वारा कवि ने व्यक्ति को व्यवहारोपदेश दिया है।

(ञ) दुर्जनदूषणम्

इसमें 42 आर्याओं में दुर्जनों की निन्दा की गई है।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त अंगरेजराज्यवर्णन, राजाङ्गरेजस्य राज्यवर्णनम्, लाटद्वयप्रकरण आदि काव्यकृतियों के साथ-साथ गुमानी ने पञ्चपञ्चाशिका, ज्ञानभैषज्यमञ्जरी, सद्रञ्जाष्टकम्, चतुःसारिकावर्णनम्, गञ्जफाक्रीडावर्णनम्, तमाखुपत्रमहिमा आदि कृतियों में अध्यात्म, आयुर्वेद, शतरंज, चौसर आदि के प्रति अपने ज्ञान को अभिव्यक्ति दी है। 'गद्यराजः' भी राम के जीवन से सम्बद्ध है और गद्यकौशल को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। कवि ने संस्कृत-हिन्दी भाषा तथा संस्कृत-कुमाऊँनी भाषाबद्ध एवं संस्कृत-नेपाली-भाषाबद्ध रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं। हिन्दी एवं कुमाऊँनी में भी इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। इनकी अंगरेजराज्यवर्णन, काशीपुर वर्णन आदि हिन्दी रचनाएँ तथा हिसालु की प्रशंसा तथा गङ्गावली के सुकाल एवं अकाल से सम्बद्ध कुमाऊँनी कविताएँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इनकी रचनाओं से स्पष्ट है कि राम को यह अपना आराध्य देवता मानते हैं; अर्थान्तरन्यास इनका प्रिय अलङ्कार है, तथा आर्याछन्द इनका अभीष्ट छन्द है। यह प्रसन्नता के विषय है कि इनकी और भी कृतियाँ प्रकाश में आने की आशा है।

८. तारादत्त पन्त

ई० सन् 1876 में जन्में श्री तारादत्त पन्त उत्तराञ्चल के पिथौरागढ़ जनपद के ग्राम

वरसायत के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्री दुर्गादत्त एवं माँ का नाम भागीरथी था। इन्होंने अपनी रचनाओं में अपनी माँ के प्रति अनन्यभक्ति प्रकट की है। प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के बाद काशी में विविध शास्त्रों का अध्ययन किया। पण्डित नित्यानन्द पन्त जी आपके गुरुजनों में प्रमुख थे। आपने साहित्याचार्य एवं व्याकरणतीर्थ उपाधियाँ प्राप्त कीं और बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से सम्बद्ध रणवीर संस्कृत महाविद्यालय में अध्यापन किया। आपकी योग्यता से प्रभावित होकर काशी पण्डित मण्डली ने आपको विद्वत परिषद् के अमात्य पद से सम्मानित किया। काशी के अतिरिक्त हरिद्वार तथा ऋषिकेश में भी अध्ययन-अध्यापन किया। ईस्वीय सन् 1968 में आपका देहावसान हो गया। इनकी संस्कृत काव्यकृतियों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:-

(क) सूर्यचरित महाकाव्य

यहा षोडश सर्गो का ऐसा महाकाव्य है, जिसमें भारत के विभिन्न देशों, नदियों, पर्वतों, ऋतुओं का वर्णन होने के साथ-साथ मानवजीवन पर पड़ने वाले उनके प्रभावों का भी वर्णन है, इसमें ऋतुवर्णन मात्र प्रकृतिवर्णन नहीं है, अपितु उसमें मानवप्रकृति, धार्मिक आचार-विचार, पर्वोत्सव, आयुर्वेद, पुराण, भूगोल, खगोल, ज्योतिष, साहित्य आदि की दृष्टि से भी ऋतुओं का महत्त्व बताया गया है। प्रथम सर्ग में गोललक्षण, सूर्य की गति के परिणाम, द्वितीय सर्ग में नवखण्डात्मक भूमि में अन्यतम भारत तथा उसके बीच में कुमारिका देश का वैशिष्ट्य, तृतीय सर्ग में लंका से भारतवर्ष मार्ग में ऋतुराज वसन्त का प्रादुर्भाव, चतुर्थ सर्ग में ऋतुकुटुम्ब पञ्चम-षष्ठ सर्ग में गीष्म, सप्तम-अष्टम में वर्षा ऋतु, नवम सर्ग में शरद् ऋतु, दशम में हेमन्त, एकादश में शिशिर, द्वादश-त्रयोदश-चतुर्दश सर्गों में ऋतुराज वसन्त का सुन्दर वर्णन, पञ्चदश सर्ग में गिरिदुर्ग और षोडश सर्ग में गिरिदुर्ग प्रवेश आदि का वर्णन है। 'ऋतुकुटुम्ब' शीर्षकित चतुर्थ सर्ग काव्य का सर्वाधिक सुन्दर सर्ग है। इसमें कवि ने सभी ऋतुओं को कुटुम्ब माना है तथा इन ऋतुओं को राजा के रूप में वसन्त को एवं शरद् को राज्ञी मानकर कहा है -

वसन्तपृपस्तस्य राज्ञी शरत्सा
स्वाकान्तेन सप्तं यतः सा प्रसूते।
प्रिया वल्लभेन वाभिमुखस्यभाजौ
वपुः शीलशोभा विशेषैः समानौ।।[2]

---

2 सूर्यचरित -4/1

(ख) दाशरथिचरितनाटक

संस्कृत टीका एवं अनुवाद सहित यह सात अंकों का नाटक है। भारतोद्धार, संस्कृत भाषा में कूर्माचल का इतिहास के अतिरिक्त मन्दारमञ्जरी, चरकसंहिता, रसार्णवसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, भावप्रकाश आदि की भागीरथी टीका, मानसखण्ड का हिन्दी अनुवाद, गुमानी की ज्ञानभैषज्यमञ्जरी का सम्पादन, अनेक संस्कृत पत्रिकाओं का सम्पादन आदि भी आपके महत्त्वपूर्ण कार्य हैं।

९. श्रीकृष्ण जोशी

पण्डित त्रिलोचन जोशी एवं श्री भवानन्द कवि की वंशपरम्परा में जन्म लेने वाले, धर्माधिकारी एवं विद्याभूषण आदि पदों को सुशोभित करने वाले पण्डित श्रीकृष्ण जोशी का जन्म अल्मोड़ा के चीनाखान मोहल्ले में सन् 1883 को पण्डित बद्रीदत्त जी के घर हुआ। इन्होंने बाल्यकालीन शिक्षा अल्मोड़े से ही सम्पन्न करने के बाद, म्योर सेण्ट्रल कॉलेज तथा प्रयाग विश्वविद्यालय से बी0ए0, एल0एल0बी0 उपाधियाँ ली थीं। साहित्यसर्जना के साथ-साथ राष्ट्रिय आन्दोलनों में भी इन्होंने सक्रिय भाग लिया। ईस्वीय सन् 1910 में इन्होंने हरिद्वार ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना की; और उसके मुख्य अधिष्ठाता बने; 1912 में नैनीताल, बम्बई, कलकत्ता, अहमदाबाद के न्यायालयों में वकालत की; दिल्ली कांग्रेस में कुमाऊँ का प्रतिनिधित्व किया; नैनीताल बैंक के निर्माण में सक्रिय सहयोग दिया; बंगभङ्ग आन्दोलन में पुरुषोत्तम दास टण्डन आदि के साथ गुप्तवास किया। ईस्वीय सन् 1927 में मदनमोहन मालवीय जी के आग्रह पर अन्य सभी कार्यों को छोड़कर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या धर्मविज्ञान सङ्काय में बीस वर्षों तक धर्माध्यक्ष के पद पर सुशोभित हुए। इसी समय इन्होंने अखिल भारतीय सनातन धर्ममण्डल का पुनर्गठन किया और उसका सचिव पद स्वीकार किया; ईस्वीय सन् 1917 में इन्होंने भारत धर्ममहामण्डल काशी से विद्याभूषण की उपाधि प्राप्त की; भारतीय पंचाङ्ग का संशोधन किया; उत्तरप्रदेश संस्कृत परिषद् को अनेक वर्षों तक आशीर्वादात्मक सहयोग दिया; विद्यार्थीकोश की स्थापना के साथ अनेक पर्वतीय धर्मशालाओं के निर्माण में अपूर्व योगदान दिया।

वृद्धावस्था में ये उत्तराञ्चल आ गए। नैनिताल आने के बाद पुन: राजस्थान के राजा आरनोद के पुत्र को पढ़ाया। उनके द्वारा प्रदत्त जागीर का मोह छोड़कर ये पुन: नैनीताल में न्यायाधीश एवं वकील के रूप में कार्यरत हुए, इसी बीच पत्नी एवं दो पुत्रियों के आकस्मिक निधन से संसार के प्रति विरक्त हो गए। 8 जून 1969 को इनका देहावसान हो गया। खेद है कि आपके गुणी पुत्र श्री गरुडध्वज जोशी जी का ईस्वीय सन् 2001 में निधन हो गया।

श्रीकृष्ण जोशी जी सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे, इन्होंने काव्य की प्राय: प्रत्येक विधा

की सर्जना की, इसके अतिरिक्त दर्शन, जयोतिष, मनोविज्ञान, आयुर्वेद, होम्योपैथी आदि विषयों पर भी रचनाएँ की हैं। लोकोक्तियों, वंशावलियों एवं पाण्डुलिपियों का दुर्लभ संग्रह किया है। इनके नाटकों की कथाएँ मत्स्यपुराण, महाभारत, वाल्मीकीय रामायण एवं के0एम0 मुंशी के उपन्यास लोपामुद्रा एवं लोमहर्षिणी पर आधारित हैं। इनकी प्रमुख काव्यकृतियों का परिचय प्रस्तुत है -

(क) श्रीकृतार्थ कौशिक

ई0 सन् 1975 में अखिल भारतीय संस्कृत परिषद, लखनऊ से प्रकाशित छः अंक के इस नाटक में वैदिक युगीन भारतवर्ष की छवि प्रस्तुत की गई है। राजा गाधि के पुत्र विश्वामित्र की कथा, विश्वामित्र का दस्युओं से युद्ध, दस्यु राजकुमारी उग्रा एवं अगस्त्यमुनि की पुत्री रोहिणी से विवाह, सुदास तथा कार्त्तवीर्यादि राजाओं को युद्ध में पराजित करना आदि घटनाएँ इसमें वर्णित हैं। कौशिक (विश्वामित्र) के सभी कार्य सम्पन्न होने के कारण नाटक का नाम श्रीकृतार्थकौशिक सर्वथा सार्थक है और गाधिपुत्र शब्द से महात्मा गाँधी शब्द की समानता दिखलाते हुए कवि ने अपनी कृति को स्वातन्त्र्यसमर से सम्बद्ध करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

(ख) श्रीकृष्णमहिम्नस्तोत्र

56 श्लोकों में भगवान् श्रीकृष्ण की सुन्दर भावपूर्ण स्तुति प्रस्तुत की गई है; भगवान् श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपों का चित्रण प्रस्तुत पद्य में द्रष्टव्य है -

शिशुः पित्रोर्नित्यं सखिषु च कुमारः कृतिरतः।
किशोरो नारीणां सदसि तरुणो वीरसमितौ।
बुधेषु प्रौढस्त्वं भवसि च विरक्तेषु जरठः
परं ब्रह्मज्ञानां सदसि निरवस्थो विजयसे।।[3]

(ग) श्रीराममहिम्नस्तोत्र

74 शिखरिणी छन्दों में भगवान् राम की अलौकिकता का वर्णन प्रस्तुत कृति में किया गया है। कवि ने भगवान् राम एवं जगज्जननी सीता को सांख्यदर्शन के पुरुष-प्रकृति के रूप में प्रस्तुत किया है। भगवान् राम में लीन होने की कामना इस प्रकार है -

मम वचसि पुनीते वर्ततां नाम रामो मनसि शुचिनि सुप्तौ जागरे वास्तु रामः।

---

3 श्रीकृष्णमहिम्नस्तोत्र श्लोक सं0 42

विचरतु मम चित्ते सद्विचारेषु रामः स्फुरति सति शरीरे रोमरोमेषु रामः॥[4]

(घ) यमपराजय

सावित्रि सत्यवान् की लोकविश्रुत कथा पर आधारित सात अंकों का नाटक है- यमपराजय। इसकी एक पाण्डुलिपि अखिलभारतीय संस्कृत परिषद् लखनऊ और दूसरी प्रति गरुडध्वज जोशी के पास होने की सूचना है।

(ङ) परशुरामचरितम्

जमदग्नि के छोटे पुत्र परशुराम के जीवनचरित पर आधारित दश अंकों का नाटक है। इस नाटक में सुदास की बहिन लोमहर्षिणी को सहस्रबाहु से बचाना, चित्ररथ की सहायता के कारण शंकित पति की आज्ञा से पितृभक्त परशुराम द्वारा रेणुका का वध, वरदान में पुनः अपने पिता से माता एवं भाइयों को जीवित करने की प्रार्थना, लोमहर्षिणी से विवाह, सहस्रबाहु द्वारा जमदग्नि के आश्रम पर आक्रमण, परशुराम द्वारा सहस्रबाहु का वध आदि प्रमुख घटनाओं का वर्णन है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने स्यमन्तक महाकाव्य, अखण्डभारतम्, पृथुचरित, भारतमहिमा, कालिकाकेलि, काव्यमीमांसाशास्त्रम्, चरित्रमीमांसा, युधिष्ठिरकथा आदि काव्यकृतियों तथा अन्तरङ्गमीमांसा (मनोविज्ञान) एवं परमतत्त्वमीमांसा (दर्शनग्रन्थ) की भी रचना की है।

१०. श्रीसुबोध चन्द्र पन्त

कुमाऊँ के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में, दिनाङ्क 7 जुलाई, 1934 को जन्म लेने वाले श्री सुबोधचन्द्रपन्त जी ने भारतवर्ष के महत्त्वपूर्ण नगरों-वाराणसी, दिल्ली, इलाहाबाद को अपनी कार्यस्थली बनाया। एम०ए० में सर्वोच्च अङ्कों से परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले, त्रैमासिक फौजी प्रशिक्षण एवं सिविल डिफेंस प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले, संस्कृत रचनाकारों की रचनाओं में संशोधन की सहायता देने वाले, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में पन्द्रह वर्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय में एक वर्ष तक अध्यापन कार्य करने वाले श्री पन्त जी ने झांसी की रानी लक्ष्मीबाई के लोकविश्रुत जीवन को अपने बाईस सर्ग के महाकाव्य झांसीश्वरीचरितम् में प्रस्तुत किया है। इनकी यह कृति उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी से पुरस्कृत है। अपनी इस कृति में इन्होंने रानी को देवी दुर्गा का अवतार माना है। लक्ष्मीबाई की परोपकारपरायणता तथा राष्ट्रप्रेम से सम्बद्ध पद्य प्रस्तुत है -

परोपकारे च परेशपूजने बभूव तज्जीवनमर्पितं सदा।

---

4 श्रीराममहिम्नस्तोत्र पद्य सं० 7

सुप्ता स्वराष्ट्रार्यमजागरीत् तथा क्षणे-क्षणे राष्ट्रदशामचिन्तयत्॥[5]

वीररस से परिपूर्ण डेढ़ हजार पद्यों वाले इस काव्य को कवि ने अनुष्टुप, आर्या, इन्द्रवज्रा, उपजाति, वंशस्य, द्रुतविलम्बित, मन्दाक्रान्ता, स्वागता, हरिणी आदि छन्दों एवं उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, अप्रस्तुतप्रशंसा आदि अलङ्कारों से सुसज्जित किया है।

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान से शास्त्रचूडामणि प्राप्त करने वाले श्री पन्त जी ने प्रियप्रवास, विकटभट, उद्धवशतक का पद्यानुवाद संस्कृत भाषा में किया है। इन्होंने संस्कृत के अतिरिक्त केन्द्रीय गृहमन्त्रालय की ओर से अधिकारियों को हिन्दी भी पढ़ाई हॉलेण्ड आदि स्थानों पर भी संस्कृत प्रोफेसर के रूप में पढ़ाने का अवसर इनको मिला। इस प्रकार संस्कृत कवि, अध्यापक एवं प्रशासकीय पदों को अलंकृत वाले अद्भुत व्यक्तित्त्व वाले श्री सुबोधचन्द्र पन्त जी वाराणसी में रहते हुए आज भी संस्कृत भाषा साहित्य की सेवा में संलग्न हैं।

११. पद्मशास्त्री

कवि पद्मशास्त्री का जन्म पिथौरागढ़ जिले में विद्यमान कनालीछीना नामक ब्लाक में सिंगाली नामक ग्राम में 17 नवम्बर 1935 में हुआ। संस्कृत-साहित्य के अनुरागी श्री बद्रीदत्त ओझा जी इनके पिता थे तथा इनकी माता का नाम श्रीमती इन्द्रादेवी था। अपने दादा एवं नाना के परिवार के अच्छे संस्कारों का पूर्ण प्रभाव पद्मशास्त्री जी पर पड़ा। पद्मशास्त्री अपने भाई-बहिनों में सबसे ज्येष्ठ हैं। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा सिंगाली में हुई थी। इन्होंने प्रथमा की परीक्षा हरियाणा राज्य के समीप विद्यमान जगाधरी के सनातन धर्म कालेज से, अपने नाना के पास रहकर उत्तीर्ण की। इसके बाद मूल रूप से चम्पावत के निवासी, सनातन धर्म संस्कृत महाविद्यालय ब्यावर के प्राचार्य पं0 रघुवरदत्त जोशी की प्रेरणा से इन्होंने पूर्वमध्यमा, उत्तरमध्यमा, शास्त्री एवं आचार्य की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। 1957 में इन्होंने साहित्यरत्न की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद राजकीय जैन गुरुकुल हायर सैकेण्डरी में अध्यापन कार्य करते हुए जयपुर विश्वविद्यालय से बी0एड0 परीक्षा उत्तीर्ण की; आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ आदि परीक्षाएँ उत्तीर्ण करके रूसी भाषा का भी डिप्लोमा ले लिया। इनका विवाह सिंगाली ग्राम के सन्निकट आगाँव की निवासिनी गोविन्दी देवी से हुआ। इनकी कृतियों का परिचय इस प्रकार है -

(क) लेनिनामृतम्

यह पन्द्रह सर्गो का वीररस से परिपूर्ण महाकाव्य है। इस काव्य के नायक लेनिन हैं। इसमें जार शासन के विरुद्ध रूसी जनता की पीड़ा एवं मुक्ति पाने का प्रेरक कथानक है, जो

---

5 झांसीश्वरीचरितम्-11/2

विश्व के सभी मानवों को स्वतन्त्रता का पाठ पढ़ाने में समर्थ है।

(ख) स्वराज्यम्

यह वीररस से युक्त पाँच सर्गों का खण्डकाव्य है। इसमें मुगलों के आक्रमण, उनके शासन, अंग्रेजों से भारत की मुक्ति, देश विभाजन, चीन का आक्रमण आदि घटनाओं का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके एक अनुप्रास की छटा द्रष्टव्य है -

विगता नु विहायसागता क्व गता सम्प्रति नोगता गताः।

कुगता नुगता नवागता न गतास्ते कथमत्र वागताः॥[6]

यह खण्डकाव्य प्रशंसित राजनैतिक कृति है -

(ग) सिनेमाशतकम्

यह 101 श्लोकों का शतक काव्य है। इसमें कवि ने पाठकों का सिनेमा के गुण-दोषों से परिचित कराया है।

(घ) मदीया सोवियतयात्रा

सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार समिति तथा नोवस्ती प्रेस एजेन्सी के निमन्त्रण पर पद्मशास्त्री जी ने 15 दिन की अपनी सोवियत यात्रा का वर्णन अपनी इस कृति में किया है। मास्को ताशकन्द, उज्बेकिस्तान आदि स्थानों का सुन्दर चित्रण एवं सोवियत की राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिक नीति पर भी प्रकाश डाला है।

(ड) लोकतन्त्रविजयः

यह एक अंक का व्यायोग नामक रूपक है। इसमें इन्दिरा गांधी द्वारा बताये गये बीस सूत्रीय कार्यक्रमों का वर्णन किया गया है और रूस तथा भारत की मैत्री पर प्रकाश डाला गया है।

(च) बंगलादेशविजयः

यह भी एक अंक का व्यायोग नामक रूपक है। इसमें पाकिस्तानियों द्वारा शेख मुजीब के अपहरण एवं बंगलादेश पर आक्रमण आदि घटनाओं का वर्णन किया गया है। इन्दिरा गान्धी द्वारा शत्रुओं को परास्त करने एवं लोकतन्त्र प्रणाली लागू करने का वर्णन किया गया है।

इसके अतिरिक्त इन्होंने विश्वकथाशतकम्, वेदविज्ञानामृत, आधुनिक संस्कृत-साहित्येतिहासः आदि अन्य संस्कृत कृतियों की भी रचना की है।

---

6 स्वराज्यम् 3/75

साहित्य के क्षेत्र में अपने यागदान के लिए कवि पद्मशास्त्री जी को अनेक पुरस्कार मिले, जिनमें 1960 में अखिल भारतीय विद्वत् परिषद् द्वारा विद्याविभूषण की उपाधि, राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा स्वराज्यखण्डकाव्य के लिए 500 रु0, स्वर्णपदक एवं प्रशस्तिपत्र, लेनिनामृतम् के लिए उत्तरप्रदेश शासन द्वारा 2500 रु0 का पुरस्कार प्रमुख हैं।

१२. डॉ मथुरा दत्तपाण्डेय

उत्तरांचल राज्य के अल्मोड़ा जिले के कुमाल्ट ग्राम से सम्बद्ध डॉ0 मथुरादत्त पाण्डेय का भी संस्कृत-साहित्य की श्री वृद्धि में विशिष्ट योगदान है। एम0ए0, पी-एच0डी0, शास्त्री उपाधि प्राप्त डॉ0 मथुरादत्त पाण्डेय ने पंजाब सरकार के उच्चशिक्षा विभाग में अध्यापन करते हुए अवकाश प्राप्त किया। तत्पश्चात् एक वर्ष विश्वेश्वरानन्द वैदिक अनुसन्धान संस्थान होशियारपुर में संयुक्त निदेशक के पद पर रहे। 1961-1965 में कोलम्बो योजनाधीन भारत सरकार की ओर से नियुक्त विश्वविद्यालय, काठमाण्डू (नेपाल) में अध्यापन कार्य किया। महर्षि महेश योगी की ओर से आमन्त्रित होकर हॉलेण्ड में तीन मास तक संस्कृतशिक्षण कार्य में व्यस्त रहे। इनके **पल्लवपंचकम्, द्यावापृथिवीयम्** तथा **कारगिल** (कालगिर:) शीर्षांकित तीन संस्कृत एकांकी संग्रह प्रकाशित हैं। इनके शोध प्रबन्ध का शीर्षक है-**''नेपाली और हिन्दी के भक्तिकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन''**। अहोरात्र, प्रणय और परिणय, कुहराई गुफाएँ, दुर्गाचरित आदि इनकी हिन्दी रचनाएँ हैं।

(क) पल्लवपञ्चकम्

इस एकांकी संग्रह का पाण्डेय जी ने स्वयं ही प्रथमवार 1981 में प्रकाशन किया है। इसमें **'कालिदासकाव्यसम्भवम्'** नामक प्रथम एकांकी कालिदास के मेघदूत नामक गीतिकाव्य पर आधारित है। **'नारदमोहिनीयम्'** नामक द्वितीय एकांकी में इतिहास-पुराण में प्रसिद्ध नारद-मोह की कथा का सुन्दर रूपान्तर है; **'राजदूतम्'** नामक तृतीय एकांकी में भारत के राजदूत श्री हरिश्वर दयाल के देशभक्ति भाव की सुन्दर झांकी है; **'शुद्धाज्यम्'** नामक चतुर्थ एकांकी में पारिवारिक जीवन के संघर्ष एवं पर्वतीय संस्कृति में प्रसिद्ध घृतसङ्क्रान्ति का चित्रण है; तथा **'कामोऽस्मि'** नामक पञ्चम एकांकी में 'काम' पुरुषार्थ का वर्णन है।

(ख) द्यावापृथिवीयम्

पाँच एकांकियों वाले इस एकांकी संग्रह का प्रकाशन 1995 ईस्वीय सन् में पञ्चकूल्या, हरियाणा से कवि द्वारा ही हुआ है। जो स्वर्ग एवं पृथिवी के बीच समन्वय का प्रतीक है और वैदिक तथा पौराणिक आख्यानों पर आधारित है। **'एलोर्वशीयम्'** नामक प्रथम एकांकी पुरुरवा-उर्वशी के आख्यान पर आधारित है; **'देवो याति भुवनानि पश्यन्'** नामक द्वितीय एकांकी वैदिक विवाह-सूर्य-सरण्यू-विवाह, सूर्य-छाया विवाह आदि पर आधारित है;

'सामयिकी' नामक तृतीय एकांकी यम-यमी संवाद पर आधारित है, **'उत्कोच'** नामक चतुर्थ एकांकी ऋग्वेद के सरमा-पणि संवाद पर आधारित है और **'प्रसूनं मदीयं सरोजं त्वदीयम्'** नामक पञ्चम एकांकी विष्णुपुराण की राजा ज्यामघ की कथा पर आधारित है।

(ग) कालगिरिः (कारगिल)

पाँच एकांकियों वाले इस संग्रह का प्रकाशन भी डॉ0 मथुरादत्त पाण्डेय द्वारा 2000 ईस्वीय सन् में किया गया है। इसके **'अहो सापत्न्यं कवितावनितयोः'** नामक प्रथम एकांकी में पाश्चात्य नाट्यशिल्प का आश्रय लेते हुए वास्तविकता से दूर रहने वाले तथा कर्तव्यों की उपेक्षा करने वाले लोगों को सावधान किया गया है; **'प्रायश्चित्तम्'** नामक द्वितीय एकांकी में 1985 के पूर्व पंजाब राज्य में खालसाराज्य की तथाकथित स्थापना के लिए चलाये गए आतंकवादियों के सशस्त्र आन्दोलन का चित्र खींचा गया है; **'अक्षिपरिचयः'** नामक तृतीय एकांकी में नेत्र-प्रत्यारोपण की अभिनव चिकित्सापद्धति का रोचक वर्णन किया गया है; **'जीवन्मृतः'** नामक चतुर्थ एकांकी में, भ्रष्टाचार के इस युग में जीवित व्यक्ति को भी कैसे मृतक के रूप में घोषित कर दिया जाता है, जैसी दु:खद घटनाओं का चित्रण किया गया है; तथा **'कालगिरिः'** नामक पञ्चम एकांकी सन् 1999 में ग्रीष्मऋतु में काश्मीर राज्य के उत्तर में विद्यमान कारगिल नामक पर्वतीय क्षेत्र पर पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा छल से आक्रमण का जो प्रयास किया गया और उसका जो परिणाम हुआ, उसे सारा संसार भारत-पाक युद्ध के रूप में जानता है-इसी घटनाचक्र को लेकर लिखा गया है। इस संग्रह के पाँचों एकांकी अभिनय की दृष्टि से प्रशंसनीय एवं दूरदर्शन में प्रसारण के योग्य हैं।

१३. डॉ० कीर्तिबल्लभ शक्टा

कूर्माचल नरेश ज्ञानचन्द्र द्वारा आश्रय प्राप्त, नेपालनरेश द्वारा समय-समय पर सम्मानित एवं महाराष्ट्र शासकों द्वारा प्रशंसित जनपद पिथौरागढ़ के निवासी श्री गोवर्धन शक्टा के वंशज डॉ0 कीर्तिवल्लभशक्टा 'शाक्टायन आधुनिक संस्कृत काव्यकारों के मध्य उदीयमान कवि हैं। इनका जन्म विक्रम संवत् 2010 तदनुसार ईस्वीय सन् 1993 में कुमाऊँ चम्पावत जिले में हुआ। इन्हें अपनी माता कलावती के अतिरिक्त विमाता तुलसीदेवी जी से भी वात्सल्य की अमोघनिधि एवं जीवनपथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा मिली। भारतीय संस्कृति एवं संस्कृतभाषा के प्रति श्रद्धा रखने वाले डॉ0 शक्टा की कृति **'सप्तकथाचक्रम्'** का प्रकाशन दिल्ली संस्कृत अकादमी की सहायता से ईस्वीय सन् 2003 में हुआ है। इस कृति के 'प्रास्ताविकम्' में ही शक्टा ने अपना संघर्षपूर्ण जीवन प्रस्तुत किया है, जो विमाता तुलसीदेवी के प्रति उनके भक्तिभाव को अभिव्यक्त करता है। इस कथासंग्रह में-**दैवदुर्विपाकः, विचित्रसंयोगः, अचिन्त्यसंयोगः, परिवर्तनम्, उत्कोचविपाकः, तुलसीक्षेत्रम्, कीदृशोऽयं संयोगः** शीर्षकित सात गद्य कथाएँ

सरल संस्कृत भाषा में प्रस्तुत की गई हैं।

उत्तराञ्चल संस्कृत अकादमी की पत्रिका 'आन्वीक्षिकी' अर्वाचीनसंस्कृतम् आदि पत्रिकाओं में भी इनकी रचनाएँ प्रकाशित होती रहती हैं। इनके कथासंग्रह की कथाएँ अखिल भारतीय संस्कृत कथा प्रतियोगिताओं में पुरस्कृत हो चुकी हैं। चम्पावत में रहते हुए डॉ0 शकटा आजकल भी सारस्वत साधना में संलग्न हैं तथा संस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं।

इस प्रकार उत्तराञ्चल के कुमाऊँ मण्डल के उपर्युक्त रचनाकारों ने देववाणी संस्कृत की सेवा करके इसके साहित्य की जो श्रीवृद्धि की है, उससे समस्त भारत गौरवान्वित है। वर्तमान समय में भी इस क्षेत्र के विद्वान् संस्कृत-साहित्य संरचना काव्यशास्त्र मीमांसा तथा अनुसन्धान कार्य में बड़ी निष्ठा से संलग्न हैं। इस शोधलेख हेतु सामग्री उपलब्ध करवाने वाले सहृदय विद्वज्जनों के प्रति मैं हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ।

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0177-186)

संस्कृतसाहित्ये भूगर्भविज्ञानम्

डॉ. सोमदेव शतांशुः
प्रवाचकः- संस्कृते
गुरुकुल कांगड़ी वि.वि.
हरिद्वारम् (उत्तरांचल)

संस्कृतसाहित्यं नाम विविधज्ञानविज्ञानविद्योतितविश्वमिति सुविदितमेव विद्यावतां तत्र भवताम्। सर्वज्ञानमयेषु वेदेषु सर्वविधविद्यानां बीजसूत्राणि सूत्रितानीति श्रुतिज्ञानां समयः। लौकिकसंस्कृतसाहित्यमपि वैदिकज्ञानविज्ञानानां व्याख्यानभूतं समुपबृहंकं वा। कालक्रमेण संस्कृतवाङ्मयगतं विविधज्ञानविज्ञानं विलोपं प्राप परं सौभाग्यादद्यापि अनेके वेदवेदाङ्गग्रन्थाः तत्परवर्तितनो ग्रन्थाश्च समुद्भासन्ते। येषां विविधज्ञानविज्ञानानां प्रभा भूलोकं प्रभाभासुरयति।

(1) अस्मिन् शोधलेखे संस्कृतसाहित्ये भूगर्भविज्ञानविषये किञ्चित् विविच्यते। तत्र भगवती[1] श्रुतिः समाम्नाति-विश्वम्भरा वसुधानी हिरण्यवक्षा इति पृथिव्याः हिरण्यगर्भत्वं वीक्ष्य तस्यै हिरण्यवक्षसे[2] इति ऋषिर्नमस्यति। प्रार्थनाव्याजेन वैदिक ऋषिः[3] भूगर्भात् रत्नादिलाभं द्योतयन् प्रार्थयते **'निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे'** इति। भूगर्भस्थं पयो वीक्ष्य एवेयं पयस्वती-पृथिवी पयसा सह इति संनुता ऋषिभिः।

अस्मिन् लेखे बृहत्संहितामाधृत्य विशेषतः भूर्गभस्थजलप्राप्तिविज्ञानं, रत्नादिप्राप्तिविधिः भूकम्पविषयकं तथ्यञ्च विवेचितम्।

भूगर्भजलविद्या

जलं जीवनमिति जीवनाधारभूतरस्यास्य जलस्यान्वेषणाय प्राचीनकालादनेकानि शोधकार्याणि भारतीयमनीषिभिः सम्पादितनि। यद्यपि अद्य तानि कालकवलितानि परं सौभाग्याद् वराहमिहिरस्य बृहत्संहितायाः दकार्गल-अध्याये भूगर्भजलप्राप्त्युपायाः सविस्तरं विवृताः। एतदवलोकनेन ज्ञायते यत्

---

1. अथर्ववेद 12/1/6
2. तदेव 12/1/26
3. तदेव 12/1/44

वराहमिहिरात् पूर्वमपि सारस्वतेन मुनिना मनुना च दकार्गलमधिकृत्य ग्रन्था: ग्रथिता:,[4] ताननुसृत्यैव वराहमिहिरेण बृहत्संहितायां भूगर्भजलप्राप्तिविज्ञानं विवेचितम्।

अवन्तिवास्तव्य आदित्यदासतनय आचार्यवराहमिहिरस्तु विक्रमादित्यस्य प्रसिद्ध नवरत्नेषु अन्यतम:। अस्य जनिकालस्तु ई.पू. प्रथमशताब्दी ईसवीयपञ्चमशताब्दी वा मन्यते। एतस्मात्पूर्वमपि ईसापूर्व षष्ठशताद्यां भूगर्भजलप्राप्तिविज्ञानं सुविकसितम्।[5]

दकार्गल:

दकार्गलशब्दस्य अर्थस्तु दक-उदकं तत्कृते अर्गलं काष्ठखण्डम्। काष्ठखण्डमाध्यमेन भूगर्भजलान्वेषणज्ञानं दकार्गल उच्यते। मोनियर विलियम्स महोदयेन दकार्गलशब्दस्यार्थ: water key इति कृत:। शब्दार्थचित्तामणिकोषे दगार्गलं पदस्यार्थस्तु निस्तोयदेशे जलोपलब्धि: कृत:। आचार्यवराहमिहिरेण काष्ठखण्डेन जलान्वेषणस्य चर्चा न विहिता, अतोऽत्र अयमेवार्थ: श्रेयान् उत वा मेदिनीकोशे अर्गलशब्द: कल्लोल-धारार्थे उल्लिखित:, तस्मात् जलधारा प्राप्तिविज्ञानमित्यपि उचितम्।

बृहत्संहितायां विविधवनस्पतिभि: शाद्वलै: मृद्भि: पाषाणै: जीवैश्च भूगतजलशिरा: विज्ञायन्ते। एतै: जलस्य आस्वाद:, वर्ण:, परिमाणम्, भूयसी, अल्पीयसी मात्रा, जलप्राप्ते: कालावधिश्चापि ज्ञायते। बृहत्संहिताया: विवेचनेन अवगम्यते यदत्र आचार्य: भूगर्भजलविज्ञानार्थं वनस्पतिविज्ञानम्, भूविज्ञानम्, प्राणिविज्ञानञ्च आधृत्य विविधान् सिद्धान्तान् प्रत्यपादयत्। एतच्च नूनमाधुनिकविज्ञानसम्मतम्।

आधुनिकवनस्पतिविज्ञानस्य पारिस्थितिविज्ञानमनुसारेण केचन वृक्षा: स्व अधस्तात् जलोपस्थितिं संसूचयन्ति। एवं तु सर्वेषां पादपानां मूलानि जलमुपयान्ति परं- प्रोसोपिस स्पाईसिजेर- (Prosoapis spicigera) अकेसिआ अरेविका (Acacia arabica) सालवेडोरा ओलीवायडिस (Salvadora oleoides) एतज्जातीयानां पादपानां मूलानि मरुभूखण्डे (उत्तरपश्चिमभारतभागे) रोपणानन्तरं शीघ्रमेव जलान्तिकं यान्ति।[6]

---

4. सारस्वतेन मुनिना दकार्गलं यत् कृतं तदवलोक्य। आर्याभि: कृतमेतद् वृत्तैरपि मानवं वक्ष्ये बृहत्संहिता 54/99 सारस्वतप्रणीता: कंचन श्लोका: लभ्यन्ते ते च भट्टोत्पलस्य टीकाया: विवृतौ उद्घृतानि।

5. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्पर कालिदासा: (1) ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेसमायाम् रत्नानिवै वररुचिर्नवविक्रमस्य।। (2) ब्रह्मगुप्तस्तु-नवाधिकपंचशतसंख्यशाके वराहमिहिराचार्यो दिवंगत:। ब्रह्मगुप्तटीकाकार आमराज (3) वन्नपथजातकस्य एकया कयया स्पष्टो भवति। Indian as seen in the Brihat-samhita of Varhamiffihira. By-Ajay mitra sastri.

6. भारतीय पादपयरिस्थिति विज्ञान रामदेवमिश्र जी.एस.पुरी राजस्थान हिन्दीग्रन्थ अकादमी जयपुर।

टरर्मिनेलिया टोमेन्टोसा (Terminalia Tomontosa), युजिनिया जाम्बोलाइना (Eaugenia Jambolina), जम्बु:, राजजम्बुकवृक्षा आर्द्रस्थलेषु उपह्वराणां निम्न-भूभागेषु प्राप्यन्ते।

आचार्य वराहमिहिरेण पञ्चोत्तरशतवृक्षवनस्पतिगुल्मादीनां सहाय्येन भूगतजलविज्ञानं विवेचितम्।[7] तद्यथा अंकोल-अंजन-अपामार्ग-अर्जुन-अशोक-आमलक-आम्र-आम्रातक- इन्द्र, उदुम्बर-उशीर-कंटकारिका-कतक-कदली-कदम्ब-कम्पिल्लक-कुरवक-कोविदार-कुशा-कटीर-कर्णिकार- खर्जुर-गुडूची-ज्योतिष्मती-जम्बू-ताल-तिन्दुक-तिलक-दन्ती-दूर्वा-धव-न्यग्रोध, नवमालिका-निचुल-निम्ब-निर्गुण्डी-नीप-प्लक्ष-पलाश-पिप्पल-पीलू-बकुल-बदरी- बिल्व-भल्लातक-मदयन्तिका-मधूक-मुस्ता-मौञ्जिक-रोहित-लक्ष्मणा-व्याघ्रपद-वंजुल-वट- वरुणक-वाराही- विभीतक-वेतस-श्यामा-शतपत्र-शमी-शर-शिरीष-शिंशपा-शोणाक- सप्तपर्ण-सारिवा-सिन्दुवारादय:।

जम्बुवृक्षेण जलज्ञानम्

दिङ्मात्रमेषां विवरणमत्र प्रस्तूयते-जम्बूवृक्षं वयं समेऽपि सुपरिचिनुम:। यदि निर्जलभूभागे जम्बुवृक्षो दृश्यते चेत् तस्माद् उत्तरस्यां पुरुषद्वयप्रमाणमध: पूर्वजलशिरा प्राप्यते।[8] अत्र च पुरुषप्रमाणे लोह-गन्धिका मृत्तिका मण्डूरवर्णी, लौहकीटवर्णी Ferruginous ततश्च पाण्डुर्वर्णा मृत्तिका मण्डूकश्च निर्गच्छति।[9] यदि च जम्बूवृक्षात् पूर्वस्यां वल्मीको भवति तर्हि तस्माद् दक्षिणत: त्रिहस्तदूरं पुरुषद्वयगभीरे स्वादुमधुरञ्च नीरमवाप्यते बहुकालान्तम्। अत्र च पुरुषार्धे मत्स्य:, पारावतसन्निभ: पाषाणो (Dovecolar) नीलमृद् च लभ्यते। आचार्य: सारस्वतोऽपि एवं मन्यते।

विभीतकवृक्षेण जलज्ञानम्

विभीतको लोके बहेड़ा इति प्रसिद्ध: (Terminalia belerica Roxb.) यदि अस्य दक्षिणतो वल्मीको विद्यते तर्हि वृक्षात् हस्तद्वयं पूर्वमर्धपुरुषे जलशिरा भवति, पश्चिमस्यां चेत् हस्तपरिमितोत्तरस्यां चत्वारपुरुषमध: जलशिरा भवति, सा च वर्षत्रये लोपं याति।[10] अत्र च कुङ्कुमाभोऽश्मा (केसरिया रंग-Chalcopurite) अवाप्यते।

---

7. बृहत्संहिता अध्याय-53
8. जम्ब्वाश्चोदग्धस्तैस्त्रिभ: शिराधो नरद्वये पूर्वा। मृल्लोहगन्धिका पाण्डुरा च पुरुषेऽत्र मण्डूक:'' 53/8
9. जम्बूवृक्षस्य प्राग्वल्मीको यदि भवेत् समीपस्थ:। तस्माद्दक्षिणपार्श्वे सलिलं पुरुषद्वये स्वादु।। अर्धपुरुषे च मत्स्य: पारावतसन्निभ: पाषाण:। मृद्भवति चात्र नीला दीर्घकालं च बहुतोयम्।। 53/9-10 जम्बूवृक्षो द्विधा जलजम्बुक:- Premena herbacea Roxb. राज जम्बुक: Engnia Jambolana Lam. (myrtaceae)
10. आसन्नो वल्मीको दक्षिणपार्श्वे विभीतकस्य यदि। अध्यर्धे भवति शिरा पुरुषे ज्ञेया दिशि प्राच्याम्।। बृहत्संहिता-53/24

मधुकवृक्षेणजलज्ञानम्

मधुक: लोके-महुआ, Madhuca Indica gmel. इति प्रसिद्ध:। अस्माद् उत्तरस्यां यदि सर्पगृहं -वल्मीक: तर्हि पञ्चहस्त पश्चिमस्यां सार्द्धाष्टपुरुषमधस्तात् जलमवाप्यते। अत्र अध: धूम्राभामृत् कुलत्थवर्णोऽश्मा ततश्च सदा सजला सफेन: सलिलशिरा अवाप्यते।[11] पुरुष-प्रमाणे च सर्पराजो (Kiny cobra) दृश्यते।

मरुदेशे भूजलज्ञानम्

मरुस्थले जलशिरा करभाणां ग्रीवा इव वक्रा भवति। अत्र पीलूकरीर-रोहितक-इन्द्र-सुवर्ण-बदरी-ककुभ-बिल्व-दूर्वा-कुशा-शम्यदीनां निकटस्थितवल्मीकादिभि: भूगर्भस्थ-जलोपस्थिति: वर्णिता। अत्र पञ्चोत्तरशतलक्षणानां विश्लेषणं समयसाध्यम्।

अस्माभि: स्थालिपुलाकन्यायेन केषाञ्चित् लक्षणानां प्रयोगात्मकं परीक्षणं कृतम्, तदत्र विविच्य प्रस्तूयते।[12] प्रथमं तावत् जम्बूवृक्षोपस्थित्या तदधस्थवलमीकलक्षणेन नलकूप: खनित: तत्र स्वादुमधुरतरञ्च प्रचुरजलमधिगतम्। अत्र प्रस्तरमपि पारावतवर्णसन्निमं निर्गतम्। यन्त्रेण षड् इञ्चपरिमितखननत्वाद् पुरुषार्धे मत्स्योपस्थितिर्न विदिता।द्वितीयं तृतीयं तावत्-[13] मधुकवृक्षस्य उत्तरस्यां वल्मीकलक्षणेन द्वयो: स्थानयो: खननं कारितम्। अत्रापि प्रचुरा जलप्राप्तिर्जाता। एषु त्रिषु स्थानेषु पश्चिमोत्कलसदृशे जलविरले क्षेत्रे सततमावर्षं पञ्चाश्वशक्तियुतं मोटरयन्त्रं निर्बाधं चलति।

चतुर्थ कूपस्थले-[14] कानिचन लक्षणानि घटन्ते स्म कानि च जलन्यूनतां संकेतयन्ति स्म यथा पार्श्वस्थद्रुमपत्राणां पाण्डुता छिद्रयुक्तता च। अत्र षष्ठीफिटपरिमिते जलं प्राप्तम्, तत्र च कथञ्चित् एको हस्तनलकूप: प्रचलति।

अस्मत्परीक्षितस्थलेषु विविधपुरपुटभेदका-Leyered पाषाणपट्टिका: (चट्टान) प्राप्ता:। रक्ताभकपोताभनीलप्रस्तरतलेषु जलप्राचुर्यं सुप्रमाणितम्।

आधुनिक मृत्तिकाशेधकार्यानुसारं प्रमाणितं यत् पीतवर्णा लौहगन्धिका (Ferruginous) पाण्डुरा-ससिकता (Sandy) सशर्करा। (Gritty) नीलोत्पलवर्णा मृतिका अधस्तात् जलोपस्थितिं

---

11. उत्तरतश्च मधुकादहिनिलय: पश्चिमे तरोस्तोयम्। परिहृत्य पञ्चस्तानर्धाष्टम पौरुषान् प्रथमम्।। अहिराज: पुरुषेऽस्मिन् धुम्रा धात्री कुलुत्थवर्णोऽश्मा। माहेन्द्री भवति शिरा वहति सफेनं सदा तोयम्।। बृहत्संहिता 53/35-36
12. श्री सीताराम नायक ग्राम-नूआँपालि पत्रालय कन-सिंहा जिला-वरगढ़ (उड़ीसा) वास्तव्यस्य कृषिक्षेत्रे
13. (1) द्वितीयम् अस्यैव महानुभावस्यवास भवने (2) तृतीय- नवप्रभात वैदिक विद्यालये उपर्युक्तग्रामे।
14. अयं कूपश्चापि नवप्रभात वैदिकविद्यालये एवास्ति।

द्योतयन्ति।[१५]

आचार्येण निर्दिष्टाः भूगर्भस्थाः प्राणिनः, अहिमण्डूक वल्मीककीटादयो मृत्तिकायाः रासायनिकस्वरूपं तदार्द्रताक्षमताञ्च आधृत्य निवसन्ति।[१६] अतः तेषाम् उपस्थितिः नूनं जलोपस्थितिं प्रमाणयति। वल्मीककीटस्तु सततं अधस्ताद् आर्द्रां मृत्तिकामानीय वल्मीकं विरचयति। एतदस्माभिः प्रत्यक्षीकृतम्। अत आचार्यो वराहमिहिरः प्रायेण अधिकेषु लक्षणेषु एषामुपस्थितिं प्रमाणयति।

कूपखननकाले सुदृढप्रस्तरखण्डानि खण्डयितुमपि उपायं निर्दिष्टवान्[१७]-अग्निना संताप्य सुधाम्बुसेचनेन पाषाणपट्टिकाः खण्ड्यन्ते। अन्येऽपि बहुश उपायाः प्रपञ्चिताः यथा-

तोयं श्रितं मोक्षकभस्मना वा यत्सप्तकृत्वः परिषेचनं तत्।

कार्यं शरक्षारयुतं शिलायाः प्रस्फोटनं वह्निवितापितायाः॥ ५३/११३

भूगर्भीयकलुषकटुकलवणविरसदुर्गन्धयुतं जलं शोधयितुं अञ्जन-मुस्त-उशीर-राजकोशातक-आमलक-कतक-फलचूर्णप्रदानेन मधुरं निर्मलं सुन्दरं सुगन्धयुतञ्च भवति।[१८]

एवमाचार्येण वृक्ष-जीव-पुष्प-फल-प्रस्तर-तृणौषध्यादिभिः भूगर्भ-जलप्राप्तिर्वणिता। एतत् भूगर्भजलप्राप्तिविज्ञानं सुपरीक्षितं प्रामाणिकञ्च वर्त्तते। अत्र जलान्वेषणमाध्यमेन भूगर्भीयमृत्तिका पाषाणरत्नजीवा अपि वर्णिताः।

भूगर्भीयधातुरत्नविज्ञानम्

वृक्षाः स्वपरितः स्थितायाः मृत्तिकायाः खनिजावयवानपि प्राप्नुवन्ति। तेषां स्वरूपं मृद्गत-रासायनिकगुणाधृतं विद्यते। अतो वृक्षा इमे न केवलं भूगतजलसूचका अपि तु भूगर्भान्तस्थखनिजानपि अभिद्योतयन्ति। एतदभिज्ञाय एवं आचार्यो ब्रूते-

कण्टक्यः कण्टकानां व्यत्यासेऽम्भस्त्रिभिः करैः पश्चात्।

खात्वा पुरुषत्रितयं त्रिभागयुक्तं धनं वा स्यात्। ५३/५३

यत्र भूगर्भीयरत्ननिर्मितिविषये बृहत्संहितायामुक्तं पृथिव्याः भूगर्भीयपरिवर्तनैः प्रस्तराणि रत्नरूपेण परिवर्तन्ते।[१९]

---

15. भारतीय पादप परिस्थिति विज्ञान- राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर
16. सामान्य जीव विज्ञान-मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी द्वितीय संस्करण 19-76
17. बृहत्संहिता- 53/112। 114-115 लोकयोरपि अश्मभेदोपायः निर्दिष्टः।
18. (1) अञ्जनमुस्तोशीरैः शराजकोशातकामलकचूर्णैः। कतकफलसमायुक्तैर्योगः कूपे प्रदातव्यः॥ तदेव 53/121
    (2) तदेव - 53/122
19. केचित् भुवः स्वभावात् वैचित्र्यं प्राहुरपलानाम्। बृहत्संहिता 79/3

श्री नीलकण्ठशम्भुविरचिते निधिप्रदीपे ग्रन्थे भूगर्भस्थरत्नधात्वादिप्रात्युपाया: वर्णिता:। अस्य प्रामाण्याप्रामाण्यविषये किमपि वक्तुं न शक्यते। अस्मात् कानिचन लक्षणानि उल्लिख्यन्ते-यत्र भूमौ धूमाभा भासते सतृणप्रदेशे च भूमि: निस्तृणा भवति, यत्र वृक्षवनस्पति-लतागुल्मेषु स्वभावविरुद्धं पत्रपुष्पफलोद्गमो दृश्यते तत्र भूमौ रत्नादिकं भवति।[20] यत्र वराहो नित्यं सीदति यश्च भूप्रदेश: अन्य भूभागापेक्षया अधिकोष्ण: प्रतीयते तत्र सुवर्णरत्नादिकं भवति।[21]

पक्षिचेष्टितैरपि रत्नादीनां निश्चय: क्रियते। यत्र काकवकश्येनादयो यत्र सततं तिष्ठन्ति क्रीडन्ति यत्र च गृध्रो वल्मीकमारुह्य एकेन पादेन खनति तत्र धनं प्राप्यते।[22] यत्र सोदके देशे प्रावृष: काले तृणं न जायते, ग्रीष्मर्तौ च शाद्वलं दृश्यते तत्र बहुमूल्य धनं निर्दिशेत्।[23] यस्य वृक्षस्य फलं पुष्पं वा विवर्णं भवति तदध: धातु-रत्नादिकं प्राप्यते।[24]

अत्र तृतीये परिच्छेदे भूगर्भपरीक्षणविधयोऽपि वर्णिता:- यथा संभावितं भूप्रदेशं सायं हरिद्राकल्कं 'संस्पृष्टं क्षीरं भूमौ निषेचयेत्। यदि प्रभाते भस्मसंकाशा भूमि: स्यात् तर्हि तदध: रत्नादिप्राप्ति: सुनिश्चिता। एवमन्यान्यपि बहूनि परीक्षणसाधनानि वर्णितानि। परमेतद् सर्वं परीक्षणापेक्षम्।

भूकम्प:

कौशिकसूत्रे भूकम्पलक्षणपरिशमनाय आथर्वणमन्त्रै: शमनोपाया: निर्दिष्टा:।[25] **'ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत्, 'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति'** इत्यादि मन्त्रेषु पृथिव्या: ध्रुवत्वं प्रार्थितम्। सत्यं ऋतादयश्च गुणा अस्या: धारकत्वेन निर्दिष्टा:। वेदस्य चक्षुरङ्गभूताया: बृहत्संहिताया: द्वत्रिंशत्तमेऽध्याये भूकम्पस्य कारणानि लक्षणानि च विवेचितानि।

आधुनिके वैज्ञानिके युगेऽपि वैज्ञानिकै: भूकम्पस्य पूर्वभाविलक्षणानि लक्षयितुं नालमभवन् परमितो द्विसहस्रवर्षपूर्वमाचार्यवराहमिहिरेण भूकम्पस्य कारणानि प्राग्भाविलक्षणानि च निर्दिष्टानि।

---

20. यत्र धूमायते भूमिर्या च भूमिश्च निस्तृणा। यत्र विज्वलिता भूमिभौमोऽयमिति निर्दिशेत्।। निधिप्रदीप: 2/16
21. तदेव 2/19-22
22. तदेव -2/30
23. तदेव -2/33-35 सोदके प्रावृष: काले तृणं यत्र न जायते। दृश्यते शाद्वलं ग्रीष्मे तत्र वित्तं विनिर्दिशेत्।। तदेव 2/55
24. तदेव -2/63 आचार्य चाणक्येन वृक्षवनस्पत्यादिवाह्यभौगोलिकलक्षणै: भूगर्भस्थविविधारास्कोपस्थिति वर्णितवात्।
25. कौशिक सूत्र 7/10, 13/6 (क) आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् 6/87/1 (ख) रहैवैधि माप च्योष्ठा: पर्वत इवाविचाचलत् 6/87/2 (ग) ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ध्रुवास: पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम्।। अथर्व0 6/88/1 (घ) सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ: पृथिवीं धारयन्ति। 12/1/1

अत्र आचार्योऽनेकेषां पूर्वाचार्याणां भूकम्पकारणमतमुदाजहार। गर्गादिमुनयः भूधराणां दिग्गजानां दीर्घप्रश्वासेन भूकम्पम्, वशिष्ठस्तु अनिलोऽनिलेन निहतो वेगान् महीं चालयति,[26] अपरे तु अदृष्टं कारणत्वेन मन्यन्ते। पराशरस्तु प्राह पुरः सपक्षाणां पर्वतानां पतनैः पृथिवी प्रकम्पते स्म। ब्रह्मण आज्ञया इन्द्रः पक्षच्छेदं कृतवान्,[27] ततः पृथिवी शान्ता जाता परं पुनः ब्रह्मा निजगाद-'एतस्मादनियमितभूकम्पात् मुक्तेऽपि अवनिवासीनां शुभाशुभफलप्रदानाय वायु-अग्नि-इन्द्र-वरुणदेवताः रात्रिदिवसयोः अर्द्धार्द्धभागे पृथिवीं कम्पयिष्यन्ति।[28] अत्र मिहिरः स्वपक्षं न प्रतिपादयामास।

अस्यायं भावः- दिनपूर्वार्धभवाः भूकम्पाः वायव्याः, उत्तरार्धभवाः भूकम्पाः आग्नेयाः, रात्रिपूर्वार्धजाः कम्पाः ऐन्द्राः, रात्रेरुत्तरार्धजाः कम्पास्तु वारुणाः।

आधुनिक वैज्ञानिकास्तु अग्रलिखितानि चत्वारि भूकम्पकारणानि मन्यन्ते-

1. ज्वालामुखीनामुत्फटनेन (मैगमा) तरलद्रव्याणाम् उत्क्रान्त्या भूकम्पाः भवन्ति। एते अल्पशक्तिसम्पन्नाः जापान-न्यूजीलैंड देशेषु प्रायेण जायन्ते।

2. विवर्त्तन-कारणेन भूः कम्पते। भूगर्भीयपाषाणधपट्टे आतान (टैन्सन्) प्रतिबलवृद्ध्या पाषाणपट्टानां स्खलनेन उभयतः सापेक्षगत्या भूः कम्पते।

3. पृथिव्याः उपरिभागस्य संकोचेन भूः कम्पते।

4. नूतनसिद्धान्तस्तु 'प्लेट-विवर्त्तन अथवा टेक्टॉनिक्स' वर्त्तते।

पृथिव्याः अधः पाषाणपट्टः पञ्चाशत्तः शतकि.मी. यावत् स्थूलो वर्त्तते। एते च गतिशीलाः, एतैः सह महाद्वीपभूखण्डानि अपि स्वस्थानं परिवर्त्तयन्तिः, तस्मात् भूकम्पाः जायन्ते।[29]

5. अस्माभिरेतदपि अधिगतं नदीनां स्वाभाविकी गतिरवरोधनेन महाबन्धानां निर्माणेनापि च भूकम्पाः भवन्ति।

मन्मतेन आधुनिकप्रथमं कारणम् ऋषीणाम् आग्नेयं भूकम्पं द्वितीयं तृतीयं वाष्पोद्भवं भूकम्पीयतरङ्गः वायव्यं, चतुर्थं पञ्चमं तु समुद्रीयं पर्वतपतनजं वारुणं वा भूकम्पं संकेतयति।

यद्यपि प्राचीनमतानां वैज्ञानिकं विश्लेषणं न सुकरं तथापि नूनं निगूढं निबोधयन्ति किमपि

---

26. बृहत्संहिता32/1-2
27. तदेव 32/3-6
28. किन्त्वनिलदहनसुरपतिवरुणाः सदसत्फलावबोधार्थम्। प्राग् द्वित्रिचतुर्भागेषु दिननिशयोः कम्पयिष्यन्ति।। तदेव 32/7
29. बृहत्संहिता पृ. 380 डॉ. सुरेन्द्र मिश्रकृतव्याख्यायाम्।

अन्तस्तथ्यम्।

अग्रे मिहिर एषां कालं, नक्षत्रं, लक्षणं, देशं प्रभावञ्च विवृणोति-

वायव्यादिभूकम्पानां नक्षत्रकालो लक्षणानि च

वायव्यो भूकम्प:-उत्तराफाल्गुनी-हस्ता-चित्रा-स्वाति-मृगशिरा-पुनर्वसु-अश्विनि-नक्षत्रेषु वायव्याः भूकम्पाः जायन्ते। सप्ताहात् पूर्वम् आकाशो धूमाकुली भवति, रजस्वान् प्रभञ्जनो वाति भञ्जयति वृक्षान् सूर्यरश्मयश्च मन्दायन्ते।[30]

वायव्यमण्डलभूकम्पः द्विशतयोजनं (1000 कि.मी.) यावत् भूभागं कम्पयति।[31] ऐन्द्रवायव्यभूकम्पाः- प्राच्यदेशं-शक-चीन-पह्लव-यौधेय-यक्षवत्-कपर्दि-गोमान्-शरदण्ड-मगध-बन्धकी-इत्यादिप्रदेशान् विनाशयन्ति।[32] वायव्यवारुण भूकम्पाश्च-अवन्ति, शवर, विदेह, कश्मीर-दरदादिदेशान् पीडयति।

वायव्ये कम्पे सस्याम्बुवनौषधयो क्षीयन्ते, श्वयथुः, श्वासोन्मादो ज्वरञ्च जायते।[33] सौराष्ट्र-कुरु-मगध-दशार्णदेशे च वायव्यकम्पाः प्रायेण जायन्ते।

आग्नेयभूकम्पः- पुष्य-कृत्तिका-विशाखा-भरणी-मघा-पूर्वाभाद्रपद-पूर्वाफाल्गुनीनक्षत्रजाः कम्पा आग्नेया उच्यन्ते। आग्नेये कम्पे सप्ताहात् पूर्वं तारकोत्पातः उल्कापातः दिग्दाहः, प्रचण्डवातः अरण्येषु अग्निकाण्डश्च जायते।[34]

अयं भूकम्पः 110 योजनान्तं भूभागं प्रभावयति।[35] एतेन अम्बुदनाशः, सलिलक्षयः, राज्ञां विद्वेषः, त्वक्विकारः, विसर्पिका, पाण्डुरोगाश्च जायन्ते।[36] अनेन अङ्ग-वाह्लीक-तङ्गण-कलिङ्ग-बङ्ग द्रविड़-शबरदेशाः प्रभाविताः भवन्ति।[37]

इन्द्रमण्डल भूकम्पाः

अभिजित्-श्रवण-धनिष्ठा-रोहिणी-ज्येष्ठा-उत्तराषाढा-अनुराधा-नक्षत्रेषु ऐन्द्राः भूकम्पाः

---

30. बृहत्संहिता 32/8-9
31. तदेव 32/28
32. बृहत्संहिता 386 पृष्ठे पाराशरीसंहिता उद्धृता।
33. तदेव 32/10-11
34. तदेव 32/12-13
35. शतमनलो दशयोजनान्वितम्, तदेव 32/28
36. तदेव 32/14-15
37. तदेव 32/16-17

जायन्ते। एषु सप्ताहात् पूर्वं पर्वताकाराः गम्भीरविराविणस्तडिद्वन्तो मेघा वर्षन्ति।[38] ऐन्द्रकम्पाः 160 योजनभूभागं प्रभावयन्ति।[39] अनेन कण्ठरोगाः वमनादिकञ्च जायते। काशी-युगन्धर-पौरव-किरात-कीट-हलमद्र-अर्बुद-सुराष्ट्र-मालवदेशाश्च पीड्यन्ते।[40]

वारुणकम्पः

रेवती-पूर्वाषाढा-आर्द्रा-श्लेषामूल-उत्तराभाद्रपद-शतभिषानक्षत्रेषु कम्पाः वारुणाः उच्यन्ते। अत्र नीलोत्पलाञ्जनत्विषः मृदुस्वना ईषदूर्षन्ति काले काले च तडित् स्वनो जायते।[41] अयं 180 योजनान्तं भूभागं व्याप्नोति।[42] अनेन समुद्रीयकुलेषु नदीपार्श्ववर्त्तिषु देशेषु पीडा, अतिवृष्टिः, वैरनाशश्च जायते। अनेन गोर्नद-चेदि-कुकुर-किरातदेशाः पीड्यन्ते।[43]

पूर्ववृत्तभूकम्पैरेषां विश्लेषणं क्रियते- लाटूर भूकम्पः 30 सितम्बर 1993 वर्षस्य प्रातः 3:56 वादने लाटूरस्थानीय भूकम्प आगतः। अनेन त्रिंशत् सहस्रजनाः हताः।

भूकम्पनक्षत्रम्

पूर्वाभाद्रपद, मण्डलम्, आग्नेय-मडण्लम्, वेला-वारुणवेला, लग्न-कर्कः, भूकम्पकेन्द्रम् 18.2 अक्षांश उत्तर 76.7 रेखांशपूर्वम्।

1. बृहत्संहितानुसारमयं कम्पः 110 योजन- 550-60 कि.मी. व्यापकः स्यात्। अयं भौगोलिकव्याप्तिदृशा सुघटते।

2. एतज्जन्यवर्षाजलादीनामल्पता, राजनैतिकं विद्वेषः, रोगभयादिकमपि सङ्गच्छते।

3. वेलाभेदे वराहोक्तभूकम्पनिष्फलता न घटते. पाराशरमतं तु घटते।

उत्तरकाशीभूकम्पः

1991 वर्षस्य अक्टूबर 20 दिनांके। तीव्रता 6-4-7 1500 जनाः मृताः।

नक्षत्रं-पूर्वाभाद्रपद, मण्डल-आग्नेयः

बिहारभूकम्पः

15 जनवरी 1934 मध्याह्ने द्विवादने दशसहस्रजनाः मृताः भूमिः नीचैः प्रविष्टा स्थाने-स्थाने

---

38. तदेव 32/16-17
39. तदेव 32/28
40. तदेव 32/18-19
41. तदेव 32/20-21
42. तदेव 32/28
43. तदेव 32/22

जलधारा निर्गता।

नक्षत्रम्-उत्तराषाढा, मण्डल-इन्द्रवेला- आग्नेय:

अस्य प्रभावेण बेतियात: पूर्णियान्तानि भवनानि वक्राणि जातानि। काठमाण्डुपर्यन्तमस्य प्रभाव आसीत्। पर्वतेषु भूस्खलनमपि जातम्।

1. मण्डलानुसारमस्य व्यापकता 160 योजन 800 कि.मी. पर्यन्ता स्यात्, सा च सर्वथा उचिता।

2. आग्नेये- वर्षान्यूनतापि घटते।

3. पाराशरानुसारम् चीनदेशस्य दिगानुसारी दिगपि घटते।[44]

एवमुक्त विश्लेषणेन वराहनिर्दिष्टा: भूकम्पस्य अनेके प्रभावा: लक्षणानि च घटन्ते। ज्योतिर्विद्भिराधुनिकवैज्ञानिकैश्चैषां विश्लेषणं कृत्वा धन-जीवनं रक्षणं-सक्षमा: भवन्तीति नूनं महत्त्वपूर्णमेतत् विज्ञानम्।

उक्तलक्षणेषु दृग्गोचरीजातेषु कौशिकसूत्रविहिता: शान्त्युपाया अनुष्ठेया:।[45] तेषामनुष्ठानेन के लाभा: भवन्तीति अनुसन्धातव्यम्।

एवं उक्तविश्लेषणेन सुसिद्ध्यति यत् बृहत्संहितादिसंस्कृतग्रन्थेषु भूगर्भीयं ज्ञानं विज्ञानसम्मतं सहजलभ्यं सर्वजनहितकरञ्च वर्तते। अस्य गवेषणाय प्रचाराय च अस्माभि: संस्कृतसमाराधकै: तु धृतव्रतैर्भाव्यम्

---

44. बृहत्संहिता- सुरेशचन्द्र मिश्रकृता व्याख्या द्रुष्टव्या,

45. कौशिकसूत्रम्- 6/10, 13/6 अथर्ववेद- 6/86/2, 6/88/1

गुरुकुल शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0187-194)

मालविकाग्निमित्र की नाट्यवृत्तियों का अनुशीलन

डॉ० श्रीमती लक्ष्मीदेवी गुप्ता
प्रवक्ता-संस्कृत
गोविन्द बल्लभपंत रत्ना0 महा वि.
प्रतापगंज, जौनपुर

कायवाङ्मनसा चेष्टा एव सह वैचित्र्येण वृत्तयः। (आचार्य अभिनवगुप्त) नाटक के पात्र के शरीर वचन तथा मन की विचित्रता से युक्त चेष्टाएँ ही वृत्तियाँ है। वस्तुतः वचन तथा चेष्टा का सम्मिलन नाट्य है। नट वचनों के द्वारा अपने मनोगत अभिप्राय का प्रकाशन करता है तथा नाना प्रकार की चेष्टाएँ दिखलाकर अपने भाव प्रकाशन को स्पष्ट एवं पुष्ट करता है। वचन से सम्बन्ध रखने वाली वृत्ति **'भारती'** है। चेष्टा अर्थात् अभिनय दो प्रकार की है:-सात्त्विक और आङ्गिक। सात्त्विक अभिनय द्वारा नट सूक्ष्म एवं गूढ़ भावों के प्रकाशन में समर्थ होता है यह **सात्वती वृत्ति** कहलाती है। इसके अतिरिक्त नट आङ्गिक अभिनय द्वारा अवस्था विशेष में कभी क्रोध, भय आदि उग्र भावों का प्रदर्शन तो कभी प्रेम, रति, हास्य आदि) कोमल सुकुमार भावों का प्रदर्शन करता है। यह दोनों वृत्तियाँ क्रमशः **आरभटी** और **कैशिकी** वृत्ति कहलाती है। इस प्रकार नाट्य में वृत्ति चतुष्टय की कल्पना प्रामाणिक है। इसीलिए भरतमुनि ने इन वृत्तियों को **'नाट्य-माता'** पद पर प्रतिष्ठित किया है।[1]

मालविकाग्निमित्र में इन चारों वृत्तियों का सम्यक् प्रयोग हुआ है। कौशिकी वृत्ति- नृत्य, गीत एवं विलासादि शृङ्गारिक चेष्टाओं से सुकुमारता को प्राप्त वृत्ति कैशिकी है।[2] मालविकाग्निमित्र शृङ्गार प्रधान नाटक होने से इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है। सम्पूर्ण नाटक में कौशिकी के इन भेदों का निरूपण हुआ है:-

(१) नर्मः-प्रिय को प्रसन्न करने वाली विदग्धता से युक्त शिष्ट परिहास या क्रीडा को नर्म कहते हैं।[3]

वचोहास्य नर्मः- (वाणी द्वारा किया गया शिष्ट परिहास) मालविकाग्निमित्र के द्वितीय

---

1. सर्वेषामेव काव्यानां मातृका वृत्तयः स्मृताः/ना.शा. 20/4
2. तत्र कैशिकी। गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः।- शरूपक 2/47
3. वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म प्रियोपच्छन्दात्मकम्।- दश0 2/48

अंक में मालविका द्वारा प्रस्तुत नृत्य प्रदर्शन में त्रुटि को इंगित करते हुए विदूषक कहता है कि नृत्य प्रदर्शन से पूर्व ब्राह्मण पूजा नहीं की गई अत एव प्रदर्शन दोषयुक्त हो गया।[4] यहाँ वाणी द्वारा शिष्ट परिहास किये जाने से वचोहास्य नर्म है।

चेष्टाहास्य नर्मः-(चेष्टा अथवा क्रिया द्वारा उत्पन्नहास्य) मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अंक में निपुणिका नामक चेटी साँप का भ्रम उत्पन्न करने के लिए विदूषक के ऊपर लकड़ी का टेढ़ा-मेढ़ा डण्डा फेंक देती है।[5] दशरूपककार[6] ने भी उपर्युक्त स्थल पर चेष्टा हास्य नर्म माना है।

शृङ्गारसहित आत्मोक्षेप नर्मः-(नायिका द्वारा अपने अनुराग का निवेदन करना[7]) मालविकाग्निमित्र के तृतीय अंक में मालविका राजा के प्रति अपने अनुराग को अशोक वृक्ष के माध्यम से प्रकट करती हुई कहती है-**'मनोरम और कोमल दोहद की प्रतीक्षा करने वाला यह पुष्पहीन अशोक वृक्ष मुझ उत्कण्ठिता का ही अनुकरण कर रहा है।**[8]

भय सहित हास्य नर्मः-मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अंक में विदूषक अपने हाथ पर कृत्रिम सर्पदंश का बहाना बनाकर सबको भयभीत कर देता है।

(२) नर्म स्फिन्जः-प्रथम समागम में यदि आरम्भ में सुख और अन्त में भय कि कहीं कोई देख तो नहीं रहा, नर्म स्फिन्ज कहलाता है।[9]

मालविकाग्निमित्र के चतुर्थ अंक में मालविका के प्रमदवन में अग्निमित्र के पास पहुँचनेपर नायक अग्निमित्र कहता है:-'हे सुन्दरि! तुम सङ्गम से मत डरो। मैं बहुत दिनों से तुम्हारे लिए उत्कण्ठित हूँ। अब मैं आम्रवृक्ष हूँ, तुम माधवी लता बनकर लिपट जाओ।

मालविका-देवी के भय से मैं अपने मन का मनोरथ भी नहीं पूर्ण कर सकती हूँ।[10] उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा मालविका का समागम सुख के साथ भय भी सूचित होने से यहाँ नर्म स्फिन्ज है।

(३) नर्म स्फोटः-भय, हर्ष, त्रास, रोष आदि सात्त्विक भावों के लेश मात्र से

---

4. माल० पृष्ठ-54
5. माल० पृष्ठ-150
6. दशरूपक पृष्ठ-186
7. दशरूपक पृ०-185
8. माल० पृ०-80
9. दशरूपक 2/51
10. माल० पृ० 144

कुछ-कुछ अनुराग सूचित होना 'नर्म स्फोट' है।[११] मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अंक में मालविका द्वारा गाये गये चतुष्पदी गान के माध्यम से राजा के प्रति अनुराग सूचित होता है:- **'प्रिय समागम दुर्लभ है, अतः हृदय! तुम उसकी आशा छोड़ दो। मेरी बाईं आँख फड़क रही है। जिसे बहुत पहले देखा था, क्या उसे पुनः देख पाऊंगी? हे नाथ! मुझ पराधीन को तुम अपने प्रति अनुरागिनी जानना।**[१२]

उपर्युक्त पद्य में मालविका के क्रमशः निर्वेद, नैराश्य, हर्ष और आशा, विस्मय और दैन्य भावों के द्वारा राजा के प्रति अनुराग सूचित होता है। नर्म स्फोट के अन्य उदाहरण तृतीय अंक के प्रथम छन्द तथा पृष्ठ सं0 76 पर भी प्राप्त होते हैं।

(४) नर्म गर्भ:- किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए किये गए नायक के गुप्त व्यवहार को 'नर्म गर्भ' कहते हैं।[१३] मालविका के साथ समागम हेतु अग्निमित्र द्वारा अनेक गुप्त व्यवहार किये गए हैं। यथा:-

1. तृतीय अंक में राजा अग्निमित्र धारिणी और इरावती से छिपकर प्रमदवन में मालविका से गुप्त रूप से मिलता है।

2. चतुर्थ अंक में मालविका और बकुलावलिका को कैद से मुक्त कराने के लिए गुप्त योजना क्रियान्वित की जाती है।

इस प्रकार इस नाटक में कैशिकी वृत्ति की सम्यक् योजना की गयी है। यह कैशिकी के अङ्गों नर्म, नर्मस्फिन्ज, नर्मस्फोट एवं नर्मगर्भ की विशेषताओं से युक्त है।

सात्त्वती वृत्ति:-सत्त्व, शौर्य, त्याग, दया और आर्जव युक्त नायक के शोक रहित व्यापार को सात्त्वती वृत्ति कहते हैं।[१४] सात्त्वती वृत्ति के चार अङ्गों-संलापक, उत्थापक, संघात्य और परिवर्तक में से मालविकाग्निमित्र में तीन अङ्ग संलापक, उत्थापक और परिवर्तक प्राप्त होते हैं।

संलापक:-नाना प्रकार के भावों एवं रसों से युक्त पारस्परिक अधिक्षेपयुक्त वचनों में संलापक नामक अङ्ग होता है।[१५] प्रथमांक में राजा के समक्ष उपस्थित हुए दोनों नाट्याचार्य-गणदास एवं हरदत्त एक दूसरे की हीनता बतलाते हैं:-

---

11. दश0 2/51
12. माल0 2/4
13. दश0 2/52
14. दश0 2/53
15. दश0 2/54

'गणदास-देव! सुनियें! मैंने योग्य गुरु से विद्या सीखी और प्रयोग भी दिखाये। आपकी और देवी का भी कृपापात्र रहा।

राजा-यह तो मैं जानता हूँ। तो पुनः क्या हुआ?

गणदास-हरदत्त ने मुझे अधिकारियों के समझ यह कहकर अपमानित किया है कि यह तो हमारी पदधूलि के समान भी नहीं है।

हरदत्त-इन्होंने ही प्रथम मेरी निन्दा की कि इनमें और मुझमें समुद्र और गड्ढे का सा अन्तर है।[16] तिरस्कार और अमर्ष से युक्त गणदास एवं हरदत्त के पारस्परिक अधिक्षेपयुक्त वचनों में संलापक नामक अङ्ग है।

उत्थापक:-जहाँ एक पात्र दूसरे पात्र को युद्ध के लिए उत्तेजित करे वहाँ 'उत्थापक'[17] होता है। प्रथमांक में विदर्भराज यज्ञसेन के द्वारा अग्निमित्र को भेजे गये पत्र में सात्त्वती वृत्ति के 'उत्थापक' नामक अङ्ग की अभिव्यक्ति है:-

'उन्होंने लिखा है 'आपकी आज्ञा है, आपके चचेरे भाई हमारे साथ सम्बन्ध तय करने मेरे पास आ रहे थे, उन्हें आपके सीमा रक्षकों ने आक्रमण कर बन्दी बना लिया है, उन्हें मेरे कहने से स्त्री और बहिन के साथ आप मुक्त कर दें।' इस सम्बन्ध में आपको जानना चाहिए कि समान वंशोत्पन्न राजाओं में परस्पर शत्रुता होती है, उसमें मध्यस्थ होना चाहिए और उसकी बहिन आक्रमण के समय खो गई है, उसे खोजने का यत्न होगा। यदि आप माधवसेन को अवश्य छुड़ाना चाहते है तो मेरी शर्तें सुन लें:-

'यदि आप हमारे साले मौर्यसचिव को, जो आपका बन्दी है, छोड़ दें तो मैं भी माधवसेन को अविलम्ब मुक्त कर दूँगा।'

राजा-(क्रोध से):-तो क्या यह अनात्मज्ञ बदले का व्यवहार कर रहा है? विदर्भराज स्वभावतः हमारा शत्रु तथा प्रतिकूलाचारी है, इसलिए शत्रुभूत उसके उन्मूलन के लिए वीरसेन के नेतृत्व में सैन्य दल को आज्ञा दे दीजिए।[18]

इस अंश में विदर्भराज यज्ञसेन ने अग्निमित्र को परोक्ष रूप से युद्ध के लिए उत्तेजित किया है, अतः यहाँ उत्थापक नामक अङ्ग है।

परिवर्तक:-आरम्भ किये गए उत्थान (पराक्रम पौरुष) के कार्य से भिन्न दूसरे कार्य के

---

16. माल0 पृ0 24-26
17. दश0 2/54
18. माल0 पृष्ठ 18

आरम्भ कर देने को 'परिवर्तक' कहते हैं।[19]

मालविकाग्निमित्र के प्रथमांक में विदर्भराज के पत्र का समुचित उत्तर देकर अमात्य के चले जाने के बाद विदूषक प्रवेश करता है। उस समय तुरन्त ही राजा मालविका प्राप्ति के विषय में पूछने लगता है:- **'तुम्हारी बुद्धि ने कुछ उपाय सोचा है।'**[20] यहाँ युद्ध के वार्तालाप से निवृत्त होकर शीघ्र ही प्रेम प्रसङ्ग की चर्चा किये जाने से परिवर्तक है।

इस प्रकार इस नाटक में सांघात्य को छोड़कर सात्त्वती वृत्ति के तीनों भेदों की प्राप्ति होती है। जिसका यथास्थान सम्यक् नियोजन किया गया है।

आरभटी:-आरभटी वृत्ति माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोध, उद्भ्रान्त आदि चेष्टाओं से युक्त होती है। इसके चार अङ्ग हैं:-संक्षिप्तिका, सम्फेट, वस्तूत्थापन और अवपातन।[21]

संक्षिप्तिका:-शिल्प के प्रयोग से संक्षिप्त वस्तु रचना को संक्षिप्ति कहते हैं। इस नाटक में नागमुद्रांकित अंगूठी के प्रयोग से मालविका तथा बकुलावलिका को कारागार से मुक्त किया जाना संक्षिप्ति है।

सम्फेट:-क्रुद्ध और उत्तेजक दो व्यक्तियों का परस्पर एक दूसरे पर प्रहार सम्फेट कहलाता है।[22] मालविकाग्निमित्र के पञ्चमांक में एक सूच्यांश के अन्तर्गत सम्फेट नामक अङ्ग प्राप्त होता है, जिसमें परिव्राजिका कौशिकी उपस्थित सभी को बताती है कि उसका भाई सुमति जब मालविका को लेकर अग्निमित्र के पास आ रहा था, तभी, डाकुओं के एक समूह से उसके दल का युद्ध हो गया, जिसमें सुमति की मृत्यु हो गयी। इस युद्ध वर्णन से शस्त्र प्रहारादि की सूचना मिलती है।

'तत्पश्चात् तृणीरपट्ट द्वारा दोनों बाहुमध्यों को कसे, पैर तक लटकते हुए मयूर पुच्छों से अंलकृत, धनुर्धर, सामने आने वालों के लिए कालस्वरूप और गरजता हुआ दस्यु-सैन्य प्रकट हुआ।

परिव्राजिका:-थोड़ी देर तक यात्री दल लड़ता रहा, तब दस्युओं के दल ने उसे हरा दिया।[23]

अवपातन:-पात्रों का निष्क्रमण, प्रवेश, त्रास तथा भगदड़ आदि के वर्णन द्वारा पात्रों में

19. दश0 2/55
20. माल0 पृष्ठ 20
21. दशरूपक 2/56-57
22. दशरूपक 2/57-58
23. माल0 पृष्ठ 182

भय हर्षादि का सञ्चार होना अवपातन कहलाता है।[24] चतुर्थ अंक में जयसेना शीघ्र प्रवेश करके राजपुत्री वसुलक्ष्मी के पिङ्गल वानर से डर जाने की सूचना देती हैं, जिसे सुनकर रानी इरावती राजा को शीघ्र ही राजपुत्री के पास चलने को कहती है। राजा, विदूषक, इरावती और प्रतीहारी शीघ्र ही मन्त्र से चले जाते हैं। यहाँ पर पिङ्गल वानर द्वारा त्रासित वसुलक्ष्मी के क्षति के सम्बन्ध में विचार करने से भय तथा विषम परिस्थिति (राजा अग्निमित्र तथा मालविका के मिलनावसर पर इरावती का अचानक उपस्थित हो जाने) से मुक्त हो जाने से हर्ष का सञ्चार होता है। जयसेना का सावेग प्रवेश, पिङ्गल वानर का त्रास, भगदड़, मंच से पात्रों का निष्क्रमण आदि वर्णित होने से यहाँ अवपातन नामक आरभटी वृत्ति का अङ्ग है।

इस प्रकार मालविकाग्निमित्र में आरभटी वृत्ति के अङ्ग वस्तूत्थापन को छोड़कर शेष तीनों संक्षिप्ति, सम्फेट और अवपातन प्राप्त होते हैं।

भारती वृत्तिः-यह वृत्ति संस्कृतमयी तथा वाक्प्रधाना है। भरतमुनि के अनुसार जिस वृत्ति में संस्कृत वाणी की बहुलता हो, जो पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाई गई हो, जो स्त्रियों द्वारा सर्वथा वर्जित हो, उसे भरतों (नटों) द्वारा सदा प्रयोज्य होने से भारती वृत्ति कहते हैं।[25] इसके चार अङ्ग हैं:- प्ररोचना, आमुख, वीथी और प्रहसन।

प्ररोचनाः-काव्यार्थ की प्रशंसा द्वारा सामाजिकों को अभिनय की ओर उन्मुख करना प्ररोचना है।[26]

मालविकाग्निमित्र के प्रथमाङ्क में नान्दी के पश्चात् कवि तथा काव्य की प्रशंसा करके सामाजिकों को नाटक के प्रति आकर्षित किया गया है:-

सूत्रधार:-विद्वानों की सभा द्वारा मुझसे कहा गया है कि वसन्तोत्सव में कालिदास द्वारा रचित मालविकाग्निमित्र नामक नाटक का अभिनय किया जाना है, अत एव संगीत प्रारम्भ कीजिए।

परिपार्श्विक:-ऐसा न कहें। भास कविपुत्र सौमिल्लक आदि प्रसिद्ध नाटककारों के नाटक को छोड़कर नवीन कवि कालिदास की कृति के प्रति इतना आदर क्यों प्रकट किया जा रहा है?

सूत्रधार:-यह तो विवेक रहित कथन है। देखो, न पुराना होने से सब अच्छा हो सकता है और न ही नये होने से कोई काव्य बुरा होता है। विद्वान् लोग परीक्षा करके उत्तम का ग्रहण

---

24. दशरूपक 2/59
25. ना० शा० 20/25
26. दशरूपक 3/6

करते हैं, मूर्ख दूसरों की बुद्धि के अनुसार कार्य करते हैं।[27]

इस अंश में सभा प्रशंसा (विद्वत्परिषदा) समय प्रशंसा (वसन्तोत्सवे) तथा कवि और काव्य प्रशंसा किया गया है। इस प्रशंसा द्वारा दर्शक एवं श्रोतागण को अभिनय देखने के लिए उन्मुख किया गया है, अत: यहाँ प्ररोचना है।

प्रहसन:-प्रहसन हास्यरसोत्पादक वचनों से युक्त होता है। मालविकाग्निमित्र में विदूषक की वाणी तथा चेष्टाओं से हास्य रस की अभिव्यक्ति होती है।

आमुख या प्रस्तावना:-जहाँ नटी, परिपार्श्विक अथवा विदूषक में से किसी एक से वार्तालाप करते हुए सूत्रधार के द्वारा पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत कथा का आरम्भ या सूचन हो जाता है, इसे आमुख कहते हैं।[28] यह कार्य मुखसन्धिपर्यन्त रहने से आमुख कहलाता है। इसे प्रस्तावना भी कहते हैं। क्योंकि इसमें नाटक की कथावस्तु को संक्षेप में प्रस्तुत किया जाता है। प्रस्तावना की सीमा पात्र प्रवेश तक होती है, अत: प्ररोचना भी प्रस्तावना के ही अन्तर्गत आ जाती है। यद्यपि प्ररोचना और प्रस्तावना के अन्तर्गत आता है।

मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार के प्रवेश से लेकर उसकी मंच से निष्क्रान्ति तक प्रस्तावना है। इस प्रस्तावना के द्वारा पात्रप्रवेश का मुख्य कार्य सम्पादित हुआ है:-'सभा के द्वारा दी गई आज्ञा को मैं पहले ही शिरोधार्य कर चुका हूँ और उसका पालन मैं उसी प्रकार करना चाहता हूँ जिस प्रकार यह स्वामिनी भक्त दासी रानीधारिणी की आज्ञा का पालन कर रही है।[29]

इस प्रकार सूत्रधार रङ्गमंच पर दासी बकुलावलिका के प्रवेश की सूचना देकर बड़ी निपुणता से नाट्य प्रयोग का निर्देश करके चला जाता है। यहाँ पर 'परिजनोऽयम्' अर्थात् 'यह दासी' इस प्रकार के सूत्रधार के वचन से सूचित होकर बकुलावलिका का प्रवेश होने से **'प्रयोगातिशय'** नामक प्रस्तावना है। मालविकाग्निमित्र के टीकाकार काट्यवेम ने यहाँ 'प्रयोगातिशय' नामक प्रस्तावना स्वीकार की है, परन्तु तारानाथ तर्कवाचस्पति तथा रामचन्द्र मिश्र ने सादृश्य प्रदर्शन से पात्र प्रवेश रूप कार्य होने से 'अवगलित' नामक प्रस्तावना माना है।

पूर्वरङ्ग:-भरतमुनि ने नाट्यप्रयोग के आरम्भ से पूर्व अनेक अनुष्ठानों का विधान बतलाया है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार रङ्ग की विघ्नशान्ति के लिए नाट्य प्रयोग से पूर्व नटों द्वारा किया गया माङ्गल्य, गायन, वादनादि को पूर्वरङ्ग कहा जाता है।[30] इनके अङ्गों में नान्दी प्रमुख

---

27. माल0 पृष्ठ 4
28. दशरूपक 3/7-8
29. माल0 1/3
30. साहित्य दर्पण 6/22

है। भरतमुनि द्वारा बतलाई गई दिशा के अनुरूप नान्दी का विधान भी विस्तृत होने से केवल मङ्गल श्लोक तक ही सीमित रह गया है। इसका उद्देश्य ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति करना है। नान्दी देव, द्विज नृपादि की ऐसी स्तुति गीति है, जिसमें रङ्ग सामाजिकों की शुभाशंसा गर्भित रहती है। यह कहीं अष्टपदा और कहीं द्वादशपदा होती है।[31] मालविकाग्निमित्र में प्रयुक्त आशीर्वचन संयुक्त इस नान्दीश्लोक[32] द्वारा शिवस्तुति की गयी है, जिसमें सामाजिकों की शुभाशंसा निहित है। नाटक की कथावस्तु की ओर भी संकेत है:- प्रणतबहुफले, एकैश्वर्य एवं ईश पद राजा अग्निमित्र की ओर तथा 'सन्मार्गालोकनाय' पद मार्ग नामक अभिनय विशेष की ओर संकेत करता है। नान्दी लक्षणानुसार यह अष्टपदा नान्दी है, परन्तु यह न तो सुप्तिङन्तरूप है और न ही श्लोकपादरूप, अपितु अभिनवगुप्तादि प्राचीन आचार्यों द्वारा अभिहित अवान्तर वाक्यरूप है। 'प्रणतबहुफले' एकपद, कृत्तिवासा: द्वितीयपद, देहोऽपि तृतीयपद, यतीनाम् चतुर्थपद, बिभ्रत: पंचमपद, नाभिमान: षष्ठपद, सन्मार्गालोकनाय सप्तम पद और ईश: अष्टमपद है। इसके द्वारा नाट्यारम्भ के लिए नटों द्वारा देवादि स्तुतिरूप वाचिक अभिनय का अवतरण किया गया है। अत एव रङ्ग में किये जाने वाले नाट्य प्रयोग के द्वार के सदृश होने से पूर्वरङ्ग का रङ्गद्वार नामक अङ्ग भी है, अत एव इसे रङ्गद्वाररूप नान्दी कहा जा सकता है।

वृत्तियों के विवेचन से स्पष्ट है कि मालविकाग्निमित्र में नाट्यवृत्तियों का प्रयोग उपयुक्त है। शृङ्गार प्रधान नाटक होने से इसमें कैशिकी वृत्ति की प्रधानता है तथा साथ ही सात्त्वती, आरभटी और भारती वृत्ति का प्रयोग भी सम्यक् है। यद्यपि भारती वृत्ति में संवाद की, कैशिकी में संगीत की, आरभटी में संघर्ष की ओर सात्त्वती में चरित्र की प्रधानता तो होती है, परन्तु कोई भी वृत्ति अपने शुद्ध रूप में नहीं रहती, उसमें अन्य वृत्तियों का समावेश होता है। इतना अवश्य है कि उनका समानुपात होना चाहिए। भारती वृत्ति की अधिकता होने से नाट्य दृश्य न होकर पाठ्य बन जाता है। कैशिकी का आधिक्य होने पर कथा प्रवाह विच्छिन्न हो सकता है। सात्वती वृत्ति की अधिकता वितृष्णा का और आरभटी का आधिक्य त्रास का जनक हो जाता है। मालाविकाग्निमित्र में चारों वृत्तियों का समायोजन उपयुक्त है।

---

31. वही 6/24-25
32. एकैश्वर्ये स्थितोऽपि प्रणतबहुफले य: स्वयं कृत्तिवासा:, कान्तासम्मिश्रदेहोऽप्यविषयमनसां य: परस्ताद्यती नाम्। अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमान:, सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसीं वृत्तिमीश:। माल0 1/1

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0195-200)

देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः-एक विश्लेषण

डॉ० (श्रीमती) लक्ष्मी शर्मा

अध्यक्षचरा संस्कृत-विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय

जयपुर-302004

''देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः''[1] अर्थात् देव तथा असुर दोनों प्रजापति की सन्तान हैं। यह कथन स्वयं में एक सृष्टिविज्ञान का सूत्र है। सत् तथा असत् दोनों ही तत्त्व सृष्टि रचना प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। वेदों में वर्णित अहोरात्र रूपक भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की ओर संकेत करता है। सृष्टि के अन्य दो तत्त्व हैं- **'मर्त्य'** तथा **'अमर्त्य'**। प्रजापति का अर्धभाग मर्त्य (असुर) तथा अर्ध भाग अमर्त्य अर्थात् देव है,[2] इसीलिए देव तथा असुर दोनों **'प्राजापत्य'** हैं। **''द्वन्द्वं हि मिथुनम्''**[3] के आधार पर सृष्टि द्वन्द्वात्मक है। यह संसार प्रत्यक्ष यज्ञ है, जो प्रजापति रूप है-**''एष वै प्रत्यक्षं यज्ञो यत् प्रजापतिः''**। दिन देवता है तो रात्रि असुर, प्रकाश देवता है तो तम असुर, विद्युत् इन्द्र देवता है तो मेघ वृत्रासुर है। अमावस्या असुरी है तो पूर्णिमा दिव्य है। आत्मा दिव्य है तो मन असुर है। इस द्वन्द्वात्मक सृष्टि में असुरों का सम्बन्ध माया तथा तम से है, इसीलिए संसार में दुःख-कष्ट तथा व्याधियाँ अधिक हैं। प्रजापति के दोनों पुत्रों में से असुर मात्रात्मक एवं बलात्मक दृष्टि से देवों से बढ़कर हैं-**''ते असुराः भूयान्सो बलीयांस आसन्''**।[4] देवता कनीयान् होते हुए भी गुणात्मक दृष्टि से असुरों से बढ़कर थे। अतः सुख तथा आनन्द यदा-कदा प्राप्त होता है, जबकि कष्ट अनायास एवं अधिक रूप से प्राप्त होता रहता है।

संसार एक ऐसा असुरालय है, जिसमें अनन्त व्याधियाँ है, जो मानसिक एवं शारीरिक रूप से उभयविध मानव को कष्ट प्रदान करती हैं। इन व्याधियों एवं कष्टों के अनन्त कारण हैं, ये कारण ही **'आसुरी तत्त्व'** हैं। आसुरी तत्त्व दो प्रकार के होते हैं-प्रत्यक्ष एवं प्रच्छन्न।

यही आसुरी शक्तियाँ प्रजापति की सृष्टि में निरन्तर सक्रिय हैं, जिनके विषय में पर्याप्त

1. शतपथ-ब्राह्मण (11/1/6/11)
2. शतपथ-ब्राह्मण (1/1/3/2)
3. शतपथ-ब्राह्मण (4/3/6/3)
4. शतपथ-(11/1/6),

ज्ञान होने पर ही इन पर नियन्त्रण किया जा सकता है और मानव-जीवन कष्टों से मुक्त हो सकता है। प्रस्तुत आलेख में **'असुर'** शब्दार्थ वैविध्य का विलेषण करते हुए देवासुर सम्बन्ध के विषय में विचार किया जा रहा है।

''प्राणो वाऽसुः''[5] शतपथ-ब्राह्मण में असु पद का अर्थ ''प्राण'' दिया गया है, जिसमें ''प्र'' पूर्वक 'अन्' धातु से ''अच् अथवा 'घञ्' प्रत्यय करने परणत्व करके प्राण शब्द की निष्पत्ति हुई है। निरुक्तकार ने कहा है:-**''अपि वासुरिति प्राणनाम। अस्तः शरीरेः भवति। तेन तद्वन्तः।''**[6] अर्थात् असुर शब्द प्राणवाची है और क्योंकि वह प्राण शरीर में अस्त क्षिप्त रहता है, अत: 'असन-क्रिया-योग' से उसका नाम **'असु'** पड़ा है। उस प्राण वाची 'असु' से युक्त होने के कारण वे **'असुर'** कहलाये। वस्तुतः प्राण शब्द से बल, शक्ति, शौर्य, उच्चाभिलाषा, ऊर्जा, सामर्थ्य इत्यादि, अनेक अर्थों को ग्रहण किया जाता है। 'शब्दार्थ-कौस्तुभ' भी इसी प्रकार से प्राणों के विभिन्न अर्थ करता है। इस दृष्टि से असु का अर्थ जीवनी शक्ति लिया जाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के शांकर भाष्य में भी कहा गया है-**''असुराः स्वेष्वेवासुष रमणात्''**[7] अर्थात् प्राणों में रमण करने को कारण इन्हें असुर कहा जाता है-**'असुषु रमन्ते इति असुराः''**। स्पष्टतः देखा जाता है कि प्रत्येक आसुरी शक्ति में अधिक क्षमता एवं बल होता है और यही कारण है कि संसार देवी शक्तियों से अधिक आसुरी शक्तियों से भयभीत रहता है। इसमें उनकी जीवनी शक्ति एवं शक्ति सम्पन्नता है, विशेष कारण होता है।

असुर शब्द का दूसरा अर्थ है-**'न सुरः=असुरः।'** 'सुर' पद का उल्लेख उपनिषद् में हुआ है। असुर पद में स्थित अकार को नकारात्मक अर्थात् 'नञ्' समास से मानकर ''देवों को सुर कहा जाने लगा, और असुर का अर्थ ''देवविरोधी'' व्यक्तितत्व माना जाने लगा। यद्यपि ऋग्वेद में सुर पद का प्रयोग दिखाई नहीं देता है, तथापि 'असुर पद का अर्थ' 'देवविरोधी' द्रष्टव्य है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी असुरों को देवविरोधी अथवा देवों का प्रतिद्वन्द्वी बताया गया है।[8] रामायण में असुर पद का अर्थ अन्य दृष्टि से ग्रहण किया गया है- समुन्द्र मन्थन में जब वरुण की कन्या वारुणी, जो 'सुरा' की अभिमानिनी देवी थी, वह प्रकट हुई और स्वयं को स्वीकार करने वाले पुरुष की खोज करने लगी। तब-

---

5. शतपथ (6/6/2/6),
6. निरुक्त-(3/2)
7. छान्दोग्य उपनिषद् - (1/3/1) शांकरभाग्य
8. वैदिक देवशास्त्र पृ. 297

दितेः पुत्रा न तां राम! जगृहुर्वरुणात्मजाम्।
अदितेस्तु सुता वीर जगृहुस्तामनिन्दिताम्॥
असुरास्तेन दैतेयाः सुरास्तेनादितेः सुताः।
हृष्टाः प्रमुदिताश्चासन् वारुणी ग्रहणात् सुराः॥[९]

अर्थात् वरुण की कन्या वारुणी को (सुरा को) दैत्यों ने ग्रहण नहीं किया, परन्तु अदिति के पुत्रों ने इस अनिन्द्य सुन्दरी को ग्रहण कर लिया। 'सुरा' से रहित होने के कारण ही दैत्य 'असुर' और सुरा-सेवन के कारण ही अदिति के पुत्र 'सुर' कहलाये। वरुणी को ग्रहण करने के कारण देवतागण उत्फुल्ल एवं आनन्दमग्न हुए।

शतपथ-ब्राह्मण में असुर तथा 'सुर' की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए कहा गया है-

सोर्देवानसृजत् तत् सुराणां सुरत्वम्। असोरसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्॥[१०]

प्रजापति ने जिन तत्त्वों को 'सो' अर्थात् उत्तम प्राणों से उत्पन्न किया, वे सुर कहलाये तथा अवाङ् प्राणों से (असोः) उत्पन्न होने के कारण इनका नाम असुर पड़ा। इस उत्पत्ति स्थल की निम्नता के कारण ही असुरों के गुणात्मक स्तर की निम्नता को आँका जा सकता है। शतपथ-ब्राह्मण की व्याख्या देवासुर भेद का महत्त्वपूर्ण आधार हैं। यास्क भी उक्त कथन को उद्धृत करते हैं।[११]

निरुक्तकार यास्क ने भी असुर शब्द का निर्वचन करते हुए कहा है-**"असुराः असुरताः स्थानेष्वस्ताः स्थानेभ्यः इति वा।"**[१२] क्योंकि वे स्थानों पर भली प्रकार नहीं ठहरते अपितु चंचल रहते है, साथ ही देवों ने इन्हें स्थानों से च्युत कर दिया, अतः वे असुर कहलाये।

ऋग्वेद में कहा गया है-**'पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति'**[१३] अर्थात् देवासुरों में से आधों को पीयति अर्थात् नष्ट करता है और आधों की स्तुति करता है। **'नेमे देवाः नेमेऽसुराः'** आधे देव और आधे असुर थे। इससे स्पष्ट है कि देव तथा असुर सृष्टि के संरचनात्मक द्वन्द्व हैं। सृष्टि रचना का मूल देवासुर तत्त्व है। अतः व्यष्टि और समष्टि दोनों में ही ये दोनों तत्त्व विद्यमान हैं। इन दोनों तत्त्वों का परस्पर आधार एक होने के कारण देवासुर संग्राम होता है। इससे सिद्ध होता

---

9. वाल्मीकि रामायण (1/45/37-38)
10. शतपथ- (11/1/6/7)
11. वही (3/2)
12. निरुक्त (3/2)

है कि देवों में असुरत्व तथा असुरों में देवत्व भी आंशिक रूप से विद्यमान रहता है। इसीलिए ऋग्वेद में असुर पद के उत्तम तथा निम्न दोनों अर्थ प्राप्त होते हैं। व्याकरण ही दृष्टि से 'अस्' धातु में उणादि **'असेरुरन्'** इति **'उरन्'** प्रत्यय करने पर **'असुर'** शब्द का निष्पत्ति हुई है।[14] जिसके पुल्लिंग में अर्थ हैं- प्राण, आध्यात्मिक-जीवन तथा मृतात्माओं का जीवन आदि। इसी प्रकार-नपुंसक लिङ्ग में 'असु' शब्द के अर्थ हैं-शोक-दुःख इत्यादि।[15] 'अस्' धातु से निष्पन्न असुर शब्द के विभिन्न शोभन एवं अशोभन दोनों ही अर्थ लिए जाते हैं। एक ओर जहाँ असुर का अर्थ दैत्य एवं राक्षस है तो दूसरी ओर सूर्य अथवा बादल भी लिया जाता है।

ऋग्वेद में असुर शब्द का अर्थ अनेक स्थानों पर उत्कृष्ट रूप में भी लिया गया है। डॉ. फतेह सिंह ने अपने वैदिक दर्शन पृष्ठ 98-99 पर लिखा है कि ऋग्वेद कालीन असुरों में सत् अंश अपेक्षाकृत अधिक था, जबकि देवों में असत् अंश। किन्तु अन्तर यह था कि देवों में जो आसुरी अंश था वह लोक कल्याणकारी था, जबकि असुरों में जो दिव्यांश था वह विध्वंसक अंश था। जैसे अग्नि का लोक कल्याणकारी अंश दिव्य है, किन्तु दाहक अंश अदित्य है। कुछ विद्वानों के अनुसार असुर शब्द का प्रयोग 'वरुण' के लिए हुआ।[16]

ऋग्वेद में विभिन्न देवताओं के लिए 'असुर' शब्द का प्रयोग किया गया है-इन्द्र (1/54/3), अग्नि (2/1/6), सविता (1/35/7), द्यौ (1/131/1) रुद्र (5/42/1); पूषन् (5/55/1); पर्जन्य (5/83/6)। ऋग्वेद में असुरों को ''पूर्वे देवाः'' कहा गया है, क्योंकि दिव्य लोक में पहले असुरों का शासन था, अतः असुरों को भी देव कहा गया। अमरकोश में 'पूर्वे देवाः' पद असुर का पर्याय बताया गया है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ''दयानन्दभाष्य'' में 'असुर' पद के 'असुर' पद के विभिन्न अर्थ किये हैं-1. असून् प्राणान् राति ददाति सः असुरः। (1/35/10) 2. प्राणवद् बलिष्ठः। (1/151/4) 3. अविद्वान् जनः। (1/122/1) 4. मेघः। (1/174/1) 5. विदुषः शत्रुः। (2/30/4) 6. यः अविद्यमानः। (2/27/10) 7. रूपरहितः वायुः। (3/29/14) 8. शत्रूणां प्रक्षेपकः। (3/53/7)

निरुक्त में असुर शब्द प्रज्ञावाचक भी कहा गया है। मैत्रायणी संहिता में-**'दक्षिणेन हस्तेन (प्रजापतिः) देवानसृजत सव्येनासुरान्। दिवा देवानसृजत नक्तमसुरास्ते देवाः शुक्लाः**

---

14. उणा01.42.
15. शब्दार्थ-कौस्तुभ-असु पद,
16. वैदिक दर्शन-डॉ. फतेह सिंह- पृ. 98-99

कृष्णा असुरास्ते देवा सत्यमभवन्ननृतमसुराः।''[१७] कहते हुए बताया है कि प्रजापति ने दांए हाथ से देवों की रचना दिन में हुई जबकि बायें हाथ से असुरों की। देवों की रचना दिन में हुई जबकि असुरों को रात्रि में रचा। सृष्टि की प्रथम ऊषा का आगमन ही सत्य है, अतः देव सत्य हैं तथा असुर अनृत। काठक संहिता में-'**अहर्वै देवानामासीद्रात्र्यसुराणाम्।' असुर्या वै रात्रिः**'[१८] दिन देवों की ओर रात्रि असुरों की कही गयी हैं इसीलिए रात्रि को असुर्या कहा जाता है।

प्रजापति द्वारा असुर नाम करण के सम्बन्ध में आचार्य याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्रजापति ने कहा प्राणों की भाँति मेरी आराधना करो अतः असु से असुर नाम पड़ा। प्रजापति ने अवाङ् प्राणों से असुरों की सृष्टि की, उस समय अँधेरा था, अतः असुर 'तम' के समान हैं। संवत्सर का अर्धमास असुर है और अर्धमास देव। इसीलिए देव रूप अर्धमास में शुभकार्य सम्पन्न होते हैं। इसी प्रकार उत्तरायण देव है और दक्षिणायण असुर। असुरों को प्रजापति ने दायभाग में तम तथा माया दी। अतः माया का नाम असुर है।[१९]

शतपथ में कहा है-'' **देवाश्च वाऽसुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ततोऽसुरा उभयोरोषधीर्याश्च............**''[२०] अर्थात् देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तान थे किन्तु दोनों में स्पर्धा होती थी। असुरों ने मानवीय तथा पशुसम्बन्धी दोनों प्रकार की ओषधियों के अभिचार कर्म तथा विष से विकृत कर दिया और देवों को जीतने का विचार करने लगे।

भोजन के अभाव में सब पराजित हो गये। बाद में तीनों लोकों में पृथ्वी पर लोहे का, अन्तरिक्ष में चाँदी का और द्युलोक में स्वर्ण के पुर बनाये। इसीलिए देवता कनिष्ठ भाई हैं ''**कनीयसा एवं देवा, ज्यायसा असुरा**''।[२१]

तैत्तिरीय-ब्राह्मण में अग्नि को ''असुर'' शब्द से अभिहित किया गया है और देव और असुर दोनों को प्रजापति की सन्तान कहा गया है-''**त्वमग्ने रुद्रो असुरो महोदिवः**'', ''**उभये वा एते प्रजापतेरध्यसृजन्त देवाश्चासुराश्च**'', ''**असुराणां वा इयम् अग्र आसीत्।**''।[२२]

प्रजापति ने पहले असुरों का तत्पश्चात् देवों का सृजन किया, अतः असुर ज्येष्ठ

---

17. मैत्रायणी संहिता- (1/1/3)
18. काठक संहिता (716), (813)
19. शतपथ (3/1/12/8)
20. शतपथ(2/4/4/3)
21. वही(3/4/4/3)
22. तैत्तिरीय ब्राह्मण- 3/11/29, (1/4/9/9), (3/2/1/6)।

कहलाये तथा देव कनिष्ठ। पृथिवी पर पहले असुरों का आधिपत्य था। देवों ने उन्हें खदेड़ कर पृथिवी पर अधिकार किया। ताण्ड्य-ब्राह्मण भी यही कहता है- **''कनस्विन इव वै देवा आसन् भूयस्विनोऽसुराः।'' ''तेऽसुरा भूयाँसो बलीयाँस आसन्''। ''देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वया पुत्रा आसन्''**[23] असुर और देवों को प्रजापति ने सृजित किया था, जिनमें असुर बलशाली थे, जबकि देव सौम्य थे। देवों की सृष्टि बाद में होने के कारण देव कनिष्ठ हुए जबकि असुर ज्येष्ठ कहलाये।

भौतिक आयाम में जितना तत्त्व ब्रह्म अर्थात् देवों का है, भौतिक सृष्टि में उतना ही तत्त्व असुरों का। दृश्यमान ब्रह्माण्ड का मूल स्रोत असुर है। इसी तथ्य को ब्राह्मण-ग्रन्थों ने **'देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्याः'** बताया है। असुरों का नेता वृत्र है। यास्क के अनुसार जल तथा विद्युत् के मिलने से वर्षा होती है। वृत्र का अहिभाव प्रबल होता है तो वृत्र अपने शरीर की वृद्धि करके रस स्रोतों को घेर लेता है।

इन्द्र अपने वज्र से वृत्र को मारता है, तब जल प्रवाहित होते हैं। जहाँ एक ओर मेघ को वृत्र कहा गया है, वही ऐतिहासिक दृष्टि से त्वष्टा के पुत्र को वृत्र कहा गया है। यास्क कहते हैं कि **'तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः।'**

अन्ततः एक ही तत्त्व में दिव्य और अदिव्य दोनों प्रकार की भावनाएँ देखने में आती हैं। असुरतत्त्व देव, मानव, पितरादि में भी होता है तथा गन्धर्वादि जातियों में भी, जबकि दिव्य तत्त्व असुरों में भी पाया जा सकता है, आखिर हैं तो दोनों प्राजापत्य ही। दोनों प्रजा के रक्षक और पालक हैं। अकेला दिव्यतत्त्व अथवा अकेला आदिव्यतत्त्व कुछ नहीं कर सकता है, क्योंकि दोनों के संघर्ष से यदि अमृत प्राप्त होता है तो संघर्ष भी सराहनीय है, परन्तु यदि दोनों के संघर्ष से विष प्राप्त होता है तो आसुरी तत्त्व का नाश आवश्यक है।

---

23. ताण्ड्य-ब्राह्मण (12/13/3/1)

गुरुकुल-शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0201-205)

व्यापारिक वातावरण की प्राचीन भारतीय अवधारणा

डॉ० रजत अग्रवाल
प्रवक्ता-प्रौद्योगिकी संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
श्रीमती पायल अग्रवाल
शोधछात्रा-प्रबन्धन संकाय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

प्रत्येक व्यापारिक संस्थान के लिए दो प्रकार के वातावरणों में स्वयं को स्थापित करना एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहता है। इसमें से एक आन्तरिक वातावरण तथा दूसरा बाह्य वातावरण होता है। वर्तमान परिस्थितियों में सभी प्रतिष्ठान लगातार तेजी से बदलती हुई स्थितियों से सामञ्जस्य का प्रयास सतत रूप से कर रहे हैं, विशेष रूप से बाह्य वातावरण में हो रही घटनाओं से।

किसी भी संस्था/प्रतिष्ठान/समूह के लिए बाह्य वातावरण के अवयवों को नियन्त्रित कर पाना असम्भव होता है। और यह एक प्रचलित मत है कि कम्पनी जिस प्रकार के बाह्य वातावरण में काम करती है, उससे कम्पनी के अन्दर का वातावरण भी पर्याप्त स्तर पर चुनौतीपूर्ण हो जाता है।[1] वर्तमान में संस्थाओं का बाह्य वातावरण अत्यन्त जटिल होता जा रहा है तथा साथ ही परिवर्तन की दर भी सर्वाधिक है, अत: स्थितियाँ कठिनतम होती जा रही हैं। पुनश्च आर्थिक उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, सूचना प्रौद्योगिकीकरण आदि के कारण बाह्य वातावरण का परिसीमन भी असम्भव है। अमेरिका पर 9/11 के आतंकवादी हमले का प्रभाव भारत की आर्थिक विकास दर पर पड़ा था।

एल्विन टोफलर[2] के अनुसार परिवर्तन की वर्तमान दर ने प्रबन्धव्यवस्था में एक नये तत्त्व को जोड़ दिया है। प्रबन्धक पहले से ही बहुत से निर्णय अपरिचित वातावरण में संभावना के आधार पर लेता है, परन्तु अब यह निर्णय अधिक मात्रा में और शीघ्रता से लेने होंगे।

---

1. F.E. Emery and E.L. Trist. "The Causal Texture of Organizational Environments", Human Relations, Feb. 1965, pp 21-32
2. Alvin Toffler, The Third Wave (New York: William Morrow&Co., Inc., 1980);

वर्तमान समय में किसी भी कम्पनी की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह अपने आन्तरिक वातावरण को बाह्य वातावरण में उत्पन्न हुई स्थितिओं का लाभ लेने के लिए किस प्रकार तैयार रखती है। बाह्य वातावरण के प्रमुख अवयव हैं-राजनैतिक परिदृश्य, सामाजिक संघटन, प्रौद्योगिकी, व्यापार के प्रति जागरूकता, आर्थिक प्रतिबन्ध, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इत्यादि। वर्तमान समय में प्रत्येक अवयव के समीकरण तेजी से बदल रहे हैं, जिसके कारण वर्तमान औद्योगिक, व्यापारिक प्रतिष्ठानों को सदैव बाह्य वातावरण में हो रहे परिवर्तनों का अत्यन्त सावधानी पूर्वक अध्ययन एवं ध्यान रखना पड़ता है। इस प्रकार से एक अत्यन्त जटिल प्रतियोगी बाजार उत्पन्न हो गया है, जहाँ आर्थिक रूप से उपभोक्ता को अधिक गुणवत्ता की वस्तु कम मूल्य पर उपलब्ध हो जाती है।

प्राचीन भारतीय समाज भी आर्थिक रूप से अत्यन्त उन्नत समाज था। यह तभी सम्भव है, जब किसी समय व काल में व्यापार के लिए सकारात्मक वातावरण उपलब्ध हो। प्राचीन व्यापार के वातावरण के मुख्य अवयव निम्नवत् हैं।

१. सामाजिक व्यवस्था

प्राचीन भारत में भारतीय समाज के ढांचे को समझने के लिए मूल आधार वर्णव्यवस्था है। प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था का पालन करना अनिवार्य था। राज्य का शासक वर्णव्यवस्था का पोषक एवं रक्षक हुआ करता था। मनु ने इसी तथ्य को मनुस्मृति में प्रस्तुत किया है-

स्वे स्वे धर्मे निविष्टानां सर्वेषामनुपूर्वशः।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता।।[3]

चाणक्य ने भी वर्णव्यवस्था का समुचित संपोषण राजा का कर्तव्य कहा है। चाणक्य ने कहा है कि जिस राज्य में वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था का पालन भली प्रकार से किया जाता है, उस समाज में कभी दुःख नहीं आता है।

व्यवस्थितार्यमर्यादा कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति।।[4]

वर्णव्यवस्था के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के दायित्व उनके गुणों के अनुसार निर्धारित किये गऐ थे। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्यात्म उत्थान, शिक्षण, पठन-पाठन तथा धार्मिक क्रिया कलाप था। ब्राह्मणों का स्थान भौतिक समृद्धि में न होने पर भी उच्च

---

3. मनुस्मृति 7/35
4. अर्थशास्त्र (शिक्षा समुद्देश)

स्तरीय था। सामान्यतः योद्धा वर्ग क्षत्रिय था, वे राजा एवं शासक होते थे। सामाजिक दृष्टि से ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों में वर्चस्व के लिए सदैव बहस चलती थी। शूद्र वर्गीय सेवक व अन्य इसी प्रकार के कार्य करते थे।

वैश्य वर्ण मुख्य रूप से व्यापार, उद्योग, वाणिज्य, विपणन आदि के लिए उत्तरदायी था। प्रो0 कृष्ण कुमार[5] ने भी लिखा है कि प्राचीन समय में राष्ट्र की अर्थव्यवस्था वैश्यों से संचालित होती थी। प्राचीन भारत में आर्थिक व्यवस्था के मुख्य रूप से तीन आयाम थे-कृषि एवं कृषि सम्बन्धी उद्योग, पशुपालन एवं व्यापार। गीता में भी लिखा है कि यह तीनों कर्म वैश्यों के लिए प्राकृतिक रूप से प्रदत्त दायित्व है।

कृषि गोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।[6]

मनु ने भी इसी प्रकार के समरूप कर्मों को वैश्यों का दायित्व माना है।

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।

वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।[7]

मनु के अनुसार पशु पालन, दान, यज्ञ, व्यापार, महाजनी एवं कृषि वैश्यों के प्रमुख कार्य हैं।

शिक्षा भी सामाजिक जीवन का प्रमुख घटक है। प्राचीन भारत में शिक्षा पर अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। मनु ने शिक्षा को चार प्रमुख भागों में विभाजित किया था।

मनु के अनुसार आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति शिक्षा के प्रमुख प्रकार हैं। इसमें से वार्ता शिक्षा का वह क्षेत्र, जोकि आर्थिक महत्ता के विषयों जैसे कि कृषि, पशुपालन, व्यापार आदि से संबंधित है।[8]

इस प्रकार के संदर्भों से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में आर्थिक गतिविधियों को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए सामाजिक संरचना पूर्णतः अनुकूल थी।

२. प्राचीन भारत में व्यापार का स्थान

प्राचीन भारत में व्यापार अथवा आर्थिक गतिविधियों की महत्ता भारतीय दर्शन में वर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय के माध्यम से विदित होती है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में द्वितीय स्थान अर्थ

---

5. कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, प्राच्यविद्या अकादमी, हरिद्वार, 1993.
6. श्रीमद्भगवतगीता 18.44
7. मनुस्मृति 1.90
8. मनुस्मृति आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता [illegible] लोकसंस्थितिहेतवः।।

को दिया गया है। अत: अर्थ की उपयोगिता एवं महत्ता स्वयं ही परिलक्षित होती है। अर्थोपार्जन को एक मुख्य दायित्व के रूप में जाना गया। वैदिक संहिताओं में स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसङ्ग मिलते हैं, जहाँ भौतिक अर्थात् आर्थिक प्रगति की प्रार्थना की गई है। जैसे कि-**अस्माँ इन्द्र वसौ दधः।**[९] "व्यापार की महत्त्वपूर्ण सूक्ष्मताओं को जानना" प्राचीन भारत में ज्ञान की एक मुख्य विधा थी, इसीलिए वार्ता शिक्षा के एक मुख्य अङ्ग के रूप में विकसित हुई। वार्ता के विषय में कौटिल्य कहते हैं कि एक राजा अपने शत्रुओं पर वार्ता के माध्यम से अपने खजाने एवं सेना को समृद्ध करके नियन्त्रित करता है। महाभारत में भी अर्थ, व्यापार को केन्द्रीय भूमिका में निर्धारित किया है।[१०]

३. प्राचीन भारत में आर्थिक वातावरण

प्राचीन समय में व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रिय आर्थिक समृद्धि पर पर्याप्त बल दिया गया। वित्त एवं आर्थिक विकास विभाग को राज्य का मेरुदण्ड माना गया था। इसी विचार के कारण महाभारत में भीष्म ने निकटतम विश्वस्त लोगों को आय के प्रमुख स्रोतों जैसे कि स्वर्ण खदान, नमक उत्पादन, कर गणना, नदियों के मुहानों पर तैनात करने की चर्चा की है।

आकरे लवणे शुल्केतरे नागबले तथा।

न्यसेदमात्यान् नृपतिः स्थापयेत् पुरुषान् हितान्।।[११]

प्राचीन समय में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार था कि कोई भी व्यक्ति राज्य के कारण दरिद्रतापूर्वक जीवनयापन न करे। उस समय विकास की अवधारणा समाज के सबसे पिछड़े व्यक्ति को ध्यान में रखते हुए की गई थी। परन्तु वर्तमान समय में विकास का अर्थ अथवा विकास मात्र एक वर्ग विशेष तक सीमित रह गया है। समाज निरन्तर विषमता की ओर अग्रसर हो रहा है। आंकड़े बताते हैं कि गरीबी रेखा से नीचे जीवनयापन करने वालों की जनसंख्या लगातार बढ़ रही है। प्राचीन समय में गरीब एवं पिछड़े वर्ग को मूलभूत सुविधाएँ उपलब्ध करवाना राज्य की जिम्मेदारी होती थी। इससे अनुमान होता है कि राज्य आर्थिक रूप से सुदृढ़ रहे होंगे। आर्थिक सुदृढ़ता तभी सम्भव है जब शासक इस प्रकार की दूरगामी नीतियाँ तैयार करता है, जिससे अर्थोपार्जन गतिविधियाँ तथा कृषि, शिल्प, व्यापार, पशुपालन, उद्योग पुष्पित-पल्लवित हो सके।

---

9. ऋग्वेद 1.81.3

10. अर्थशास्त्र 1/4 कृषिपशुपालनवाणिज्य च वार्ता। धान्यपशुहिरण्यकुण्याविष्ठिप्रदानाद्रौपकारिणी तथा स्वपक्षं वा वशीकरोति कोशदण्डाभ्याम्।।

11. महाभारत शान्तिपर्व 69/29

प्राचीन समय में आर्थिक वातावरण सुदृढ़ था, इसका ज्ञान कौटिल्य के निम्न प्रसङ्ग से होता है, जहाँ कौटिल्य के अनुसार व्यापारिक गतिविधियों के लिए विपणन स्थल विशेष रूप से खनिज तत्त्वों के लिए, समुद्री मार्गो का विकास, सड़कों, बाजारों का निर्माण राज्य को करवाना चाहिए,[12] के लिए कहा गया है

मनु ने भी मनुस्मृति में आर्थिक वातावरण के विकास के संदर्भ में श्रमिकों का संतोष प्रमुख माना है। मनु के अनुसार श्रमिक का मनोबल उत्साहित रखने के लिए उसे सदैव आर्थिक रूप से प्रसन रखना चाहिए।

इसी प्रकार वैदिक संहिताओं एवं तत्कालीन अन्य ग्रंथों में संदर्भ उल्लिखित हैं, जो यह बताते हैं कि उस समय विकसित आर्थिक परिस्थितियाँ उपलब्ध थीं।

४. प्राचीन भारत में नियन्त्रक वातावरण (Regulatory Environment)

प्राचीन भारत में आयात-निर्यात, वितरण, मूल्य नियन्त्रण, कर निर्धारण एवं आर्थिक अपराधों के नियन्त्रण हेतु एक पूर्ण विकसित व्यवस्था थी। प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों ने मुद्रास्फीति का विशेष ध्यान रखा था। इस कारण राष्ट्र को कभी भी आज के युग की भाँति मुद्रास्फीति की समस्या नहीं देखनी पड़ती थी। अर्थ राष्ट्र की सुरक्षा, व्यवस्था और संगठन के लिए अत्यावश्यक है। आर्थिक व्यवस्था न गड़बड़ाये अत: मूल्य नियन्त्रण, वस्तु वितरण और मुद्रा के निर्माण कार्य में बड़ी सतर्कता और दूरदर्शिता से काम लिया गया है। व्यक्ति के स्वार्थ को नहीं अपितु राष्ट्र के हित को वे प्रधानता देते थे।[13] इस विचार से यह स्पष्ट होता है कि हेनरी फियोल जिन्हें प्रबन्धन का जन्मदाता कहा जाता है, द्वारा प्रदत्त सिद्धान्त "Subordination of individual interest to general interest" का पालन भारतीय समाज में प्राचीन समय से हो रहा है।

अन्त में यह कहना प्रांसगिक होगा कि प्राचीन समय से ही भारतीय चिंतकों ने आधुनिक प्रबंधन व्यवस्था द्वारा प्रतिपादित "Open System Theory" को प्रस्तुत किया था, जिसके कारण से ही निरंतर यह संदर्भ मिलते हैं कि उद्योग, व्यापार जैसी आर्थिक गतिविधियों को समृद्ध होने में सामाजिक संरचना, शिक्षा स्तर, व्यापार का स्थान, आर्थिक वातावरण, नियन्त्रक वातावरण का विशेष योगदान रहता है, इन सभी अवयवों के स्वस्थ एवं विकसित होने पर ही समृद्ध राज्य, समाज व व्यक्ति की कल्पना साकार हो सकती है।

---

12. कौटिल्य अर्थशास्त्र 2/1/21 आकर कर्मान्ताद् व्यहस्तिवनव्रजवाणिक्पथप्रचारान्वारिस्थलपथपथ्यपत्तनानि च निवेशयेत्।।
13. वन्दना, संस्कृत के प्राचीन आचार्यो की आर्थिक दृष्टि-एक समीक्षात्मक अध्ययन (शोधप्रबन्ध), डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा, 2002

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0206-214)

ऐतिहासिक शोध में स्त्रोत सामग्रीः एक समीक्षात्मक अध्ययन

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
वरिष्ठ प्रवक्ता-प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
(हरिद्वार) उत्तरांचल

डॉ0 दीपा गुप्ता
प्रवक्ता-प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व-विभाग
कन्या गुरुकुल महाविद्यालय
ज्वालापुर (हरिद्वार)

शोध, गवेषणा, खोज, अन्वेषण, अनुसन्धान, वस्तुतः एक ही वैज्ञानिक प्रक्रिया के पर्याय हैं। इतिहास में शोध की प्रक्रिया का प्रादुर्भाव 18वीं शताब्दी में, वैज्ञानिक विधाओं के आधार पर 'प्रो0 जं0बी0 ब्यूरी' के मुखारबिन्द से प्रस्फुटित इन शब्दों के साथ हुआ-**'इतिहास विज्ञान है, न कम और न अधिक'।**[1] ब्यूरी के पश्चात नेबूर एवं रॉके (जर्मनी), ऐक्टन (ब्रिटेन), कार्ल बेकर (अमरीका), ठेने (फ्रांस), आदि ने भी इसका समर्थन किया और इन्होंने ऐतिहासिक शोध की आधुनिक विधाओं और आलोचना पद्धति की विधि को प्रस्तुत किया। इनके इस प्रयास को हम **'ऐतिहासिक अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली'** कह सकते हैं। 19वीं शताब्दी में उक्त ऐतिहासिक शोध तथा ऐतिहासिक अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली को परिपक्वता एवं प्रौढ़ता की स्थिति प्राप्त हुई।

इतिहास में शोध का स्वरूप

इतिहास में शोध की परिभाषा को विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से परिभाषित किया है। 'कार्ल बेकर' ने 1931 में अमेरिकन इतिहास परिषद के अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में इसकी व्याख्या करते हुए कहा था-**'ऐतिहासिक शोध वह वैज्ञानिक विधा है, जिसमें एक इतिहासकार केवल उन तथ्यों का चयन करता है, जिसको उसका समाज महत्त्वपूर्ण बताता है और केवल उन प्रतिमानों को पाने का प्रयास करता है, जिन्हें पाने के लिए**

---

1. ए.एल. राउज-दि यूज ऑफ हिस्ट्री, 1963 लंदन, पृष्ठ-75

उसका समाज निर्देशित करता है।[2]

'शेक अली ए0 के शब्दों में-'शोध एक प्रक्रिया हैं जिसका अभिप्राय अतीत संबन्धी प्रधानरूपेण तथ्यों की खोज कर उनको प्रकाश में लाना है तथा ज्ञान की सीमा को विस्तृत करना है।'[3]

'एच०सी० हॉकेट' का अभिप्राय यह है-'शोध का अभिप्राय अतीतकालिक घटना के सम्बन्ध में नवीन सूचना तथा विचार का प्रस्तुतीकरण होता है।'[4] 'डा० तेजराम शर्मा' के अनुसार: रोमांच, मार्गदर्शक द्वारा प्रदत्त नई अन्तदृष्टि तथ्यों की नई खोज और नये प्रतिपादों द्वारा किसी वस्तु के बारे में सुनिश्चित रूप से जानना ही शोध है।[5]

अत एव कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक शोध, नये निष्कर्षों और नये आँकड़ों के साथ पहले से संबद्ध शोध के विषय में श्रमसाध्य ज्ञान पर आधारित एक विद्धतापूर्ण खोज है। ऐतिहासिक शोध में इतिहासकार अतीत के अन्तर्निहित प्रतिमानों की खोज करता है।

'बर्नहीम' के शब्दों में 'शोध स्वयमेव इतिहास नहीं, अपितु इतिहासकार द्वारा अपने लक्ष्य तक पहुँचने का एक साधन तथा प्रक्रिया है।'[6]

ऐतिहासिक शोध का वर्गीकरण

ऐतिहासिक शोध को प्राय: दो प्रारूपों शुद्ध (Pure) तथा व्यवहारिक (Applied) में श्रेणीकृत किया गया है। जबकि पहला ज्ञान के सामान्य भण्डार में योगदान करता है, दूसरा समाज की कई जटिल समस्याओं के समाधान में मदद करता है।[7]

ऐतिहासिक शोध में स्रोत सामग्री: एक समीक्षात्मक अध्ययन

ऐतिहासिक शोध के कार्य में स्रोत एक माध्यम का कार्य करते हैं। हमें जब कोई ठोस और तथ्यपूर्ण प्रामाणिक स्रोत मिलता है, तभी हम किसी निश्चित दिशा में शोध का कार्य प्रस्तुत करते हैं।

ये स्रोत हमें सन्दर्भ अथवा साक्ष्य (प्रमाण) स्वरूप होते हैं। यदि किसी स्रोत से हमें सन्दर्भ न प्राप्त हो तो हम शोध का कार्य नहीं कर सकते हैं। ऐतिहासिक शोध के लिए जिन

---

2. गोविन्दचन्द्र पाण्डेय-इतिहास: स्वरूप एवं सिद्धान्त, 1973, पृष्ठ 143
3. शेक अली ए.-हिस्ट्री इटस् पर्पज एण्ड मेथड, 1978 पृष्ठ 110
4. एच० सी० हॉकेट-दि क्रिटिकल मेथड इन रिसर्च एण्ड राइटिंग, 1955, पृष्ठ-10
5. डॉ0 तेजराम शर्मा-इतिहास में शोधविधि-पृष्ठ 22
6. बर्नहीम (रेनियर द्वारा उद्धत, पृष्ठ-51)
7. डॉ0 तेजराम शर्मा-'इतिहास में शोध विधि'-पृष्ठ 24

ऐतिहासिक स्रोतों की आवश्यकता होती है, उनमें सन्दर्भ ग्रन्थ, पुरातत्त्व (आर्कियोलोजी), पुरालेख (एपीग्राफी) एवं मुद्राशास्त्र (न्यूमिसमेटिक्स) भी समान रूप से उपयोगी है। ऐतिहासिक शोध के अन्तर्गत स्रोत सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन तीन भागों में वर्गीकृत किया जाता है।

1. साहित्यिक स्रोत
2. विदेशी वृत्तान्त या स्रोत
3. पुरातात्त्विक स्रोत

साहित्यिक स्रोतः ऐतिहासिक, शोध कार्य करते हुए सर्वप्रथम स्रोत-सामग्री के अन्तर्गत साहित्यिक स्रोत अत्यन्त उल्लेखनीय एवं एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। साहित्यिक स्रोत का अध्ययन भी हम दो रूपों में करते हैं। जिनका वर्णन अग्रलिखित है।

1. साहित्यिक स्रोत
2. धार्मिक ग्रन्थसाहित्यिक ग्रन्थ

धार्मिक ग्रन्थ

धार्मिक ग्रन्थों में वेदों का स्थान अहम हैं। वेद हमारे प्राचीनतम ग्रन्थों में से एक है। ऐतिहासिक शोध के लिए वेद स्रोत सामग्री के रूप में अमूल्य कोष है। वैदिक कालीन इतिहास की समग्र जानकारी वेदों में निहित है। वेद चार है- ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। वैदिक कालीन इतिहास को दो भागों में अध्ययन किया जाता है।

1. ऋग्वैदिक या पूर्व वैदिक काल।
2. उत्तर वैदिक काल।

प्रथम भाग की जानकारी का महत्त्वपूर्ण स्रोत ऋग्वेद है तथा उत्तर वैदिक काल की पूर्ण जानकारी हमें अन्य तीन वेदों से प्राप्त होती है। इतिहास से सम्बन्धित अन्य सभी कालों की महत्त्वपूर्ण जानकारी हमें वेदों से प्राप्त होती है।

धार्मिक ग्रन्थों के अन्तर्गत वेदों के पश्चात् पुराण, महाकाव्य, धर्मशास्त्र, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद तथा सूत्रसाहित्य भी ऐतिहासिक शोध हेतु अमूल्य स्रोत सामग्री है। इनके अतिरिक्त धार्मिक ग्रन्थों में बौद्ध, साहित्य तथा जैन साहित्य का भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

बौद्ध साहित्यः बौद्ध धर्म के विषय में विस्तृत जानकारी हमें बौद्ध साहित्य के अन्तर्गत सर्वप्रथम त्रिपिटिक नामक बौद्ध ग्रन्थ से प्राप्त होती है। त्रिपिटिक-अभिधम्म पिटिकः- जिसमे धम्म का दार्शनिक विवेचन है। अर्थात् 'धर्म विषयक'।

विनय पिटिकः जिसमें भिक्षु संघ के नियम है। अर्थात् आचार से संबद्ध है या दूसरे शब्दों में 'मठविषयक' **सुत्त पिटिकः** जिसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशों तथा प्रवचनों का

संकलन हैं,

दूसरा, जातक ग्रन्थ- 500 से भी अधिक कविताओं का संग्रह जिसमें लोककथाएँ और अन्य कथाएँ है। कथायें पूरी की पूरी बुद्धघोष को परिलक्षित एक गद्य में कही गयी है। अधिकांश कथाएँ धर्मनिरपेक्ष हैं, और कुछ को श्रेय प्रदान करती हैं। जिन्होंने कथित रूप से बोधिसत्व (बुद्ध बनने को नियत) के रूप में उनके पूर्वजन्मों की स्मृति के रूप में कही गयी हैं। यह सभी सजीव और ओजस्वी कथाएँ साहित्य के रूप में महान् है और सामाजिक इतिहास के बहुमूल्य स्रोत हैं।

बौद्ध धर्म के विषय में 'मिलिंदंपन्नोह' नामक बौद्ध ग्रन्थ से भी पता चलता है तथा दो सिलोनी (Ceylonese) ऐतिहासिक कृतियों 'दीपवंश' और 'महावंश' से भी जानते हैं।

जैन साहित्य

जैन साहित्य के अन्तर्गत आचार्य हेमचन्द्र कृत 'परिशिष्ट पर्वन' नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है। जिससे मौर्यवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रारम्भिक जीवन से सम्बन्धित गूढ़ जानकारी मिलती है। 'भद्रबाहुचरित' नामक ग्रन्थ से चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन प्रबन्ध से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है। इनके अतिरिक्त 'भगवती सूत्र' (जो षोडश महाजनपदों का वर्णित करता है) तथा 'कल्पसूत्र' एवं 'कथाकोष' इत्यादि ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन साहित्य कोष ऐतिहासिक शोध की स्रोत सामग्री में एक अहम् स्थान रखता है।

साहित्यिक ग्रन्थ: साहित्यिक स्रोत में धार्मिक ग्रन्थ के अतिरिक्त साहित्यिक ग्रन्थ भी आते हैं। जो ऐतिहासिक शोध के लिए एक परिपक्व स्रोत सामग्री के रूप में विद्यमान हैं। जैसे:

1. कौटिल्य कृत 'अर्थशास्त्र'
2. विशाखदत्त कृत 'मुद्राराक्षस'
3. कल्हण कृत 'राजतरंगिणी'
4. बिल्हण कृत 'विक्रमांकदेवचरित'
5. बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' एवं 'कादम्बरी
6. सोमदेव कृत 'कथासरित्सागर' इत्यादि साहित्यिक ग्रन्थ है।

---

८ ए० एल० बाशम, दि वंडर दैट वाज इंडिया, दिल्ली, 1963, पृष्ठ-267 और पृष्ठ-453 एफ.एफ

९ वही, पृष्ठ- 267-268

१० ए०एन० उपाध्याय, 'जैनिज्म' पुस्तक: ए.एल. बाशन (एडि०) ए कल्चुरल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ 100-101

ये सभी ऐतिहासिक शोध से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण तथा विस्तृत जानकारी प्रदान करते हैं।

विदेशी वृत्तान्त या स्त्रोत

ऐतिहासिक शोध कार्य करते हुए विदेशी स्रोत भी अत्यन्त सुदृढ़ स्रोत-सामग्री के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। विदेशी स्रोतों के अन्तर्गत विदेशी यात्रियों एवं विदेशी लेखकों के वृत्तान्तों का अध्ययन किया जाता है। इन सभी के विवरण हमें महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी प्रदान करते हैं।

उदाहरणार्थ:-विदेशी यात्रियों में 'फाह्यान, 'ह्वेनसांग'' एवं 'इत्सिंग' का नाम मुख्यत: आता है। फाह्यान नामक चीनी यात्री गुप्तवंशीय शासक चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में भारत आया था अत: उसके विवरण से चंद्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन प्रबन्ध सम्बन्धी तथा तत्कालीन सामाजिक आर्थिक, धार्मिक राजनैतिक स्थिति के विषय में पता चलता हैं। 'ह्वेनसांग' के विवरणों से सम्राट् हर्ष से सम्बन्धित पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है।

इसी प्रकार विदेशी लेखकों के विवरण भी ऐतिहासिक शोध के लिए वरदान सिद्ध हुए हैं। इनमें यूनानी, तिब्बती तथा मुस्लिम लेखकों के वृत्तान्त अत्यन्त उल्लेखनीय हैं।

यूनानी लेखकों में 'मेगस्थनीज' का नाम सर्वप्रथम आता है, जिसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'इण्डिका' से हमें मौर्ययुगीन विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। मुस्लिम लेखकों में 'अलबरुनि' प्रमुख है। जिसके ग्रन्थ 'तहकीके-ए-हिन्द' से 12वीं शताब्दी के इतिहास का पता चलता है। तिब्बती लेखकों में 'डॉ0 तारानाथ' का नाम महत्त्वपूर्ण है। जिनके ग्रन्थों से बौद्ध धर्म के विषय में तथा मौर्योत्तर युगीन शासन सम्बन्धी समग्र जानकारी प्राप्त होती है।

पुरातात्त्विक स्रोत:

पुरातत्त्वशास्त्र इतिहास का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्रोत है। यह इतिहास में एक वैज्ञानिक रंगत जोड़ता है। स्रोत सामग्री के रूप में पुरातत्त्व शास्त्र का उपयोग इतिहास के सभी कालों के लिए किया जाता है। पुरातात्त्विक स्रोतों के अन्तर्गत अभिलेखों, सिक्कों, मुहरों तथा स्मारकों का अध्ययन किया जाता है।

अभिलेखशास्त्र:

अभिलेखशास्त्र का पुरातात्त्विक स्रोतों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। अभिलेख हमें सबसे प्रामाणिक आँकड़े प्रदान करते है तथा परम्परा और साहित्य से भी अधिक विश्वसनीय होते हैं वे इतिहास का जीवन रक्त होते हैं।''

---

11. पी0 एन0 चोपड़ा- दि गजेटीयर ऑफ इंडिया वोल्यूम 2 पृष्ठ संख्या ...

अभिलेख प्रत्येक वस्तु को नियन्त्रित करते हैं। जो हम परम्परा साहित्य, सिक्कों, कला, वास्तुकला अथवा किसी अन्य स्रोत से सीखते हैं। भारत में प्राचीन ऐतिहासिक संकलनों की अनुपस्थिति में वे सूचना का एक अत्यावश्यक स्रोत हैं। अभिलेख धातुओं जैसे, लोहा, सोना, चांदी, पीतल, कांसे तथा तांबे पर खुदे होते हैं। धातुओं के अतिरिक्त अन्य पदार्थों पर खुदाई क्रिस्टल पर, टेराकोटा पर, पकी ईंट पर, मिट्टी के बर्तनों पर और पत्थरों पर विविध रूपों में उत्कीर्ण होते हैं। यहाँ तक कि चट्टानों पर, खंभों (स्तंभों) पर, गलीचों पर, मुहरों पर, दीवारों पर और गुफा आकृतियों तथा मूर्तियों के भागों पर भी खुदे होते हैं। अभिलेखों से घटनाओं के सादे कथन, धार्मिक उद्देश्यों, धार्मिक दान, धर्म निरपेक्षदान, भूगोल और शाही वंशावलियों के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है।

भारतीय इतिहास के अन्तर्गत अशोक कालीन शिलालेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे हम धर्म, राजनीति और प्रशासन के तथा अशोक के विचारों के बारे में जानते हैं।[12]

इसी प्रकार समुद्रगुप्त के 'इलाहाबाद स्तम्भ लेख' से हमें उसकी दिग्विजयों, साम्राज्य-विस्तार तथा उसके गुणों के विषय में रोचक जानकारी मिलती है।

इसी श्रेणी में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का 'महरौली लौह स्तम्भ लेख' तथा स्कन्दगुप्त का 'भीतरी स्तम्भ लेख' भी उल्लेखनीय है। सम्राट् अशोक का 13वाँ शिलालेख हमें कलिंग के युद्ध और युद्ध की नीति को त्यागने के उसके निश्चय के बारे में सूचित करता है। भारतीय इतिहास में बहुत से शिलालेखीय विवरण विभिन्न लिपियों में उपलब्ध हैं। सिन्धु घाटी की लिपि, ब्राह्मी, खरोष्ठी, नागरी अथवा देवनागरी, फारसी, अरबी और क्षेत्रीय भाषाओं में प्राचीन काल से लेकर समसामयिक काल तक जो युगों के भारतीय इतिहास के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हैं।[13]

मुद्राशास्त्र:

पुरातात्त्विक स्रोतों में मुद्रायें भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही हैं। सिक्के भी ऐतिहासिक शोध हेतु बड़े अहम् स्रोत सिद्ध होते हैं। हम, सिक्कों की खोज के बिना, कभी भी पंजाब में बैक्ट्रियाई शासकों और इसी प्रकार साईथियाई और पार्थियाई आक्रमणकारियों के बारे में नहीं जान सकते थे।[14] इसी प्रकार भारत में ईसा पूर्व शताब्दियों और उसके बाद के कालावधि में पनपे विभिन्न जन-जातियों और गणतन्त्रों तथा राजतन्त्रीय राज्यों के बारे में सिक्के ज्ञान का एक

---

12. डॉ० तेजराम शर्मा-'इतिहास में शोध विधि,' पृष्ठ-63
13. पी० एन० चोपड़ा-दि गजेटियर ऑफ इंडिया-बोल्यूम-2 पृष्ठ-ग.गगट
14. पी० एल० गुप्ता-क्वाइंस, नई दिल्ली 1969, पृष्ठ टए

मुख्य स्रोत हैं। सिक्के प्रायः उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के नाम प्रदान करते हैं, जो उन्हें जारी करने हेतु उत्तरदायी होते हैं।

भारतीय इतिहास में ज्ञात राजवंशों जैसे सातवाहनों[15] अथवा गुप्त[16] के पुरालेखीय और पौराणिक आँकड़े उनके सिक्कों द्वारा ही पुष्टिकृत किये जाते हैं।

सिक्के प्राचीन शासकों के सामाजिक धार्मिक और आर्थिक तथा राजनीतिक इतिहास को जानने में भी मदद करते हैं। सिक्के ही कलाकारी, कलात्मक श्रेष्ठता और तत्कालीन शासकों के सौंदर्यविषयक रुचियों के विचार को प्रतिबिम्बित करते हैं। सिक्कों से हम प्रसिद्ध धार्मिक संप्रदायों और प्रतिमाशास्त्रीय प्रारूपों के बारे में भी जान पाते हैं। उदाहरणतः कुषाण कालीन सिक्के ग्रीक, ईरानी, बुद्ध और ब्राह्मणवादी देवियों और देवताओं को चित्रित करते थे। विशेषकर मानव रूप में बुद्ध और पहली बार चार हाथों वाले भगवान् शिव।[17] गुप्ताकलीन सिक्के उस समय की धार्मिक सहिष्णुता की भावना को भी दर्शाते हैं। जैसे गुप्तकालीन सिक्कों पर दुर्गा या अम्बिका, गङ्गा तथा लक्ष्मी देवी की आकृतियाँ भी उत्कीर्ण मिलती हैं।[18]

सिक्कों से उनके काल के आर्थिक इतिहास पर भी पूर्णतः प्रकाश पड़ता है। सिक्कों के भार और मापविद्या के अध्ययन से लोगों की आर्थिक समृद्धि अथवा उनके पतन का संकेत मिलता है। यहाँ तक कि सिक्कों के आधार पर जनजातियों और बस्तियों के अध्ययन का भी प्रयास किया गया है।[19] इस प्रकार भारतीय इतिहास के किसी भी काल में अध्ययन हेतु सिक्कों का महत्त्व अब विस्तृत रूप से मान्यता प्राप्त है।[20]

मुहरें:

मुहरें भी ऐतिहासिक शोध के लिए एक बड़ी महत्त्वपूर्ण स्रोत सामग्री के रूप में विद्यमान हैं। ये मुहरें अधिकांशतः गुप्तयुगीन, कुषाणयुगीन तथा पूर्ववर्ती कुषाणों के समय की प्राप्त हुई हैं, जिनके माध्यम से तत्कालीन शासन सम्बन्धी समस्त जानकारी मिलती है तथा उस समय के लोगों के सामाजिक धार्मिक और आर्थिक इतिहास को जानने में भी मदद मिलती है।

---

15. माला दत्ता, 'ए स्टडी ऑफ सातवाहन क्वाइनेज', नई दिल्ली 1990, पैस्सिम।
16. टी०आर शर्मा ए पॉलिटिकल हिस्ट्री ऑफ दि इंपीरियल गुप्ताज, दिल्ली, 1989, पैस्सिम
17. पी०एल० गुप्ता, क्वाइंस, पृष्ठ टप्प
18. तदेव, पृष्ठ संख्या टप्प,प
19. पी.एल. गुप्ता "ज्योग्राफी फ्राम एंशियंट इंडियन क्वाइंस एण्ड सील्स", नई दिल्ली, 1989 एम.के. शरण, ट्राइबल क्वाइंस:ए स्टडी, दिल्ली, 1972
20. पी.एन. चोपड़ा, दि गजेटियर ऑफ इंडिया, वाल्यूम 2 पृष्ठ गगग,गग

गुप्तकालीन मुहरों में ध्रुवस्वामिनी (चंद्रगुप्त द्वितीय की पत्नी) की मुहर प्रमुख है, जिससे तत्कालीन स्थानीय एवं प्रान्तीय शासन सम्बन्धी विस्तृत जानकारी प्राप्त हुई है।

गुप्तकालीन मुहरें उत्तर प्रदेश के मुजफ्फरपुर जिले में प्राचीन वैशाली के 'बासर' नामक स्थान से प्राप्त हुई है। जिनका पता 'डॉ० स्पूनर' तथा 'डॉ० ब्लॉक ने लगाया है।'[21] इनमें से कतिपय मुहरों पर 'श्रेष्ठी-निगमस्य भी उत्कीर्ण हैं' जिससे पता चलता है कि उस समय श्रेणी एवं निगम नाम की आर्थिक संस्थाएँ प्रचलित थीं। जिन्होंने ये मुहरे निर्गमित अर्थात् जारी की थीं, इसीलिए इन पर 'श्रेष्ठी-निगमस्य' उत्कीर्ण है। कुषाण युगीन मुहरें इलाहाबाद के पास 'बहिटा' नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं जिनकी जानकारी 'सरजान मार्शल' एवं 'कनिंघम' ने प्राप्त की थी।[22]

पूर्ववर्ती कुषाणों के समय की मुहरें 'राजघाट' नामक स्थान से प्राप्त हुई हैं।[23] इस प्रकार इन सभी मुहरों से प्राचीन भारतीय इतिहास से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त हुई है।

कुम्भकारी

कुम्भकारी की कला नवप्रस्तर संस्कृतियों के उदय के साथ विकसित हुई। कुम्भकारी की कला भी ऐतिहासिक शोध के लिए स्रोत सामग्री के रूप में कम महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं हुई है। आरम्भिक चरणों में कुम्भकारी हस्तनिर्मित, कम जलायी गयी और मोटे ढांचे की बनी होती है।[24] भारत के विभिन्न भागों से कुम्भकारी के विभिन्न प्रकार उत्खनित किये गये हैं। जैसे: पेन्टेड ग्रे वेयर (पी.जी. वेयर)

2. नार्दन ब्लैक पॉलिश्ड वेयर (एन.वी.पी.वेयर)

बर्तनों के यह प्रकार पुरातत्त्व शास्त्र में सुविख्यात और विशेष कालक्रमिक महत्त्व के हैं। जिनसे भारतीय पुरातत्त्व की चित्रित धूसर मृदभाण्ड संस्कृति एवं उत्तरी कृष्ण मार्जित मृदभाण्ड संस्कृति के विषय में विस्तृत जानकारी मिलती है।

---

21. डॉ० स्पूनर, डॉ० ब्लाक-एक्जेवेशन्स एट बासर (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया एनुअल रिपोर्ट)-1903-1904, पृष्ठ संख्या-107, 108, 109, 110 कलकत्ता-1906
22. सर जान मार्शल एवं कनिंघम-एन्जेवेशन्स एट बहिटा (आर्कियोलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया एनुअल रिपोर्ट)-1911-1912, पृष्ठ संख्या-56, कलकत्ता-1915
23. वासुदेव शरण अग्रवाल-क्ले सीलिंग्स फ्राम राजघाट (जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसायटी ऑफ इंडिया) गोल्डन जुबली, वोल्यूम-23, वाराणसी-1961, पृष्ठ संख्या-410
24. शशि अष्ठाना, प्री-हरप्पन कल्चर्स ऑफ इंडिया एण्ड दि बार्डर लैण्ड्स, नई दिल्ली-1985, पृष्ठ 244-252

स्मारकः

तथ्य के रूप में इतिहास के किसी भी काल की पूरी जानकारी पाने के लिए एक इतिहासकार कला अथवा वास्तुकला के किसी भी रूप की उपेक्षा नहीं कर सकता, चाहे वह एक भवन के रूप में हो, मन्दिर, स्तूप, मस्जिद या गिरजाघर के रूप में हो। स्मारकों में विशेषतः पत्थर एवं मिट्टी से निर्मित भवन, किले, स्तूप, गुफाएं, मन्दिर इत्यादि आते हैं। जो प्राचीन भारतीय इतिहास की जानकारी का महत्त्वपूर्ण स्रोत है।

उदाहरणार्थ गुप्तकालीन मन्दिरों के स्थापत्य से तत्कालीन वास्तुकला के इतिहास की पूर्ण जानकारी मिलती है। सांची, भरहुत एवं बोधगया के स्तूप मौर्यकालीन कला तथा शुगकालीन कला के इतिहास पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार हमारे पास बहुत बड़ी विरासत कला और वास्तुकला या स्मारकों के रूप में प्राचीन भारतीय इतिहास को जानने के लिए भारत के अनेकानेक देशों में जीवित है।[25]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक शोध कार्य करते हुए स्रोत सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रोचक एवं ज्ञानप्रद सिद्ध हुआ है। यह तथ्य बिल्कुल सत्य एवं सटीक है कि स्रोत सामग्री के अभाव में ऐतिहासिक शोध ही नहीं चाहे किसी भी क्षेत्र से सम्बन्धित शोध है वह अपूर्ण तथा निराधार है। इतिहास का तो सबसे महत्त्वपूर्ण खण्ड स्रोत ही होता है। कतिपय ठोस एवं तथ्यपूर्ण प्रामाणिक स्रोतों के आधार पर ही हम अपने ऐतिहासिक शोध का कार्य सही अर्थों में पूर्ण करते हैं और किसी एक निश्चित दिशा या लक्ष्य तक पहुंचने में सफल होते हैं। क्योंकि स्रोत सामग्री ही ऐतिहासिक शोध का एक सुदृढ़ एवं सुव्यवस्थित आधार स्तम्भ है जो शोध के लिए प्रकाश सेतु की भाँति कार्य करता है।

---

25. डॉ० तेजराम शर्मा "इतिहास में शोध विधि", पृष्ठ 63

गुरुकुल शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0215-219)

स्तूप का उद्भव एवं विकास

डॉ० अनिल सिंह एवं डॉ० प्रशान्त कश्यप

प्रवक्ता, प्राचीन, इतिहास विभाग,

उदय प्रताप कालेज,

स्तूप का सामान्य अर्थ है- ढेर। मिट्टी या अन्य किसी पदार्थ के ढेर या एकत्र किये समूह को **'स्तूप'** कहा जाता है।[1] पालि साहित्य में इसे **'थूह'** या **'थूहा'** कहा जाता है।[2] बौद्ध धर्म और कला के संदर्भ में स्तूप उस स्मारक का द्योतक है जो मूलतः विशाल ढेर होने के साथ-साथ विभिन्न अलंकरणों एवं विकसित भागों से युक्त होने लगा था।[3] वस्तुतः अपने मूल रूप में स्तूप का सम्बन्ध मृतक संस्कार से था और शायद यह बुद्ध से पहले की परम्परा में विद्यमान था, जहाँ से उन्होंने ग्रहण किया था। इसकी पुष्टि बुद्ध एवं उनके शिष्य आनन्द के वार्तालाप से भी होती है, जब बुद्ध के महापरिनिर्वाण के अवसर पर उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने उनसे पूछा कि-**''हम किस प्रकार तथागत के शरीर का सम्मान करें''**? तो महात्मा बुद्ध ने कहा कि **'जिस प्रकार चार महापथों (चतुष्महापथों) पर चक्रवर्ती सम्राट् के लिए स्तूप बनाये जाते हैं उसी प्रकार, तथागत के लिए भी स्तूप बनाया जाना चाहिए।**[4]**'** शवदाह के बाद बची हुई अस्थियों को किसी पात्र में रखकर मिट्टी से ढक देने की प्रथा से स्तूप का जन्म हुआ। कालान्तर में बौद्धों ने इसे अपनी संघ पद्धति में अपना लिया। ऋग्वेद में स्तूपों के विवरण से इसकी प्राचीनता ज्ञात होती है। ऋग्वेद में हवन की प्रज्वलित अग्नि ज्वाला को स्तूप के नाम से संबोधित किया गया है।[5] एक अन्य मन्त्र में छायादार वृक्ष एवं स्तूप में एकता स्थापित की गयी है।[6] वैदिक साहित्य में जिस विराट् पुरुष से समस्त सृष्टि की उत्पत्ति की कल्पना की गयी है उसे **'हिरण्यस्तूप'** कहा गया है।[7]

---

1. पी.के. अग्रवाल, भारतीय संस्कृति की रूपरेखा, पृष्ठ 154.
2. वही.
3. वही. पृष्ठ 155.
4. रूदल प्रसाद यादव, भारतीय कला, पृष्ठ 48.
5. ऋग्वेद, 7.2.11
6. वही, 1, 2, 4, 7
7. रूदल प्रसाद यादव, वही, पृष्ठ 49.

महात्माबुद्ध के परिनिर्वाण के बाद उनकी अस्थियों को आठ भागों में विभाजित किया गया जैसा की बौद्ध परम्परा से ज्ञात है, बुद्ध के देहावसान पर उनके अनुयायियों में उनके शरीर के अवशेषों को लेकर झगड़ा हुआ। आठ क्षत्रिय राजाओं ने इस पर अपना स्वामित्व बताया। सांची स्तूप के तोरण द्वार पर इस धातु युद्ध का चित्रण मिलता है, किन्तु बीच बचाव एवं आपसी समझौते के उपरान्त भगवान् बुद्ध की **'शरीर धातु'** के आठ बराबर भाग किये गए और प्रत्येक पर एक स्तूप का निर्माण किया गया। कालान्तर में अशोक ने इन स्तूपों से **'शरीर धातु'** को निकलवाकर ८४००० स्तूपों का निर्माण कराया, यद्यपि यह संख्या अप्रत्याशित लगती है। परन्तु फिर भी इतना निश्चित है कि अशोक ने अनेक स्तूपों का निर्माण किया और पुराने स्मारकों का जीर्णोद्धार कराया।

स्तूप का उद्भव कैसे हुआ? इस सम्बन्ध में ऋग्वेद के विवरणों एवं स्तूप के उद्देश्य के आधार पर दो सिद्धान्त प्रतिपादित किये जा सकते हैं-

1. ऐसा लगता है कि वास्तुकला की उत्पत्ति में 'वृक्षों' का मुख्य योगदान था। ऋग्वेद के अनेक मन्त्रों में वृक्षों की तुलना स्तूप से की गयी है। चिता के किनारे वृक्षारोपण की परम्परा अति प्राचीन है। वृक्षों को देवगृह के रूप में पूजा जाता था। महाभारत में वृक्षों को नाग यक्ष, अप्सराओं, देवों, भूतों का आवास कहा गया है। संम्भवतः इन्हीं वृक्षों के अनुकरण पर दिवङ्गत आत्मा के आवास के रूप में उनकी चिता पर स्तूप का निर्माण किया जाने लगा। एक प्रकार से कह सकते हैं कि दिवङ्गत आत्मा के 'आवास' के लिए चिता पर 'आवास गृह' बनाने की परम्परा के कारण स्तूप का जन्म हुआ। चूँकि वैदिक गृह एवं यज्ञ मण्डप वृक्षों के अनुकरण पर वृत्ताकार बनाये जाते थे। अतः वृत्ताकार स्तूप **'आत्मा के आवास'** के प्रतीक के रूप में विकसित हुआ।

2. प्रायः सभी धर्मों की यह मान्यता है कि मरणोपरान्त आत्मा आकाश मार्ग द्वारा स्वर्ग या परलोक को जाती है और उस परलोक की कल्पना आकाश की भाँति **'अर्धवृत्ताकार'** रूप में की गयी। बहुत सम्भव है कि स्तूप इसी का प्रतीक हो।

स्तूप वास्तुकला का निरन्तर विकास होता रहा। स्तूप का प्रारम्भिक रूप अर्द्धगोलाकार मिलता है जिसमें एक चबूतरे के ऊपर 'उल्टे कटोरे' की आकृति का एक थूहा (ढेर) बनाया जाता था, जिसे अण्ड या स्तूप कहा जाता था। कालान्तर में धीरे-धीरे इसकी ऊँचाई में वृद्धि होती चली गयी। स्तूप की चोटी सिर पर चपटी होती थी, जिसके ऊपर **'धातुपात्र'** रखा जाता

---

८. वही.

९. वही.

था। इसे **'हार्मिका'** कहा जाता था। इसी हार्मिका में एक यष्टि (स्तम्भ) होता था जो कि हार्मिका में रखे अस्थि अवशेषों को स्पर्श करता था। यष्टि के शीर्ष भाग पर छत्र का निर्माण किया जाता था। प्रारम्भ में मात्र एक छत्र बनायी जाती थी, किन्तु बाद के कालों में तीन छत्रों का निर्माण होने लगा। सातवाहन काल में तो सात छत्रों के अवशेष मिलते हैं। स्तूप के चारों ओर परिक्रमा करने के लिए बनाये गये मार्ग को 'प्रदक्षिणापथ' कहा जाता था। प्रवेश के लिए तोरणद्वार या प्रवेशद्वार बनाये जाते थे। वेदिका या बाड़ा जो कि स्तूप के अण्ड भाग को भूमि पर चारों ओर घेरता है। वेदिका ही स्तूप की परिक्रमा करने के लिए 'प्रदक्षिणापथ' बनाती थी। वेदिका का निर्माण परम्परागत ढंग से किया जाता था। इसमें स्तम्भों को किनारे-किनारे खड़ा किया जाता था, जिसका निचला भाग एक पाषाण खण्ड में धंसा होता था, जिसे उष्णीश कहा जाता था, वेदिका के दो खम्भों के बीच में सूचियाँ बनी होती थीं। वेदिका की एक विशेषता यह थी कि स्तम्भ, सूची एवं उष्णीश के अग्र एवं पृष्ठ भाग को इच्छानुसार अलंकृत किया जा सकता था। इस प्रकार की चित्रकारी भरहुत की वेदिका पर मिलती है, जबकि सांची की वेदिका सादी है। स्तूप के निम्न चार प्रकार मिलते हैं-[10]

शारीरिक स्तूपः- बुद्ध एवं उनके शिष्यों की अस्थियों पर बने स्तूप।

पारिभौगिक स्तूपः-बुद्ध द्वारा उपयोग में लायी गयी वस्तुओं जैसे- भिक्षापात्र, चरणपादुका, आसन पर बना स्तूप।

उद्देशित स्तूपः-बुद्ध के जीवन की घटनाओं से सम्बन्धित अथवा उनके यात्रा से पवित्र हुए स्थानों पर स्मृति रूप में निर्मित स्तूप।

संकल्पित स्तूपः-इन्हे बौद्ध तीर्थ स्थलों पर श्रद्धालुओं द्वारा बनाया जाता था।

बौद्ध परम्परा अशोक को 84000 स्तूपों के निर्माण का श्रेय प्रदान करती है। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेन सांग ने तक्षशिला, श्रीनगर, मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारानाथ, गया, वैशाली, कपिलवस्तु, आदि स्थानों में इन स्तूपों को देखा, परन्तु दुर्भाग्यवश कुछ एक को छोड़कर आज सभी नष्ट हो चुके हैं। प्रारम्भिक स्तूपों में जिनका निर्माण अशोक के समय प्रारम्भ हुआ, सांची, भरहुत, सारनाथ के स्तूपों को रख सकते हैं। इनमें से सबसे प्राचीन भरहुत स्तूप है।[11] जिसका अवशेष अपनी जगह नाम मात्र को बचा है। भरहुत गांव मध्यप्रदेश में सतना से नौ मील दक्षिण में आज एक निर्जर बस्ती है। कनिंघम ने इस स्तूप को खोजा था। इसके अवशेष आज राष्ट्रिय संग्रहालय, कलकत्ता में सुरक्षित हैं। स्तूप के पूर्णतः

---

10. पी.के. अग्रवाल, वही, पृष्ठ 158
11. वही,

नष्ट हो जाने के कारण उसके आकार की कल्पना वेदिका पर अंकित स्तूपों से की जा सकती है।[12] डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल का कहना है कि[13] **'भरहुत स्तूप की वास्तु रूप रेखा का आधार स्वस्तिक का आकार था, जिसमें चक्राकार वेदिका के चार भाग और चार तोरणद्वार दिशाओं के सूचक थे।'** वेदिका स्तम्भ और तोरण पट्टों को बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित घटनाओं, जातक, यक्ष, नाग, वृक्ष द्वारा अलंकृत किया गया था। साथ ही साथ इस वेदिका स्तम्भों एवं तोरण पट्टों पर शुंग कालीन जिस जनजीवन का अंकन है, उसमें छोटे देवी-देवता और प्रतीकों की पूजा का अत्यधिक प्रभाव दृष्टिगत होता है।[14]

मध्यप्रदेश विदिशा से 5 मील की दूरी पर स्थित सांची बौद्ध धर्म एवं कला के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात था। यहीं की एक श्रेष्ठि की पुत्री से अशोक का विवाह हुआ था, जिसने अशोक के हृदय में बौद्धधर्म का बीज वपन किया था। इसलिए अशोक ने सांची में भी स्तूप का निर्माण कराया।[15] यहाँ एक छोटी पहाड़ी पर तीन स्तूप बने हैं। स्तूप संख्या एक को 'महास्तूप' कहा जाता है।[16] प्रारम्भ में इस स्तूप की वेदिका काष्ठ की थी। कालान्तर में इसका स्थान पत्थर से निर्मित वेदिका ने ले लिया। भूमि पर बने स्तूप के चारों ओर की वेदिका, चार दिशाओं में अपने भव्य तोरण द्वारों के कारण अति सुन्दर दिखाई पड़ती है। कालक्रम के अनुसार इन तोरणों में से सबसे पहले बनाया जाने वाला दक्षिणी प्रवेश द्वार है, इसके बाद क्रमशः उत्तरी द्वार, पूर्वी द्वार तत्पश्चात् पश्चिमी द्वार।[17] इन तोरण द्वारों को अलंकृत भी किया गया है, जैसा कि दक्षिणी तोरण द्वार के ऊपर लिखे अभिलेख से[18] ज्ञात होता है कि इन तोरणों को अलंकृत करने का काम विदिशा के उन शिल्पियों को सौंपा गया, जिन्हें हाथी दांत के काम में सिद्धहस्तता प्राप्त थी। इन तोरण द्वारों पर बुद्ध अथवा उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं को प्रतीकों के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। सांची के महास्तूप की वेदिका के विभिन्न अङ्ग भी दाताओं के दान से बने थे। यह बात उन पर मिलने वाले छोटे-छोटे लेखों से ज्ञात होती है।[19]

---

12. रूदल प्रसाद यादव, वही, पृष्ठ 53.
13. पी.के. अग्रवाल, वही, पृष्ठ 159
14. वही.
15. रूदल प्रसाद यादव, वही, पृष्ठ 55.
16. वही.
17. पी.के. अग्रवाल, वही, पृष्ठ 163
18. वही, पृष्ठ 160.
19. वही, पृष्ठ 160.

सांची के महास्तूप की वेदिका पर किसी प्रकार का अलंकरण नहीं मिलता।[20]

बुद्ध द्वारा धर्म का उपदेश सर्वप्रथम सारनाथ में दिया गया, जिसे 'धर्मचक्रप्रवर्तन' कहते हैं, इसलिए इस जगह अशोक ने स्तूप का निर्माण कराया था और प्रसिद्ध सिंह स्तम्भ स्थापित किया था। इस स्तूप का गुप्तकाल में पुनः जीर्णोद्धार किया गया। सारनाथ से निम्न तीन स्तूप मिलते हैं-चौखण्डी, धम्मेक एवं धर्मराजिका।

गुप्तकाल के साथ-साथ भारत में प्रायः स्तूपों के बनाने का चलन समाप्त हो गया। उसके बाद स्तूप परम्परा लंका, जावा, कम्बोडिया, वर्मा आदि में मिलती है, जहाँ उस समय तक बौद्ध धर्म अपनी जड़ जमा चुका था।

---

20. वही.

गुरुकुल शोध-भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0220-230)

पाँच हजार वर्ष पुरानी विधि- क्षारसूत्र चिकित्सा

डॉ० सुनील कुमार जोशी
रीडर एवं विभागाध्यक्ष
शल्य-शालाक्य विभाग
राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय
गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)

आयुर्वेदिक शल्य तन्त्र में अनेक ऐसे उपक्रम एवं विधियाँ वर्णित हैं, जिनके द्वारा बहुत सारी शस्त्र कर्म साध्य व्याधियों की चिकित्सा सम्भव है। मर्म चिकित्सा, पंचकर्म, अनुशस्त्र कर्मों के द्वारा इन रोगों को समूल नष्ट किया जा सकता है। जिनकी चिकित्सा अन्य किसी भी पद्धति अथवा मॉडर्न सर्जरी द्वारा भी सम्भव नहीं है। ऐसी ही एक चिकित्सा विधि, क्षारसूत्र चिकित्सा है। मॉडर्न सर्जिकल विधि से उपचारित सैकड़ों भगन्दर (फिश्चुला इन ऐनो) रोगी क्षारसूत्र चिकित्सा से लाभान्वित हो रहे हैं। जनसामान्य को इस सन्दर्भ में जानकारी देने के लिए तथा रोगी एवं उनके परिजनों के मन में इस रोग एवं चिकित्सा पद्धति विषयक प्रश्नों का समाधान आवश्यक है। किसी भी रोग को समूल नष्ट करने के लिए उस रोग विशेष की सामान्य जानकारी रोगी को होना अनिवार्य होता है। भगन्दर रोग एवं क्षार चिकित्सा से सम्बन्धित कुछ शंकाओं का समाधान इस प्रकार है।

क्षारसूत्र चिकित्सा का स्वरूप

क्षार चिकित्सा एक विशिष्ट प्रकार की चिकित्सा विधि है, जिसमें विभिन्न क्षार औषधियों से निर्मित सूत्र (धागे) द्वारा बवासीर (अर्श), भगन्दर, नाड़ीव्रण (साइनस,) अर्बुद (ट्यूमर) आदि की सफलतापूर्वक चिकित्सा की जाती हैं।

चांदसी विधि और क्षारसूत्र चिकित्सा में भेद

चांदसी विधि एक परम्परागत एवं अवैज्ञानिक पद्धति है, जिसमें अप्रशिक्षित व्यक्ति बिना किसी वैज्ञानिक निदान के सामान्य धागे द्वारा मस्से (बवासीर) और भगन्दर का इलाज करते हैं। यह छोटे फिश्चुला या सेन्टीनल पाइल्स को धागे से बांध देते है और फिर प्रतिदिन उस धागे की गांठ को मरोड़ते रहते हैं। साथ ही किसी मलहम से पट्टी करते हैं। यह पूर्णतया अवैज्ञानिक एवं अनुभव पर आधारित होता है। क्योंकि इस तरह का इलाज करने वालों को रोग की सही जानकारी नहीं होती है। अतः इस तरह चिकित्सा कराने वालों को कोई लाभ नहीं हो

पाता है, परन्तु संक्रमण आदि के कारण हानि की सम्भावना अधिक रहती है।

इसके विपरीत क्षारसूत्र (मेडिकेटेड थ्रेड) से पूर्ण वैज्ञानिक विधि द्वारा रोग का निदान कर भगन्दर, बवासीर आदि की चिकित्सा की जाती है।

क्षारसूत्र चिकित्सा पद्धति कितनी पुरानी

क्षारसूत्र चिकित्सा का वर्णन शल्य शास्त्र के सबसे प्राचीन ग्रन्थ 'सुश्रुत-संहिता' में मिलता है। नाड़ीव्रण की चिकित्सा में यह चिकित्सा विधि उल्लिखित है। इसका काल लगभग ईसा से 3 हजार वर्ष पूर्व का है। इस पद्धति का हजारों वर्ष से नाड़ी व्रण, (साइनस) भगन्दर (फिश्चुला इन एजो), बवासीर (पाइल्स) और अर्बुद (ट्यूमर) की चिकित्सा में प्रयोग किया जाता रहा है।

क्षारसूत्र पद्धति कितनी लाभदायक

यह पद्धति पूर्णतया वैज्ञानिक एवं शास्त्रसम्मत है, इसके द्वारा भगन्दर (फिश्चुला इन एनो) और बवासीर (बाहरी और आभ्यान्तर द्वितीय एवं तृतीयावस्था) की शत प्रतिशत रूप से सफलतापूर्वक चिकित्सा की जाती है।

क्षारसूत्र चिकित्सा से रोग की पुनरावृत्ति नहीं

क्षारसूत्र चिकित्सा यदि विधिपूर्वक की गई हो तो इसके द्वारा ठीक हुआ भगन्दर आदि रोग फिर नहीं होता है। यदि एक से अधिक नासूर हों तो उन्हें एक साथ या क्रमश: ठीक किया जाना चाहिए।

क्षारसूत्र विधि की कार्यप्रणाली

क्षारसूत्र विभिन्न क्षारीय औषधि एवं औषधि निर्यास/दुग्ध (लेटेक्स) से बनाये जाते हैं। जिनका कार्य नासूर (साइनस) या विद्रधि (एब्सिस केविटि) से पूय (पस) और मृत ऊतक (डेड टिप्सू) को अपने औषधीय प्रभाव से बाहर निकालना है। जो काम आपरेशन द्वारा किया जाता है। उसे क्षारसूत्र द्वारा रासायनिक अभिक्रिया एवं यांत्रिक दबाव (कैमिकल एण्ड मैकेनिकल एक्शन) द्वारा सम्पादित किया जाता है। इसमें दवा का प्रभाव एक सप्ताह तक रहता है। इसके क्रमश: निर्गतन विधि (सस्टेण्ड रिलीज टेक्निक) द्वारा समझा जा सकता है। क्षारसूत्र पर विभिन्न दवाओं की 21 (कोटिंग) होती है। जो जैविक ऊतक, मृत ऊतक, पूय आदि के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे घुलते रहते हैं और पूय के साथ बाहर निकल जातें हैं, परन्तु क्षारसूत्र में औषधि की सान्द्रता सप्ताह पर्यन्त बनी रहती है।

क्षारसूत्र पद्धति की वैज्ञानिकता

क्षारसूत्र चिकित्सा आयुर्वेदीय शल्यतन्त्र की प्रमुख उपचारविधि है, जिससे भगन्दर,

बवासीर आदि का उपचार किया जाता है। इस विधि को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का श्रेय शल्य-शालाक्य विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के सुयोग्य चिकित्सकों एवं चिकित्सा विज्ञानियों को जाता हैं, जहाँ साठ के दशक में क्षारसूत्र चिकित्सा पर बहुआयामी अन्वेषण एवं परीक्षण किये गए। सर सुंदर लाल चिकित्सालय में हजारों भगन्दर के रोगियों का उपचार इस पद्धति से सफलतापूर्वक किया गया। साथ ही क्षारसूत्र निर्माण के मानक स्थापित किये गए। तब से लगभग 50 वर्षों तक इस विषय पर अनेक शोधार्थियों द्वारा एम0एस0 एवं पी-एच0डी0 शोधप्रबन्ध लिखे जा चुके हैं। वर्तमान में उत्कृष्ट वैज्ञानिक मानदण्डों के आधार पर इण्डियन काउन्सिल ऑफ मेडिकल रिसर्च द्वारा इसे पूर्ण मान्यता दी जा चुकी है। इसके शोध के लिए विभिन्न मेडिकल कालेज प्रयासरत हैं। वर्तमान में यह पद्धति भगन्दर की एक मात्र चिकित्सा के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुकी है। विशेषकर यह पद्धति **'फिश्चुलेक्टामी'** का विकल्प बनकर चिकित्सकों को पहली पसंद बन चुकी है।

क्षारसूत्र पद्धति से चिकित्सा सुविधा की उपलब्धता

आयुर्वेद शल्य चिकित्सा के परास्नातकों (पोस्टग्रेजएट्स) द्वारा यह उपचार सम्पूर्ण भारतवर्ष के अधिकांश आयुर्वेदिक विश्वविद्यालय चिकित्सा विज्ञान संस्थानों, महाविद्यालय एवं चिकित्सालयों में सफलतापूर्वक किया जाता है। भारतवर्ष में इस चिकित्सा पद्धति के प्रमुख केन्द्र इस प्रकार हैं-

1. शल्य शालाक्य विभाग, चिकित्सा विज्ञान संस्थान काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ0प्र0)
2. शल्य शालाक्य विभाग, जामनगर आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर (गुजरात)
3. शल्य शालाक्य विभाग, राष्ट्रिय आयुर्वेद संस्थान, जयपुर (राजस्थान)
4. शल्य शालाक्य विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार (उत्तरांचल)
5. शल्य शालाक्य विभाग, ऋषिकुल राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)
6. शल्य शालाक्य विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, बरेली (उ0प्र0)
7. शल्य शालाक्य विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय लखनऊ (उ0प्र0)
8. शाल्य शालाक्य विभाग, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ0प्र0)

क्षारसूत्र पद्धति से चिकित्सा में आने वाला व्यय

सभी सरकारी आयुर्वेद महाविद्यालयों/चिकित्सा संस्थानों में (जहाँ क्षारसूत्र चिकित्सा की सुविधा उपलब्ध है।) यह चिकित्सा नि:शुल्क की जाती है। प्राइवेट क्लीनिक या हास्पिटल में इसका खर्चा परम्परागत शल्य कर्म (फिश्चुलेक्टामी) से अपेक्षाकृत कम आता है।

क्षारसूत्र पद्धति से भगन्दर के उपचार में समय

इस चिकित्सा के द्वारा भगन्दर रोग का उपचार में लगने वाला समय, भगन्दर की लम्बाई, गुदा में स्थिति पर निर्भर करता है। सामान्य रूप से 1 सेंटीमिटर, फिश्चुलस ट्रैक्ट को एक सप्ताह में क्षारसूत्र द्वारा ठीक किया जा सकता है। यह समय यूनिट कटिंग टाइम कहलाता है। 4-5 सेंटीमीटर लम्बे ट्रैक्ट को ठीक होने मे 4-5 सप्ताह का समय लगता है।

क्षारसूत्र पद्धति एवं परम्परागत शल्यकर्म (फिश्चुलेक्टामी) में भेद

क्षारसूत्र पद्धति और परम्परागत शल्यकर्म में अन्तर समझने से पहले यह जानना जरूरी है कि परम्परागत शल्यकर्म (फिश्चुलेक्टॉमी) कैसे किया जाता है? इस शल्यकर्म में भगन्दर के ट्रेक्ट को प्रोब द्वारा ढूंढ कर एवं नाइफ (चाकू) द्वारा काटकर (एक्सीजन) निकाल दिया जाता है। छोटे एवं अकेले भगन्दर (सिंगल ट्रेक्ट) में यह शल्यकर्म सफल रहता है। परन्तु गुदा के पीछे ओर के कर्वड् एण्ड मल्टीट्रैक्ट फिश्चुला में आपरेशन पूर्णतया असफल रहता है। क्योंकि आपरेशन से पूर्णतया फिश्चुलस ट्रैक्ट को निकालना सम्भव नहीं होता है, जिससे संक्रमण अन्दर के ऊतकों में अवशिष्ट रहता है और इस रोग की शीघ्र पुनरावृत्ति हो जाती है। ऐसे कई रोगी होते हैं, जिसमें एक से अधिक बार शल्यकर्म किया जा चुका होता है, परन्तु यह रोग और उग्र रूप में पुनः उपस्थित हो जाता है।

इसके विपरीत क्षारसूत्र विधि में भगन्दर को फिश्चुलोग्राम (रंगीन एक्स-रे) से निदान कर, प्रोब विद आई को भगन्दर मुख (फिश्चुलस ओपनिंग) में प्रवेश कराया जाता है। फिर उसको सावधानीपूर्वक आगे बढ़ाते हैं। एक हाथ की तर्जनी अंगुली (इण्डेक्स फिंगर) को गुदा में प्रवेश कराया जाता है। फिर प्रोब के अग्रभाग को गुदा में प्रविष्ट अंगुली द्वारा महसूस किया जाता है। यदि प्रोब गुदा में प्रविष्ट हो जाती है तो सूत्र सहित प्रोब को अंगुली के सहारे गुदा के अन्दर खींचकर गुदामार्ग के बाहर निकाल लिया जाता है इस प्रक्रिया में प्रोब के बाहर आने से सूत्र (सिल्क या लेनन थ्रेड) के दोनों सिरों को आपस में बांध देते हैं। इस प्रक्रिया को 'प्राइमरी थ्रेडिंग' कहा जाता है। अगले दिन इस सादे सूत्र में क्षारसूत्र का एक किनारा बांध कर रेल रोड तकनीक द्वारा खींचकर बाहर निकाल देते हैं, पहले दिन डाले गये सादे सूत्र को काट देते हैं और उसके स्थान पर क्षारसूत्र बांध दिया जाता है। यह क्षारसूत्र सात दिन बाद बदला जाता है। इसको भी पूर्वोक्त विधि द्वारा बदलते हैं। यह प्रक्रिया तब तक चलती है जब तक कि भगन्दर

का ट्रैक्ट कट न जाए। ट्रैक्ट कटने प्रक्रिया 'कट थ्रू' कहलाती है। गुदा में सिरिंज और ट्यूब द्वारा जात्यादि तैल भीतर प्रविष्ट कराया जाता है, साथ ही उष्णोदक अवगाह (सिट्ज बाथ) द्वारा नियमित सफाई और सिकाई की जाती है। उसके बाद व्रणस्थान को साफ रूई से सुखाकर जात्यादि तैल लगाकर पट्टी बांध देते हैं। प्रत्येक बार मलत्याग करने के अनन्तर यह प्रक्रिया करनी आवश्यक होती है। कट थ्रू होने के बाद व्रण रोपण में कुछ समय लगता है। इस दौरान पूर्ण सावधानीपूर्वक रोगनिवृत्ति का प्रयास करना चाहिए।

क्षारसूत्र चिकित्सा में चिकित्सालय में भर्ती रहना आवश्यक नहीं

क्षारसूत्र चिकित्सा में रोगी का अस्पताल में भर्ती होना आवश्यक नहीं है। क्षारसूत्र एप्लीकेशन के बाद रोगी 2-3 घन्टे बाद अपने घर जा सकता है। सिट्ज बाथ, तैल का गुदा में प्रवेश एवं ड्रैसिंग घर पर सुविधापूर्वक की जा सकती है। प्रत्येक सातवें दिन क्षारसूत्र परिवर्तन हेतु चिकित्सालय में आने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार रोगी को परम्परागत शल्य कर्म के मुकाबले चिकित्सालय में भर्ती नहीं रहना होता है। क्षारसूत्र उपचार के दौरान रोगी अपनी सामान्य दिनचर्या का पालन कुछ सावधानियों के साथ कर सकता हैं।

चिकित्सा के दौरान रोगी की दिनचर्या

क्षारसूत्र चिकित्सा के दौरान रोगी अपना सामान्य कामकाज कर सकता है, परन्तु इस समय उसे चलने फिरने, उठने बैठने में थोड़ी सावधानी अवश्य रखनी पड़ती है। ज्यादा देर तक एक तरफ बैठने, स्कूटर, मोटर साईकिल, साईकिल पर सवारी करने से दर्द व कठिनाई बढ़ सकती है। एयर कुशन के प्रयोग करने से बैठना सुविधाजनक हो जाता है। इस उपचारविधि के दौरान रोगी को पूर्ण विश्राम की आवश्यकता नहीं होती है। इसके विपरीत फिश्चुलेक्टॉमी में रोगी को शल्य कर्म के बाद कम से कम एक सप्ताह तक अस्पताल में भर्ती रहना पड़ता है। उसके बाद भी प्रतिदिन की जाने वाली ड्रेसिंग काफी कष्टदायक होती है। इसलिए वर्तमान में परम्परागत शल्यकर्म (फिश्चुलेक्टॉमी) पर क्षारसूत्र चिकित्सा को अधिमान दिया जाने लगा है।

सभी प्रकार के भगन्दर में यह चिकित्सा पद्धति प्रभावी

यह चिकित्सा पद्धति प्रभावी सभी प्रकार के भगन्दर में प्रभावी है, क्योंकि देखा गया है कि यदि कोई भी भगन्दर जो किसी खास रोग (टी0बी0आई0बी0एस0) के कारण न हुआ हो तो क्षारसूत्र चिकित्सा से ठीक किये जा सकते हैं। टी0बी0 एवं आई0बी0एस0 (इरिटेबिल बाउल सिन्ड्रोम) के साथ होने वाले भगन्दर में भी क्षारसूत्र चिकित्सा रोगविशेष की चिकित्सा के साथ होनी चाहिए।

क्षारसूत्र चिकित्सा दुष्प्रभाव रहित

इसका कोई दुष्प्रभाव नहीं होता है, बहुत कम रोगियों में क्षार के प्रति असहिष्णुता (सेंसिटिविटी) होती है। इनमें भी कोई संस्थानिक लक्षण नहीं मिलता है, कुछ रोगियों में क्षारसूत्र डालने के दिन स्थानीय त्वचा पर जलन एवं खुजली होती है। इस चिकित्सा में गुदा (एनल स्फिंक्टर) का नियन्त्रण समाप्त नहीं होता है। इसके विपरीत फिश्चुलेक्टॉमी में एनल स्फिक्टर को आघात लगने से मल त्याग का नियन्त्रण प्रभावित होता है। वर्षों के अनुभव में यह देखा गया है कि व्यक्ति विशेष में इस पद्धति से कई सप्ताह से कई माह तक का समय लगता है, परन्तु किसी भी प्रकार का दुष्प्रभाव ज्ञात नहीं हुआ है।

अब तक इससे लाभान्वित होने वाले रोगियों की संख्या

क्षारसूत्र चिकित्सा पद्धति से भगन्दर के हजारों रोगियों का इलाज सफलता पूर्वक विभिन्न केन्द्रों पर किया जा चुका है। गुरुकुल कांगड़ी राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, हरिद्वार, में विगत वर्षो में सैकड़ों रोगी इस चिकित्सा पद्धति से लाभान्वित हो चुके हैं। इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के लोग प्राध्यापक, इंजीनियर, डॉक्टर, श्रमजीवी व्यक्ति सम्मिलित हैं।

इस पद्धति से भगन्दर की चिकित्सा में सफलता का प्रतिशत

जैसा कि सर्वविदित एवं सर्वमान्य तथ्य है कि भगन्दर के परम्परागत शल्यकर्म (फिश्चुलेक्टॉमी) में रोग के पुनर्भव की शत प्रतिशत सम्भावना होती है इसके विपरीत क्षारसूत्र विधि से भगन्दर की चिकित्सा में सफलता शत प्रतिशत होती है। कई रोगियों में अधिक समय तक क्षारसूत्र चिकित्सा करनी पड़ती है, परन्तु ५ प्रतिशत से भी कम रोगियों में रोग का पुनर्भव देखा गया है। क्षारसूत्र चिकित्सा द्वारा पूर्णरूपेण स्वस्थ हुए कुछ रोगियों का इतिवृत्त निम्नवत् है।

रोगी इतिवृत्त (प्रथम)

मैं अशोक कुमार वर्मा लोक निर्माण विभाग नरेन्द्र नगर में अवर अभियन्ता के पद कार्यरत हूँ। पिछले एक वर्ष से मैं भगन्दर की बीमारी से पीड़ित था। शुरू में मुझे पता ही नहीं चला कि बीमारी क्या है?

सबसे पहले मुझे लैट्रिन के रास्ते के अन्दर दर्द महसूस हुआ और धीरे-धीरे असहनीय दर्द में बदल गया। बुखार और दर्द से बुरा हाल था। मैंने ऋषिकेश में प्राइवेट नर्सिंग होम में डॉक्टर को दिखाया। वह सर्जन हैं, उन्होंने बताया कि लैट्रिन के रास्ते में फोड़ा जैसा कुछ हो गया है चीरा लगाना पड़ेगा, चीरा लगवाने के बाद आराम आ गया। करीब एक माह तक मैंने पस सुखाने के लिये हाई एंटीबायटिक दवाईयाँ ली, लेकिन दवाईयां लेते-लेते हुए भी एक माह

बाद फिर दर्द, बुखार होने लगा फिर डॉक्टर ने चीरा लगाने को कहा। दवाई लेकर हम अगले दिन चीरा लगवाने के लिये गये। दवाई लेने के कारण दर्द कम था। डॉ0 ने कहा कि फोड़ा थोड़ा नरम पड़ गया है, चीरे की अब जरूरत नहीं है दस-बारह दिन के बाद फिर तेज दर्द और बुखार हो गया। डॉ0 ने मुझे मेरठ के लिये रेफर कर दिया। तब मैंने मेडिकल कालेज में दिखाया वहाँ डॉ0 ने बताया कि आपको भगन्दर हो गया है, उसका बड़ा आपरेशन होगा। उन्होंने यह भी बताया कि भगन्दर के तीस प्रतिशत दोबारा होने की संभावना होती है। मैंने दिनांक 6.4.2002 को आपरेशन कराया। दस दिन वहाँ रहने के बाद घर आकर मेरी पट्टी होती थी। डेढ़ माह तक मेरी पट्टी हुई आराम महसूस हो रहा था, लेकिन पस तो लगातार आ रहा थी। जब मैंने डॉ0 से बताया तो उसने कहा कि पस थोड़ा तो जायेगा ही धीरे-धीरे दो माह हो जाने पर आराम लगने के बजाय पस ज्यादा आने लगा और असहनीय दर्द बढ़ गया मैं मेरठ गया डॉ0 को दिखाया तो उन्होंने कहा अब मैं कुछ नहीं कर सकता। उन्होंने दिल्ली ''आल इन्डिया इन्स्टीट्यूट'' के लिये रेफर कर दिया। दिल्ली में दिखाने के बाद डॉ0 ने बताया कि पस अन्दर तक फैल गया है और आपरेशन करना पड़ेगा। मैं वहाँ से छोड़कर ''जी0बी0 पन्त'' अस्पताल गया वहाँ भी डॉ0 ने पैंतीस प्रतिशत दोबारा भगन्दर होने की संभावना बताई और आपरेशन करने के लिये कहा, लेकिन मैं वहाँ भी छोड़कर 'अपोलो अस्पताल' गया वहाँ मैंने दो डॉक्टरों से परामर्श किया एक डॉ0 ने एम0आई0आर0 परीक्षण कराने के लिये कहा उससे पता चल जायेगा की पस कहाँ तक है। फिर उसी अस्पताल के दूसरे डॉ0 को दिखाया उन्होंने कहा आपके चार पाँच आपरेशन करने पड़ेगें और हम कोई गारन्टी नहीं लेंगे उन्होंने तीस प्रतिशत भगन्दर दोबारा होने की संभावना बतायी। संतोषजनक इलाज व 100 प्रतिशत ठीक न होने की गारन्टी न मिलने से मैंने मेरठ में होम्योपैथिक इलाज कराया 100000 पोटेन्सी की पस सुखाने की दवाई मैंने खाई पर ठीक होने की बजाय हालत बिगड़ती गई, तब मायूस होकर संतोषजनक इलाज न मिलने पर मैंने प्राकृतिक चिकित्सालाय ऋषिकेश में दिखाया। वहाँ कुछ इलाज मिल जाये, लेकिन भला हो उस इंसान का जिन्होंने मुझे स्पष्ट शब्दों में बताया कि जो प्राकृतिक चिकित्सालय में प्रबन्धक के पद पर कार्यरत है, उन्होंने कहा कि भगन्दर का इलाज न तो प्राकृतिक चिकित्सा, ना एलौपेथिक, ना होम्योपैथिक में है, केवल इसका इलाज आयुर्वेदिक चिकित्सा में **''क्षारसूत्र पद्धति''** के अन्तर्गत है जो कि **''काशी हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस''** में है। आप वहीं रह कर अपना इलाज करवाइये, समय और पैसा नष्ट मत करिये। इसके साथ आपका स्वास्थ्य भी दिन प्रतिदिन गिरता जायेगा यदि आप कहीं और इलाज कराते हैं तो कोई लाभ नहीं मिलेगा। उन्होंने क्षारसूत्र पद्धति में 100 प्रतिशत इलाज बताया।

मैंने बनारस जाने की तैयारी कर ली थी, लेकिन मैंने सोचा कि हरिद्वार में आयुर्वेदिक चिकित्सालय है, वहाँ पर पता करते हुये जायेंगे। लेकिन मैं इस स्थिति में नहीं था कि बैठकर चला जाऊँ हालत बहुत बिगड़ जाने के कारण में लेट कर गया। वहाँ जाकर उस समय मेरी खुशी का ठिकाना नहीं रहा जब मुझे वहाँ भगन्दर से मुक्त रोगी मिले और मैं वहाँ **"डॉ० सुनील कुमार जोशी"** जो इस रोग के विशेषज्ञ हैं, उनसे मिला। डॉ0 साहब ने मुझे पूर्णतया ठीक होने का आश्वासन दिया, और जबकि अन्य किसी डॉ0 ने सर्जिकल ऐलौपैथिक इलाज में कोई गारन्टी नहीं ली थी। राजकीय आयुर्वेदिक कालेज गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में आठ-दस लोग भगन्दर का इलाज कराकर ठीक होकर जाते हुए मिले, वह लोग भी कई-कई सर्जिकल आपरेशन कराने के बाद जब इस क्षारसूत्र पद्धति का पता चला तब इस इलाज से वह ठीक हैं। एक ऐसे सज्जन भी मिले जिन्होंने सर्जिकल आपरेशन नहीं करवाया था वो इस पद्धति द्वारा जल्दी ठीक हो गये थे।

डॉ0 सुनील कुमार जोशी जी ने मेरा क्षारसूत्र पद्धति से 5.8.2002 को आपरेशन किया और एक माह में मुझे 50 प्रतिशत आराम आ गया था। और अब तक मैं ८0 प्रतिशत ठीक हो गया हूँ। मुझे किसी प्रकार का दर्द नहीं है तथा फिश्चुला की जगह से अधिक मात्रा में पस भी नहीं आता है।

डॉ0 जोशी अपने पेशे में नि:स्वार्थ सेवा में तल्लीन रोगियों को ठीक होने का ढांढस ही नहीं वरन् ठीक कर भी देते हैं। मेरी उन लोगों से प्रार्थना हैं कि जो भगन्दर की बीमारी से पीड़ित है वो विना पैसा व समय खोये और अपनी जिन्दगी से खिलवाड़ न करते हुए आयुर्वेदिक कालेज गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार में कुशल चिकित्सक डॉ0 सुनील कुमार जोशी से मिलें और अपना इलाज कराकर इस जानलेवा बीमारी से निजात पा लें।

रोगी इतिवृत्त (द्वितीय)

मैं रविन्द्र कुमार गर्ग उ0प्र0 राज्य सड़क परिवहन निगम रुड़की में कार्यरत हूँ तथा प्रीत विहार कालोनी रुड़की में रहता हूँ। 30 जून 2002 को शाम को मुझे बुखार हुआ तथा दोनों कूल्हों में थोड़ा दर्द हुआ। मैंने बुखार की होम्योपैथिक दवा ली क्योंकि हमारा पूरा परिवार प्राय: होम्योपैथिक दवा ही लेता है। तीन चार दिन तक दवा खाने पर कोई फायदा नहीं हुआ तो मैंने बुखार की एलोपैथिक दवाई ली। दवाई लेने पर बुखार तेज पसीना आने के बाद उतर जाता था। इसी दौरान बांये कूल्हे का दर्द खत्म हो गया लेकिन दांयी ओर हल्का दर्द था। 6 जौलाई को मेरे दांये कूल्हे में दुखन बढ़ गई तथा कूल्हे कच्चे आम की तरह सख्त महसूस हुआ। तब मुझे लगा कि किसी अन्य चिकित्सक को दिखाना चाहिए। 7 जौलाई को मैंने एक फिजीशियन को फोन पर बताया कि बुखार की वजह से मुझे बहुत कमजोरी आ गयी है तथा दांये कूल्हे में

बहुत दर्द व दुखन है तो चिकित्सक ने कहा कि शायद कूल्हे में पस हो गया है। मैं रिक्शा या स्कूटर पर बैठने में असमर्थ था जब वह चिकित्सक मुझे घर पर देखने आ गये। उन्होंने मुझे चैक करके कहा कि कूल्हे में पस हो गया है निडिल से पस निकालना पड़ेगा और आपको नर्सिंग होम में भर्ती होना पड़ेगा। एंटीबायटिक दवाई देने से हो सकता है कि यह पूरी तरह ठीक हो जाये। उनके कहने पर मैं 7 जौलाई 2002 को नर्सिंग होम में भर्ती हो गया। वहाँ पर दवाई व इन्जेक्शन देने के बावजूद कूल्हे में सूजन के साथ-साथ दर्द व दुखन भी बढ़ गयी। 8 जौलाई को फिजीशियन ने कहा कि इसे तो सर्जन को दिखाना पड़ेगा तथा उन्होंने सर्जन को बुलाया और चैक कराया उन्होंने कहा कि यह पेरीएनल सब्सिस है और इसे आपरेट कराना पड़ेगा। मुझको ग्लूकोज लगाकर व लोकल अनेस्थिशिया देकर आपरेशन कर दिया गया। तीन-चार दिन ड्रेसिंग के बाद मुझे बताया कि पस के कारण अन्दर के टिश्यू खराब हो गये हैं और दोबारा आपरेशन करना पड़ेगा। 13 जौलाई को मेरा सर्जन द्वारा दोबारा आपरेशन किया गया। पहले आपरेशन के दौरान मुझे दर्द नहीं हुआ लेकिन दूसरे आपरेशन के दौरान मुझे बहुत दर्द हुआ। इसके बाद 18 ता0 तक मैं नर्सिंग होम में रहा, प्रतिदिन ड्रेसिंग की जाती रही एवं दवायें भी चलती रहीं। बाद में मुझे नर्सिंग होम से डिस्चार्ज कर दिया गया। 18 ता0 के पश्चात् मैं प्रतिदिन क्लीनिक में ड्रेसिंग के लिए जाता रहा। इस प्रकार 20 अगस्त तक पूरा माह बीत गया। घाव भी काफी भर गया था, लेकिन उससे पस बराबर आता रहा। मैंने जब भी सर्जन से पूछा तो उन्होंने यही कहा कि सब ठीक है। 22 अगस्त को घाव का मुँह काफी छोटा हो गया, लेकिन गहराई डेढ़ इंच से ज्यादा थी तो सर्जन ने घाव को ट्रिमिंग करके (काटकर) चौड़ा कर दिया ताकि जख्म ऊपर से बंद न हो जाये। फिर ड्रेसिंग बराबर चलती रही। अब 31 अगस्त को पुनः सर्जन ने घाव की ट्रिमिंग की और कहा कि अब घाव शीघ्र ही ठीक हो जायेगा। लेकिन इसी प्रकार सितम्बर माह भी बीत गया लेकिन घाव नहीं भरा। घाव से बार-बार पस आता रहा और घाव की गहराई डेढ़ इंच से कम नहीं हुई। 2 अक्टूबर 2002 को मैंने पुनः सर्जन से परामर्श किया। उन्होंने कहा कि इसकी पुनः ट्रिमिंग करनी पड़ेगी। प्रायः घाव डेढ़ या दो महीने में ठीक हो जाता है। और यह तो ज्यादा समय ले रहा है। और एक पर्चे पर ड्रेसिंग कैसे करनी है? इसका निर्देश लिख दिया। अब मैंने अपने फिजीशियन से सम्पर्क किया कि घाव अभी तक भरा नहीं है, क्या करना चाहिए? उन्होंने कहा कि कभी-कभी इन्फैक्शन के कारण घाव नहीं भरता हैं तो हमें घाव से एक टुकड़ा काटकर जाँच के लिये भेजना पड़ता है। इसके विषय में पहले मैं सर्जन से परामर्श कर लूँ तब बताऊँगा। मैंने अपने फिजीशियन से कहा कि सर्जन दो बार ट्रिमिंग कर चुके हैं तथा अब तीसरे बार फिर ट्रिमिंग करने को कह रहे हैं। आप उनसे पूछिये कि क्या बात है? क्या उन्हें केस समझ में नहीं आ रहा है? या वे हमें नहीं बता रहे हैं इस पर फिजीशियन ने सर्जन से बात करके बताया कि वह भी घाव का एक

टुकड़ा जाँच के लिए भेजने की बात कर रहे हैं। मैंने विचार किया कि मैं उनके पास जाकर घाव का टुकड़ा निकलवाकर जाँच को भिजवा दूं। अब मैं काफी परेशान हो गया था, क्योंकि तीन माह से अधिक हो गये पर घाव अभी तक नहीं भरा, क्या बात है? पहले तो यह कहा जाता रहा कि घाव नीचे की तरफ साइड में है। बरसात का मौसम है, देर से ठीक होता है। तब मैंने अपने परिवार में आपस में विचार विमर्श किया कि किसी अन्य चिकित्सक को भी दिखाकर देखते है कि क्या कारण है? मैंने 7 अक्टूबर 2002 को एक अन्य सर्जन को दिखाया। पूरी बात विवरणानुसार बतायी उन्होंने गुदा में अंगुली से चैक करके बताया कि मुझे भगन्दर है और इसी कारण पस आ रहा है और कहा कि इसके लिए दो आपरेशन करने पड़ेंगे। पहले एक आपरेशन होगा पाँच-छः दिन भर्ती होना पड़ेगा, फिर प्रतिदिन ड्रैसिंग करनी होगी। डेढ़ माह के बाद दूसरा आपरेशन होगा। और इस सब में कम से कम साढ़े तीन माह लग जायेंगे। यह बीमारी काफी गंदी हैं। इसमें समय लगता है और पैसा भी लगेगा। रोग ठीक भी हो सकता है और नहीं भी। इसका इलाज सिर्फ आपरेशन है। आपरेशन नहीं करवाओगे तो यह सारी जिन्दगी ठीक नहीं होगा और सड़ते रहोगे। इस सबके बाद ही चैक करके भगन्दर बताया तथा 15-20 हजार का खर्च उन्होंने बताया। अब मैं घर आकर काफी परेशान हो गया कि क्या करूँ? दो आपरेशन पहले हो चुके हैं। अब दो आपरेशन और होंगे और तीन माह लगेंगे। तन, मन, धन, तीनों की परेशानी है और कार्यालय से भी पहले ही काफी आवकाश ले लिया है और भी अवकाश लेना पड़ेगा। पैसा भी काफी लग चुका है।

घर आकर पत्नी से विचार विमर्श किया और मैंने (सर्जन राजकीय सिविल अस्पताल रुड़की) से सम्पर्क करके उन्हें पूरी बात बतायी तो उन्होंने चैक करके कहा कि आपको फिस्चुला (भगन्दर) है। और इसका आपरेशन करना होगा और एक ही बार में आपरेशन होगा। मैंने पूछा की क्या मैं ठीक हो जाऊँगा तो उन्होंने कहा कि यह बड़ी नोटोरियस बीमारी है और ठीक हो भी सकती है और नहीं भी। आपरेशन के बाद यही स्थिति भी रह सकती है। और आप चाहें मुझसे आपरेशन करायें या किसी अन्य से आपकी इच्छा है। इनका व्यवहार बहुत ही अच्छा रहा और मेरी पूरी बात उन्होंने सुनी और मेरी हर शंका, जिज्ञासा का उन्होंने समाधान किया, इसके बाद मैं पुनः अपने फिजीशियन से मिला तथा सारी बात बतायी। उन्हें भी काफी आश्चर्य हुआ कि पहले सर्जन 3 माह तक इलाज करते रहे और उन्हें बीमारी का पता नहीं चला, जबकि दो अन्य चिकित्सकों ने तुरन्त ही बता दिया कि भगन्दर के कारण ही घाव नहीं भर रहा है। अब तो तय हो गया कि भगन्दर है और आपरेशन कराना ही होगा। फिर किससे आपरेशन कराये काफी विचार विमर्श के बाद तय किया गया कि राजकीय चिकित्सालय में ही आपरेशन कराना सुनिश्चित किया गया। वहाँ के सर्जन ने आपरेशन की तिथि 8 अक्टूबर 02

तय की। मेरे सम्बन्धी हरिद्वार में भी रहते हैं, उनको भी मेरी बीमारी का पता था। 17 अक्टूबर 02 को उनसे विचार विमर्श के बाद पता चला कि भगन्दर का इलाज आयुर्वेद में है तथा आयुर्वेद में शल्यचिकित्सा से इलाज होता है। उन्होंने कहा कि रुड़की में आपरेशन कराने से पूर्व हरिद्वार आ जाऊँ। मैं हरिद्वार में 18 ता0 की शाम को डॉ0 सुनील जोशी जी से मिला। उन्होंने केस देखा और कहा कि यह पेरीएनल सब्सिस नहीं है यह तो फिश्चूला है और उन्होंने मुझे दवाई लिखकर फिश्चुलोग्राम कराकर दिखाने को कहा। उनके निर्देशानुसार मैंने फिश्चुलोग्राम कराया और उन्हें दिखाया, उन्होंने चेकअप किया तथा 26 ता0 को आयुर्वेदिक उपचार के अन्तर्गत क्षारसूत्र चिकित्सा की तथा 25 ता0 से प्रति सप्ताह क्षारसूत्र परिवर्तित करते रहे। 2 नवम्बर 02, 9 नवम्बर 02, 18 नवम्बर 02, 25 नवम्बर 02, तथा 2 दिसम्बर 02, को क्षारसूत्र किया गया और 7 दिसम्बर 02 को धागा स्वत: ही घाव से निकल गया, तब 9 दिसम्बर को डॉ0 जोशी जी को धागा निकलने की बात बतायी, तब डॉ0 साहब ने बताया कि अब केवल घाव बाकी है। फिश्चुला ठीक हो गया है, मुझे बहुत खुशी हुयी। इससे पहले मुझे रुड़की में किसी भी डॉक्टर ने फिश्चुलोग्राम कराने को नहीं कहा था।

17 अक्टूबर से पूर्व मैं आयुर्वेद के बारे में अनभिज्ञ था। मेरी इस बारे में जानकारी केवल जो वैद्य जड़ी बूटी के चूर्ण से कुछ ही छोटी मोटी बीमारी का इलाज करते हैं, तक थी। अपने इलाज के दौरान ही मुझे आयुर्वेद के बारे में जानकारी मिली। इलाज के दौरान मुझे फिस्चुला के कई रोगी मिले जो मेरी तरह ही परेशान थे तथा एलोपैथी सर्जन द्वारा कई-कई बार अपरेशन करा चुके थे तथा ठीक नहीं हुए थे।

रोगी इतिवृत्त (तृतीय)

मैं जगदीश प्रसाद (95-बी0, नई मण्डी, मुजफ्फरनगर, उ0प्र0) मुझे पिछले साल भगंदर की आशंका हुई और अप्रेल 2002 को मैंने भगन्दर का आपरेशन शेखर नर्सिंग होम गाँधी कालोनी मुजफ्फरनगर में कराया चार महीने तक इलाज चलने पर नासूर बाकी रहा और उसक बाद आपके यहाँ आने पर 2.8.2002 से इलाज शुरू हुआ और लगभग 2 सप्ताह बाद क्षारसूत्र डाला गया और 8 क्षारसूत्र डाले गये तथा आठवाँ सूत्र अपने आप गिर गया। उसके बाद लगभग 3 माह से अधिक से बारबर पट्टी करवा रहा हूँ तथा परहेज व दवाइयाँ चल रही हैं, यही इसकी पूरी हिस्ट्री है। आपके द्वारा दिये गए सभी पर्चे मेरे पास है जो प्रस्तुत कर रहा हूँ।

गुरुकुल-शोध भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0231-234)

THE STATUS OF WOMEN IN SRAUTA RITUALS

DR. RAJENDRA KUMAR SHARMA
Reader, Punjab University,
Deptt. of V.V.B.I.S. & I.S., Hoshiarpur (Pb.)146021

In the Vedic age women equally enjoyed with men the religious rights and privileges. The were also allowed to study the vedic texts and were given due respect. Satapatha Brahmana (S.Br.) calls a learned woman Sarasvati[1] (सरस्वती). The wife of the yajamana was regarded as the half of his self[2] and as such she was rightly a component to her husband. She also participated in the performance of the srauta rituals and is described as making the yajna (यज्ञ) happy and accomplished. Satapatha Brahmana 3.8.2.2. calls her as the hind part of the yajna.

Is it obvious from the vedic texts that women were quite eligible for participating in the performance of the vedic rituals. Their presence in the sacrificial rituals is lauded in the Rgveda which describes a woman, taking part in the yajna as respectable[3]. From another mantra of Rgveda it is clear that the husband and the wife jointly used to perform the sacrifices.[4] Taitiriya Brahmana (Tai. Br.) says that half of the yajna parishes if she is not present in it.[5] In the list of the persons participating the yajna, Gopatha Brahmana (G.Br.) refers to the yajamana's wife also.[6] There were reference to women performing sacrifices individually. A lady named Visvavara (विश्ववारा) is referred to get-up early in the Morning and starts sacrifices all by herself.[7] At another place a maiden is described as making offering of Soma to the Indra.[8] Though the maidens took part in some of the the Srauta rituals[9] yet individually they did not perform any Srauta role. If there were wives more than one, all of them participated in the rituals.[10] There were rituals in which the consent of the wife was taken. In case there was a violation of a rule of conduct, the wife of the Yajamana was asked to give her consent.[11] She was consulted by her husband while giving away the Daksina (दक्षिणा) as she should also have the knowledge of the things to be give.[12] Many rituals originally performed by the wife alone started to be assigned to male substitutes

---

1. योषा वै सरस्वती। Satapatha Brahmana. 2.5.1.11.
2. अर्धो ह वा एष आत्मनो यज्जाया। S.Br. 5.2.1.10
3. संहोत्रंस्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति। वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते-----RV. 10.86.10
4. संजानाना उप सीदन्नभिज्ञु पत्नीवन्तो नमस्यं नमस्यन्। RV. 1.72.5
5. अर्धो वा एतस्य यज्ञस्य मीयते यस्य व्रत्येहनपत्न्या-नालम्बुक भवति। Tai. Br. 3.7.1.
6. G.Br. 1.5.24
7. एति प्राची विश्ववारा मनोभिर्देवाँ ईडाना हविषा घृताची। RV. 5.28.1.
8. कन्या वारवायती सोममपि सुताविदत्। अस्तं भरन्त्यब्रवीदिन्द्राय सुनवै त्वा शुक्राय सुनवै त्वा।। RV. 8.91.1.
9. Cf. Katyayana Srauta Sutra (K.S.S.) 5.10.15, S.Br. 2.6.2.13.
10. Cf. Asvamedha in KSS (20th Chapter).
11. KSS 7.5.11. and commentary.
12. पत्नी च ददाति। KSS. 10.2.35 and commentary

in the age of Brahmanas. For example, women always find pleasure and there physique also help them in singing the songs, the samans in the early Vedic period. But later on the ritual started to be performed by the Udgatr-rtviks[13] (उद्गातृ-ऋत्विक्). She might have been replaced by the Udgatrs because she was not physically energetic enough to carry on the singing of the samans for a long because of lengthy and so many rituals.

Some rituals were optionally performed by the wife of the yajamana. In the Pitrmedha (पितृमेध) sacrifice women optionally go round the bones of the dead ancestor placed on a cot[14] Modern Scholars like B.S. Upadhyaya observes that the religious ceremony which in later times were banned against the Hindu wife could be performed by her in the Rgvedic times in her own right.[15]

Nevertheless, there were some of the sacrificial rituals which could be performed by the wife alone even in the Grhyasutra period.[16] Sita-yajna and Rudrabali are rituals performed by the wife alone. R.K. Mookerji observes that there is no wonder that the wife enjoyed with her husband full religious rights and regularly participated in religious ceremonies with him.[17] The performance of Srauta ritual was justified only if the wife of the yajamana participated along with her husband.

Again Vedic texts lay much stress upon the ritual of Diksa meant for the self purification.[18] Besides yajamana and Rtviks the ritual is performed upon the wife of the yajamana's also. And if there were more wives, all are purified through Diksa.[19] The wife puts on new silken clothes.[20] The old or dirty cloths were strictly prohibited at the time of performing the rituals. At the Diksa ceremony Katyayana optionally allows her to get her hair cut[21] but Apastamba does not allow at all.[22] The rules prescribed for the wife of the yajamana are the same to those prescribed for her husband. She observes fast on the day prior the agnyadhana (अग्न्याधान), day and night keeps awake- यदहरस्य श्वोऽग्न्याधेयं स्यात्। दिवेवाश्नीयात् (S.Br. 2.1.4.) She observes complete celibacy.[23]

There are many rituals which were performed only by the wife of the yajamana. At the Darsapurnamasa (दर्शपूर्णमास), the ritual of opening the yoktra, girdled around her waist during initiation ceremony is performed by herself.[24] When the yajamana used to be out of station, his wife had to

---

13. Cf. पत्नीकर्मेव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातारः। S.Br. 14.3.1.35
14. स्त्रियो वा। KSS. 21.3.8.
15. Upadhyaya, B.S. Women in Rgveda, P. 142
16. Paraskar Grhyasutra (Par. Gs.) 11.17.3.8-10
17. Mookerfi, R.K. Women of India, P.2
18. दीक्षयन्त्यात्मानं पुनीते। Kathak Samhita (KS) 34.7.
19. अनेकासु पत्नीषु सर्वासां योक्त्रबन्धनम्। Devayajnika on KSS. 2.7.4.
20. K.S.S. 4.7.12., A.S.S. 5.4.10.
21. वपनं वा K.S.S. 7.2.19
22. एवं पत्न्या क्शवर्जम्। AP.S.S.5.4.9.
23. Jaminiya Brahmana 6.1.24
24. K.S.S. 3.8.2, Cf. S.Br. 1.9.2.33; Ap. S.S.3.10.6 and Taitiriya Samhita (T.S.) 1.1.10.2. prescibe imam visyami etc. for opening yoktra.

perform worship of the fires.[25] The ritual of looking at the gheeajya-veksna(आज्यवेक्षण) is also performed by the wife of the yajamana reciting the verse 'ada bdhena tva' etc.[26] The ritual of grinding the grains is performed by the wife of the yajamana[27] and it shows that in the vedic society the deeds of grinding, threshing or husking the grains were restricted to the women. There are various rituals wherein yajamana's wife appears in her main role. The ritual of reciting the verses is also certainly per formed by her (San.S.S. 1.15.13)but later on she was forbidden to recite the Vedic mantras. At the Pravargya if she looks at the mahavira-pot. she is made to recite the verse-tvastr etc.- त्वष्ट्रमन्त' इत्यनां वाचयति महावीरसीक्षमाणाम् (Kss. 26.4.15) in which progeny is longed for. The ritual of recitation of verses by the wife of the yajamana clearly shows that in the rituals her participation is not that of a mere silent spectator. For the nourishment of rituals her participation is necessary as she was treated as the form of riches (Sri-श्रियैवाऽएतद्रूपं यत्पत्न्य: S.Br. 13.2.6.7).

In some rituals the wife of the yajamana is indirectly related. For example, the offering of caru (चरु) for Aditi, one of the twelve 'Ratna-oblations' is offered in the palace of Chief-wife Mahisi (महिषी). The Prthvi is aditi and wife of the Gods, and on the other hand the mahisi is the wife of the yajamana. Therefore the offering for aditi is made in the chief-wife's palace.[28] Clearly, the eldest wife was considered the jewel of the husband and she enjoyed a momentous place. The ritual of preparing the things to be used in the rites are also sometimes performed by her. For example, at the varuna praghas-parva (वरुणप्रघासपर्व) she prepares the karambha pots.[29] The performance of the rituals of preparing the different things by the wife of yajmana shows the expertness of woman in preparing the things.

In the Srauta rituals, there are some rituals like Agnadhana,[30] Avabhrtha-isti[31] and vajapey[32] etc. in which the yajamana also joins his wife and both of them perform them jointly. In some of the rituals, the wife of the yajamana was given a high respect. For example at the Pravargya (प्रवर्ग्य), the yajaman and the Rtviks come out of the sala (शाला) led by her.[33] At certain rituals she was made to recite the mantras.[34] At the Gavamayana (गवामयन) the ritual of singing songs in praise of the yajamanas is performed by their wives. They sing songs by playing on Vinas[35](वीणा), that shows their knowledge and liking of the instrumental music. At the Dvadasaha, the ritual of consuming madhu or ghee at the

---

25. पुरोदयादस्तमयाच्च पावकं प्रबोधयेत् गृहिणी शुद्धहस्ता। K.S. 73.1.
26. San.S.S. 4.8.1, Cf. S.Br. 1.3.1. 18-19, Vajasneyi Samhita (VS)1.30.
27. पत्न्यवहन्ति पिनष्टि च। Man. S.S. 1.2.2.16, Cf. K.S.S. 2.4.22
28. आदित्यै महिष्या:। KSS. 15.3.6
29. K.S.S. 16.3.20, S.Br. 6.5.3.1V.S.S.2.1.1.40
30. K.S.S. 4.8.11 (Vidya,s Commentary), Cf. S.Br. 2.1.4.7
31. Cf. K.S.S.5.5.30, Cf. S.Br. 4.4.5.23.
32. S.Br. 5.2.1.11.
33. K.S.S. 26.7.6, पत्नीं अग्रत: कृत्वा इति।
34. S.Br. 3.8.2.2, Cf. Asv. SS. 1.11.1, K.S.S5.10.3.
35. K.S.S. 13.3.21.-22

end of sadaha is performed by the wives of initiated persons.[36] In the ritual of Asvamedha (अश्वमेध) all four wives, viz. Mahisi, Vavata, Parivrokta ad Palagali, decorated with gold ornaments Participate.[37]

Apart from the wife/wives of the yajamana, other women are also found participating in the performance of Srauta rituals. To the rituals of Rajasuya (राजसूय), a woman known as Parivrtti (commentary says-Patiputra-rahita stri Parivrttih) is also related indirectly. Twelfth and the last ratna-havi (रत्नहवि) consisting of caru (चरु) of black Dhanas (धान) is offered to Nirrti in her house.[38] (The motive of making the offering in her house is that she may get rid off the Nirrti[39] (the adversity and misfortune). It also shows that during Vedic times, the kings used to think it their moral and foremost duty to take care of the people who were adversity-stricken. After the offerings for (त्र्यम्बक रुद्र) Tryambaka-rudra, the maidens who desire for husbands or good luck, take three rounds of vedi, reciting त्र्यम्बकं यजामहे etc..[40] In the rituals of Asvamedha (अश्वमेध) 400 maid attendants, or the wives of the yajamana also participate. Among these attendants one hundred accompany each of the four queens.[41] The large number of the attendants, accompanying the individual queen, shows the luxurious life enjoyed by the royal families. The maid attendants also take part in the ribald-dialogues.[42] At the Gavamayana (गवामयन),eight or more maid attendants dance round the marjaliya shed, having water pitchers on their heads.[43]

The ritual of untying the bundle of sacred grass (veda) is performed by the wife of the yajamana. According to Satapatha Brahmana Vedi is a woman and Veda is a man, so by untying the Veda the combination (of a man and a woman) for the birth of child is completed.[44]

In this way the Srauta rituals reveal that in the Vedic society or period, women enjoyed a good position and privileges. Though there were restrictions too for certain women because the Srauta rituals were only meant for the women of higher three Varnas-स्त्री चाऽविशेषात्। दर्शनाच्च (K.S.S.1.1.3-8), yet the performance of the Srauta rituals of sweeping the shed, smearing the sacrificial ground, grinding the grains etc. by the wife of the yajamana does not show her lower position in society Because the modern women also perform such manual works and still they enjoy respectable position. The study of Srauta rituals also reveals that the women used to recite mantras/Verses which means that they were given opportunities to study and their absence would surely have affected the ritual procedure. The Srauta rituals are very helpful in projecting the real state of affairs of vedic society and women accordingly.

---

36. Cf.K.S.S 12.3.20 and commentary by Vidyadhara.
37. K.S.S. 31.1.12, S.Br. 13.4.1.8.
38. नैर्ऋतः परिवृत्त्यै कृष्णाव्रीहीणां। K.S.S. 15.3.14, cf. S.Br. 5.3.1.13
39. S.Br. 5.3.1.13
40. K.S.S. 5.10.15, cf. S.Br. 2.6.2.13, V.S. 3.60
41. K.S.S. 20.1.12
42. K.S.S. 20.6.18-19
43. S.Br. 1.9.2.21
44. S.Br. 1.9.2.21

गुरुकुल- शोध- भारती मार्च 2006 अंक 5 (पृ0235-237)

YOGA AND CONSCIOUSNESS

USHA LOHAN AND DOLLY KHANNA
Reader, Department of Physical Education, Kurukshetra University, Kurukshetra
Deputy Director, Campus Sports, Punjab University, Chandigarh.

Consciousness has returned as a topic of systematic research in psychology only during the past few decades. Consciousness is the kind you get by watching your mind and actions (in Theravadas Buddhism), this watching is called mindfulness; in Patanjali's Yoga it's called becoming a seer). This consciousness is capable of thinking of future and it has in it the memories of past lives also. The aim of present paper is to bring out what is consciousness how the mechanism of consciousness works; what are the manifestations of consciousness and how Yoga is super consciousness. The present paper concludes that consciousness is awareness of us and the external world (Rober A. & Baron in Psychology, 1996) and Yoga is the best way to transform this consciousness in a positive way to make the lives of people hale and happy.

Introduction

Yoga is an ancient practice from India that began at least 5000 years ago. We practice Yoga as a workout or to relieve stress. Yoga is union or communion of body, mind and spirit. Yoga is a life of self-discipline based on idea of simple living and high thinking. The ultimate goal of a life in this life is liberation. Liberation from the constraints of the mind. As we practice Yoga we elevate our consciousness. We uplift those around us with our newfound peace and calm. We become at positive influence in our surroundings, thereby infecting the world with this beauty, (Bikram Yoga Grosse Point Inc.).All living beings do have what is called consciousness. It is their consciousness that makes them react to various, stimuli, external or internal. It is their consciousness that manifests in the form of thoughts, desires, understanding that manifests in the form of thoughts, desires, understanding, judgment, memory and feeling of happiness or sorrow or self-awareness. Just as electricity is termed as heat, light or power according to how it manifests, even so is this consciousness called 'Mind' when it manifests as thought, it is called 'Intellect', when it performs the function of understating and judgment, it is know as 'Memory', when it recollects the information stored in it, it is termed as 'Nature:, 'Prolixity', 'Subconscious mind', sanskaras as it colours its present thoughts and judgement.

This consciousness is capable of thinking of future and it has in it the memories of past lives also. So, it is something which transcends time and is different from this body though it acts and reacts through the body, the nervous system and the brain. It can make extra-sensory perceptions and precognition also. Therefore, in its nature, it is not something gross and material but is a subtle and a transcendent entity called 'The Soul', 'Mind', 'Intellect' etc. are the names given to various manifestations of the consciousness which the soul has.

Mechanism of Consciousness

It is well known that the main mechanism through which man reacts to external stimuli in the form of events, persons or things is man's brain and the network of sensory and motor nerves with which the brain is connected. But people do not know that actually it is the soul which is the centre of consciousness and the soul abides near the pituitary. The pituitary receives information from the cerebral cortex or the brain and passes it on to the soul. Now it depends upon what attitudes, values or pro-activities the soul has. The soul reacts to those stimuli according to its tendencies, beliefs, values etc. through the above –mentioned mechanism.

Types of Consciousness

There are mainly four types of consciousness. All men in this world belong to one or the other category out of these. The first among these which is common to almost all is:

(1)Gross Consciousness

This means the same thing as 'body-consciousness' and example of an actor can be cited to clarify this. If an actress is called upon to act as Indira Gandhi, she may use a mask to look like Indira Gandhi to the spectators. However in her mind she is not obvious of the fact that in reality, she is not Indira Gandhi but her mask makes her appear like the latter. The folly of man however, is that playing his part on this world Drama-Stage, he has come to identify himself with the gross body, instead of realizing that he is a soul and the body is just like his outer garment.

(2)Intellectual Consciousness

Some people wrongly identify the self, our soul, with body and brain which is merely like a computer. To this second category belong the intellectuals, the Scientists being among them. They, in their research work, concentrate to their minds on abstract ideas. At that time they are not conscious of their home a bodily needs, yet their mind is directly or indirectly attached to the gross world theirs may be called intellectual consciousness.

(3) Subtle Consciousness

Other people when changed in their spiritual efforts are conscious of subtle duties of their religion. They are little above gross consciousness. These devotees may not be conscious of their own gross body yet their mind has the consciousness of the subtle body of those whom they worship.

(4)Super consciousness

The ultimate type of consciousness, which a yogi in the real sense of the term attains to, is the supper consciousness. In this type one's mind is devoted to the supreme soul. This is what is known as Yoga. A yogi is conscious of himself as a soul and of God as the Supreme Soul. This super consciousness that is soul consciousness is necessary for being holy and happy.

Yoga has been rightly defined by Swami Satyanadra Sarwaswati (1980) as "A complete science of consciousness". Yoga practices reduce anxiety and improve concentration, attention memory and mental efficiency. The results indicate a tranquil state of mind during routine activities accompanied by.

The Practice of Yognidra opens up deeper state of mind. Each time one practice Yognidra, one's level of consciousness deepens and become more aware of sub-conscious mind and ultimately gives more relaxation and also gets relieved of stress from mind. A Research paper by Yogacharya Vishwas handik et. al. established the relationship between brain activity waves and consciousness. According to the Study the frequency of brain activity waves has been shown to alter according to the state of consciousness and state of mind the subject is in.

PETRI EINIO in his paper "Yoga of Three Enlightenments" has very beautifully explained consciousness as the form of enlightenments according to him there are three kinds of enlightenments that are:

1. Witness-consciousness,
2. Brahma-awareness, and
3. Awakened kundalini.

The author says the first kind of enlightenment, witness-consciousness, is the kind you get by watching your mind and actions. (In Theravada Buddhism this watching is called mindfulness; in

Patanjali's Yoga it's called becoming the seer). If you practice this enough, you, the observer, become permanently separated from your mind. To attain this state, the author of this essay recommends a particular method. He says, "While seeing, if one also sees oneself seeing, at the same time, one is in the state of Witnessing and Consciousness". According to him, mindfulness is a by-product of the desired state, not the state itself. You'll know when you're watching your mind correctly because your consciousness-of-being-conscious will make a "strong perfect circle". This circle is the "main thing" to aim for here. If you practice this for one hour every morning, you'll have a good chance of attaining this enlightenment in eight months.

The second kind of enlightenment, Brahma-awareness, is the "main enlightenment". When you attain this, you are desire less and you see the all-pervading awareness in all things. The author says you get this enlightenment from celibacy, or, to be more precise, by reducing your addiction to orgasms.

The third kind of enlightenment, awakened kundalini, is the easiest to get, according to the author. All you have to do is receive shaktipat (initiation) from a guru whose kundalini is already active and "follow [the] instructions. Once this happens, the charkas grow to their full strength automatically in about two years.

CONCLUSION

So we can conclude that actions of any human being depend upon what thoughts his consciousness is occupied with. To transform the actions or behavior of a person the consciousness has to be changed. In order to change the outlook or state of mind and to make the state of mind eternally happy the consciousness must be changed. Yoga is the best way to change the consciousness. Since a Yogi changes his consciousness through the art of Yoga, he is able to bring about a change in his habits and behavior and be in supreme bliss.

Reference

1. Jagdish, B.K. Chander, Illustrations on Raja Yoga, 1975.
2. Bahadur, K.P. The Wisdom of Yoga; A Study of Patanjali's Yoga sutra, steling publishing P. Ltd. New Delhi, 1976.
3. Deshmulk, Dik, Yoga in Management of Psychoneurotic Psychotic and Psychosomatic conditions, J. Lf Yoga Institute, May, 1971.
4. Gharote, ML, Trends in Research in Yoga, Sni Bes, Journal Vol. 3, No. 1 January, 1980
5. Patanjali Yoga Sutrani, Anandashrem , Edition, Poona, 1932.
6. Werner, Yoga and Indian Philosophy, Delhi, Moti Lal Banarasidas, 77.
7. Baron A. Robert, Psychology, third edition, Prentice Hal of India Pvt. Ltd., New Delhi-1996.
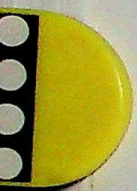
।।ओ३म्।।

गुरुकुल - शोध - भारती

वेद और वाल्मीकि - रामायण

षाण्मासिकी शोधपत्रिका (षष्ठोऽङ्कः)

अंक अक्टूबर २००६

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार के

प्राच्य-विद्या-संकाय में आयोजित

राष्ट्रिय शोध-संगोष्ठी में प्रस्तुत

शोध-निबन्ध-संग्रह

प्रो० महावीर

[आय]ोजन-सचिव, राष्ट्रिय शोध संगोष्ठी

अध्यक्ष संस्कृत-विभाग

अध्यक्ष प्राच्य विद्या संकाय

संपादक

प्रो० ज्ञानप्रकाश शास्त्री

अध्यक्ष

श्रद्धानन्द वैदिक शोधसंस्था

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-२४९४०४

सम्पादक-मण्डल

मुख्यसंरक्षक	प्रो. स्वतन्त्र कुमार कुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तरांचल)
संरक्षक	प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.
परामर्शदाता एवं आयोजन-सचिव राष्ट्रिय संगोष्ठी	प्रो. महावीर अग्रवाल अध्यक्ष संस्कृत-विभाग एवं प्राच्य-विद्या-संकाय, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तरांचल)
सम्पादक	प्रो. ज्ञान प्रकाश शास्त्री प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, श्रद्धानन्द वैदिक शोध-संस्थान, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तरांचल)
परीक्षकत्वम्	प्रो. किरण टण्डन, प्रोफेसर संस्कृत-विभाग, कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल. (उत्तरांचल)
व्यवसाय-प्रबन्धक	डॉ. जगदीश विद्यालङ्कार पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तरांचल)
प्रकाशक	प्रो. आर. डी. शर्मा कुलसचिव, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार. (उत्तरांचल)
एक प्रति का मूल्य	रु० ७५.००
वार्षिकमूल्य	रु०१५०.०० एक सौ पचास रुपये
पञ्चवार्षिकमूल्य	रु०५००.०० पाँच सौ रुपये (ग्राहक बनने हेतु पुस्तकालयाध्यक्ष, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार, से सम्पर्क अथवा पुस्तकालयाध्यक्ष के नाम धनादेश प्रेषित करें।)

विषयानुक्रमणिका

The Founder of Gurukula Kangri Vishwavidyalaya

Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)
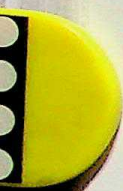
वेद के आलोक में राम की राजनीति का आलोच्य पक्ष

प्रो. ज्ञानप्रकाश शास्त्री

संस्कार रूप में भारतीय साहित्य और समाज पर वाल्मीकि रामायण का एक ऐसा प्रभाव है, जो वेदेतर किसी भी अन्य साहित्य का नहीं है। इस दृष्टि से यह एक विलक्षण कृति है। आज हम जिस पारिवारिक आदर्श की कल्पना करते हैं, उसके लिये रामचरित्र से भिन्न और उससे अच्छा कोई दूसरा उदाहरण हमारे पास नहीं है। वाल्मीकि की इस अकेली कृति ने न जाने कितने परिवारों में सौहार्द्र की वह भूमिका प्रदान की है, जिसके लिये मानव तो क्या देवता भी लालायित रहते हैं। जीवन में मर्यादा और अनुशासन को वह स्थान दिया है, जिसके कारण स्वार्थ की काली छाया में जीने वाले मानव को उसका उल्लङ्घन करने में साहस बटोरना पड़ता है। अतः साहित्य की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण सांस्कृतिक पक्ष का कहीं अधिक प्रतिनिधित्व करती प्रतीत होती है।

वाल्मीकि ने राम के रूप में समाज को जो आदर्श प्रदान किया है, उसकी प्रेरणा का स्रोत वेद रहा है। वेद कहता है कि जिस प्रकार गौ अपने बछड़े को चाहती है, उसी प्रकार हम भी परस्पर सहृदय, राग-द्वेष से रहित होकर मन से एक-दूसरे को चाहें।[१] यह तो रहा मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम का संदेश। लेकिन वेद परिवार की ऐसी संकल्पना प्रस्तुत करता है, जिसमें पुत्र पर पिता के व्रतों (परम्पराओं) के निर्वहण तथा माता के मन को समझने का गुरुतर दायित्व है।[२] वहाँ दाम्पत्य जीवन की ऐसी प्रगाढता देखने को मिलती है, जो समय के साथ प्रौढ़तर होती चली जाती है। वहाँ परिवार का जो आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें भाई-भाई के साथ तथा बहिन-बहिन के साथ प्रेम के ऐसे धागे से बँधे हैं, जहाँ विषाद और कटुता का कोई स्थान नहीं है।[३] कहने का तात्पर्य है कि परिवार की सीमा में दुराव और कृत्रिमता के लिये कोई स्थान नहीं है। जो कुछ भी है वह स्पष्ट है और उसमें ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे रहस्य के आवरण से आच्छादित किये जाने की आवश्यकता हो।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद में जो परिवार का आदर्श चित्र प्रस्तुत किया गया है, मानो उसकी जीवन्त प्रस्तुति वाल्मीकि रामायण है। लेकिन रामायण में सब कुछ मीठा ही मीठा हो ऐसा नहीं है, वहाँ सब कुछ आदर्श ही हो ऐसा भी नहीं है। रामायण के माध्यम से वाल्मीकि ने जो समाज को दिया है, वह सर्व ग्राह्य नहीं है। निश्चित रूप से रामचरित्र के कुछ ऐसे पक्ष हैं, जिन पर समय-समय पर अंगुलि उठती रही हैं। उदाहरण के लिये राम के राज्याभिषेक प्रकरण को लिया जा सकता है। जब राम छोटी सी भी प्रसन्नता अपने भाइयों के विना स्वीकार नहीं करते[४] तो फिर उन्होंने भरत और शत्रुघ्न दो-दो भाइयों की अनुपस्थिति में राज्याभिषेक

---

१. अथर्व०३.३०.१. सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
२. अथर्व०३.३०.२. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
३. अथर्व०३.३०.३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारं उत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
४. वा०रा०१.१८.३१. मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना।

कराना क्यों स्वीकार किया?

एक अन्य आलोच्य प्रसङ्ग के रूप में बालिवध को लिया जा सकता है, जिसमें वध करने के लिए राम सामने नहीं आते और छिपकर बालि का वध करते हैं। क्षत्रिय मर्यादा के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इस प्रकार के कृत्य से राम का पौरुष कलंकित हुआ है।[५] इसी प्रकार के अन्य प्रसङ्ग सुग्रीव के द्वारा भ्रातृजाया को पत्नी बनाकर रखना, सीतापरित्याग, शम्बूकवधादि हैं, जिनमें से वालिवध पर प्रस्तुत लेख में विवेचन किया जा रहा है।

वालिवध

राजनीति का मार्ग अति कुटिल है, उसमें चलने वाला व्यक्ति कितना ही सीधा क्यों न हो, कितना ही आदर्श जीवन जीता हो, उसे अपने स्वार्थ के अलावा और कुछ दिखायी नहीं देता है। राम ने सुग्रीव के साथ मित्रता स्थापित की है।[६] यह कितना विचित्र संयोग है कि राम और सुग्रीव एक ही विपत्ति के मारे हैं। यदि राम की पत्नी सीता का अपहरण हुआ है तो सुग्रीव की पत्नी रुमा पर वाली ने जबर्दस्ती अधिकार कर लिया है। जहाँ सुग्रीव राम के सहयोग से अपनी भार्या तथा राज्य को पाना चाहता है,[७] वहीं राम सुग्रीव के सहयोग से सीता को ढूँढ़ना चाहते हैं। इसी कारण सुग्रीव सीता को ढूँढ कर लाने की प्रतिज्ञा भी करते हैं।[८]

जब सुग्रीव वाली को मल्लयुद्ध हेतु ललकारता है, उस समय तारा वाली को युद्ध पर जाने से रोकती है, लेकिन वह तारा को समझाते हुए कहता है कि श्रीरामचन्द्र की बात को सोचकर तुम्हें मेरे लिये विषाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि वे धर्म के ज्ञाता और कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भलीभाँति जानने वाले हैं।[९] इस प्रकार वाली की दृष्टि में राम का रूप एक ऐसे धर्मात्मा का है, जो किसी भी परिस्थिति में मर्यादाविरुद्ध कार्य नहीं कर सकता है।

जब राम सुग्रीव के साथ युद्ध करते हुए वाली को छिपकर मारते हैं, तब बाण से आहत वह राम की भर्त्सना करता हुआ कहता है कि मैं आप में दम, शम, क्षमा आदि गुणों का विश्वास करके और आपके उत्तम कुल को यादकर तारा के मना करने पर भी सुग्रीव के साथ लड़ने चला आया।[१०] आगे वह रोषपूर्ण शब्दों में फटकारता हुआ कहता है कि—

स त्वां विनिहतात्मानं धर्मध्वजमधार्मिकम्।
जाने पापसमाचारं तृणैः कूपमिवावृतम्॥[११]

मुझे आज ज्ञात हुआ है कि तुमने अपनी आत्मा को मारा हुआ है, तुम हो तो वास्तव में अधार्मिक, लेकिन

---

५. वा०रा०४.१७.३२. नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः।
६. वा०रा०४.५.१६-१७ त्वं वयस्योऽसि हृद्यो मे ह्येकं दुःखं सुखं च नौ। सुग्रीवो राघवं वाक्यमित्युवाच प्रहृष्टवत्॥
७. वा०रा०४.५.३० तव प्रसादेन नृसिंहवीर प्रियां च राज्यं समाप्नुयामहम्।
८. वा०रा०४.६.५ भार्यावियोगजं दुःखं नचिरात् त्वं विमोक्ष्यसे। अहं तामानयिष्यामि नष्टां वेदश्रुतीमिव॥
९. वा०रा०४.१६.५ न च कार्यो विषादस्ते राघवं प्रति मत्कृते। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च कथं पापं करिष्यति॥
१०. वा०रा०४.१७.२० तान् गुणान् सम्प्रधार्याहमग्र्यं चाभिजनं तव। तारया प्रतिषिद्धः सन् सुग्रीवेण समागतः॥
११. वा०रा०४.१७.२२

तुमने केवल दिखावे के लिये धर्म का चोला पहना हुआ है। मुझे तो आपका आचार-विचार पापपूर्ण लगता है। आप घास-फूस से ढँके हुए कूप के समान धोखा हो—

सतां वेषधरं पापं प्रच्छन्नमिव पावकम्।
नाहं त्वाभिजानामि धर्मच्छद्माभिसंवृतम्।। [१२]

क्षत्रियकुल में उत्पन्न, शास्त्रों के ज्ञाता, संशयरहित तथा धर्म का वेश धारण किये हुए होने पर भी आपके अतिरिक्त कौन ऐसा मनुष्य हो सकता है कि जो इस प्रकार का क्रूरतापूर्ण कर्म कर सकता हो। आप राघवकुल में उत्पन्न हुए हैं और संसार में धर्मात्मा के रूप में प्रसिद्ध हैं, फिर भी आप इतने क्रूर निकले। यदि आपका वास्तविक रूप यही है तो फिर क्यों आप विनीत एवं दयालु पुरुष का रूप धारण करके चारों ओर विचरण कर रहे हैं? —

कः क्षत्रियकुले जातः श्रुतवान् नष्टसंशयः।
धर्मलिङ्गप्रतिच्छन्नः क्रूरं कर्म समाचरेत्।।
त्वं राघवकुले जातो धर्मवानिति श्रुतः।
अभव्यो भव्यरूपेण किमर्थं परिधावसे।। [१३]

राजन्! साम, दान, क्षमा, धर्म, सत्य, धृति, पराक्रम और अपराधियों को दण्ड देना—ये राजाओं के गुण हैं! हे नरेश्वर राम! हम फल-मूल खाकर वन में विचरण करने वाले हैं, यही हमारी प्रकृति है, किन्तु आप तो सभ्य पुरुष हैं। अतः हमारे में और आप में वैर का कोई कारण नहीं है—

साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु।।
वयं वनचरा राम मृगा मूलफलाशिनः।
एषा प्रकृतिरस्माकं पुरुषस्त्वं नरेश्वर।। [१४]

हे राम! पृथ्वी, सुवर्ण, चाँदी—ये राजाओं के विग्रह के कारण हैं। इन्हीं के कारण राजाओं में परस्पर युद्ध होते हैं। ये ही तीन कलह के मूल कारण हैं, परन्तु यहाँ वे भी नहीं हैं। हमारे वन और फलसम्पदा को पाने में आपका क्या लोभ हो सकता है? —

भूमिर्हिरण्यं रूपं च विग्रहे कारणानि च।
तत्र कस्ते वने लोभो मदीयेषु फलेषु वा।। [१५]

नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह—ये राजधर्म के नियामक मूलतत्त्व हैं, किन्तु इनके उपयोग के भिन्न-भिन्न अवसर हैं। कहने का आशय यह है कि राजा को इनका अनुचित उपयोग नहीं करना चाहिये। राजधर्म का मार्ग

---

१२. वा०रा०४.१७.२३
१३. वा०रा०४.१७.२७-२८
१४. वा०रा०४.१७.२९-३०
१५. वा०रा०४.१७.३१

बहुत उदार है, परन्तु राजा को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिये। लेकिन आप तो काम के वशवर्ती, क्रोधी और मर्यादा के उल्लङ्घन करने वाले और अस्थिरचित्त हैं। आपकी राजधर्म की समझ अत्यन्त संकीर्ण है, दण्ड और अनुग्रह का विचार किये विना ही आप राजधर्म का प्रयोग कर देते हैं।

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि।
राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपा: कामवृत्तय:।
त्वं तु कामप्रधानश्च कोपनश्चानवस्थित:।
राजवृत्तेषु संकीर्ण: शरासनपरायण:॥ [१६]

वाली राम के विषय में और अधिक कटु टिप्पणी करते हुए कहता है—आप धर्म का आदर नहीं करते हैं और न आपकी अर्थसाधन में बुद्धि स्थिर है। हे नरेश्वर! आप स्वेच्छाचारी हैं, इसलिये इन्द्रियाँ आपको कहीं भी खींच ले जाती हैं—

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता।
इन्द्रियै: कामवृत्त: सन् कृष्यसे मनुजेश्वर॥ [१७]

उपर्युक्त वाली के कथन से स्पष्ट हो जाता है कि एक वानर अर्थात् असभ्य मनुष्य की दृष्टि में भी राम का चरित्र उतना उत्कृष्ट, उदात्त और पावन नहीं है, जितना कि एक सामान्य व्यक्ति का होता है। जिस प्रकार कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध करने वाला केवल अपने स्वार्थ को देखता है, यहाँ उसी प्रकार का आचरण करते हुए राम दिखायी दे रहे हैं।

राम के चरित्र का मूल्याङ्कन करने से पूर्व यह देखना भी उपयुक्त प्रतीत होता है कि राम ने वाली को मारने के सम्बन्ध में जो तर्क दिये हैं, वे कहाँ तक युक्तिसंगत और न्यायपूर्ण हैं।

सर्वप्रथम राम वाली को समझाते हुए कहते हैं कि वन और पर्वतसहित यह समस्त पृथिवी इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की है, अत: पशु-पक्षी और मनुष्यों पर निग्रह और अनुग्रह करने का उनका अधिकार है। वर्तमान में राजा भरत इस पृथिवी का पालन कर रहे हैं। उन्हीं के आदेश से हम तथा दूसरे अन्य राजा जगत् में धर्म का पालन करने के लिये विचरण कर रहे हैं।[१८] तुमने अपने जीवन में काम को प्रधानता दे रक्खी है, राजोचित मार्ग पर तुम कभी स्थिर नहीं रहे। तुमने सदा धर्म को हानि पहुँचायी है और गर्हित आचरण करने के कारण तुम्हारी सत्पुरुषों द्वारा निन्दा की गयी है।[१९]

राम आचार नीति के मर्म को समझाते हुए वाली से कहते हैं कि बड़ा भाई, पिता तथा विद्या प्रदान करने

---

१६. वा०रा०४.१७.३२-३३
१७. वा०रा०४.१७.३४
१८. वा०रा०४.१८.६-९
१९. वा०रा०४.१८.१२ त्वं तु संक्लिष्टधर्मश्च कर्मणा च विगर्हित:। कामतन्त्रप्रधानश्च न स्थितो राजवर्त्मनि॥

वाला गुरु—ये तीनों धर्ममार्ग पर स्थित रहने वाले पुरुषों को लिये पिता के समान सम्माननीय हैं।[२०] इसी प्रकार छोटा भाई, पुत्र और गुणवान् शिष्य—ये तीनों पुत्र के तुल्य समझने चाहिये। उनके प्रति ऐसा भाव रखने में धर्म ही कारण है।[२१]

राम स्पष्ट रूप से वाली को मारने का कारण बताते हुए आगे कहते हैं कि मैंने तुम्हें क्यों मारा है ? उसका कारण सुनो और समझो। तुम सनातन धर्म का परित्याग करके अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी रुमा के साथ सहवास करते हो—

तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः।
भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥[२२]

हे वानरराज! जो लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसका निग्रह करने के लिये मैं दण्ड के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं देखता हूँ।[२३] मैं उत्तम कुल में उत्पन्न क्षत्रिय हूँ, अतः मैं तुम्हारे पाप को क्षमा नहीं कर सकता। जो पुरुष अपनी पुत्री, भगिनी या छोटे भाई की स्त्री के साथ कामाचार करता है, उसका वध करना ही उपयुक्त दण्ड माना गया है—

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः।
औरसीं भगिनीं वापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः॥
प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।[२४]

हे कपीश्वर! हम लोग तो भरत की आज्ञा को ही प्रमाण मानकर धर्ममर्यादा का उल्लङ्घन करने वाले तुम्हारे जैसे लोगों को दण्ड देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं।

राम ने वाली को मारने के लिये जो तर्क दिये हैं, उनमें सबसे प्रमुख तर्क यह है कि छोटा भाई पुत्र के समान होता है, उसकी पत्नी पुत्रवधू के तुल्य है, लेकिन मर्यादा का परित्याग करके, उसके रहते हुए, वाली अपने छोटे भाई की पत्नी के साथ सहवास करता है।[२५]

उपर्युक्त राम के वक्तव्य का यदि हम परीक्षण करते हैं तो पाते हैं कि यह कथन एकाङ्गी है और राम और उसकी इक्ष्वाकुवंशीय परम्परा ने इस नियम का अन्यत्र पालन नहीं किया है। जहाँ राम एक ओर छोटे भाई को पुत्र के समान बतलाते हैं, वहीं दूसरी ओर बड़े भाई को पिता के तुल्य स्थान देते हैं। इस प्रकार देखने पर सुग्रीव के लिये वाली पिता के तुल्य और वाली के लिये सुग्रीव पुत्र के समान है। ऐसी स्थिति में जहाँ वाली के लिये सुग्रीव

---

२०. वा०रा०४.१८.१३ ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति। त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः॥'
२१. वा०रा०४.१८.१४ यवीयानात्मनः पुत्रः शिष्यश्चापि गुणोदितः। पुत्रवत्ते त्रयश्चिन्त्या धर्मश्चैवात्र कारणम्॥
२२. वा०रा०४.१८.१८
२३. वा०रा०४.१८.२१ नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः। दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥
२४. वा०रा०४.१८.२२-२३
२५. वा०रा०४.१८.१९ अस्य त्वं धरमाणस्य सुग्रीवस्य च महात्मनः। रुमायां वर्तसे कामात् स्नुषायां पापकर्मकृत्॥

की पत्नी रुमा पुत्रवधू के समान है, वहीं सुग्रीव के लिये वाली पत्नी तारा माता के समान है।

वालीपुत्र अङ्गद सुग्रीव के चरित्र का वर्णन करता हुआ कहता हैं कि वाली के जीवित रहते हुए सुग्रीव ने अपनी माता के समान भ्रातृजाया को पत्नी बनाकर रख लिया था, वह धर्म को जानता है, यह कैसे कहा जा सकता है? जिस दुरात्मा ने युद्ध के लिये जाते हुए भाई के द्वारा बिल की रक्षा के कार्य में नियुक्त होने पर भी पत्थर से मुँह बन्द कर दिया, वह कैसे धर्मज्ञ माना जा सकता है–

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य यो भार्यां जीवतो महिषीं प्रियाम्।
धर्मेण मातरं यस्तु स्वीकरोति जुगुप्सितः॥
कथं स धर्मं जानीते येन भ्रात्रा दुरात्मना।
युद्धायाभिनियुक्तेन बिलस्य पिहितं मुखम्॥[२६]

सुग्रीव को प्रतिज्ञा याद दिलाने किष्किन्धा आए लक्ष्मण को वालीपत्नी तारा कहती है कि विपक्षी वीरों का विनाश करने वाले हे राजकुमार! वानरराज सुग्रीव विषयभोग में आसक्त होकर इस समय मेरे ही पास थे। काम के आवेश में उन्होंने अपनी लज्जा का परित्याग कर दिया है, तो भी उन्हें अपना भाई समझकर क्षमा कर दीजिए।[२७] इसी क्रम में वह आगे कहती है कि शत्रुओं को संताप पहुँचाने वाले सुमित्रानन्दन लक्ष्मण! राम की कृपा से सुग्रीव ने वानरों के अक्षय राज्य, यश, रुमा तथा मुझे प्राप्त किया है।[२८]

उपर्युक्त तारा के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि सुग्रीव ने अपनी माता के समान ज्येष्ठ भ्राता को पत्नी तारा को पत्नी बनाकर रखा हुआ है तथा साथ ही तारा भी सहर्ष सुग्रीव की पत्नी बनने के लिये सहमत दिखायी देती है। इसी प्रकार रामायण में ऐसा कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि जिससे यह विदित होता हो कि रुमा को वाली की पत्नी बनकर रहने में किसी प्रकार की लज्जा, संकोच, अपमान, ग्लानि या बलात्कार का भाव मन में आया हो।

प्राणदण्ड का औचित्य प्रतिपादित करते हुए राम ने कहा था कि सनातन धर्म का परित्याग करने के कारण वाली को यह दण्ड दिया गया है।[२९] साथ ही कहा कि जो लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोकविरुद्ध आचरण करता है, उसे दण्ड देने के अलावा और कोई उपाय नहीं है।[३०] यह दण्ड भी राम की दृष्टि में केवल वध ही हो सकता है।[३१]

---

२६. वा०रा०४.५५.३-४

२७. वा०रा०४.३३.५६ तं कामवृत्तं मम संनिकृष्टं कामाभियोगाच्च विमुक्तलज्जम्। क्षमस्व तावत् परवीरहन्तस्त्वद् भ्रातरं वानरवंशनाथम्॥

२८. वा०रा०४.३६.५ रामप्रसादात् कीर्तिं च कपिराज्यं च शाश्वतम्। प्राप्तवानिह सुग्रीवो रुमां मां च परंतप॥

२९. वा०रा०४.१८.१८ तदेतत् कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः। भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥

३०. वा०रा०४.१८.२१ नहि लोकविरुद्धस्य लोकवृत्तादपेयुषः। दण्डादन्यत्र पश्यामि निग्रहं हरियूथप॥

३१. वा०रा०४.१८.२३ प्रचरेत नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः।

राम यह सब अपने मन से नहीं करते हैं, यह तो वह अयोध्या के वर्तमान राजा भरत के आदेश से करते हैं।[३२] लेकिन राम के पदचिह्नों का अनुसरण करने वाले लक्ष्मण को न तो यह दिखायी देता है कि सुग्रीव धर्म का उल्लङ्घन कर रहा है, न यह दिखायी देता है, वह लोकविरुद्ध आचरण कर रहा है और न यह दिखायी देता है कि जो मेरी दृष्टि में आदर्श है, उसकी कसौटी पर सुग्रीव कहीं पर भी खरा नहीं उतरता है। लक्ष्मण से जब राम सीता के आभूषण दिखाकर पूछते हैं तब लक्ष्मण ने जो कहा है, वह भारतीय संस्कृति और लोकमर्यादा का उज्ज्वल रूप है। लक्ष्मण कहते हैं—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वाभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्।[३३]

मैं भाभी के न तो केयूर (बाजूबन्द) को जानता हूँ और न कुण्डल को पहिचानता हूँ। परन्तु प्रतिदिन चरणवन्दना करने के कारण मैं भाभी के नूपुरों को अवश्य पहिचानता हूँ।

भारतीय संस्कृति के जिस आदर्श को लक्ष्मण जी रहे हैं, वही उनके सामने खण्डित हो रहा है, उसको देखकर कहीं भी उनके मन में क्रोध का भाव नहीं आया है। कहाँ गया अयोध्या के राजा भरत का आदेश जिसके अनुसार धर्म का उल्लङ्घन करने वाले का केवल वध ही हो सकता है। कहाँ गयी राम के क्षत्रिय होने की प्रतिज्ञा जिसके अनुसार इस प्रकार के कुत्सित आचरण करने वाला अक्षम्य है।[३४]

रामायण के पूर्वापर अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लक्ष्मण सुग्रीव के पास अपना स्वार्थसिद्ध करने के लिये गये हैं। इसीलिये बार-बार वे एक बात का स्मरण कराते हैं कि हे सुग्रीव! तुम अनार्य, कृतघ्न, और मिथ्यावादी हो।[३५] सुग्रीव कहीं अपने प्रतिज्ञा से विचलित न हो जाए, इसलिए उससे कहा जाता है कि सभी प्रकार के पापों का प्रायश्चित्त हो सकता है, लेकिन '**कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः**' कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं है।[३६] तुम्हारे ऊपर जो राम का उपकार है, उसे तुम मत भूलना, नहीं तो बाद में रोने वाले भी नहीं मिलेंगे।[३७] लक्ष्मण सुग्रीव को केवल धर्म का ही स्मरण नहीं कराते, वरन् राम के कथन को उद्धृत करते हुए मृत्यु का भय भी दिखाते हैं—

न स संकुचितः पन्था येन वाली हतो गतः।
समये तिष्ठ सुग्रीव मा वालिपन्थमन्वगाः।।[३८]

---

३२. वा०रा०४.१८.२३-२४ भरतस्तु महीपालो वयं त्वादेशवर्तिनः। त्वं च धर्मादतिक्रान्तः कथं शक्यमुपेक्षितुम्।।
३३. वा०रा०४.६.२२-२३
३४. वा०रा०४.१८.२२-२३
३५. वा०रा०४.३४.१३ अनार्यस्त्वं कृतघ्नश्च मिथ्यावादी च वानर। पूर्वं कृतार्थो रामस्य न तत्प्रतिकरोषि यत्।।
३६. वा०रा०४.३४.१२ गोघ्ने चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा। निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः।।
३७. वा०रा०४.३०.८२
३८. वा०रा०४.३४.१८

'हे सुग्रीव! वाली मरकर जिस रास्ते से गया है, वह मार्ग आज भी बन्द नहीं हुआ है। इसलिये तुम अपनी प्रतिज्ञा पर डटे रहो।'

राम ने लक्ष्मण को सुग्रीव के लिये सन्देश देते हुए जो कहा है, उसका भी उद्देश्य अपनी स्वार्थसिद्धि है। उसमें कहीं भी उस बिन्दु की चर्चा नहीं है, जिस कारण वाली को मारा गया है। राम कहते हैं—

एक एव रणे वाली शरेण निहितो मया।
त्वां तु सत्यादतिक्रान्तं हनिष्यामि सबान्धवम्।।[३९]

'वाली तो रणक्षेत्र में अकेला ही मेरे बाण से मारा गया था, परन्तु यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा से विचलित हुए तो मैं तुम्हें बन्धु-बान्धवों सहित मार दूँगा।'

यदि उपर्युक्त प्रकरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया जाए तो उससे यह सिद्ध होता है कि राम और लक्ष्मण ने धर्म और भय इन दो माध्यमों से अपने उद्देश्य की पूर्ति का प्रयास किया है।

सम्पूर्ण रामायण के अवलोकन के आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें तीन संस्कृतियाँ हैं, प्रथम-आर्य-संस्कृति, जिसका प्रतिनिधित्व राम तथा ऋषिगण करते दिखायी देते हैं। दूसरी वानर-संस्कृति है, जिसका प्रतिनिधित्व वाली और सुग्रीव करते हैं और जो आर्य-संस्कृति संभवतः, राक्षस-संस्कृति की अपेक्षा भी हीन है। तीसरी राक्षस-संस्कृति है, जिसका प्रतिनिधित्व रावण और उसके सहयोगी करते हैं। यदि इन तीनों संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि इन तीनों में वानर-संस्कृति सभ्यता, आचार-विचार, आहार-विहार की दृष्टि से प्रकृत्युन्मुखी है, प्रकृति पर आश्रित है, अतः इनमें स्वभाव की वह कुटिलता भी नहीं है, जो आर्यसंस्कृति के संवाहक राम-लक्ष्मण तथा राक्षस-संस्कृति के प्रतिनिधि रावण में है। धर्म का जैसा नियन्त्रण आर्य-संस्कृति में देखा जाता है, वैसा नियन्त्रण इनमें नहीं है। इस कारण वानर-संस्कृति में स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों में वह एकात्मकता नहीं है, जैसी आर्य-संस्कृति और राक्षस-संस्कृति में है। राक्षस-संस्कृति में एक भी ऐसा उदाहरण नहीं मिलता, जहाँ एक ने दूसरे की स्त्री को विना उस स्त्री की सहमति के रख लिया हो। विभीषण के शत्रुपक्ष में मिल जाने पर भी रावण ने विभीषण के परिवार के साथ ऐसा कोई व्यवहार नहीं किया, जिससे धर्म का उल्लङ्घन होता हो।

वानर-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले दोनों योद्धा इस विधा में निपुण और विना किसी द्विविधा या लज्जा के इस कार्य को परिणाम तक ले जाने वाले हैं। यदि निष्पक्ष और न्यायपूर्ण दृष्टि से मनन किया जाए तो विदित होता है कि राम और लक्ष्मण जिस सुग्रीव के पीछे खड़े हैं, वही इस दूषित परम्परा का संवाहक है। इसीने प्रथम वाली की पत्नी तारा को अपनी पत्नी बनाया, उसके बाद भाई के कृत्य का प्रतिशोध लेने के लिये वाली ने सुग्रीव की पत्नी रुमा को अपनी पत्नी बनाकर रक्खा। यह तो एक क्रिया की प्रतिक्रिया मात्र है। अतः दोषी तो वही है, जिसने पहले क्रिया की है। अतः यदि आर्यसंस्कृति के प्रतिनिधि अपनी संस्कृति की मर्यादा के अनुरूप दण्ड देना आवश्यक समझते थे तो पहले सुग्रीव को दण्ड दिया जाना उचित था, जबकि ऐसा नहीं हुआ है। अतः यह

---

३९. वा०रा०४.३०.८२

माना जा सकता है कि राम ने अपने उद्देश्य की पूर्ति में सहायता लेने के लिये सुग्रीव की सहायता की। राजनीति अपने स्वार्थ के आगे उचित और अनुचित का विवेक न तो पहले करती थी और न आज करती है, उसको धर्म का चोला पहनाकर कुछ भी कहें, पर है वह स्वार्थ की अन्धी गली है और राम भी इसके अपवाद नहीं है। इस दृष्टि से देखने पर प्रस्तुत प्रकरण में राम की राजनीति वैदिक निकषा पर खरी नहीं उतरती है, ऐसा कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन सिक्के का एक पक्ष है, यदि हम प्रस्तुत प्रकरण को भारतीय मनीषा की सकारात्मक दृष्टि का प्रतिनिधित्व करने वाले विद्वानों की दृष्टि से देखें तो विदित होता है कि राम की राजनीति मनु के निर्देशों से बहुत अधिक प्रभावित थी। मनु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सबके सामने या एकान्त में छिपकर आततायी का वध करने वाले को किसी प्रकार का दोष नहीं लगता है।[४०] मनु वेद को प्रमाण मानकर दण्डव्यवस्था प्रतिपादित कर रहे हैं और वालिवध में राम ने मात्र मनु के विधान का अनुपालन किया है।

इसके अतिरिक्त जहाँ तक सुग्रीव के द्वारा ज्येष्ठ भ्राता की पत्नी तारा को अपनी पत्नी बनाकर रखने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में आचार्य यास्क के **'देवर: कस्मात्? द्वितीयो वर उच्यते'**[४१] वक्तव्य को ध्यान में रखना चाहिये। यास्क ने देवर पद का निर्वचन **'द्वितीय वर'** करके लोकमत को स्वीकृति प्रदान की है। यद्यपि यह राम की संस्कृति तो निश्चित रूप से नहीं है, फिर भी लोकसंस्कृति रही है और आज भी अनेक समूहों में यह प्रथा विद्यमान है। यह देखा गया है कि जिन जातिसमूहों में यह प्रथा प्रचलन में है, वहाँ वेश्यासंस्कृति प्रवेश नहीं पा सकी है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि राम भारतीय संस्कृति का वह उज्ज्वल पक्ष है, जिसकी समता विश्व के किसी अन्य समाज, साहित्य या इतिहास में देखने को नहीं मिलती है। वाल्मीकि रामायण को एक प्रकार से वैदिक सिद्धान्तों की जीवन्त प्रयोगशाला कहा जा सकता है। इसलिये राम की संस्कृति अनुकरणीय मानी गयी है, संभवत: इसी कारण पुरातन काल से रामलीला का मञ्चन भी होता रहा है, लेकिन महाभारत की संस्कृति को यह स्थान कभी नहीं मिल पाया है। रामायण की संस्कृति मानवता का गौरव थी, है और हमेशा रहेगी, इस सत्य को विना किसी विवाद के स्वीकार किया जा सकता है।

---

४०. मनु०८.३५१ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन। प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा मन्युस्तन्मन्युमृच्छति॥
४१. निरु०,३.१५.

वाल्मीकिरामायणे वेदादेशानां परिपालनम्

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री

मानवसृष्टेरादौ मानवजीवनमुन्नेतुं परमात्मना अग्निवाय्वादित्याङ्गिरसपदाभिधेयानाम् ऋषीणां हृदि प्रकाशात्मकं वेदज्ञानं निहितम्। आदिकालादेव प्रकाशकारिण्या वेददृशा तपःपूतान्तःकरणैः सकलजगदभ्युदयाभिरतैरात्मतत्त्वविद्भिर्मनीषिभिः सकलं संसारं सावयवमालोक्य स्वस्य सर्वस्य च जीवनमुन्नीतम्। यो हि वेदमधीत्य तदनुसारमाचरति सः संशयं शमयन् भवति सार्वत्रिकाभ्युदयान्वितः मनुस्मृतौ महातेजा मनुर्वेदस्य सर्वोत्कृष्टं महत्त्वं पञ्चमस्वरेणोदगायन् सर्वान् विश्वस्थान् मनुष्यान् समुद्बोधयति।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।।[1]

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्। वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे।।[2]

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ।।[3]

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।।[4]

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।।[5]

महाभारते वेदवाणीं परमात्मनो वाणीमेव मन्यमानो वेदव्यासो वदति यद्-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः।।[6]

आदिकविना महर्षिवाल्मीकिना वेदालोके प्राक्तनस्य इक्ष्वाकुवंशप्रसूतस्य रामस्याखिलं जीवनं समीक्ष्य वाल्मीकिरामायणं महाकाव्यं विनिर्मितम्। सम्पूर्णं वाल्मीकिरामायणमधीत्य यो विद्वान् वेदज्ञो भवति स सहजतयैवानुभवति यत् रामसम्बद्धानि सर्वाणि पात्राणि वेदानुसारमाचरन्ति। रामायणे सर्वा व्यवस्थाः सर्वा रीतयः सर्वाः प्रवृत्तयः सर्वा वृत्तयः समे संवादा वेदमेवानुवदन्ति। यथा वेदानुगो मनुरादिमो वेदमन्त्राश्रितमानवाचारसंहिताया मनुस्मृतेर्निर्माता तथैव काकुत्स्थो रामो वेदादेशानां वेदसंदेशानां वेदोपदेशानां वैदिकपरम्पराणां चानुपालकः, संवाहकः, उद्देशकः, सम्पोषकश्चास्ति अत एव सर्वजनोत्प्रासकः समभावोद्भावकः सात्त्विकजनचित्ताकर्षकः, सज्जनव्यथाविदारको दुर्जनमदविमर्दकश्चास्तीति रामायणे कृतमतिभिर्विद्वद्भिरनुदिनं परिपठ्यते।

---

१. मनु०२.७.
२. मनु०१.२१.
३. मनु०२.१०.
४. मनु०२.१३.
५. मनु०१२.९७.
६. महा०शा०२३२.२४.

वाल्मीकिरामायणे ब्रह्मबलक्षत्रबलयोः समन्वयः

राष्ट्राभ्युदये वेदानुसारिणी ब्रह्मक्षत्रयोः सम्मतिरादरास्पदा। उभयोरैक्यविषये विद्यते वेदमन्त्रः-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवा सहाग्निना।।[७]

अमुमेव मन्त्रमनुपालयता वाल्मीकिना बालकाण्डे क्षत्ररूपस्य राज्ञो दशरथस्य ब्रह्मरूपधारिणां मन्त्रिणां गुणसंकीर्तनम्-

तेषामविदितं किञ्चित् स्वेषु नास्ति परेषु च। क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकीर्षितम्।।[८]
ब्रह्मक्षत्रमहिंसन्तस्ते कोशं समपूरयन्। सुतीक्ष्णदण्डाः सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम्।।[९]

यथा प्रातरुत्थाय मनुष्यो वेदमन्त्रैर्देवानां स्तवनं करोति तथैव उद्बोधकाः प्रातःकाले राजानं मन्त्रपाठैरुद्बोधयन्ति। देव इव राजापि स्तवनीयः।

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।।[१०]

इत्यनुसारमेव सुमन्त्र इव सुमन्त्रः प्राभातिके काले राजानं दशरथं निर्निद्रयितुं स्तुतिक्रमं चक्रे। सुमन्त्रोद्बोधनवचांसि यान्युदीरितानि तानि वेदमहत्त्वोद्गाने न परिमितानि मतमिदं विदुषामपि नास्त्यविदितम्। यथा-

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम्।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्।।[११]

राजा दशरथः प्रतिबुध्य सुमन्त्रं मन्त्रकोविदमिव विलोक्य यदुवाच तदपि पठनीयं स्मरणीयं मननीयमेव-यथा-

स्तुवन्तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम्।
प्रतिबुध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत्।।[१२]

स्वपूर्वजानां पुण्यात्मनां तपोवह्निविदग्धदुर्विचारमलानां ये वेदानुमता आदेशास्तेषामनुपालनमेव भवति तेषामर्चनम्। राज्ञा दशरथेन अयोध्यापुरी मनोरादेशाननुपालयतैव परिपालिता। यथा-

यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता। तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता।।[१३]
सा तेनेक्ष्वाकुनाथेन पुरी सुपरिरक्षिता। यथा पुरस्तान्मनुना मानवेन्द्रेण धीमता।।[१४]

---

७. यजु०२०.२५.
८. वा०रा०बाल०७.९.
९. वा०रा०बाल०७.१३.
१०. मनु०७.८.
११. वा०रा०अयो०१४.४९.
१२. वा०रा०अयो०१५.२४.
१३. वा०रा०बाल०६.४.

मर्यादासप्तकस्यानुपालनम्

वेदानुगामिनो राज्ञः प्रजा अपि वेदानुपालननिरालसा भवन्ति। वेदे राष्ट्रं निरुपद्रवं कर्तुं सप्तमर्यादा निर्दिष्टाः। सप्तमर्यादानुबद्धे राजनि प्रजाजनाः स्वयमेव मर्यादानुपालनजन्यं सुखं भजन्ते। सप्तमर्यादा प्रबोधको मन्त्रः-

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
अयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ।।[१५]

अमुनेव मन्त्रं पुरस्कृत्य वाल्मीकिना अयोध्यापुर्याः किमपि विलक्षणं चित्रणं कृतम्, यथा-

तस्या पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः। दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः।।[१६]

इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी। महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः।।[१७]

नाल्पसंनिचयः कश्चिदासीत् तस्मिन् पुरोत्तमे। कुटुम्बी यो ह्यसिद्धार्थोऽगवाश्वधन्यधान्यवान्।।[१८]

कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्। द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः।।[१९]

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः। मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः।।[२०]

नानाहिताग्निर्नायज्वा न क्षुद्रो वा न तस्करः। कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः।।[२१]

नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः। न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन।।[२२]

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः। सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे।।[२३]

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता। मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।[२४]

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी। श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा।।[२५]

पुत्रेष्टियज्ञपद्धतिः

वेदे पुत्रेष्टियज्ञस्य वर्णनमुपलभ्यते। अथर्ववेदीयपुत्रेष्टियज्ञपरम्परायाः प्रथितं रूपमेव वाल्मीकिरामायणे संप्राप्यते। अपुत्रो दशरथो यदा पुत्रेष्टियज्ञकर्मकरणाय ऋष्यशृङ्गं प्रार्थयते तदा स तपस्वी तत्प्रार्थनां स्वीकृत्य कथयति

---

१४. वा०रा०बाल०६.२०.
१५. ऋ०१०.५.६.
१६. वा०रा०बा०६.१.
१७. वा०रा०बा०६.२.
१८. वा०रा०बा०६.७.
१९. वा०रा०बा०६.८.
२०. वा०रा०बा०६.९.
२१. वा०रा०बा०६.१२.
२२. वा०रा०बा०६.१५.
२३. वा०रा०बा०६.१८.
२४. वा०रा०बा०५.६.
२५. वा०रा०बा०५.७.

वदहं पुत्रीयामिष्टिं ते साधयिष्यामि। सेष्टि ऋत्विग्धुरीणेन ब्रह्मापदमलङ्कुर्वाणेन तेजस्विना यज्ञात्मना अथर्ववेदानुसारं सम्पाद्यते। अथर्ववेदे पुत्रेष्टियज्ञवाचक एको मन्त्रः प्रस्तूयते-

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि।।[२६]

अमुमेव मन्त्रं हृदि निधाय ऋष्यशृङ्गो दशरथं ब्रूते--

मेधावी तु ततो ध्यात्वा स किञ्चिदिदमुत्तरम्। लब्धसंज्ञस्ततस्तं तु वेदज्ञो नृपमब्रवीत्।।[२७]

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः।।[२८]

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्। जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा।।[२९]

यज्ञीयदक्षिणा वेदानुगा

यज्ञानुष्ठानान्ते पुरोहितानां दक्षिणया सत्कृतिः क्रियते यज्ञसाफल्याय। वर्मरूपा दक्षिणा याज्ञिकरक्षणाय क्षमा। दक्षिणादातारं नरं सर्वा दिश उपदिशश्च वर्मरूपा भूत्वा रक्षन्ति। यथा--

त्वमग्ने प्रयतदक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परि पासि विश्वतः।
स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योनकृज्जीवयाजं यजते सोपमा दिवः।।[३०]

दक्षिणा श्रद्धया दीयते श्रद्धां विना दक्षिणा तत्फलं च नश्यति। अत एव गुरुर्वसिष्ठो दशरथं दक्षिणाप्रसङ्गे वदति--

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः। न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।।[३१]

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति। तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते।।[३२]

अवज्ञया न दातव्यं कस्यचिल्लीलया वा। अवज्ञया कृतं हन्याद् दातारं नात्र संशयः।।

संस्कारपरम्परा

मानवजीवनं संस्कर्तुं संस्कारा क्रियन्ते। संस्कारं विना जना असंस्कृताः सन्तः संसारे कष्टं स्वयमनुभवन्ति परांश्चापि व्यथयन्ति। अत एव रामादिकं सुसंस्कृतं कर्तुं संस्कारप्रक्रिया परिपाल्यते रामायणे। रामादीनां चतुर्णां पुत्राणां यथाविधि नामकरणसंस्कारः प्रतिपाद्यते कुलपुरोहितेन महर्षिणा वसिष्ठेन। यथा--

अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत्। ज्येष्ठं रामं महात्मानं भरतं कैकेयीसुतम्।।[३३]

---

२६. अथर्व०६.११.१.
२७. वा०रा०बा०१५.१.
२८. वा०रा०बा०१५.२.
२९. वा०रा०बा०१५.३.
३०. ऋ०१ ३१.१५.
३१. वा०रा०बा०१३.१४.
३२ वा०रा०बा०८.१८.

सौमित्रिं लक्ष्मणमिति शत्रुघ्नमपरं तथा। वसिष्ठः परमप्रीतो नामानि कुरुते तदा।।[३४]

तेषां जन्म क्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्। तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः।।[३५]

संस्कारवत्तया ते रामादयश्चत्वारः पुत्राः कियन्तो गुणवन्तो विद्यावन्त मातृपितृरतिकरश्च जाता इत्यपि द्रष्टुं शक्यते पद्यैरेतैः-

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे लोकहिते रताः। सर्वे ज्ञानोपसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः।।[३६]

ते यदा ज्ञानसम्पन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः। ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः।।[३७]

ते चापि मनुजव्याघ्रा वैदिकाध्ययने रताः। पितृशुश्रूषणरता धनुर्वेदे च निष्ठिताः।।[३८]

पञ्चमहायज्ञपरम्परा

वाल्मीकिरामायणे पञ्चमहायज्ञानां वर्णनं सम्यक् समुपलभ्यते। वेदानामादेशो ह्ययं विद्यते यत् प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले च ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञश्च विधेयः। मन्त्रो विद्यते—

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते। नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः।।[३९]

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा। भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः।।[४०]

एवमेव मनुस्मृतावपि—

न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः।।४।।[४१]

देवयज्ञविषये त्रैकालिकमग्निहोत्रमुपदिशति वेदः। प्रातःकाले मध्याह्नकाले सायंकाले चाग्नौ श्रद्धया हविर्हूयते। यथा-

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यंदिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।[४२]

रामायणे ब्रह्मयज्ञकर्मरतायाः कौसल्याया अतीव चारु वर्णनं विद्यते। स्वपुत्रस्य रामस्य सर्वतो भद्रं

---

३३. वा०रा०बा०१८.२१.

३४. वा०रा०बा०१८.२२.

३५. वा०रा०बा०१.२४.

३६. वाल्मीकि रामा० बाल०१८.२५-२६.

३७. वा०रा०बा०१८.३४.

३८. वा०रा०बा०१८.३६.

३९. अथर्व०११.२.१५.

४०. अथर्व०११.२.१६.

४१. मनु०२.१०३.

४२. ऋ०१०.१५१.५.

कामयमाना सा विष्णोर्भगवतः स्तवनं करोति-

कौसल्या तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् प्रजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी॥[४३]

सीताया विषये तदन्वेषणं प्रकुर्वाणस्य हनुमतो मनसि भावः समुद्भूतो यत् शिवजलां नदीमुपेत्य द्रष्टव्यं कदाचित् सीता सन्ध्यार्थं तत्तीरमुपविष्टा स्यात् यथा-

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदी चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी॥[४४]

राजर्षिणा विश्वामित्रेण निर्दिष्टाभ्यां रामलक्ष्मणाभ्यां यज्ञविध्वंसकानां निशाचराणां संहननं कृतम्। शत्रुवधं विलोक्य आनन्दवारिवाहिन्या सुरसा रामलक्ष्मणौ दृष्ट्वा ताभ्यां सह ब्रह्मस्तुतिं चकार। यथा-

सिद्धाश्रममिदं सत्यं कृतं वीरमहायशाः।
स हि रामं प्रशस्यैवं ताभ्यां सन्ध्यामुपागमत्॥[४५]

देवयज्ञं तन्महत्त्वं च विज्ञाय यज्ञकर्मणि रामायणस्थपात्राणि स्वकीयां रुचिं वितन्वन्ति। राममाता कौसल्या यज्ञकर्मकालोचितपरिधानं परिधार्य प्रत्यहं यथाविधि यज्ञाग्नौ हव्यं जुहोति स्म। यथा-

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥[४६]

विश्वामित्रो रामलक्ष्मणौ राजकुमारावादाय यदा गच्छति तदोभौ यज्ञप्रधानं दैनिकं हव्यं कर्तुं प्रेरयति। सरयूनदीतटवर्तिनां तेषां वर्णनं श्रोत्रश्रव्यम्। यथा-

गुरुकर्माणि सर्वाणि नियुज्य कुशिकात्मजे।
ऊषुस्तां रजनीं तीरे सरय्वां ससुखं त्रयः॥[४७]

रजनीकालमतीत्य विश्वामित्रो मुनीवरस्तौ प्रबोधयन्नाह-

कौसल्या सुप्रजा राम पूर्वा संध्या प्रवर्तते। उत्तिष्ठ नरशार्दूल कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥[४८]
अभिगच्छामहे सर्वे शुचयः पुण्यमाश्रमम्। स्नाताश्च कृतजप्याश्च हुतहव्या नरोत्तम॥[४९]
प्रशुचौ परमं जाप्यं समाप्य नियमेन च। हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमविन्दताम्॥[५०]

---

४३. वा॰रा॰अयो॰२०.१४.
४४ वा॰रा॰सुन्दर १४.४९.
४५. वा॰रा॰बा॰३०.२६.
४६. वा॰रा॰अयो॰२०.१५.
४७. वा॰रा॰बा॰२२.२३-२४.
४८. वा॰रा॰बा॰२३.२.
४९. वा॰रा॰बा॰२३.१७.
५०. वा॰रा॰बा॰२९.३२.

मिथिला गमनात्प्राक् गङ्गातटमुपविश्य निर्वाह्य च निशां प्रातरुत्थाय स्नानादिकं कृत्यं सम्पाद्य देवयज्ञं कृतवन्तः। यथा-

तस्यास्तीरे तदा सर्वे चक्रुर्वासपरिग्रहम्।
ततः स्नात्वा यथा न्यायं संतर्प्य पितृदेवताः॥[५१]

अतिथियज्ञः

अतिथिसत्कारं श्रेष्ठं मत्वा अभ्यागतानामर्चनमनालसतया क्रियते। वेदे मानवाः संदिष्टा यत् अतिथिसत्कारानन्तरमेवाशनीयं भवति ततः प्राग् न। यथा-

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥[५२]
एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्॥[५३]
इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥[५४]

वाल्मीकिरामायणे राजा दशरथः श्रद्धया गृहागतान् सर्वानतिथिवर्यान् ब्रह्मवर्चसा तेजसा तपसा प्रदीप्तान् ब्राह्मणान् अर्घ्यादिकया सपर्यया समर्चयितुं ते चार्चितास्तुष्टा अतिथयस्तदनामयं धर्म्यं यशस्यं चेच्छन्ति। यथा-

स दृष्ट्वा ज्वलितं दीप्त्या तापसं संशितव्रतम्।
प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्॥[५५]
स राज्ञः प्रतिगृहार्घ्यं शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कुशलं चाव्ययं चैव पर्यपृच्छन्नराधिपम्॥[५६]

यदा सीतया सह रामलक्ष्मणौ तापसाश्रममण्डलमभिवशतस्तदा सर्वे तपस्विनो सीतारामयोर्लक्ष्मणस्य च सत्कृतिं प्रकल्प्य परां प्रफुल्लतां प्रापुः। यथा-

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्ट्वा महर्षयः। अभिजग्मुस्तदा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम्॥[५७]
लक्ष्मणं चैव दृष्ट्वा तु वैदेहीं च यशस्विनीम्। मङ्गलानि प्रयुञ्जानाः प्रत्यगृह्णन् दृढव्रताः॥[५८]
वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव। आश्चर्यभूतान् ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः॥[५९]
अत्रैनं हि महाभागाः सर्वभूतहिते रताः। अतिथिं पर्णशालायां राघवं संन्यवेशयन्॥[६०]

---

५१. वा०रा०बा०३५.९.
५२. अथर्व०९.६(३).८.
५३. अथर्व०९.६(३).७.
५४. अथर्व०९.६(३).१.
५५. वा०रा०बा०१८.४३.
५६. वा०रा०बा०१८.४४.
५७. वा०रा०अर०१.१०.
५८. वा०रा०अर०१.१२.
५९. वा०रा०अर०१.१४.

ततो रामस्य सत्कृत्य विधिना पावकोपमाः। आजह्रुस्ते महाभागाः सलिलं धर्मचारिणः।।[६१]
मङ्गलानि प्रयुञ्जाना मुदा परमया युताः। मूलं पुष्पं फलं सर्वमाश्रमं च महात्मनः।।[६२]

बलिवैश्वदेवयज्ञः

बलिवैश्वदेवयज्ञव्यवस्था या प्रदत्ता वेदेषु वर्तते सा सम्यगनुपालिता दृश्यते रामायणे। मुनीनामाश्रमपदे दिने दिने वेदाध्ययनं भूतेभ्यो बलिहोमो प्रतन्यते च। तत्राश्रमपदस्य यद्वर्णनं विद्यते तद्वर्णनमेव सर्वं संवदति। यथा-

कुशचीरपरिक्षिप्तं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम्। यथा प्रदीप्तं दुदर्शं गगने सूर्यमण्डलम्।।[६३]
शरण्यं सर्वभूतानां सुसम्मृष्टाजिरं सदा। मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसंघैः समावृतम्।।[६४]
पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः। विशालैरग्निशरणैः स्रुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः।।[६५]
समिद्भिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम्। आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्वृतम्।।[६६]
बलिहोमार्चितं पुण्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्। पुण्यैश्चान्यैः परिक्षिप्तं पद्मिन्या च सपद्मया।।[६७]
फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः। सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्युतम्।।[६८]
पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः। तद् ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम्।।[६९]

मातृपितृयज्ञः

मातृपितृसमाः ये सन्ति तेषां समेषां समभिनन्दनं कदापि न हेयम्। श्रीरामवृत्तं मातृपितृकल्पजगज्जनाभिवादनपरम्परानुपालनेन परमं पवित्रं दृश्यते। रामविषये निगद्यते-

इष्टः सर्वस्य लोकस्य शशाङ्क इव निर्मलः।
गजस्कन्धेऽश्वपृष्ठे च रथचर्यासु सम्मतः।।
धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः।।[७०]

महर्षेर्गौतमस्याश्रमपदमुपेत्य तत्र तपश्चर्यारतां तपस्विनीर्माहल्यामालोक्य विश्वामित्रादिष्टो रामः परमया श्रद्धया भक्त्या च तच्चरणयोर्नतिं कृत्वा भृशं तुतोष। यथा-

६०. वा०रा०अर०१.१५.
६१. वा०रा०अर०१.१६.
६२. वा०रा०अर०१.१७.
६३. वा०रा०अर०१.२.
६४. वा०रा०अर०१.३.
६५. वा०रा०अर०१.४.
६६. वा०रा०अर०१.५.
६७. वा०रा०अर०
६८. वा०रा०अर०१.७.
६९. वा०रा०अर०१.८.
७०. वा०रा०बा०१८.२७-२८.

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः। विश्वामित्रं पुरस्कृत्य आश्रमं प्रविवेश ह॥
ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्। लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव। धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव। मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥ [७१]
राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा। स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ॥
पाद्यमर्घ्यं तथाऽऽतिथ्यं चकार सुसमाहितौ। प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा॥ [७२]

योगविद्याभ्यासः

अद्भुतशक्तिमत्तां विपुलां प्राणवत्तां चाधिगन्तुं क्रियते योगाभ्यासः। योगेनागतानागतकथ्यानि त्रिविधदुःखानि चापाकर्तुं प्रभवति योगस्थः पुरुषः। योगसाधनसम्पन्नः साधकः सर्वबलयुतं देवकोशमवाप्नोति-

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ [७३]
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ [७४]

वाल्मीकिरामायणे योगविद्यापारङ्गतेन विश्वामित्रेण योगविद्याप्रदानेन रामलक्ष्मणयोरुभयोर्जीवनमुन्नीतम्। योगविद्या विलक्षणमात्मतेजः संवर्धयति, तेन तेजसा योगी प्रत्यर्थिनां बलं शमयति। अत एव विश्वामित्रो बलातिबलयोर्विद्ययोर्विषये रामलक्ष्मणौ निर्दिशति-

रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत। गृहाण वत्स सलिलं मा भूत् कालस्य पर्ययः॥
मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा। न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः॥
न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः। न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन॥
त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत् सदृशस्तव। बलामतिबलां चैव पठतस्तात राघव॥ [७५]
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्ये ते नरोत्तम। बलामतिबलां चैव पठतः पार्थ राघव॥ [७६]

—

स्वयंवरप्रथा

गुणकर्मसंस्कारसाम्येन कन्या स्वेच्छया आत्मानुरूपं युवानं सहर्षं स्वीकरोति। यथा-

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥ [७७]

---

७१. वा०रा०बा०४९.१२-१५.
७२. वा०रा०बा०४९.१७-१८.
७३. अथर्व०१०.२.२६.
७४. अथर्व०१०.२.२७.
७५. वा०रा०बा०२२.१२-१५.
७६. वा०रा०बा०२२.१८.

युवायुवतिविवाहप्रसङ्गे स्पष्टं विद्यते वेदादेशः-

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परि यन्त्यापः।
स शुक्रेभिः शिक्कभी रेवदस्मे दीदायानिध्मो घृतनिर्णिगप्सु।।[७८]

वाल्मीकिरामायणे वैदिकपरम्परया रामादीनां चतुर्णामपि राजपुत्राणां पाणिग्रहणसंस्कारः सम्पन्नः। यथा-

अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम्। जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः।।
ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम्। समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा।।
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम्। इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव।।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना। पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा।।[७९]

ब्रह्मविद्यया स्वेच्छया देहत्यागः

ब्रह्मविदस्तपस्विन आत्मसाधनामभिवर्ध्य स्वेच्छया शरीरं परित्यज्य स्वर्गमुपयान्ति। यथा वेदमन्त्रोऽयममुं भावं प्रकटयति-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्।।[८०]

वाल्मीकिरामायणे शरभङ्गो महाप्राज्ञो रामस्य पश्यत एव शरीरं तत्याज। रामेण सह या वार्ता तेन तपस्विना कृता सा मधुवती वाक् तस्याक्षय्यं तप एव कथयति। यदाग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गं तपस्विनं रामः पश्यति तदा आश्रमपदमुपागतं राममालोक्य स कथयति-

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ्र वर्तमानमदूरतः। ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामदृष्ट्वा प्रियातिथिम्।।
त्वयाहं पुरुषव्याघ्र धार्मिकेण महात्मना। समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं चावरं परम्।।
अक्षया नरशार्दूल जिता लोका मया शुभाः। ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठ्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान्।।[८१]
एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम्। यावज्जुहोमि गात्राणि जीर्णां त्वचमिवोरगः।।
ततोऽग्निं स समाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवत्। शरभङ्गो महातेजा प्रविवेश हुताशनम्।।[८२]

वेदानुगाः पारिवारिकादर्शाः

वेदेषु परिवारमुद्दिश्य परिवारं निर्व्यवधानं कर्तुं ये संदेशा लभन्ते ते सार्वत्रिकाः सार्वभौमाः नियतसुखकराश्च। सर्वेषां पारिवारिकजनानामन्योऽन्यं सौमनस्यमहर्निशमभिवर्धतां द्वेषभावस्याङ्कुरमपि नोद्भवेत्।

---

७७. अथर्व०११.५.१८.
७८. ऋ०२.३५.४.
७९. वा०रा०बा०७३.२४-२७.
८०. यजु०३.६०.
८१. वा०रा०अर०५.२९-३१.
८२. वा०रा०अर०५.३८-३९.

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।।[८३]

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्।।[८४]

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।[८५]

वाल्मीकिरामायणे पुत्राणां मनसि कदापि नासीद् दुर्गुणोऽयं यत्ते पितुरवज्ञां कुर्युः। भगवता रामेण पितुरादेशः प्राणपणेनापि सदैव पालितः। पितुर्भावं हृदि निधाय कैकयीं वदति रामः।

तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम्।
करिष्ये प्रति जाने च रामो द्विर्नाभिभाषते।।[८६]

यदा वनगमनान्निवारयितुं रामं जना कामयन्ते तदा यदपि प्रार्थनामयं पद्यं तैर्निगदितं तदपि हृदि निहितं गुणमौक्तिमिव भासते। तेषां नगरवासिनां भावनां विज्ञाय पितुरादेशमक्षरशून्यमनुपालयन् तान् सर्वान् ब्रूते सानुनयम्। भरतो रामं ब्रूते—

ज्ञातयश्चापि योधाश्च मित्राणि सुहृदश्च नः।
त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षकाः।।[८७]

रामः भरतं प्रत्युत्तरयन्—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत्।
अतीयात् सागरो वेलां न तु प्रतिज्ञामहं पितुः।।[८८]

पितुराज्ञा अविचारणीयेति मनसि निधाय राम उवाच—

अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके। भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।।[८९]

स रामः पितरं कृत्वा कैकयीं च प्रदक्षिणम्। निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम्।।[९०]

रामस्य स्वमातरि कियानासीत् समभावस्तत्र द्वे पद्ये प्रवाच्ये-

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः।।[९१]

वेदे पारिवारिकादर्शविषये सन्त्यनेके मन्त्राः, ये पारिवारिकजनजीवनलतां कर्त्तव्योपदेशजलसेकेन

---

८३. अथर्व०३.३०.१.
८४. अथर्व०३.३०.२.
८५. अथर्व०३.३०.३.
८६. वा०रा०अयो०१८.३०.
८७. वा०रा०अयो०११२.१२.
८८. वा०रा०अयो०११२.१८.
८९. वा०रा०अयो०१८.२८.
९०. वा०रा०अयो०१९.२९.
९१. वा०रा०अयो०२०.३.

संवर्धयन्ति। पत्नी पतिं पतिः पत्नीं मधुरया कष्टहारिण्या समुल्लासप्रदया प्रहर्षिण्या सोमकल्पया च वाचा प्रमोदयेत्। पत्नी पतिमनुसरन्ती सुखानुभूतिं प्रकटयेत् सौमनस्यभावं विवर्धयेत्।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥[९२]

वनागमनकाले सीतया रामेण सह वनगमने द्रढीयसी निजेच्छा प्रकटिता। रामेण वनवासोद्भूतानि यानि यानि दुःखानि भवन्ति तानि सर्वाणि निगदितानि परं दृढसंकल्पया सीतया यदुक्तं तदद्भुतमेव। यथा-

भर्तुभाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि॥[९३]
ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते॥[९४]
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नाना मृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम्॥[९५]
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम्॥[९६]
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु॥[९७]
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा॥[९८]

वाल्मीकिरामायणे सर्वत्र समेषां जनानां जीवनं वेदालोकेनालोकितं विद्यते। रामराज्ये सर्वे जनाः ससुखा आसन्, परं प्रसन्नाः सन्तो जीवनं धारयन्ति स्म। सर्वे जना नित्यानन्दयुक्ता धर्मपरायणा निर्भया निरन्तराया हिंसाभावैरस्पृष्टहृदयाः पूर्णपुरुषायुषधारिणः पुत्रपौत्रवन्तः, शोकसन्तापवह्निना अदग्धाः, स्वस्वकर्मरतास्तुष्टाः पुष्टा अनामया अनृतविचाररहिता वेदाध्ययनरताश्चासन्। यथा-

सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्॥[९९]
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।

---

९२. अथर्व०१४.१.४२.
९३. वा०रा०अयो०२८.५.
९४. वा०रा०अयो०२८.८.
९५. वा०रा०अयो०२८.११.
९६. वा०रा०अयो०२८.१२.
९७. वा०रा०अयो०२८.१३.
९८. वा०रा०अयो०२८.१६.
९९. वा०रा०युद्ध०१२८.१००.

निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।। [१००]
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिता:।
काले वर्षति पर्जन्य: सुखस्पर्शाश्च मारुत:।। [१०१]
व्राह्मणा: क्षत्रिया वैश्या: शूद्रा लोभविवर्जिता:।।
स्वकर्मसु प्रवर्तन्ते तुष्टा: स्वैरेव कर्मभि:।। [१०२]
आसन् प्रजा धर्मरता रामे शासति नानृता:।
सर्वे लक्षणसम्पन्ना: सर्वे धर्मपरायणा:।। [१०३]
न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्।
न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।। [१०४]
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्।
न च स्म वृद्धा वालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।। [१०५]

आर्षविद्याध्ययने ये जना रुचिं तन्वन्ति, तेषामभ्युदयो भवति विष्वक् योगक्षेमावह:। चतुर्दशविद्या आर्षपद्धत्या मानवानुन्नेतुं क्षमन्ते। साहित्य आनन्दमयं प्रकुरुते। वाल्मीकिरामायणं काव्यमार्षं विद्यते, तदध्ययनं तथा अध्यापनं च जीवनोन्नयनाय यद् यदपेक्षितं तत्तत् प्रयच्छति। अत एव फलश्रुतिप्रसङ्गे प्राकृतजनोल्लासाय वैदिकपरम्पराविकासाय च लौकिकच्छन्दस: प्रथमावतारवाचकस्य वाल्मीकिरामायणस्य आर्षस्यादिकाव्यस्य महत्त्वं प्रगीयते भगवता वाल्मीकिना-

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं राज्ञां च विजयावहम्।
आदिकाव्यमिदं चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।। [१०६]
शृण्वन्ति य इदं काव्यं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।
ते प्रार्थितान् वरान् सर्वान् प्राप्नुवन्तीह राघवात्।। [१०७]
रामायणमिदं कृत्स्नं शृण्वत: पठत: सदा।
प्रीयते सततं राम: स हि विष्णु: सनातन:।। [१०८]
एवमेतत् पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु व:।
प्रव्याहरत विस्रब्धं बलं विष्णो: प्रवर्धताम्।। [१०९]

---

१००. वा०रा०युद्ध०१२८.१०१.
१०१. वा०रा०युद्ध०१२८.१०३.
१०२. वा०रा०युद्ध०१२८.१०४.
१०३. वा०रा०युद्ध०१२८.१०५.
१०४. वा०रा०युद्ध०१२८.९८.
१०५. वा०रा०युद्ध०१२८.९९.
१०६. वा०रा०युद्ध०१२८.१०७.
१०७. वा०रा०युद्ध०१२८.११४.
१०८. वा०रा०युद्ध०१२८.११९.

कुटुम्बवृद्धिं धनधान्यवृद्धिं स्त्रियश्च मुख्याः सुखमुत्तमं च।
श्रुत्वा शुभं काव्यमिदं महार्थं प्राप्नोति सर्वां भुवि चार्थसिद्धिम्।।[११०]
आयुष्यमारोग्यकरं यशस्यं सौभ्रातृकं बुद्धिकरं शुभं च।
श्रोतव्यमेतन्नियमेन सद्भिराख्यानमोजस्करमृद्धिकामैः।।[१११]

वेदविद्यापारङ्गतानां विद्याविशारदानां शारदातनयानां स्वाध्यायतपश्चर्यारतानां वैदिकादर्शैरात्मानं पवित्रयितुमुद्यतानां प्राकृताप्राकृतजनानां मतमिदं विद्यते यद्यदि कस्यचित् मातरि पितरि भ्रातरि सतीर्थे मित्रे भगिन्यां भ्रातृजायां तपस्विनि नेतरि राजनि पार्श्ववर्तिनि, स्वामिनि, सेवके, गुरौ, योद्धरि, प्रवाचके, पुरोहिते, न्यायकर्त्तरि, दण्डप्रदातरि च प्रकाशमानां वैदिकपरम्परां द्रष्टुं बलवतीच्छा वर्तते तर्हि नूनमेव तेन वाल्मीकिरामायणमध्येतव्यं श्रोतव्यं च। वाक्यमिदं सत्यं विद्यते-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।[११२]
राम रामो राम इति प्रजानामभवत् कथाः।।
रामभूतं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति।।[११३]

१०९. वा०रा०युद्ध०१२८.१२१.
११०. वा०रा०युद्ध०१२८.१२४.
१११. वा०रा०युद्ध०१२८.१२५.
११२. वा०रा०बा०२.३६.
११३. वा०रा०युद्ध०१२८.१०२.

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२४-३१)

वाल्मीकि-रामायण में अलङ्कार

प्रो. महावीर अग्रवाल

समग्र संस्कृत-साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि विरचित रामायण का स्थान भावपक्ष एवं कलापक्ष की दृष्टि से अद्वितीय है। भारतीय संस्कृति के उज्ज्वलम रूप को प्रकट करने वाले, प्राकृतिक सौन्दर्य से सबका मन हर लेने वाले और रसों की मन्दाकिनी प्रवाहित कर सरस हृदयों को आह्लादित करने वाले इस आर्ष महाकाव्य में अलङ्कारों की मञ्जुल छटा दर्शनीय है। यद्यपि वाल्मीकि-रामायण के रचना काल तक अलङ्कार विषयक कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं था। क्रमबद्ध-विकसित अलङ्कारशास्त्र के अभाव में भी रामायण की भाषा अत्यन्त अलङ्कृत है। यह कहा जा सकता है कि अलङ्कारों का प्रारम्भिक विकास इस महाकाव्य में विद्यमान है। अतः अलङ्कारों के स्वाभाविक उद्‌गम एवं विकास को जानने के लिए वाल्मीकि-रामायणगत अलङ्कारों का अध्ययन और आलोचन अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है।

वाल्मीकि-रामायण में उपमा, रूपक अनुप्रास आदि सरल और स्वाभाविक अलङ्कारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, जबकि चित्रात्मक अलङ्कार जैसे जटिल अलङ्कार का प्रयोग ही नहीं हुआ है। यमक का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है, किन्तु उसमें जटिलता नाम मात्र को भी नहीं है।

वाल्मीकि-रामायण में शब्दालङ्कारों के पाण्डित्यपूर्ण प्रदर्शन का प्रायः अभाव ही है। केवल अनुप्रास ही एक ऐसा अलङ्कार है, जो सर्वत्र प्रयुक्त हुआ है।

दण्डी के काव्यादर्श एवं मम्मट के काव्य-प्रकाश में यमक अलङ्कार के अनेक भेद उदाहरण सहित दिये गए हैं, किन्तु रामायण में केवल भागावृत्ति यमक के ही उदाहरण उपलब्ध होते हैं। श्लेष, वक्रोक्ति का प्रयोग वाल्मीकि ने कम ही किया है। पुनरुक्तवदाभास के अनेक उदाहरण रामायण में प्राप्त होते हैं।

उपमा

अर्थालङ्कारों में सर्वाधिक प्रयोग उपमा का हुआ है। उपमा के प्रायः सभी भेद रामायण में उपलब्ध हैं।। रामायण की उपमायें विविध क्षेत्रों से ग्रहण की गई हैं। पशु, पक्षी, जलचर, सर्प, आकाश, मेघ, चन्द्र, सूर्य, लता, वृक्ष, सागर, नदी, पर्वत, अग्नि आदि अनेक प्रसिद्ध पदार्थों को उपमान के रूप में प्रयुक्त किया गया है। आदिकवि ने अपने कथन को मार्मिक बनाने के लिए तथा वस्तु का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट करने के लिए उपमा का प्रयोग किया है। उनकी उपमायें पाठक के समक्ष एक चित्र उपस्थित कर देती हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं—

दशरथ की मृत्यु के पश्चात् भरत राजलक्ष्मी को अस्वीकार कर देते हैं। धर्मराज दशरथ की धर्ममूला राजलक्ष्मी जल में कर्णधाररहित नाव के समान इधर-उधर मारी-मारी फिर रही है।

तस्यैषा धर्मराजस्य धर्ममूला महात्मनः।

परिभ्रति राजश्रीर्नौरिवाकर्णिका जले।।[१]

प्रकृत उपमा नृपविहीन राज्य की डांवाडोल स्थिति का यथार्थ चित्र उपस्थित कर रही है। नायक के अभाव में किसी नायिका के इधर-उधर भटकने की दशा सरस हृदयों को सहसा द्रवित कर देती है।

सुग्रीव के द्वारा जानकी के आभूषण दिखाये जाने पर राम कुहरे से आच्छादित चन्द्रमा की तरह 'वाष्पयुक्त' प्रतीत होते हैं-

ततो गृहीत्वा वासस्तु शुभान्याभरणानि च।
अभवद् वाष्पसंरुद्धो नीहारेणेव चन्द्रमा:।।[२]

'वाष्प' शब्द में श्लेष है। उपमा की उपयुक्तता एवं अनुगामी धर्म की रमणीयता दर्शनीय है।

प्रकृति-चित्रण के प्रसङ्गों में आदिकवि ने नाना प्रकार के उपमानों का प्रयोग किया है। शैलशिखरों के समान विशाल और भयंकर नाद करने वाले मेघ मदमस्त हाथियों की तरह गरजते हुए चित्रित किये गए हैं-

विद्युत्पताका: सबलाकमाला: शैलेन्द्रकूटाकृतिसंनिकाशा:।
गर्जन्ति मेघा: समुदीर्णनादा: मत्ता गजेन्द्रा इव संयुगस्था:।।[३]

अनेक स्थानों पर महाकवि ने उपमा का प्रयोग रस, भाव, अलङ्कार आदि के पोषक रूप में किया है। कल्पना की यथार्थता, सूक्ष्मनिरीक्षण आदि काव्य शैली के प्रमुख तत्त्वों के संनिवेश से आदिकवि की उपमाओं की चारुता परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गई है।

मालोपमा

एक से अनेक उपमाओं की शृङ्खला को मालोपमा कहा जाता है। जब एक ही उपमेय का सादृश्य अनेक उपमानों से दिखाया जाये तो वहाँ मालोपमा अलङ्कार होता है।[४]

रामायण में मालोपमा के अनेक सुन्दर, प्रभावोत्पादक, हृदयग्राही उदाहरण उपलब्ध होते हैं। करुणा के प्रसङ्ग में मालोपमा का प्रयोग प्राय: किया गया है। श्रीराम के विरह में उदास, सूनी, अयोध्या का वर्णन, राम वनवास से मर्माहत, अपार शोकसागर में निमग्न राजा दशरथ का चित्रण, कोषागार में पड़ी कैकेयी और अशोक वाटिका में पति के विरह में दुर्बल मलिनवसना साध्वी सीता का चित्रण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संभवत: वाल्मीकि-रामायण में प्रयुक्त उपमानों की माला को देखकर ही आलङ्कारिकों को मालोपमा नाम सूझा होगा।

श्रीराम के वन चले जाने पर अयोध्यावासियों को वह नगर चन्द्रहीन आकाश और जलहीन समुद्र के समान उजाड़ प्रतीत होता है।

---

१. अयोध्या काण्ड ८१-६
२. कि. काण्ड. १६
३. कि.कां. २०
४. मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। सा.द.प. ६७१

चन्द्रहीनमिवाकाशं तोयहीनमिवार्णवम्।
अपश्यन्निहतानन्दं नगरं ते विचेतसः॥[५]

निरानन्द नगर के यहाँ दो उपमान हैं-चन्द्रमा से हीन आकाश और जल से रहित समुद्र। चन्द्रमा और जल के अभाव में जिस प्रकार आकाश और समुद्र शोभित नहीं होते उसी प्रकार राम के विना वह नगर शोभायमान नहीं हुआ। एक उपमेय का सादृश्य दो उपमानों से दिखाये जाने के कारण यहाँ मालोपमा अलङ्कार है। अशोभनत्व रूप साधारण धर्म लुप्त है। यहाँ मालोपमा करुणरस की मार्मिक अभिव्यक़्ति कर रही है।

कैकयी द्वारा महाराजा दशरथ से राम के वनवास की याचना किये जाने पर राजा की अवस्था का वर्णन आदिकवि इस प्रकार करते हैं-

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथाऽतुरः।
हततेजा यथा सर्पो वभूव जगतीपतिः॥[६]

दशरथ की उपमा पागल व्यक्ति, रोगी तथा सर्प आदि अनेक उपमानों से दी गयी है। नष्टचित्त, विपरीत बुद्धि तथा हततेज भिन्न-भिन्न साधारण धर्म हैं। अतः यहाँ भिन्नधर्मा मालोपमा है। उपमानों का चयन दशरथ की मानसिक स्थिति को सशक्त रूप से दर्शाने में समर्थ है।

अशोक वाटिका में पति के विरह में दिन काटती हुई सीता का सजीव चित्रण आदिकवि की तूलिका से ही सम्भव था। वसनों की मलिनता और शरीर की कृशता के कारण सीता का सौन्दर्य विकृत हो चुका था। अपार शोक सागर में डूबी हुई विरहदग्धा वैदेही की दयनीय अवस्था को अनेक उपमानों के द्वारा इस प्रकार दर्शाया गया है-

ता स्मृतिमिव संदिग्धामृद्धिं निपतितामिव।
विहतामिव च श्रद्धामाशां प्रतिहतामिव॥
सोपसर्गा यथा सिद्धिं बुद्धिं सकलुषामिव।
अभूतेनापवादेन कीर्तिं निपतितामिव॥[७]

स्मृति, ऋद्धि, श्रद्धा, आशा सिद्धि, बुद्धि और कीर्ति इन सात उपमानों से एक उपमेय का सादृश्य दिखाया गया है। यहाँ कवि ने श्रद्धा, आशा, सिद्धि आदि अमूर्त्त उपमानों का चयन किया है और इससे सीता की करुणापूर्ण स्थिति का चित्रण करने में महाकवि को अद्भुत एफलता प्राप्त हुई है।

रूपक

अत्यन्त सादृश्य स्थापना के कारण से प्रसिद्ध भेदवाले उपमेय और उपमानों में अभेद स्थापित किये जाने पर रूपक अलङ्कार होता है।[८]

---

५. अयो.काण्ड४७.२८
६. अयो. काण्ड १२.५५
७. सुन्दर काण्ड १५/३३-३४
८. तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः काव्यप्रकाश

वाल्मीकि-रामायण में रूपक का सुन्दर निबन्धन हुआ है। साङ्गरूपकों का बाहुल्य है यत्र-तत्र शुद्ध निरङ्ग-रूपक के उदहारण भी उपलब्ध हुए हैं। उदाहरण रूप में श्रीराम का विरह वर्णन दर्शनीय है-

अशोकस्तवकाङ्गारः षट्पदस्वननिःस्वनः।
मां हि पल्लवताम्रार्चिवसन्ताग्निः प्रधक्ष्यति॥ [९]

विरही राम को अशोक के स्तबकरूपी अंगारों वाली, भ्रमरगुंजनरूपी स्वरवाली, ताम्र पल्लवरूपी ज्वालाओं वाली वसन्ताग्नि भस्म कर डालेगी।

इस उदाहरण में वसन्त के ऊपर अग्नि का आरोप किया गया है, वही प्रधान रूपक है। उसकी उपपत्ति के लिए अङ्गरूप में अशोक स्तबकों पर अंगारों का, भ्रमर गुंजन में स्वर का और पल्लवों पर ज्वालाओं का आरोप होने से साङ्ग-रूपकलङ्कार है। युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग में अनेक पद्यों में साङ्ग-रूपक के माध्यम से वर्ण्य विषय को सान्द्रता प्रदान की गई है।

इसी प्रकार रामायण में निरङ्ग-रूपक के भी अनेक सन्दर-सुन्दर उदाहरण देखे जा सकते हैं। मालारूप निरङ्ग-रूपक का निम्न उदाहरण परमरमणीय है-

एष रामः मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः।
एष धर्मः परो नित्यं वीर्यस्यैव परायणम्॥ [१०]

उत्प्रेक्षा

अप्रकृत के साथ प्रकृत की संभावना होने पर उत्प्रेक्षा अलङ्कार होता है।[११] वाल्मीकि-रामायण में उत्प्रेक्षा का निखारा हुआ रूप दर्शनीय है। वन, वनराजी, पर्वत, पादप, सागर, नदी, अम्बर, आदि अनेक प्राकृतिक वस्तुओं में हंसना, रोना, सोना, अध्ययन, तर्जन, नर्तन एवं गान आदि की संभावना की गई है। प्रकृति पर मानवीय क्रियाओं का आरोप कर वाल्मीकि ने प्रकृति और मानव में तादात्म्य स्थापित किया है। उदाहरण रूप में किष्किन्धा काण्ड के २८ वें सर्ग में वर्षा के हृदयग्राही नैसर्गिक चित्रण में से उत्प्रेक्षा का एक नमूना प्रस्तुत है-

संध्यारागोत्थितैस्ताम्रैरन्तेष्वपि च पाण्डुभिः।
स्निग्धैरभ्र परच्छेदैर्बद्धव्रणमिवाम्बरम्॥ [१२]

आकाश ने संध्या के लाल रंग से रंजित मेघरूपी कपड़े के टुकड़ों से अपने घावों पर पट्टियाँ बाँध रखी हैं। अम्बर में पट्टियाँ बाँधने की संभावना किये जाने के कारण यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार है। श्वेत मेघों का संध्या के राग से रंजित होना इस उत्प्रेक्षा का निमित्त है। एक अन्य उदाहरण कितना स्वाभाविक और हृदयस्पर्शी है। वर्षाकाल के पर्वतों का दृश्य देखिये-

---

९. कि. काण्ड. २९
१०. बाल. काण्ड.. २९
११. सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्। काव्यप्रकाश. १०-९२
१२. कि. काण्ड. ५

मेघकृष्णाजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः।
मारुतापूरितगुहा प्राधीता इव पर्वताः॥[१३]

वर्षाकाल मे मेघरूपी काले मृगचर्म और धारारूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले पर्वत वाल्मीकि को ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो ब्रह्मचारी वेदाध्ययन कर रहे हों।

उपमा के समान उत्प्रेक्षा भी ऋषि वाल्मीकि का प्रिय अलङ्कार है। महाकवि की शैली की सबसे बड़ी विशेषता है–उनकी सहजता, स्वाभाविकता। कवि इस प्रकार वर्णन करता हुआ चलता है कि पाठक के नेत्र के समक्ष उस स्थान तथा काल विशेष का चित्र उपस्थित हो जाता है और उसका हृदय सद्यः रसास्वादन से आह्लादित हो उठता है।

निदर्शना

भामह, दण्डी तथा वामन के अनुसार जहाँ कार्यान्तर में प्रकृत कर्त्ता अपने कार्य से किसी अन्य कार्य का बोधन करता है, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है।[१४] मम्मट ने इस प्रकार की निदर्शना के अतिरिक्त वहाँ भी निदर्शना मानी है, जहाँ दो वस्तुओं में परस्पर किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने पर उनका उपमा में पर्यवसान दिखाया जाये।[१५]

रामायण में अनेक स्थलों पर निदर्शना का सुन्दर प्रयोग हुआ है। अरण्य काण्ड में रावण सीता से अपनी अग्रमहिषी बनने की याचना करता है। उस समय कुपिता सीता ने जो प्रत्युत्तर दिया है, वह निदर्शना अलङ्कार का सुन्दरतम प्रयोग कहा जा सकता है।

अयोमुखानां शूलानां मध्ये चरितुमिच्छसि।
रामस्य सदृशीं मायां योऽधिगन्तुं त्वमिच्छसि॥[१६]

प्रकृत श्लोक में दो वाक्य हैं। इन दोनों वाक्यों के स्वतन्त्र अर्थ में कोई चमत्कार नहीं है। जब इनका उपमा में पर्यवसान होता है, तब चमत्कार की प्रतीति होती है। उपमा में पर्यवसान इस प्रकार हो जाता है-

हे! रावण! राम की पत्नी को प्राप्त करने की इच्छा लोहे के नुकीले काँटों पर चलने के समान है। अतः यहाँ वाक्यार्थ निदर्शना है। इस प्रकार निदर्शना का पर्याप्त विकसित रूप रामायण में प्राप्त होता है।

प्रतिवस्तूपमा

गम्य साम्य वाले दो वाक्यों के एक साधारण धर्म का दो बार-कथन किये जाने पर प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार होता है।[१७]

---

१३. कि. काण्ड २९/१०

१४. काव्यालङ्कार ३/३३-३४, काव्यादर्श २/३४८-३४९, काव्यालङ्कार, सूत्रवृत्ति ४/३-२०

१५. अभवन् वस्तु सम्वन्ध उपमा परिकल्पकः। काव्यप्रकाश. ९७

१६. अरण्य-काण्ड ४७.४४

१७. प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्य साम्ययोः। एकोऽपि धर्म सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥ सा. दर्पण १०/४९-५०

रामायण में प्रतिवस्तूपमा के कुछ अत्यन्त रमणीय उदाहरण प्राप्त होते हैं। वन में राम भरत को समझाते हुए कहते हैं-

अत्येति रजनी या तु सा न प्रतिनिवर्तते।
यात्येव यमुना पूर्णा समुद्रमुदकार्णवम्।। [१८]

साधारण धर्म 'न प्रतिनिवर्त्तते' और 'यात्येव' इन भिन्न शब्दों से उपात्त है, अतः साधर्म्यगत प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार है।

राम और दशरथ की निम्न अतिशयपूर्ण उक्तियों में वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार हैं। राम के प्रतिज्ञा पालन का वर्णन कवि ने काव्यमयी भाषा में किया है।

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान्वा हिमें त्यजेत्।
अतीयात्सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः।। [१९]

यहाँ पर लक्ष्मी का चन्द्रमा का परित्याग करना, हिमवान् का हिमरहित होना, सागर का वेला का अतिक्रमण करना कदाचित् सम्भव हो सकता है, क़िन्तु राम का पितृवचन परित्याग करना नहीं हो सकता। उक्त वाक्य में परित्याग रूप वैधर्म्य का प्रतिपादन उक्त उत्प्रेक्षित परित्यागों द्वारा किया गया है।

दृष्टान्त

उपमा, उपमेय और उनके साधारण धर्मों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होने पर दृष्टान्त अलङ्कार होता है। रामायण से दृष्टान्त अलङ्कार का निम्न उदाहरण पठनीय है-

नातन्त्री विद्यते वीणा नाचक्रो विद्यते रथः।
नापति सुखमेधेत या स्यादपि शतात्मजा।। [२०]

जैसे विना तार के वीणा और विना चक्र के रथ नहीं होते, वैसे ही पति के विना स्त्री को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ पर वीणा आदि उपमानों में और स्त्री रूपी उपमेय में तथा विद्यमान न रहना और सुख प्राप्त न करना इन दो भिन्न-भिन्न धर्मों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव के कारण दृष्टान्त है।

अर्थान्तरन्यास

सामान्य का विशेष से अथवा विशेष का सामान्य से साधर्म्य या वैधर्म्य के द्वारा समर्थन किये जाने पर अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है।[२१]

रामायण में अर्थान्तरन्यास के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं। यहाँ पर सामान्य से विशेष का सधर्म्य से

---

१८. अयो. काण्ड १.५-१९
१९. अयो. ११२-१८
२०. अयो. काण्ड. २९
२१. दृष्टान्तः पुनरेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम् । काव्यप्रकाश. १०२ दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। सा. द.. ५० सामान्य वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते। यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।। काव्यप्रकाश. १०९

सामर्थ्य रूप अर्थान्तरन्यास का प्रयोग अधिक हुआ है। उदाहरण रूप में-

भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्य: कदाचन।
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।।[२२]

राम की सीता के प्रति उक्ति है। पूर्वार्द्ध में स्थित विशेष का उत्तरार्द्ध में स्थित सामान्य से समर्थन किया गया है। एक अन्य उदाहरण-

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा, न मृष्यसे वाक्यमिव निशाचर।
परेतकल्पा हि गतायुषो नरा:, हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्।।[२३]

यहाँ मारीच की उक्ति है। पूर्वार्द्ध में विशेषपरक वाक्य का कथन हुआ है। इसका समर्थन उत्तरार्द्ध के इस सामान्य कथन द्वारा किया गया है कि जिन लोगों की मृत्यु समीप होती है वे मित्रों के वचनों को नहीं सुना करते।

इसी प्रकार रामायण में आदिकवि ने स्वभावोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, दीपक, दृष्टान्त, समासोक्ति, विभावना, व्यतिरेक, विशेषोक्ति, सहोक्ति, सन्देह, भ्रान्तिमान्, तुल्ययोगिता, काव्यलिङ्ग आदि अर्थालङ्कारों का मञ्जुल प्रयोग कर काव्यसौन्दर्य में श्रीवृद्धि की है।

अर्थालङ्कारों की भाँति शब्दालङ्कारों की सहज योजना में आदिकवि सिद्धहस्त हैं। उनके अमर महाकाव्य में अनायास ही अनुप्रास, यमक आदि शब्दालङ्कारों आदि की रमणीयता दृष्टिगोचर होती है। मनोविनोदार्थ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं-

लाटानुप्रास

शोको नाशयते धैर्यं शोको नाशयते श्रुतम्।
शोको नाशयते सर्वं नास्ति शोकसमो: रिपु:।।[२४]
तं सिंहमिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम्।।
दृष्ट्वा नोद्विजते राम: सिंह: क्षुद्रमृगं यथा।।[२५]

यमक

गतासु तासु सर्वासु काश्यपस्यात्मजो द्विज:।[२६]
कथाभिरभिरामाभिरभिरामौ नृपात्मजौ।[२७]

रामायण का मुख्य शब्दालङ्कार अनुप्रास है। तत्पश्चात् यमक एवं पुनरुक्तवदाभास का स्थान है। इन अलङ्कारों के प्रयोग से रामायण में कथानक की गति अवरुद्ध नहीं हुई है।

---

२२ अयो. काण्ड. २४
२३ अरण्य. काण्ड. २०
२४ अयो. काण्ड ६२.१५
२५ अरण्य. काण्ड २८.१३
२६ बाल.काण्ड १०.२३
२७ बाल. काण्ड २३.२२

इस प्रकार आदिकवि वाल्मीकि जिस प्रकार रसयोजना एवं प्रकृति-चित्रण में सिद्धहस्त हैं, वैसे ही वे अलङ्कारों की मधुर योजना में सर्वथा सफल हैं, एवं परवर्ती कालिदासादि महाकवियों के लिए आदर्श हैं।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०३२-३६)

रामयणीययज्ञानां वैदिकत्वम्

डॉ० सोमदेव शतांशुः

सर्गादौ आर्षदृष्टिमतां सदयहृदये समुजृम्भितानां अपौरुषेयाणां वेदानां, क्रौञ्चकरुणार्द्रहृदये उद्भूत रामायणकाव्यस्य च उत्पत्तिमूलन्तु समरूपमेव प्रतिभाति। अन्यच्च रामायणादि-इतिहासग्रन्थाः वेदार्थसमुपबृंहका एव। अत्र रामायणगतयज्ञानां वेदानुकूलत्वं संक्षिप्य विचार्यते।

वाल्मीकिरामायणे नित्यनैमित्तिककाम्ययज्ञाः प्रसङ्गतः स्थाने स्थाने चर्चिताः। ब्रह्मयज्ञः, अग्निहोत्रम्, पितृयज्ञः, अतिथियज्ञः, बलिवैश्वदैवः, अश्वमेधः, अग्निष्टोम-राजसूय-उक्थ्य-ज्योतिष्टोम-आयुष्टोम-अतिरात्र-अभिजित्-विश्वजित्-आप्तोर्याम-वैष्णव-माहेश्वर-पुत्रेष्टियज्ञाश्च चर्चिताः।[१] अत्र यज्ञशब्दः देवतानिमित्तद्रव्यत्यागः सङ्गतिकरणदानाद्यर्थं द्योतयन् वेदानुरूपं विविधब्रह्माण्डीयविराट्यज्ञस्वरूपं प्रकटयति।[२] तद्यथा-लोकत्रयं द्योतयन्नादित्यो ऽग्निहोत्रत्वेन चित्रितः।[३]

क्वचित् जपयज्ञस्य माहात्म्यमपि विवृण्वन् प्रतिपादितम्—

आदित्यहृदयं पुण्यं सर्वशत्रुविनाशनम्।
जयावहं जपं नित्यमक्षयं परमं शिवम्॥[४]

अस्मिन् महाकाव्ये अश्वमेध-राजसूय-पुत्रेष्टियज्ञाः विशेषतो विवृताः।[५]

तदर्थं पुत्रार्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम॥[६] इत्यादीनि वाक्यानि पुत्रकामो यजेत इत्यादिवाक्यं स्मारयति। शतपथ-ब्राह्मणेऽपि '**अश्वमेधेन सर्वकामावाप्तिः**'[७] उल्लिखिता। पुत्रकामनया दशरथो यज्ञाय प्रवर्त्तते,[८] परम् अश्वमेधेन अस्य सर्वपापनिवृत्तिः, तुष्टाभ्य ऋत्विक्वरेभ्यो कुलवर्द्धनं कर्त्तुमर्हसि (वा० १४/५८) इति वरप्राप्तिः। ततश्च ऋष्यशृङ्गेण अथर्वशिरसि प्रौक्तैर्मन्त्रैः पुत्रेष्टिविधानेन पुत्रप्राप्तिर्जायते,[९] इत्यादिकमुल्लिखितम्।

---

१. बालकाण्ड-१४/४०४२

२. बालकाण्डे-१४-१२-१७ अन्नदानादिप्रसङ्गः यथा-ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते। तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते। दीयतां दीयताम् अन्नं वासांसि विविधानि च।

३. एष चैवाग्निहोत्रञ्च फलं चैवाग्निहोत्रिणाम्। यु. का. १०५/२३

४. युद्ध०का० १०५/४

५. बालकाण्डे-१३-१४ अध्याययोः।

६. बा.का. ८/८

७. शत०ब्रा०१३.४.१.१

८. तथेति च स राजानमुवाच द्विजसत्तमः। भविष्यन्ति सुता राजंश्चत्वार ते कुलोद्वहाः। बा० का० १४/५९

९. इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसि प्रौक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥ बा० का० १५/२

अश्वमेधेन सर्वपापविनिवृत्तिः ब्राह्मणेष्वपि आम्नातम्,[१०] सर्वस्य भेषजञ्चापि उक्तोऽयं यज्ञः। रामायणे अश्वमेधयज्ञस्य कल्पसूत्रानुरूपं सविस्तरविधानं दृक्पथमवतरति[११] तेषां साकल्येन विवेचनन्तु दुश्शकमत्र। कानिचन विशिष्टविधानानि वेददृशा विचार्यन्तेऽत्र। अश्वमेधस्य वसन्तर्तौ अनुष्ठानम्, शुभनक्षत्रे दीक्षाग्रहणं,[१२] प्रवर्ग्यः,[१३] सवनत्रयम्,[१४] सोमाभिषवः[१५], यूपविधानम्,[१६] पशुबन्धः,[१७] इत्यादिविधानं वर्णितम्।

एतद् अश्वमेधीयं कर्मकाण्डं आपाततः सार्वभौमाधिपत्यप्राप्तये यज्ञानुष्ठानं विद्यते। रामायणीयाश्वमेधयज्ञविधानं कल्पसूत्रब्राह्मणगतविधिना सह प्रायेण सङ्गच्छते। परं कानिचन स्थलानि नूनं संशयं जनयन्ति, तद्यथा-कौशल्यया कृपाणैः अश्वस्य प्रोक्षणम्-

कृपाणैर्विससारैनं त्रिभिः परमया मुदा।[१८]

राज्ञ्याः एकरात्रिपर्यन्तं अश्वेन सह शयनम्,[१९] अश्ववपायाः पाकः, वपागन्धाघ्राणं तस्य च[२०] सर्वपापविनाशकत्वकथनं, अश्वाङ्गानाञ्च अग्नौ हवनम्। उद्वेजकं प्रक्षिप्तमिव वेदाशयविरुद्धञ्च प्रतिभाति। केचन अनूचानमन्या एतदपि **'वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि'** इत्यादि याजुषमन्त्रैः प्रमाणयन्ति। इति स्थिते प्रश्नोऽयं समुज्जृम्भते—कोऽयमश्वो यस्याङ्गानि दशरथस्य ऋत्विज अग्नौ प्रास्यन्ति ? को वा अश्वमेध इति ? शतपथ-ब्राह्मणे उक्तम्-'प्राजापत्यो वाऽश्वः।'[२१]

ततोऽश्वः समभवद्यदश्वतन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्य अश्वमेधत्वम् एष ह वाऽश्वमेधं वेद।

ऋग्वेदे च अश्वोऽयम् आदित्यः, यमः, त्रितश्च उक्तः।[२२] अन्यच्च-

१. राष्ट्रं वा अश्वमेधः। मा० २१. १३.२.२.१६

२. श्रीर्वा राष्ट्रमश्वमेधः। मा० श. १३.२.९.२.

---

१०. (१) तरति सर्वं पाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते। मा. श..१३.३.१.१ (२) सर्वस्य वा एषा प्रायश्चित्तिः सर्वस्य भेषजं सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरञ्च। तैत्तिरीय-संहिता ५.३.१२.१

११. शान्तयश्चापि वर्धन्तां यथाकल्पं यथाविधि बा.का. ८/१६

१२. वसन्ते समनुप्राप्ते- बा.का. १२/१ दिवसे शुभनक्षत्रे बा.का. १३/३९

१३ बा.का. १४.४

१४ बा.का.१४.५

१५ बा.का. १४.६

१६ बा.का. १४.२५-२९

१७ बा.का. १४.३०-३१

१८. बाल.का० १४/३३

१९ बा.का.१४.३४

२० बा.का. १४.३५

२१. शत०ब्रा०६.५.३.९

२२. ऋग्वेद १.१६३.३-असि यमो अस्यादित्यो अर्वन्नसि त्रितो गुह्येन व्रतेन।

३. अग्निर्वाऽश्वः श्वेतः। मा. श. ३.६.२.५

४. असावादित्योऽश्वमेधः। मा. श. ९/४/२/१८

५. एष वा अश्वमेधो य एषः सूर्यः तपति। मा. १०.६.५.८

६. प्रजापतिरश्वमेधः। मा. श. १३.२.२.१३

७. यजमानो वै अश्वमेधः। मा. श. १३.२.२.१

इत्यादीनि प्रसङ्गानि नूनम् अश्वस्य अश्वमेधस्य वा राजनैतिम्, आधिदैविकम्, आध्यात्मिकञ्च तथ्यं प्रकटयन्ति। हयाङ्गानां हवनेन तद्वपा-आघ्राणेन च सर्वपापविनिवृत्तिः तेजसा ब्रह्मवर्चसेन च व्यृध्यते इति न तर्कसङ्गतः। अस्मिन प्रसङ्गे—आलभते, संज्ञपयति, प्रोक्षति इति कैश्चित् दुरूहशब्दैः उब्वट-महीधरादिभिः दुरितमेतद् उद्भावितम्।

यज्ञीयपशुपक्षीणां यूपबन्धनादिकं न तेषां वधमपितु अपरं किमपि विज्ञानं व्याख्यापयति। वाल्मीकिनापि[२३] अश्वमेधप्रसङ्गे विविधदेवताः उद्दिश्य पशु-सर्प-पक्षी-जलचर कच्छपादीनां शामित्रकर्मणि यूपे बन्धनं प्रतिपादितम्। तत्र शतत्रयपशवो निबद्धा आसन्। एषाम् आलम्भनं-मारणं नाभीष्टम्, परम् तेषां सम्यक् प्रापणं तेषां स्वाभाविक-ज्ञानप्राप्तिर्वा अभिप्रेता। उब्वट-महीधरावपि क्वचित् 'आलभते' पदस्य 'नियुनक्ति' इति प्रतिपादयतः। हन् हिंसागत्योः धातोः सामान्यर्थस्तु हिंसापरम् जघनं, जङ्घा, पद्धतिः, कुञ्जं हन्ति, कृशोदरी। अन्यच्च अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते।[२४] (१) वरो वध्वा दक्षिणांसमधि हृदयमालभते।[२५] (२) स्त्रीणां प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च।[२६] (३) संज्ञपनं वो मनसोऽथ संज्ञपनं हृदः ....(जानना-जताना) तेन संज्ञपयामि वः।[२७] (क) अन्यच्च ये यज्ञे अश्वगवादीनां वधमुपकल्पयन्ति तान् वेद आदिशति यदि नो गां हंसि अश्वं यदि पुरुषम्। तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥[२८] (ख) मा गामनागामदितिं वधिष्ट।[२९] इत्यादौ गतिरेव अर्थः साधीयान्।

यज्ञे पश्वालम्भनरहस्यं समाधातुं वेदज्ञं यास्कं शरणं व्रजामः। यास्को ब्रूते-

अधोरामः सावित्र इति पशुसमाम्नाये विज्ञायते। कस्मात् सामान्यादिति। अधस्तात्तद्वेलायां तमो भवत्येतस्मात् सामान्यात्। अधस्ताद्रामोऽधस्तात्कृष्णः॥[३०]

---

२३. (क) नियुक्तास्तत्र पशवः तमुद्दिश्य दैवतम्। उरंगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः॥ बाल. १४/३०-३२ (ख) यजुर्वेदे २४ अध्यायेऽपि एतत् सर्वं वर्णितम्।

२४. पारस्कर गृ.सू. २/३/१

२५. पारस्कर गृ.सू. ९/१/२

२६. मनु. २/१०.

२७. अथर्व० ६/१०/९५

२८. अथर्व०१.१.७४

२९. ऋ०१०.१०१.१५

३०. यास्क, निरु०१२.१३

अयं भाव: यथा सविता अनुसमयं अधस्ताद् तमोयुक्तो भवति, ऊर्ध्वञ्च प्रकाशवान् भवति, असौ पशुरपि अधस्ताद् कृष्णत्वात् सावित्र उच्यते।

पुनश्च यास्क: कथयति कृकवाकु: पक्षी सवितादेवताक इति। यतोऽयं सवितावत् कालस्य आकलक: तस्मात् सावित्र इति। एवं यजुर्वेदे चतुर्विंशतिरध्याये यां यां देवतामुद्दिश्य ये पशवो यूपबद्धा: तेषां स्वाभाविक-गुणानाम् आलम्मनम्-प्रापणम् एव लक्ष्यम् न तु व्यापादनम्। अद्यत्वे वैज्ञानिकै: पशुपक्षीणां वैशिष्ट्यं विज्ञाय तदनुसृत्य विविधनौविमानादियन्त्राणां समृद्धिकरं निर्माणमेव पशुबन्धस्य आलम्भनस्य वा वास्तविकं स्वरूपम्। एवम् अश्वविषये यजुर्वेदीयचतुर्विंशति अध्यायादौ एव अश्वरहस्यं विवृण्वती भगवती श्रुति: सन्दिशति-

अश्वस्तूपरो गोमृगस्ते प्राजापत्या:..........इत्यादिकं अश्वोऽयं प्राजापत्य: पशु:। शतपथ-ब्राह्मणे अस्य रहस्यं विवृतम्-'**प्रजापतिरात्मनो मेध्यत्वमैच्छत ततोऽश्व: समभवद् यदश्वतन्मेध्यमभूद् इति तदेवाश्वमेधस्य अश्वमेधत्वम् एष ह वा अश्वमेधं वेद।**'[३१]

अन्यच्च असौ अस्य पशुनामोजिष्ठ: बलिष्ठश्च[३२] याज्ञवल्क्य[३३] अस्य रहस्यम् अनावृतञ्चकार-क्षत्रं वा अश्व: विडितरे पशव इति १३.२.२.१५

एतैर्वर्णनैरेतदधिगम्यते आश्वमेधिको राजा प्रजानां पतिरर्बुभूषुरश्वस्य ओजिष्ठ बलिष्ठ आशुगमित्वादिगुणान् आत्मनि धारयेत्। एवं हि दृश्यते तुरङ्गमश्चतुष्पादपि सन् त्रिपादस्थ: सदा ऊर्ध्वैकपाद् भवति, एवम् प्रजापती राजापि चतुरङ्गसेनासंयुत: सदा शक्तिवर्द्धनाय पराक्रमणपरो भवेदिति।

महाराज्ञा: अश्वस्य त्रिपरिक्रमणम् अश्वसविधे शयनमपि किमपि प्रतीकार्थं प्रत्याययति। राज्ञीश्री स्वरूपा वर्तते राष्ट्रं वा अश्व इति अश्वस्य राष्ट्रप्रतीकत्वं स्फुटम् एव। तस्य अश्वभूतस्य राष्ट्रस्य श्रिया-लक्ष्म्या संयोजनम् समृद्धिकरणं राज्यस्य त्रिविधविविधश्रीभि: समृद्धिकरणम् एव सङ्गतार्थ:।

एतदेवाभिप्रेत्य अश्वमेधयज्ञे वाल्मीकिना प्रजाभ्यो ब्राह्मणेभ्यो गो-भूमि-अश्व-रत्न-अन्नादीनां बहुविधं दानं विहितम्। येन सर्वा: प्रजा: समृद्धिर्युक्ता: स्यु:।

अनया एव गत्या-व्यृध्यते वा योऽश्वमेधेन यजते इत्यादि श्रुतिवाक्यानाम् अन्वर्थता, यच्च अश्वाङ्गानाम् हवनं तन्नूनं मांसास्वादलोलेपानां विचेष्टितम्। अद्यत्वे विविधदेवतासम्मुखं पशूनां बलिप्रथा प्रचलत:, साऽपि एतत् भ्रान्तिमूला एव।

युक्तमुक्तं महाभारते-मांसासवकृशारौदनम् धूर्तै: प्रवर्तितं चक्रं नैतद् वेदेषु कल्पितम्। अन्यच्च अश्वमेधस्य अन्यानि आसवनानि तत्र प्रतिपाद्यानि अतिरात्र-ज्योतिष्टोमादियज्ञकर्मकाण्डानि तानि प्रजापते: विराटयज्ञस्य सृष्टियज्ञस्य वा प्रतीकभूतानि।

एतच्च अस्माभिरवश्यं विचारणीयम् यत् क्रौञ्चवधं दृष्ट्वा यस्य प्राचेतस: हृदयाद् करुणरसनिष्यन्दी

३१. मा. श. १०.६.५.७(१२)
३२. तै, ब्रा, ३.८.७.१
३३. क्षत्रं वाऽन्वश्व: मा. २१. ६.४.४१२

काव्यनिर्झरिणी निर्गच्छति कथं स अश्वादिपशुवधम् अनुमन्येत। नैतद् सम्भवति।

पुत्रप्राप्त्यर्थम्-अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः तद्विधानैश्च पुत्रप्राप्तिः वेदसम्मता अस्मिन् प्रसङ्गे जाम्बुनदपात्रे दिव्यपायसमाधाय देवपुरुषस्य प्राकट्यं, विष्णोश्च चतुरंशेन रामादिपुत्रचतुष्टयरूपेण अवतरणम् चिन्त्यम्।

उत्तरकाण्डे[३४] शुक्राचार्याध्यक्षत्वे मेघनादेन अग्निष्टोम-अश्वमेध-राजसूय-गोमेध-वैष्णवादियज्ञैः कामगं दिव्यं स्यन्दनं तामसी माया अक्षयेपुधी दिव्यास्त्रप्राप्तिरादिकमपि चिन्तनीयं गवेषणयीञ्च।

एवम् वाल्मीकिरामायणे वर्णितानि विविधयज्ञविधानानि वेदब्राह्मणकल्पसूत्रसम्मतानि, क्वचिच्च वैदिककर्मकाण्डरहस्योद्घाटने असमर्थानि प्रतीयन्ते। आदिकाव्यत्वेन वैदिकज्ञानस्य उपबृंहकत्वे महदुपकारकमिति वक्तुं शक्यते।

---

३४. उत्तरकाण्डे-२५-३-१२

वाल्मीकि-रामायण में नैमित्तिक-यज्ञ

डॉ. वेदपाल

वैदिक संस्कृति का यदि कोई सदृशतम पर्याय कहना हो तो वह यज्ञ कहा जा सकता है। प्राचीन मनीषियों ने मानव जीवन को समृद्धतम स्वरूप प्रदान करने के विचार से जीव के शरीर से संयुक्त होने से पूर्व गर्भाधान संस्कार तथा जन्म से पूर्व ही पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन तथा मृत्यु-जीव के शरीर से वियुक्त होने के अनन्तर और्ध्वदेहिक कर्म अन्त्येष्टि संस्कार के रूप में (इस मध्य जातकर्म, नामकरण आदि अन्य संस्कार विहित हैं) समग्र जीवन को यज्ञमय बनाने का विधान किया है। ऋषि की दृष्टि में **'अजातो वै पुरुषः, स वै यज्ञेनैव जायते'**[१] यज्ञ व्यक्तीकरण (अव्यक्त से व्यक्त होने) का माध्यम है।

निष्कामभाव से सम्पाद्य नित्ययज्ञों के साथ-साथ नैमित्तिक-यज्ञों का विधि-विधान भी उपलब्ध होता है। सभी संस्कारों के अवसर तथा किसी निमित्त (प्रयोजन) विशिष्ट को दृष्टिगत कर किये जाने वाले यज्ञ नैमित्तिक-यज्ञ की श्रेणी में आते हैं। कामना विशिष्ट के पूर्त्यर्थ होने वाले यज्ञों को काम्य कहा गया है। वस्तुतः काम्य व नैमित्तिक यज्ञ एक ही सिक्के के दो पहलू जैसे हैं। इनमें विभाजन रेखा खींचना सरल नहीं हैं।

वाल्मीकि ने रामजन्म से पूर्वकालिक अयोध्या के उत्कर्ष का वर्णन करते हुए-**'नानाहिताग्निर्नायज्वा'**[२] अयोध्या में कोई अनाहिताग्नि तथा अयज्वा (यज्ञ न करने वाला) नहीं है, कहा है। अतः उस अयोध्या के शासकों का वर्णन यज्ञों के वर्णन के विना पूर्ण भी किस प्रकार हो सकता था।

अश्वमेध

राजा दशरथ द्वारा मन्त्रियों एवं ब्राह्मणों के सम्मुख सन्तान प्राप्त्यर्थ अश्वमेध यज्ञ करने के प्रस्ताव को आदिकवि ने निम्नवत् वर्णित किया है-

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्।
तदर्थं हयमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम॥
तदहं यष्टुमिच्छामि शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
कथं प्राप्यस्याम्यहं कामें बुद्धिरत्र विचिन्त्यताम्॥[३]

राजा दशरथ ने अमात्यों को सचेत किया कि ब्रह्मराक्षस छिद्रान्वेषण करते रहते हैं। इसलिए अभीष्टफल प्राप्त्यर्थ यज्ञ का सम्पादन विधिपूर्वक किया जाना चाहिए। विधिरहित यज्ञ निरर्थक ही नहीं, अपितु विनाशक भी

---

१. मैत्रायणी संहिता ३.६.७
२. नानाहिताग्निर्नायज्वा क्षुद्रो वा न तस्करः। कश्चिदासीदयोध्यायां न चावृत्तो न संकरः॥ बालकाण्ड ६.१२
३. बालकाण्ड ८.८-९

होता है।[४] महाशाल शौनक के प्रति अङ्गिरा का कथन है कि-अग्निहोत्र आदि यज्ञ यदि विधिपूर्वक न किये जायें तो उन कर्मों का कोई फल प्राप्त नहीं होता है।[५] रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि दशरथ का अश्वमेध प्रायः श्रौतविधि के अनुकूल है। तद्यथा-

शतपथ-ब्राह्मण में अश्वमेध को यज्ञों का राजा कहा गया है।[६] अश्वमेध करने का अधिकारी सार्वभौम क्षत्रिय राजा है।[७] सत्याषाढ[८], आश्वलायन[९] एवं शाङ्खायन श्रौतसूत्रों[१०] के अनुसार अश्वमेध के करने से सम्पूर्ण कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। तैत्तिरीय संहिता[११] में इसे भेषज कहा है। इसके अनुष्ठान से यजनकर्ता ब्रह्महत्या प्रभृति महापातक से भी (तर) मुक्त हो जाता है।

अष्टम्यां नवम्यां वा फाल्गुनीशुक्लस्य[१२] इस कात्यायन वचन के अनुसार-फाल्गुन मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी अथवा नवमी को इस याग का प्रारम्भ होता है। यह यज्ञ देवयजन नदी के तट पर किया जाना अपेक्षित है।[१३] याग में महिषी (परिणीता), वावाता (प्रिया), परिवृक्ता (अप्रिया), पालागली (दासी पुत्री) तथा महिषी की दासियों आदि को उपस्थित होना चाहिए।[१४] यज्ञ में अनेक अवान्तर कर्म जैसे-औद्ग्रभण होम, सावित्रीष्टि आदि सम्पन्न होते हैं। अश्वमेध का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है-यूपस्थापन।

पूर्वाभिमुख वेदी के पूर्व की ओर अग्निष्ठसंज्ञक मध्यम यूप (रज्जुदाल) स्थापित कर उसके दोनों ओर (उत्तर-दक्षिण) एक-एक देवदारु तदनु बिल्व, खादिर तथा पलाश के तीन-तीन यूप स्थापित किये जाते हैं।[१५] इनमें मध्यम यूप से अश्व तथा शेष बीस यूपों से पन्द्रह-पन्द्रह पशु एवं इनके बीस अन्तराल में प्रत्येक में तेरह-तेरह आरण्यक पशु बाँधते हैं। इन वन्य पशुओं के भिन्न जाति के होने के कारण जिस प्रकार इन्हें वहाँ रख सकें,

---

४. छिद्रं हि मृगयन्ते स्म विद्वांसो ब्रह्मराक्षसाः।। विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्य कर्ता विनश्यति। १.८.१७

५. यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च। अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमश्रद्धया हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति।। मुण्डक १.२.३

६. राजा वा ऽएष यज्ञानां यदश्वमेधः -श.प. १३.२.२.१

७. क-राजाऽश्वमेधेन यजेत -स. श्रौ. १४.१.१ ख-राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य। का श्रौ. २०.१.१

८. यः कामयेत सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुवीयेति-य श्रौ. १४.१.२

९. सर्वान्कामानाप्स्यन् सर्वा विजितीविजिगीषमाणः सर्वाव्युष्टी व्युशिष्यन्नश्वमेधेन यजेत-आश्व श्रौ. १०.६.१

१०. अश्मेधेन यजते सर्वान्कामनाप्नोति सर्वा व्युष्टीर्व्यश्नुते-शा श्रौ. १६.१.१

११. ......सर्वस्य भेषजं ..... सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते - तै. स. ५.३.१२

१२. काण्ड श्रौ. २०.१.२

१३. सत्याषाढ श्रौ १४.१.३

१४. पत्न्यश्चायन्त्यलङ्कृता निष्किण्यो महिषी वावाता परिवृक्ता पालागली सानुचर्यः शतेन शतेन-काण्डश्रौ. २०.१.१२

१५. एकादशिनीवदेकविंशतिर्यूपाः रज्जूदालो मध्ये, अभितः पैतुदारवौ, षट् षट् बैल्व-खादिर-पालाशाः। काण्ड श्रौ. २.४.१६-१९

वैसे बाँधते हैं। जैसे सर्प को कण्डिए में, सिंह आदि को पिंजड़े में, मत्स्यादिक को जलयुक्त घड़े में रखकर बाँधना चाहिए। दो एकादशिनी को बाईस पशु यूपों से एवं तूपर, गोमृग आदि मध्यम यूप से अर्थात् कुल छः सौ नौ पशु[१६] यज्ञवेदी पर यूपों एवं अश्व से काष्ठ दक्षिण से उत्तर की ओर निम्नवत् होंगे-

पा. पा. पा. ख. ख. ख. बि. बि. बि. दे. र. दे बि. बि. बि ख. ख. ख. पा. पा. पा.

अर्थात्-३पालाशकाष्ठ +३ खदिर +३बिब्व +१देवदास +१रज्जुदाल (मध्यमयूप) १ देवसाद +३ बिल्व +३ खादिर +३ पालाशकाष्ठ = २१ (इक्कीस)

उपर्युक्त शास्त्रीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में देखें तो अश्वमेध के यजनकर्ता राजा दशरथ स्वयं इक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय राजा हैं। यद्यपि श्रीमद्भागवत[१७] से ज्ञात होता है कि अंग राजा के अश्वमेध की हवि देवों ने निस्सन्तान होने के कारण स्वीकार नहीं की, पुनः पुत्रेष्टियज्ञ के अनन्तर अङ्ग को पुत्र की प्राप्ति हुई। किन्तु दशरथ के अश्वमेध के सम्पादनानन्तर ऋष्यशृङ्ग ने ही पुत्रेष्टियज्ञ सम्पन्न कराया।

दशरथ ने वसन्त ऋतु आने पर यज्ञ करने का निश्चय करके[१८] अश्वमेधीय अश्व को छोड़ दिया।[१९] एक वर्ष के पश्चात् अश्व के लौट आने पर दशरथ का अश्वमेध यज्ञ सरयू नदी के उत्तरी तट पर सम्पन्न हुआ।[२०] दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में शास्त्रानुसार-प्रवर्ग्य, उपसद् तथा सवनत्रय पूर्वक सोमाभिषवण किया गया। तद्यथा-

प्रवर्ग्यं शास्त्रतः कृत्वा तथैवोपसदं द्विजाः।
प्रातःसवनपूर्वाणि कर्माणि मुनिपुङ्गवाः॥
माध्यन्दिनं च सवनं प्रावर्तत यथाक्रमम्॥
तृतीयं सवनं चैव राज्ञोऽस्य सुमहात्मनः॥[२१]

यज्ञ में इक्कीस यूप स्थापित कर उनमें प्रत्येक से पन्द्रह-पन्द्रह अर्थात् तीन सौ पशु[२२] नियोजित किये गए। यूपों के अन्तराल में वन्य पशु-पक्षी रखे गए।[२३] यज्ञ में श्रौतानुसार सोलह ऋत्विज्[२४] चतुष्टोम, उक्थ्य,

---

१६. पट् शतांनि नियुज्यन्ते पशूनां मध्यमेऽहनि। अश्वमेधस्य यज्ञस्य नवभिश्चाधिक्रानि च।। उव्वटभाष्ये-यजु २४.४०
१७. श्रीमद्भागवत ४.१३.२५,३१-३२,३८
१८. वसन्ते समुप्राप्ते राज्ञो यष्टुं मनोऽभवत्।। बालकाण्ड १२.१
१९. ऋष्यशृङ्ग पुरोगाश्च प्रत्यूचुर्नृपतिं तदा। सम्भाराः सम्भ्रियन्तां ते तुरगाश्च विमुच्यताम्। बालकाण्ड। २.११-१२
२०. अथ संवत्सरे पूर्णे तस्मिन् प्राप्ते तुरङ्गमे। सरय्वाधश्चोत्तरे तीरे राज्ञो यज्ञोऽभ्यवर्तत।। बालकाण्ड १४.१
२१. बालकाण्ड १४.. ७
२२. क-यह इक्कीस यूप का श्रौ. २.४.१६-१९ के अनुसार ही थे -द्र० बालकाण्ड १४.२२-२५
२३. नियुक्तास्तत्र पशवस्तत्तदुद्दिश्य दैवतम्। उरगाः पक्षिणश्चैव यथाशास्त्रं प्रचोदिताः। शामित्रे तु हयस्तत्र तथा जलचराश्च ये। बालकाण्ड १४.३०-३१, का श्रौ . २०.६.
२४. अग्नौ प्रास्यन्ति विधिवत् समस्ताः षोडशर्त्विजः। बालकाण्ड १४.३८

अतिरात्र, ज्योतिष्टोम, अभिजित् विश्वजित् तथा आप्तोर्याम[२५] आदि को विधिवत् सम्पन्न कराने वाले थे।

यहाँ यह विशेषण ध्यातव्य है कि वाल्मीकि द्वारा विहित यूपस्थिति कात्यायन-श्रौतसूत्र एवं तदनुसारी पद्धति ग्रन्थों तथा शतपथ के अनुवादक-जूलिअस इगलिंग[२६] के अनुसार एक सीधी पङ्क्ति में न होकर आकाशस्थ सप्तर्षि-मण्डल के सदृश है। तद्यथा-

आच्छादितास्ते वासोभिः पुष्पैर्गन्धैश्च पूजिताः।
सप्तर्षयो दीप्तिमन्तो विराजन्ते यथा दिवि।।[२७]

महाभारत अश्वमेध-पर्व में युधिष्ठिर के अश्वमेधीय यूपों की स्थिति भी सप्तर्षि-मण्डल के सदृश ही वर्णित है। तद्यथा[२८]

शोभार्थं चापरान्यूपान्काञ्चनान्भरतर्षभ।
स भीमः कारयामास धर्मराजस्य शासनात्।।
ते व्यराजन्त राजर्षेर्वासोभिरुपशोभिताः।
महेद्रानुगता देवा यथा सप्तर्षिभिर्दिवि।।

अश्वमेध के अनन्तर (अङ्गभूत) सम्पन्न यज्ञ महाक्रतु कहे जाते हैं। ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, दो बार, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् तथा दो आप्तोर्याम-ये आठ हैं। रामायण[२९] में इनका नामोल्लेख मात्र हुआ है।

अश्वमेध द्वारा सभी कामनाओं की पूर्ति कहे जाने के कारण स्यात् दशरथ ने सन्तान प्राप्त्यर्थ अश्वमेध का आयोजन किया, अन्यथा पुत्र प्राप्त्यर्थ अश्वमेध किये जाने का उल्लेख अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है।

पुत्रेष्टि

आश्वलायन-श्रौतसूत्र में काम्य दृष्टियों के अन्तर्गत पुत्रेष्टि का विधान है, तदनुसार '**पुत्रकामेष्टयामग्निः पुत्री**'[३०]-पुत्रेष्टि का देवता अग्नि है। कात्यायन के अनुसार-प्रजा, पशु, अन्न, यश की कामना से दाक्षायण यज्ञ (यह दर्शपौर्णमास का गौण नाम है, कर्मान्तर नहीं) के अवान्तर भेद आग्नेयीष्टि को करना चाहिए।[३१] यहाँ यह स्मरणीय है कि एक कामना के लिए एक इष्टि कर्त्तव्य है। यदि कोई दूसरी कामना है, तब पुनः इष्टि की जानी चाहिए। अग्नि के लिए अष्टाकपाल पुरोडाश का निर्वाप किया जाता है।[३२] तैत्तिरीय-संहिता में प्रजाकामेष्टि वर्णित है, देवता

---

२५. बालकाण्ड १४.४०-४२
२६. सै. बु. आ. ई. सी. श. पं. भा. पृ. ३०१, पा टि. सं. २
२७. बालकाण्ड १४.२७
२८. म. भा. अश्वमेधपर्व ८८.२९-३०
२९. ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ। अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोर्यामौ महाक्रतुः।। बालकाण्ड १४.४२
३०. आश्व. श्रौ. २.१०.०
३१. क-दाक्षायणयज्ञः प्रजा-पश्वन्न-यशस्कामस्य-का श्रौ ४.४.१ ख-आग्नेयं प्रतिकाममाहरेत्-का श्रौ. ४.५.१५
३२. अग्नये कामाय पुरोडाशमष्टकपाल निर्वपेत् -बौ. श्रौ. १३.१ तै. स. २.२.५

वैश्वानर अग्नि है, अतः वैशवानर अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश का निर्वपन होता है।[३३]

इस प्रकार श्रौतसूत्रानुसार पुत्रेष्टि के लिए की जाने वाले यज्ञ इष्टि के देवता अग्नि हैं। अग्निं को उद्दिष्ट करके ही द्रव्य रूप में पुरोडाश/ अष्टाकपाल/ द्वादशकपाल का निर्वाप किया जाता है।

रामायण में ऋष्यशृङ्ग द्वारा दशरथ की पुत्रेष्टि

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसिप्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः।

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्। जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥[३४]

उक्त दो श्लोक में कहकर इष्टि से भिन्न अवैदिक एवं अप्रासङ्गिक (देवों का रावण से भयभीत हो ब्रह्म से निवेदन, रावण वध का उपाय करने की प्रार्थना, वैनतेय पर आरूढ़ होकर शङ्ख-चक्र-गदा-पाणि, पीतवासा विष्णु का आगमन, देवों द्वारा दशरथ की ह्री, श्री, कीर्ति तुल्य तीनों रानियों में अपने को चतुर्धा विभक्त कर पुत्र रूप में आने की विष्णु से प्रार्थना आदि का[३५]) वर्णन विस्तरेण वर्णित है।

इसी प्रकार कुशनाभ की पुत्रेष्टि अपुत्रः **पुत्रलाभाय पौत्रीमिष्टिमकल्पयत्**[३६] मात्र श्लोकार्ध द्वारा ही सूचित है, वहाँ इष्टि के स्वरूप देवता, हव्य एवं विधि आदि का कोई वर्णन नहीं है। श्रीमद्देवीभागवत में कोसल निवासी देवदत्त[३७] तथा यौवनाश्व द्वारा कराई जाने वाली पुत्रेष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है।[३८] स्कन्दपुराण ब्रह्मखण्ड में राजा धर्मसरव द्वारा पुत्रेष्टि कराए जाने तथा उसकी सौ रानियों में पुत्रोत्पत्ति का वर्णन है।[३९] इसी प्रकार ब्रह्मवैवर्त[४०] पुराण में पुत्रेष्टि का वर्णन है।

नैमित्तिक-यज्ञ

किसी विशिष्ट निमित्त को दृष्टिगत रखते हुए किये जाने वाले विशिष्ट यज्ञ नैमित्तिक-यज्ञ हैं। इनमें सस्कारों के अवसर पर किये जाने वाले यज्ञ महत्त्वपूर्ण हैं।

रामायण में संस्कारों का नाम्ना वर्णन स्वल्प है। मनुष्य के जन्म से पूर्व होने वाले-गर्भाधन, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन का वहाँ कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है। पुत्रेष्टियज्ञ के समय प्राप्त पायस खीर[४१] को गर्भाधान-संस्कार

---

३३. विन्दते प्रजां वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्...........वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत् सनिमेष्यन्-तै सं. २.२.५-६
३४. बालकाण्ड १५.. ३
३५. बालकाण्ड १५.. ३०
३६. बालकाण्ड ३४.१
३७. श्रीमद् देवीभागवत ३.१०.१८-२२
३८. श्रीमद् देवीभागवत ७.९.५०-६३
३९. स्कन्द-पुराण ब्रह्मखण्ड १५.५०-६०
४०. ब्रह्मवैवर्त पुराण ४३.८.३२
४१. बालकाण्ड १६.१५

तो नहीं, तदङ्गत्वेन स्वीकार किया जा सकता है। इसी सर्ग में गर्भधारण की सूचनामात्र उपलब्ध है।[४२]

जातकर्म

जन्म के अनन्तर क्रियमाण प्रथम संस्कार जातकर्म है। रामायण में मात्र श्लोकार्ध-'**तेषां जन्मक्रियादीनि सर्वकर्माण्यकारयत्**'[४३] से वसिष्ठ द्वारा रामादि चारों भाइयों के जातकर्म का सङ्केतमात्र उपलब्ध है।

नामकरण

नाम व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यवहार का हेतु होता है।[४४] नाम से ही व्यक्ति कीर्ति प्राप्त करता हैं। अतः नामकरण अत्यन्त प्रशस्त कर्म संस्कार है। पारस्कर[४५] के अनुसार-ग्यारहवें दिन नामकरण का काल है। वसिष्ठ द्वारा सामादि के नामकरण बारहवें दिन सम्पन्न हुए हैं।[४६]

विवाह

मनु ने गृहस्थ आश्रम की उपमा सागर से दी है। अन्य तीन आश्रमों का आश्रय गृहस्थ ही है। गृहस्थ का आधार है—विवाह। बालकाण्ड (सर्ग ७०-७६) में रामादि चारों भाइयों के विवाह का वर्णन है। विवाह की महत्त्वपूर्ण विधि-पाणिग्रहण[४७] लाजाहोम[४८] तथा अग्नि की तीन प्रदक्षिणाओं[४९] का उल्लेख है, किन्तु संस्कार की दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण तथा पुरातनकाल से अद्य पर्यन्त विवाह को पूर्णता प्रदान करने वाली विधि-सप्तपदी का नामोल्लेख अथवा सङ्केत भी वहाँ उपलब्ध नहीं है।

अन्त्येष्टि

मनुष्य शरीर का अन्तिम संस्कार 'अन्त्येष्टि' है। आहिताग्नि की अन्त्येष्टि विशिष्ट विधिपूर्वक सम्पन्न होती है, जिसमें उसके सभी यज्ञपात्र एवं यज्ञीय उपकरण-शकट, उलूखल-मूसल आदि उसके साथ ही चिता पर विधिपूर्वक रख दिये जाते हैं।

रामायण में दशरथ की अन्त्येष्टि का संक्षिप्त वर्णन है।[५०] यद्यपि अग्न्यागार से बहिष्कृत अग्नियों में

---

४२. ततस्तु ताः प्राश्य ....१.........अचिरेण गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा।। बालकाण्ड १६.३१

४३. बालकाण्ड १८.२४

४४. नामाखिलस्य व्यवहारहेतुः शुभावहं कर्मसु भाग्यहेतुः। नाम्नैव कीर्तिं लभते मनुष्यस्ततः प्रशस्तं खलु नामकर्म।। वीरमित्रोदय, संस्कार प्रकाश भा.। पृ २४१

४५. दशम्यामुत्थाप्य ब्राह्मणान् भोजयित्वा पिता नाम करोति -पा. गृ.१.१७.१

४६. अतीत्यैकादशाहं तु नामकर्म तथाकरोत् -बालकाण्ड १८.२१

४७. ....पाणिं गृहीष्व पाणिना। बालकाण्ड ७३.२७, ३१, ३२,३३, पाणीन् पाणिभिरस्पृशन्-३४

४८. लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः। बालकाण्ड ७३.२३

४९. त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः।। बालकाण्ड ७३.३९

५०. अयोध्याकाण्ड ७६ .१३,-१८

ऋत्विग् गण द्वारा यथाशास्त्र किये जाने से प्रतीत होता है कि स्यात् दशरथ की अन्त्येष्टि आहिताग्निवत् की गयी थी।

युद्धकाण्ड में रावण की अन्त्येष्टि विस्तरेण वर्णित है। तदनुसार रावण की मृत्यु, मन्दोदरी के विलाप के अनन्तर राम ने विभीषण से स्त्रीगण को सान्त्वना प्रदान कर रावण के अन्तिम संस्कार के लिए कहा-

संस्कारः क्रियतां भ्रातः स्त्रीगणः परिसान्त्व्यताम्।
तमुवाच ततो धीमान् विभीषण इदं वचः॥
नाहमर्हामि संस्कर्तुं परदाराभिमर्शनम्।
भ्रातृरूपो हि मे शत्रुरेष सर्वाहितों रतः॥[५१]

पुनः राम के प्ररित करने पर-

संस्कारयितुमारेभे भ्रातरं रावणं हवम्।
स प्रविश्य पुरीं लङ्कां राक्षसेन्द्रो विभीषणः॥
रावणस्याग्निहोत्रं तु निर्वापयति सत्वरम्॥[५२]

विभीषण ने रावण के अग्निहोत्र को पूर्ण/ निर्वापित कर दक्षिणाप्राची वेदी/ चिता बना, चन्दन का काष्ठ रख, अगरु, मणि-मुक्ता-प्रवाल रख, सौवर्णी शिविका/ अर्थी बना, पताकाओं से सजा उस शिविका को विभीषण आदि ने ले जाकर-रावण के शव को चिता पर रखकर-स्रुवा को स्कन्ध, शकट को पैरों पर, उरु प्रदेश पर सभी दारु पात्र उलूखल-मूसल, अरणि-उत्तरारणि आदि को शास्त्रविहित विधि से रखकर[५३] विभीषण ने चिता को अग्नि दी।[५४] रावण की अन्त्येष्टि का यह विवरण पूर्णतः राजसी एवं शास्त्रीय (आहिताग्नि के लिए) है।

जटायु एवं कबन्ध[५५] का दाह भी वहाँ वर्णित है। यद्यपि जटायु की अन्त्येष्टि साधारण थी, किन्तु राम ने उसके लिए आहिताग्निवत् गति की कामना की है।[५६]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि-रामायण में प्रसङ्ग प्राप्त काम्य एवं नैमित्तिक-यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है। रामायण के कर्मकाण्डीय ग्रन्थ न होने के कारण इनका विधिभाग सविस्तर वर्णित नहीं है, किन्तु अश्वमेध के अनपेक्षित विस्तार तथा पुत्रेष्टि के अतिसंक्षेप से वह गौण तथा अश्वमेध प्रमुख हो गया है, जबकि शस्त्रीय दृष्टि से पुत्रेष्टि का प्राधान्य अपेक्षित था। साथ ही कात्यायन एवं महीधरानुमोदित संज्ञपन, कौसल्या की अश्व-परिचर्या तथा वपाहोमादि पुत्रेष्टि की दृष्टि से पूर्णतः असङ्गत होने के कारण चिन्त्य हैं। हाँ, रावण का अन्त्येष्टि-वर्णन अवश्य आहिताग्नि के अन्त्येष्टि के पूर्णतः अनुरूप सविस्तर वर्णित है।

---

५१. युद्धकाण्ड १११. ९२,९४
५२. युद्धकाण्ड १११. १०३-४
५३. युद्धकाण्ड १११. १०४-११९
५४. स ददौ पावकं तस्य विधियुक्तं विभीषणः। युद्धकाण्ड १११. १२०
५५. अरण्यकाण्ड ७२.२
५६. अरण्यकाण्ड ६८.२७-२९

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०४४-५४)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक अर्थव्यवस्था

डॉ. देवेन्द्र सिंह सोलंकी

यह सर्वजन स्वीकार्य सत्य है कि **'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है'** उक्त शब्द युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'आर्यसमाज' के नियमों में रखे हैं। वेदों में मानव जीवनोन्नति के लिए समस्त विद्याएँ वर्णित हैं-यथा शिक्षा, रहन सहन, भोजनादि, शिष्टाचार, वस्त्र-परिधान, आभूषण, आमोद-प्रमोद एवं आर्थिकचिन्तन। ऐसे सभी व्यवसाय जिनसे अर्थप्राप्ति सम्भव है, वेदों में इतस्तत: वर्णित हैं अर्थात् जो व्यवस्थयें वैदिक युगीन मानव जीवन किं वा सम्पूर्ण युगीन मानव जीवन को पुष्ट बनाती हैं, वे कृषि, पशुपालन, उद्योग-धन्धे, काष्ठोद्योग, धातूद्योग, वस्त्रोद्योग, चर्मोद्योग मृत्पात्रोद्योग स्वर्णभूषणोद्योग, वाणिज्य एवं यातायात आदि सभी उद्योग वेदों में वर्णित होने के कारण अर्थव्यवस्था की जड़ें मजबूत बनाते हैं। आदिकवि वाल्मीकि की रामायण आर्षकाव्य के रूप में जनसमुदाय में प्रसिद्ध है। अत: आर्षकाव्य में वेदों में वर्णित अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने वाली समस्त चर्चायें प्राय: सभी काण्डों में वर्णित होती हैं। प्रकृत शोध लेख में उक्त तथ्य को ही दर्शाने का अल्प प्रयास किया गया है।

र्स्वप्रथम वेदों में यह ढूंढने का जब हम प्रयास करते हैं कि अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ करने के कौन-कौन कारक किं वा व्यवसाय वेदों में वर्णित हैं, तो हमें सुलभता से कृषि, पशुपालन के साथ-साथ ही काष्ठ उद्योग, धातु उद्योग, वस्त्र उद्योग, चर्म उद्योग, मृत्पात्र उद्योग चटाई उद्योग एवं वाणिज्य व यातायात के विषय में बहुलता से जानकारी प्राप्त होती है।

कृषि

सर्वप्रथम कृषि को ही लें तो ऋग्वेद में कृषि सम्बन्धित उपकरणों का भूरिश: प्रयोग मिलता है, यथा हल के लिए सीर[१] व लाङ्गल[२] बैलों की गर्दन के साथ जुए को बाँधने वाली रस्सी वरत्रा शब्द से अभिहित की गई है। कुएँ से जल निकालने वाली रस्सी के लिए भी वरत्रा शब्द का प्रयोग है।[३] बैलों को हांकने वाले चाबुक के लिए अष्ट्रा[४] शब्द का प्रयोग है। इसी प्रकार हल के नीचे लगने वाली लोहे की पत्ती के लिए फाल[५] हल जोतने वाले के लिए कीनाश,[६] हल की मूठ के लिए त्सरू,[७] कृषि भूमि के लिए क्षेत्र,[८] भूमि के दो प्रकारों के लिए उर्वरा व

---

१. ऋ० ४/५७/८, १०/१०१/३,४,

२. ऋ० ४/५७/४,

३. ऋ० ४/५७/४,

४. ऋ० १०/१०६/५, ऋ० ४/५७/४, १०/१०२/८

५. ऋ० ४/५७/६७,

६. ऋ० ४/५७/८, अ.वे. ४/११/१०/६/३०/१,

७. अ. वे ३/१७/३,

आर्त्तना,[९] जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए डालने वाले खाद के लिए करीष, पकी फसल को काटने वाले उपकरण के लिए दात्र,[१०] वृक्ष के पके फल को तोड़ने वाले यन्त्र के लिए सृणी,[११] फसल को काटकर पुलियों में बाँधने को पर्ष,[१२] खलिहान के लिए खल,[१३] अनाज को भूसे से अलग करने के लिए धान्यकृत[१४] व अनाज भण्डारण के स्थान के लिए स्थिवि[१५] आदि शब्दों के प्रयोगमात्र से वेदों में कृषि एवं फलोद्यानादि व्यवसायों के करने के लिए सदुपदेश वर्णित है।

पशुपालन

कृषि के साथ-साथ ही पशुपालन के लिए लिए भी वेदों में इतस्ततः वर्णन प्राप्त हैं। क्योंकि कृषिकर्म में पशुधन की महती भूमिका है। ऋग्वेद में वायव्य, आरण्य व ग्राम्य तीन प्रकार के पशुओं का उल्लेख है। ऋग्वेद एवं तैत्तिरीय-संहिता में आरण्य पशुओं में सिंह मयूर, गौर, गवय, उष्ट्र व शरभ का उल्लेख है।[१६] वहीं ऋग्वेद में अश्व, गौ, अजा, भेड़ को ही प्रमुख पशु स्वीकारा गया है।[१७] वेदों और उनकी संहिताओं में अनेकत्र पशुओं की श्रेणियाँ यथा उभयदन्त, अन्यतोदन्त, एक शफ, क्षुद्र, हस्तादान व मुखादान आदि में विभाजित किया गया है। प्रधानतः धार्मिक व आर्थिक रूप से वेदों में गौ (गाय) बहुत उपयोगी पशु स्वीकारा गया है। क्योंकि अन्न के अतिरिक्त दूध, दही, घृत आदि गाय से ही प्राप्त होता है। विभिन्न प्रकार से उपयोग में आने के कारण गाय को ही अग्निहोत्री, दक्षिणा आदि शब्दों से पुकारा गया है। वेदों में गाय की महिमा एवं उसके प्रकारों के विषय में पर्याप्त वर्णन है। गाय के साथ ही बैल का भी अनेकत्र वर्णन है। इसी प्रकार दुधारू पशु के लिए अजा का उल्लेख भी वेदों में मिलता है। गाय के बाद घोड़े के पर्याय के रूप में वेदों में अश्व, अत्य, अर्वन्, वाजी, सप्ति आदि अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है। एवमेव रंगों के आधार पर हरित, हरी, अरुण, अरुष, पिशङ्ग, रोहित, श्यावा, श्वेत आदि घोड़ों का उल्लेख भी मिलता है। घोड़े बाँधने का स्थान अश्वशाला[१८] तथा अश्वपस्त्य[१९] नाम से वेदों में उल्लिखित है। बैल, घोड़े के अतिरिक्त तैत्तिरीय-संहिता में ऊँट, गर्दभ, अश्वतर, अश्वतरी आदि को भारवाही

---

८. ऋ० १०/३३/६,
९. ऋ. वे १/१२७/६,
१०. ऋ. वे. ८/७८/१,
११. ऋ. १/५८/४, १०/१०३/३, १०६/६,
१२. ऋ. १/५८/७
१३. ऋ. वे. १०/४८/७
१४. ऋ. वे. १०/९८/१३
१५. ऋ. वे. १०/६३/३
१६. ऋ. वे. १०/९०/८, तैत्तिरीय संहिता ४/२/१०,
१७. ऋ. वे. १०/९०/१०,
१८. अ. वे. ६/७७/१, १९/५५/१
१९. ऋ. वे. ९/८६/४१

पशुओं के रूप में माना गया है।[२०] इसी प्रकार से कुत्ता, भेड़, हाथी आदि पशुओं को भी वेदों में पालने का उपदेश दिया गया है। वेदों में आज के महिषव को जंगली पशु स्वीकारा गया है।

पशुपालन के अतिरिक्त वेदों में अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने के विभिन्न उद्योग-धन्धे भी वर्णित हैं, यथा ऋग्वेद, अथर्ववेद, काठ सं, मै. सं, वा. सं., आदि में काष्ठ उद्योग,[२१] ऋग्वेद, अथर्ववेद. काठ. सं, मै.सं वाजसनेयि-संहिता के अतिरिक्त अन्य अनेक स्थलों पर धातु उद्योग[२२] वा. सं. आदि में हिरण्यकार,[२३] अथर्ववेद. आदि में वस्त्रोद्योग[२४] का उल्लेख किया गया है।

एवमेव ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य वेदों में भी अनेकत्र चर्मउद्योग,[२५] वाजसनेयि-संहिता., काठ. सं., ऋग्वेद में मृत्पात्र उद्योग,[२६] तैत्तिरीय-संहिता, अथर्ववेद. वाजसनेयि-संहिता व ऋग्वेद में चटाई उद्योग[२७] के अतिरक्त उद्योगों के आधार पर ही उद्योग करने वालों के नाम यथा रथकार, पेशत्करी आदि वेदों में यत्र-तत्र वर्णित है। वाजसनेयि-संहिता के ३० वें अध्याय में १५९ प्रकार के उद्योगों का संकेत मिलता है।

वाणिज्य तथा व्यापार विषयक शब्दों का प्रचुरता से प्राप्त होना ही यह दर्शाता है कि वेदों में एतद्विषयक तत्त्व पदे-पदे सुलभ हैं। अब देखना यह है कि रामायणकार ने अपने अमर महाकाव्य में वैदिक अर्थव्यवस्था का किस सीमा तक अनुसरण किया है। रामायण क्योंकि आर्ष काव्य है, अत: उसकी मर्यादाएँ नि:सन्देह वैदिक विचार धाराओं से ही ओत-प्रोत हैं। प्राचीनकाल से अद्यावधि पर्यन्त प्रचलित अर्थव्यवस्था का मूलाधार कृषि रामायणकाल में भी जीविकोपार्जन का मुख्य साधन था। सब जानते हैं कि राजा जनक द्वारा हल चलाने पर ही रामायण की नायिका सीता की उत्पत्ति हुई थी। रामायणकाल से पूर्व कृतयुग में कृषि को हेय दृष्टि से देखा जाता था तथा उसे अनृत नाम से पुकारा जाता था।[२८] जो रामायणकाल में (त्रेता युग) कृषि ही लोगों की आजीविका का मुख्य साधन बन गया अयोध्याकाण्ड में भी राजा दशरथ की मृत्यु के पश्चात् मार्कण्डेय आदि मुनि मन्त्रियों सहित गुरु वसिष्ठ से राजतन्त्र को संभालने का अनुराध करते हुए वहाँ के वैश्यों की आजीविका का मुख्य साधन कृषि एवं गोपालन ही बताते हैं।[२९] अयोध्याकाण्ड में ही अन्यत्र वाल्मीकि ने अयोध्या के नागरिकों की समृद्धि उपवनों, खेतों, भवनों और

---

२०. तै. सं. ५/१/४, ५

२१. ऋग्वेद ४/२/१४, ९/२६/४, ७१/५, १/१०५/१८, १/६२/१३, अ. वे ३/५/१, काठ सं. १७/१३ मै. सं २१९/५, वा. सं. १६/२७, ३०/६

२२. ऋ. वे. ९/९२/२, १०/७२/२, अ. वे. ३/५/६ का. सं १७/१३, मै.सं २/९/५ वा सं १६/२७, ३०/६

२३. वा. सं. ३०/२७

२४. अ. वे. १/२९/१, २/४/१,२, ८/५/ १० /६/२४

२५. ऋ. वे. ९/६६/२८/,२९, ८/५/३८, १०/९४/९, व १/८५/५

२६. वा.सं. १६/२७ मै.सं. १/८/३, काठ. सं. ३१/२, ऋ. ७/१०४/२१, व १०/८९/७

२७. तै. सं. ५/३/१२/२ त, अ. वे. ६/१३८/५ वा. सं. ३०/८ व ऋ. ५/५८/५

२८. आमिषं यच्च पूर्वेषा रजसं च मलं भ्रशम्। अनृतं तदभूतं पादेन पृथिवी जले॥ वा. रा. ७/७४/७

२९. नाराजके जनपदे धनवन्त: सुरक्षिता:। शेरते विवृतद्वारा: कृषिगोरक्षजीविन:॥ वा.रा. २/६७/१८

धन-धान्य के रूप में ही बताई है।[३०] राम भी वनगमन वेला में रथ के द्वारा धन-धान्य से सम्पन्न, सुखदायक बहुत से उद्यान तथा आमों के वनों से सुशोभित गायों की समृद्धि से युक्त कौशल देश को लांघने के पश्चात् मध्यमार्ग से ऐसे राज्य से होकर निकले जो कौशल जनपद की ही भाँति सुख-सुविधाओं से युक्त, धन-धान्य से सम्पन्न तथा रमणीय उद्यानों से व्याप्त था।[३१]

इन सभी उदाहरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि तत्कालीन समाज में कृषि एक अनुकरणीय व्यवसाय के रूप में प्रचलित थी। इसी प्रकार से भरत जब वन में राम को वापस लाने की प्रार्थना करने राम के पास जाते हैं तो राम उससे पूछते हैं कि हे भरत! तुम कृषि हेतु राजकीय सुविधाओं को देकर राज्य के वैश्यों को प्रसन्नचित्त रखते हो या नहीं?[३२] राम के वनवास की अवधि में भरत के शासन काल में कृषि व्यवसाय अपने पूर्ण यौवन में था। शरद् ऋतु के अन्त में पृथ्वी सस्यशालिनी दिखती थी। शिशिर ऋतु में कहीं कोहरे से आच्छन्न गेहूं व ज्वार के खेत दृष्टिगत होते थे। तो कहीं सुनहरे रंग के धान।[३३] इसी प्रकार से रामायण में वेदों का अनुसरण एवं अनुगमन करते हुए अर्थव्यवस्था के प्रधान कारक कृषि का सभी काण्डों में इतस्ततः अल्लेख है।

पशुपालन

रामायण-कालीन समाज में पशुपालन आजीविका का मुख्य स्रोत थे, प्रथम दृष्ट्या यह लगता है कि तत्कालीन समाज में गाय, बैल, घोड़े, हाथी, पशुओं का ही क्रय-विक्रय अधिक था। पशुओं को शासन का भी संरक्षण प्राप्त था। उदाहरणार्थ भरत जब राम से मिलने वन में आते हैं तो राम ने राज्य द्वारा संरक्षित पशुओं का भी कुशल समाचार पूछा था।[३४] अयोध्या नगरी में हाथी, घोड़े, गाय, ऊँट, आदि पशु झुण्डों में देखे जा सकते थे। राज्य में गाय को सब पशुओं की अपेक्षा अधिक सम्मान प्राप्त था, अतः गोधन का बाहुल्य था। वाल्मीकि-रामायण में राम चित्रकूट में आये भरत से अन्य बातों के अतिरिक्त गायों के समाचार जानने की भी जिज्ञासा करते हैं।[३५] उस समय गौशालाओं के लिए प्रत्यागार[३६] वाल्मीकि रामायण गौ समूह को गोकुल,[३७] ग्वाले के लिए गोपाल,[३८]

---

३०. उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च। एकदुःखसुखारामममनुगच्छाम धार्मिकम्॥ २/३३/१७

३१. ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनान् शिवान्। अकुतश्चिद्भयान् रम्याँश्चैत्ययूपसमावृतान्॥ उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान्॥ रक्षणीयान् नरेन्द्राणां ब्रह्मघोपाभिनादितान् रथेन पुरुषव्याघ्र कोसलानत्यवर्तत॥ वा.रा. २/५०/८,९,१०

३२. कच्चित् ते दयिता सर्वे कृषिगोरक्षजीविनः वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते॥ वा.रा. २/१००/४७

३३. वाष्पछन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च। शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्भिः क्रोञ्चसारसैः॥ खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः शोभन्ते किञ्चिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥ वा.रा.३/१६/१६-१७

३४. कच्चिन्नागवनं गुप्तं कच्चित्त् सन्ति धेनुकाः कच्चिन्न गणिकाश्वानां कुञ्जराणां च तृप्यसि॥ वा.रा. २/१००/५०

३५. वाल्मीकि-रामायग १०/१००/५०

३६. वा रा. २/४०/८३

३७. वा.रा. २/४६/१७

चारागाह के लिए शाद्वल,[३९] आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता था। संक्षेपतः रामायणकार अपने अमर ग्रन्थ में गाय, बैलों, घोड़ों, ऊँटों, खच्चरों, गधों, कुत्तों तथा हाथियों आदि का संकेत करते हैं।

फलोद्यान

वर्तमान समय की भाँति रामायणकाल में भी लोग फलों के उद्यानों को भी अपनी जीविकोपार्जन का साधन बनाते थे। उदाहरणतः लंकापुरी में रावण की अशोक वाटिका सुग्रीव के मधुवन[४०] अयोध्यापुरी के परितः आमों के बगीचों का होना,[४१] राम के शासन काल मे वृक्षों की जड़ों का मजबूत होना, इनका फलों से लदे रहना,[४२] सुवर्णमय महामेरु पर्वत पर फलदायक वृक्षों का होना आदि मुख्य हैं। अतः यह निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि रामायणकाल में लोग फलोद्यानों के बर्धन एवं पोषण में प्रावीण्य रखते थे।

खनिज उद्योग

रामायण के विभिन्न सन्दर्भों को देखने पर ज्ञात होता है कि रामायणकालीन समाज खनिजकर्म से पूर्ण रूपेण परिचित था। रामायण में आदिकवि ने अनेक खनिज पदार्थों का उल्लेख किया है, यथा राम द्वारा कोशल राज्य को अनेक खानों से सुशोभित बताया जाना, हनुमान् द्वारा समुद्र लांघने के लिए जिस पर्वत से छलांग लगाई थी उसकी तलहटी में विभिन्न प्रकार की धातुओं का उपस्थित होना बताया गया है।[४३] वनवास काल में राम द्वारा सीता को चित्रकूट पर्वत की शोभा बतलाते समय विभिन्न धातुओं की उपस्थिति से उसकी शोभा के बढ़ने का वर्णन करना भी विभिन्न धातुओं की उपस्थिति का हमें सहज ही ज्ञान करता है।[४४] इसी प्रकार प्रसङ्गवशात् फौलाद लोहा, कांसा, सोना, चाँदी, सीसा, तांबा, रांगा आदि धातुओं का उल्लेख मिलता है।

शिल्प

रामायणकाल में शिल्पकला भी अपने चरम पर थी। अयोध्या वर्णन में सभी शिल्पियों का निवास करना एवं उनका अपनी-अपनी शिल्पों द्वारा धन संग्रह कर अपनी जीविका का चलाना वर्णित है। इन शिल्पों को शासन का संरक्षण प्राप्त था। राजा दशरथ का अश्वमेध यज्ञ में इन का धन भोजन वस्त्रादि द्वारा सत्कार किया गया था।[४५] यूं तो रामायणकाल में अनेक प्रकार के शिल्पकारों का वर्णन मिलता है, परन्तु उनमें मुख्य सुवर्णकार मूर्तिकार,

---

३८. वा. रा. २/६७/२९

३९. वा.रा. ३/१६/२०

४०. यत् तन्मधुवनं सुग्रीवस्यारक्षितम्। अधृष्यं सर्वभूतानां सर्वभूतमनोहरम्॥ वा.रा. १/५/६८/८

४१. नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः॥ वा.रा. ६/१२८/१०३

४२. मुख्यो वानरमुख्यानां केसरी नाम यूथपः। सर्वकामफलावृक्षाः सदा फलसमन्विताः॥ वा. रा. १/५/१२

४३. नीललोहितमाञ्जिष्ठपद्मवर्णैः सितासितैः स्वाभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभिः समलंकृतम्॥ वा.रा. २/१००/४५

४४. केचिद् रजतसंकाशाः केचिद् क्षातजसं निभाः। पीतमाञ्जिष्ठवर्णाश्च केचिन्मणिवरप्रभाः। पुष्पार्ककेतकाभाश्च केचिज्ज्योतिरसप्रभाः॥ विराजन्तेऽचलेन्द्रस्य देशा धातुविभूषिताः॥ वा.रा. २/९५/५,६

४५. यज्ञकर्मसु ये व्याग्रः पुरुषा वा शिल्पिनस्तथा। तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम्॥ वा. रा. १/१३/१५

दन्तकार, कुम्भकार, स्थापित (भवन निर्माता), चित्रकार, मूर्तिकार, बुनकर, चर्मकार, तुन्नवाय (दर्जी), याजक, ज्योतिषी, यन्त्रक, शस्त्रोपजीवी, रजक, सूद, नाविक, भृत्य, व्याध, श्रमजीवी आदि ही मुख्य थे। इनका संक्षेपतः निम्नवत् उल्लेखनीय योगदान प्रस्तुत है।

सुवर्णकार

सुवर्णकार सोने के आभूषण बनाता था। वाल्मीकि ने केयूर, कुण्डल, हार, अङ्गद, स्वास्तिक आदि अनेकों आभूषणों के नाम गिनाये हैं। अरण्य काण्ड में दैत्यराज खर का रथ सोने से बनाये साज बाजों से सजाया गया, वर्णित है। उस काल में धनुषों में भी स्वर्ण और हीरों तथा तलवार की मूठ में सोना जड़ा जाता था। श्रीराम के निवास स्थान का फर्श भी चाँदी से बना था।[४६] उनका भवन सोने के बने फूलों के बीच में पिरोयी गयी मणियों से बना था।[४७] इस प्रकार स्पष्ट है कि तात्कालिक समाज में समृद्ध एवं नाना कलाओं द्वारा स्वर्णभूषण एवं अन्य वस्तुयें बनाने वाले स्वर्णकार विद्यमान थे।

मणिकार

स्वर्णकार की ही भाँति मणिकार भी उस समय में अपने कौशलपूर्ण कार्य द्वारा आजीविका कमाते थे॥ मणिकार केवल मणियों को जोड़ता था। माला में मणियाँ पिरोने वाला वेधक कहलाता था।[४८] उत्तरकाण्ड में लङ्का में नीलम जड़ी सोने की खिड़कियों से सुशोभित भवनों का हनुमान् द्वारा देखा जाना वर्णित है। रावण के महल के फर्श में विचित्र मूंगे एवं बहुमूल्य मणियाँ तथा अनुपम गोल मोतियों का जड़ा जाना वर्णित है।[४९] इस प्रकार रामायणकालीन युग में मणि एवं मणिकार का व्यवसाय भी अपने चरम पर था।

दन्तकार

रामायण युग में हाथी-दाँत के आभूषण व उनके द्वारा नक्काशी करने वाले व्यक्ति के लिए दन्तकार का प्रयोग है। सुन्दरकाण्ड में रावण के सोने व मणिनिर्मित उसके महल के फर्श के बीच में हाथी दाँत की आकृतियाँ बनाये जाने का वर्णन है।[५०] रावण की आज्ञा से बना कुम्भकर्ण के शयन-प्रासाद का मुख्य द्वार हाथी दाँत से बना था।[५१] इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि रामायणकाल में गजदन्त कला भी अपने चरम पर थी।

---

४६. प्रासादाग्रविमानेषु बलभीषु च सर्वदा। हेमराजतभौमेषु वरास्तरणशालिषु॥ वा.रा. २/८८/५

४७. मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम्। मुक्तामणिमिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम्। काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम्॥ वा.रा. २/१५/३३-३४

४८. मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः। सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः मायूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा॥ वा.रा. २/८३/१२-१३

४९. विद्रुमेण विचित्रेण मणिभिश्च महाधनैः। निस्तुलाभिश्च मुक्ताभिस्तलेनाभिविराजतम्॥ वा.रा. ५/९/१७

५०. मणिसोपानविकृतां हेमजालविराजिताम्। स्फाटिकैरावृततलां दन्तान्तरितरूपिकाम्॥ वा.रा. ५/९/२२

५१. वैदूर्यकृतसोपानं किङ्कणीजालकं तथा दान्ततोरणविन्यस्तं वज्रस्फटिकवेदिकाम्॥ वा.रा. ७/१३/५

कुम्भकार

अपने अमर ग्रन्थ में वाल्मीकि ने मिट्टी के बर्तन बनाने का अधिक उल्लेख तो नहीं किया, किन्तु वाल्मीकि-रामायण में कुम्भकार की सेवाओं का उपयोग अवश्यमेव लिया जाता होगा।[५२]

स्थपति

रामायणकाल में भवन निर्माता को स्थपिति के नाम के नाम से अभिहित किया जाता था। स्थपति अपने हस्तकौशल द्वारा बहुमंजिले आवासीय भवनों के अतिरिक्त आपानशाला, पृष्पगृह, चित्रशाला, क्रीड़ागृह, गृहोद्यान तथा रात्रिकालिक विश्रामगृह आदि का सफलता पूर्वक निर्माण करता था।[५३] इन कतिपय उदाहरणों से तत्कालीन समाज में भवननिर्माण करने वाले स्थपतियों का सहज ही बोध हो जाता है।

चित्रकार

रामायणकाल में चित्र-निर्माण करने वाले व्यक्ति के लिए शिल्पी या शिल्पकार शब्द का प्रयोग हुआ है। किष्किन्धा-काण्ड में राक्षसराज वाली की पालकी में शिल्पियों द्वारा अनेक प्रकार के कृत्रिम पक्षियों तथा वृक्षों का बनाया जाना वर्णित है।[५४] राक्षसराज खर के चित्र में भी मत्स्य, फूल, वृक्ष, चन्द्रमा, सूर्य आदि के चित्रों के चित्रण होना भी वर्णित है।[५५] इसी प्रकार अनेक स्थलों पर भी विभिन्न चित्रों के चित्रण से सिद्ध होता है कि उस काल में चित्रकला भी अपने चरम पर थी।

मूर्तिकार

रामायणकार द्वारा अपने अमर ग्रन्थ में कतिपय मूर्तियों का वर्णन यथा-राम के भवन का मुख्य अग्रभाग विभिन्न देवप्रतिमाओं से युक्त था। जो सोने की बनी थी तथा वहीं पर सोने से बनी भेड़ियों की मूर्तियाँ भी थीं। रावण ने भी अपने महल के मोती हीरे, मूंगे सोने एवं चाँदी की मूर्तियाँ बनवाई थी।[५६]

वुनकर

रामायणकालीन समाज में बुनने वाले व्यक्ति के लिए सूत्रकर्मविशारद व सूत्रकर्मविशेषज्ञ शब्द का प्रयोग किया जाता था। कम्बल व कालीन आदि के निर्माता को कम्बलकारक के नाम से अभिहित किया जाता था।[५७]

---

५२. वाल्मीकि-रामायण २/८३/१२

५३. अपानशाला विचितास्तथा पुष्पगृहाणि च। चित्रशालाश्च विचिता भूयः क्रीडागृहाणि च। निष्कूटान्तररथ्याश्च विमानानि च सर्वशः॥ वा.रा. ५/१२/१३,१४

५४. दिव्यां भद्रासनयुतां शिविकां स्यन्दनोपमाम्। पक्षिकर्माभिराचित्रां द्रुमकर्माविभूषिताम्॥ वा.रा. २/२५/२२

५५. मत्स्यैः पुष्पद्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः। माङ्गल्यैः पक्षिसङ्घैश्च ताराभिश्च समावृतम्॥ वा.रा. ३/१२/१४

५६. विभूपितां मणिस्तम्भैः सुबहुस्तम्भभूपिताम्। समैर्ऋजुभिरत्युच्चैः समन्तात् सुविभूषितैः॥ इहामृगसमायुक्तैः कर्त्तारवरहिण्मयैः सुकृतिराचिरम्तम्भैं प्रदीप्तमिव च श्रिया॥ वा .रा. ५/९/२३-२४

५७. अथभूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्मवि[illegible] वा.रा. २/८०/१ सूपकाराः सुधाकाराः

चर्मकार

रामायण के रचयिता वाल्मीकि ने चमड़े का कार्य करने वाले व्यक्ति के लिए चर्मकृत शब्द का प्रयोग किया है। चर्मकार चमड़े के दस्ताने, थैले आदि बनाते थे। विश्वामित्र के साथ जाते समय राम लक्ष्मण ने गोहटी के चमड़े के बने दस्ताने पहन रखे थे।[५८]

तुन्नवाय

रामायणकार ने वस्त्रों की सिलाई करने वाले के लिए तुन्नवाय शब्द का प्रयोग किया है।[५९] जिसे आजकल दर्जी कहा जाता है।

याजक

रामायणकार ने यज्ञ कराने वाले व्यक्ति के लिए याजक शब्द का प्रयोग किया है। याजक वेदों का प्रकाण्ड पंडित न्याय एवं विधि के अनुकूल सम्पूर्ण यज्ञ कर्मों का निष्पादन एवं सम्पादन कर्ता तथा शास्त्रानुसारणी यज्ञीय विधि का ज्ञाता होता था। यज्ञ समाप्ति के उपरान्त यजमान याजक को प्रचुर दक्षिणा देता था।[६०]

ज्योतिषी

रामायणकालीन समाज में कुछ ब्राह्मण ज्योतिष विद्या के द्वारा अपनी आजीविका चलाता था। वाल्मीकि ने स्थान-स्थान पर ज्योतिषी के लिए कार्तान्तिक,[६१] गणक,[६२] लाक्षणिक[६३] आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

यन्त्रक

तात्कालिक समाज में मनुष्य अभियन्त्रण के द्वारा भी अपनी आजीविका चलाते थे। इन्हें ऊँचो, नाची, सजल, निर्जल भूमि का ज्ञान होता था। साथ ही नदी पर पुल निर्माण में भी ये दक्ष होते थे। वाल्मीकि इनके लिए यन्त्र या यन्त्रकोविद शब्द का प्रयोग करते हैं।

स्वमर्काभिरता शूरा: खनका यन्त्रकास्तथा
कर्मान्तिका स्थपतय: पुरुषा यन्त्रकोविदा:॥[६४]

वंशचर्मकृतस्तथा॥ वा.रा. २/८०/३

५८. तदा कुशिकपुत्रं तु धनुष्पाणी स्वलंकृतौ। बद्धगोधाङ्गुलित्राणौ खड्गवन्तौ महाद्युती॥ वा.रा. १/२२/९

५९. रजकास्तुन्नवायाश्च ग्रामघोषमहत्तरा:। शैलूषाश्च सह स्त्रीभिर्यान्ति कैवर्तकास्तथा॥ वा.रा. २/८३/१५

६०. प्राचीं होत्रे ददौ राजा दिश स्वकुलवर्धन:। अध्वर्यवे प्रतीचीं तु ब्रह्मणे दाक्षिणां दिशम्॥ वा.रा. १/१४/४३

६१. वा. रा. ६/४८/०५

६२. वा. रा. ०१/१३/०६

६३. वा.रा. २/४/१८

६४. वा. रा २/८०/०१/२

शस्त्रोपजीवी

युद्ध में काम आंने वाले हथियार यथा-धनुष, परिध, शूल पटिटश तलवार आदि का निर्माण कर अपनी आजीविका चलाने वाले व्यक्ति शस्त्रोपजीवि कहलाते थे।[६५]

रजक

रामायणकालीन समाज में कुछ व्यक्ति दूसरों के कपड़े धोकर अपनी आजीविका चलाते थे। जिन्हें अब धोबी कहा जाता था, उसे उस समय रजक कहा जाता था।[६६]

सूद

रामायणकाल में राजघरानों में खाना बनाने वाले रसोइये को सूद कहा जाता था।[६७]

नाविक

तात्कालिक समाज में नाव को चलाने वाले व्यक्ति के लिए नाविक या मल्लाह शब्द का प्रयोग किया जाता था। कर्णधार तथा कर्णग्राह भी इन्हीं के लिए प्रयुक्त होता था। निषादराज गुह अपने मन्त्री को राम के गङ्गावतरण के लिए ऐसी नाव लाने का आदेश देते हैं जो मजबूत होने के साथ-साथ सुगमतापूर्वक खेने योग्य भी हो। जिसमें डाँड लगा हो तथा जिसमें कर्णधार बैठा हुआ हो।[६८]

भृत्य

इस वर्ग के अन्तर्गत रामायणकालीन समाज में घरेलू नौकर नौकरानी आदि लिए जाते थे। घरेलू कार्य करने वाले नौकर को परिचारक[६९] व दास[७०] तथा स्त्री को दासी[७१] कहा जाता था। इसी प्रकार से घरों में रानियों, राजकुमार आदि की सेवा करने वाले नोकरों को सेवा करने वाले काम के अनुरूप ही नाम लेकर पुकारा जाता था।

व्याध

जंगली पशुओं को मारकर उनके मांस के विक्रय से अपनी आजीविका चलाने वाला व्यक्ति लुब्ध नाम नाम से जाना जाता था। इसी को व्याध[७२] व निषाद[७३] आदि नामों से भी जाना जाता था।

---

६५. वा.रा. २/८३/१२-१३

६६. वा.रा.२/८३/५१

६७. वा.रा. २/१२/६६-९६

६८. वा.रा. २/५२/६

६९. वा. रा.१/४५/६

७०. वा. रा. १/७८/५

७१. वा. रा. २/३२/१६

७२. वा. रा. २/२/७७ वा. रा. २/३६/५

७३. वा. रा. १/२/१०

श्रमजीवी

रामायणकाल में समाज का कुछ वर्ग राजा महाराजाओं के यहाँ मजदूरी भी किया करता था। उस काम के बदले उनको भोजन या धन मिलता था। जनमानस का विश्वास था कि यदि परिश्रम पूर्वक कार्य करने पर भी श्रमजीवी को उसका मूल्य न दिया जाए तो भुगतान न करने वाला व्यक्ति पाप का भागी बनता है।[७४] मजदूरी के लिए केवल द्रव्य लेने वाले व्यक्ति को कर्मान्तिक कहा जाता था।[७५] मजदूर वर्ग में अधिकांश: खनक मार्गशोधक, वर्धक तथा वृक्षतक्षक ही मुख्य थे। इस प्रकार से रामायणकाल में उक्त कार्य करने वाले ही मुख्य रूप से वर्णित हैं।

व्यापार

रामायणकालीन समाज में भी आज की भाँति व्यापार का राष्ट्रिय आय-व्यय के स्रोतों में एक प्रमुख स्थान था। व्यापारी शासन के मुख्य करदाता होने के कारण राष्ट्र की आर्थिक स्थिति के मेरुदण्ड थे। तत्कालीन समाज में व्याप्त वाणिज्य व व्यापार का वाल्मीकि ने अपने अमर ग्रन्थ में इतस्तत: उल्लेख किया है। उस युग में प्रमुख नगर व्यापार के मुख्य केन्द्र थे। अयोध्या नगरी के वर्णन में कवि उसे बड़े-बड़े पाठकों से घिरी व अपने गर्भ में वैश्यों द्वारा चलाये जा रहे विभिन्न बाजारों को समेटे हुए बताते हैं। राम वनगमन के समय दशरथ का प्रस्ताव था कि राम के साथ चतुरंगिणी सेना के साथ राज्य के वैश्य भी जायें।[७६] जब उन व्यापारियों को कैकेयी ने नहीं जाने दिया तो वैश्यों ने अपनी दुकानें कई दिनों तक नहीं खोलीं, यदि किसी ने खोली भी तो वहाँ पर ग्राहक कुछ क्रय करने नहीं आये।[७७] इन कतिपय प्रसङ्गों से स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में पर्याप्त मात्रा में आन्तरिक व्यापार होता था। व्यापारी अपना सामान बेचने के लिए लम्बी यात्रायें भी करते थे।[७८]

उस समय दुकानें आपण नाम से व्यवहृत होती थीं। बिक्री की वस्तु विक्रेय या पण्य कहलाती थी। पण्य में लाभ होने से उसे पण्यफल कहा जाता था। बिक्री करने की उत्तम चीजें, चन्दन, अगरू नामक धूप, उत्तम सुगन्धित द्रव्य असली या सन के बने कपड़े, रेशमी वस्त्र, अनबिंधे मोती श्रेष्ठतम स्फटिक रत्न आदि मानी जाती थीं। साथ ही लाख, मधु, मांस, लोहा, विष आदि के विक्रेता व्यापारी को हेय दृष्टि से देखा जाता था।[७९] अयोध्या नगरी के वर्णन में विविध देशों के व्यापारियों का आना वार्णित है। रामायणकार ने काम्बोज, वाह्लीक, नदीज, वनायु आदि घोड़ों की नस्लों के वर्णन से दर्शा दिया है कि उन दिनों घोड़ों व अन्य वस्तुओं का आयात व निर्यात भी होता

---

७४. वा. रा. १/१३/१७
७५. वा. रा. २/८०/१
७६. रूपजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधना:। शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनी सुप्रसारिता:॥ वा.रा. २/३६/३
७७. उपशान्तवणिक्पण्या नष्टहर्षा निराश्रया। न चाहृष्यन् न चामोदन् वणिजो नाप्रसारयन् न चाशोभन्त पण्यानि नापचन् गृहमेधिन:॥ वा. रा. २/४८/३५
७८. नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिन।: गच्छन्ति क्षपमध्वानं बहुपण्यसमाचिता:॥ वा.रा. २/६७/२२
७९. लाक्षया मधुमांसेन लोहेन च विषेण च सदैव बिभयाद् भत्यान् यस्यार्थोऽनमते गत:॥ वा. रा. २/७५/३८

था।[८०]

रामायणकालीन समाज में आजीविका के स्रोतों की विशद विवेचना करने के पश्चात् संक्षेप में हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायणकाल में प्रजा प्राशासनिक कार्यों में संलग्न रहकर अपनी आजीविका का निर्वाह तो करता ही थी। साथ ही व्यक्तिगत कुटीर उद्योग तथा डेरी उद्योग, चमडा उद्योग, वस्त्र उद्योग, आभूषण उद्योग, ओषधियाँ उद्योग, भवन निर्माण उद्योग, युद्ध सामग्री उद्योग आदि के साथ कृषि पशुपालन, फलोद्यान आदि द्वारा अपनी आजीविका का निर्वाह भी करता था। साथ ही साथ अपने राष्ट्र की अर्थव्यवस्था को भी सुदृढ़ करता था। कहना न होगा कि वेद भी हमें इसी प्रकार की अर्थव्यवस्था को इन्ही साधनों एवं इन्हीं शिल्पों द्वारा सुदृढ़ करने का आदेश देता है। अतः वाल्मीकि-रामायण में निस्सन्देह रूप से वैदिक अर्थव्यवस्था का पालन अक्षरशः किया गया है।

८०. कम्बोजविषये जातैर्वाह्लीकैश्च हयोत्तमैः वनायुजनदोजश्च पूर्णा हरिहयोत्तमैः।। वा.रा. १/६/२२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०५५-५७)

वाल्मीकि-रामायण में शिक्षा

डा. श्रीमती आशारानी राय

भारतीय संस्कृति के पोषक, अग्रदूत, काल की अजस्र धारा से प्रभावित न होने वाल विश्व साहित्य में अप्रतिम स्थान रखने वा ले वाल्मीकिरचित आदिकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण' की यशोगाथा त्रेता, द्वापर व कलियुग के प्रथम चरण में भी जन-जन को रीति, नीति, संस्कृति, सभ्यता, शिक्षा एवं जीवन जीने की कला सिखाने में सक्षम व समर्थ है।

विण्टरनिट्ज कहते हैं-'यह समस्त भारतीय लोगों की सम्पत्ति बन गई है और कदाचित् समस्त विश्व साहित्य में किसी अन्य काव्य ने शताब्दियों तक राष्ट्र के काव्य और विचारों को इससे अधिक प्रभावित नहीं किया है।[1] वाल्मीकि-रामायण में स्थान-स्थान पर शिक्षा-सूत्र बिखरे पड़े हैं।

१-सर्वव्यापी शिक्षा-व्यवस्था

रामायणकाल में कोई अशिक्षित नहीं था, सर्वसाधारण भी शिक्षा से सूभूषित था। पूरी प्रजा में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं था, जो नास्तिक हो, असत्यवादी हो, शास्त्रज्ञान से रहित हो, दूसरों के दोष ढूँढ़ने वाला, साधनों में असमर्थ एवं विद्याहीन हो।[2] सभी वेद तथा वैदिक साहित्य का ज्ञान रखने वाले, दानी, व्रती, तथा सुखी थे।[3]

२-उपनयन संस्कार की अनिवार्यता

षोडश संस्कारों में जातक की शिक्षा का आरम्भ उपनयन संस्कार से होता है, इसमें यज्ञोपवीत धारण कराके जातक को व्रतों की दीक्षा दी जाती थी, किष्किन्धाकाण्ड में श्रीराम द्वारा वर्षा ऋतु के वर्णन के रूपक अलङ्कार के माध्यम से बताया है कि मानों मेघरूपी काले मृगचर्म तथा वर्षा की धारा रूप यज्ञोपवीत धारण किये वायु से पूरित हृदय रूपी गुफा वाले पर्वत ब्रह्मचारियों की भाँति देवाध्यनन प्रारम्भ कर रहें है।[4]

३-व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास

रामायणकाल में बालक के व्यक्तित्व के सर्वाङ्गीण विकास पर बल दिया जाता था। डॉ० नानूराम व्यास लिखते हैं कि रामामायण युग की शिक्षा में एक तारतम्य था, इसमें आदर्शों का समान और सन्तुलित विभाजन था। विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास करना, उसके शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समुन्नत करना उनका मूलभूत आदर्श था। उस समय के आदर्श राजा,

---

१. हिस्ट्री आफ इंडियन लिटरेचर-वाल्यूम-१ पृ० ४७६

२. नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः। नासूयको नाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥ वा.रा.-१/६/१४

३. नाषडङ्गविदत्रास्ति नाव्रतो नासहस्रदः। न दीनः क्षिप्तचित्तो वा व्यथितो वापि कश्चन॥ वा.रा. १/६/१५

४. मेघकृष्णजिनधरा धारायज्ञोपवीतिनः। मारुतापूरितगुहाः प्राधीता इव पर्वता॥ बाल. रा.-७४/२८/१०

सुसंस्कृत प्रजा कर्त्तव्यनिष्ठ अधिकारीगण और संघर्षरहित समाज इसी साँस्कृतिक शिक्षा की देन थे।[५]

४-संस्कृत भाषा वाग्व्यवहार की भाषा

उस काल में द्विज व साधारण अर्थात् विद्वानों व साधारण लोगों के बोलने मे कुछ अन्तर था, लेकिन मानव, राक्षस व वन में रहने वाले नर अर्थात् वानर सभी संस्कृत का प्रयोग करते थे।[६]

५-वानर वेदज्ञ तथा व्याकरणज्ञ

हनुमान् का परिचय प्राप्त करके श्रीराम लक्ष्मण से उसकी विशेषेताओं व गुणों से प्रसन्न होकर कहते हैं कि हनुमान् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, व्याकरण का ज्ञाता व पण्डित, वाणी के रहस्य को जानने वाला, सभ्यता व संस्कृति से भिज्ञ है।[७]

६-स्त्रीशिक्षा का चरमोत्कर्ष

जिस समय श्रीराम कौशल्या से वनगमन की आज्ञा प्राप्त करने उनके महल में गए तब वह रेशमी वस्त्र पहिन कर मन्त्रोच्चारण के साथ अग्निहोत्र कर रही थी।[८] कौशल्या द्वारा रामवनगमन हेतु विदाई देते हुए आचमन करके स्वस्ति-गान किया गया।[९] पुरोहितों से यज्ञ करवा कर वेदयज्ञ के साथ बलिवैश्यदेव यज्ञ सम्पन्न कराया।[१०] हनुमान् द्वारा सीता को लङ्का मे खोजने जाते हुए अशोक वन में विचरण करते हुए वह चिन्तन करते हैं कि सीता वेदों की पण्डिता व साध्वी आध्यात्मिकवृत्ति वाली है, यदि वह जीवित है तो सन्ध्या काल होने पर सरिता के तट पर अवश्य पधारेगी।[११] क्योंकि शास्त्र में निश्चित है कि सन्ध्या व ईश्वरोपासना पर्वतों की गुफाओं में अथवा नदी के किनारे होनी चाहिए। इसी तरह अयोध्याकाण्ड में कैकेयी राम से बताती है कि देवासुर संग्राम में जब दशरथ

---

५. रामायण कालीन संस्कृति-पृ० -१५८

६. अहं ह्यतितनुश्चैव वानरश्च विशेषतः। वाचं चोदाहरिष्यामि मानुषीमिह संस्कृताम्। वा.रा. ५/३०/१७ यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति॥ वा.रा. ५/३०/१८

७. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्। नूनं व्याकरणं कृत्स्नमनेन बहुधा श्रुतम्। बहु व्याहरतानेन न किंचिदपशब्दितम्। न मुखे नेत्रयोश्चापि ललाटे च भ्रुवोस्तथा। अन्येष्वपि च सर्वेषु दोषः संविदितः क्वचित्। अविस्तरमसंदिग्धविलम्बितमव्यथम्। उरःस्थं कण्ठगं वाक्यं वर्तते मध्यमस्वरम्। संस्कारक्रमसम्पन्नामद्भुतामविलम्बिताम्। उच्चारयति कल्याणीं वाचं हृदयहर्षिणीम्॥ ४/३/२८-३२

८. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला। प्रविश्य तु सदा रामो मातुन्तःपुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्। वा.रा. २/२०/१५-१६

९. सा विनीय तमायासमुपस्पृश जलं शुचि। चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी। वा. रा. २/२५/१

१०. जलं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना। हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात्। वा. रा. २/२५/२७ उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम्। हुतहव्यावशेषण ब्राह्मं बलिमकल्पयत्। वा. रा. २/२५/२९

११. सन्ध्याकालमनाः श्यामा धुव्रमेष्यति। जानकी। नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी। वा.रा.. १४/४९ यदि जीवति सा देवी ताराधिपनिभानना। आगमिष्यति सावश्यमिमां शीतजलां नदीम्॥

शत्रुओं से घिर गए थे, तब उन्होंने इसकी रक्षा की थी।[१२] इससे स्पष्ट है कि उस काल में स्त्रियाँ भी सैन्यविद्या में निपुण, शिक्षित व वेदानूकूल जीवन जीने वाली आध्यात्मिकता से ओतप्रोत थीं। इससे प्रतीत होता है कि तत्कालीन स्त्रीशिक्षा चरमोत्कर्ष पर थी।

इस प्रकार शिक्षा से युक्त राजा, मन्त्री व प्रजा भी सदाचारी, शिष्ट व सद्गुणों से सम्पन्न वेदानुकूल जीवन जीने वाली थी।

१२. पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा मे मन राघव। रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे॥ वा. रा. २/१८-३२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०५८-६२)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक शिक्षा-व्यवस्था

डॉ. विनय कुमार विद्यालङ्कार

संस्कृत-साहित्य के आदिकवि वाल्मीकि की कृति महाकाव्य 'रामायण' ऐसा महाकाव्य है, जो मानवमात्र के कल्याण की कुंकहा जा सकता है। वाल्मीकि मात्र कवि नहीं महर्षि भी हैं। **'ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:'** क्योंकि ऋषि मन्त्रद्रष्टा होते हैं। एतदर्थ रामायण महाकाव्य जहाँ ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। जिसकी कथावस्तु मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के चरित्र पर आधारित है, वहीं ऋषि-कवि प्रणीत होने के कारण वैदिक विचारधारा का संवाहक भी है। प्रस्तुत शोधपत्र का विवेच्य विषय वाल्मीकि-रामायण में वैदिक शिक्षा-व्यवस्था के सूत्रों को प्रकट करना है।

मानव इतिहास में शिक्षा मानव के सर्वांगीण विकास का आधार रही है, मनुष्य जीवन पर्यन्त शिक्षा की प्राप्ति विविध रूपों में करता है और अपने ज्ञान को बढ़ाने के लिए इसका सहारा लेता है। प्राचीन भारतीय परम्परा में शिक्षा का प्रारम्भ गर्भ के प्रारम्भ से ही होता रहा है। जिसका प्रमाण गर्भाधान संस्कार के समय अभीष्ट गर्भ के लिए **'यज्ञिय'** विश्लेषण का प्रयोग,[१] पुंसवन संस्कार के समय गर्भस्थ शिशु के लिए विद्वान् का प्रयोग,[२] जातकर्म संस्कार के समय **'वेदो वै पुत्र नामासि स जीव शरद: शतम्'** कहते हुए नवजात शिशु को ज्ञानमय बनने की प्रेरणा और स्वयं उसे ज्ञानमय बनाने का संकल्प घोषित होता है।

सामान्यत: शिक्षा और विद्या पद पर्याय समझे जाते हैं, किन्तु वेद में शिक्षा की गणना छ: वेदाङ्गों में की गयी है और उसे वेदरूपी पुरुष का घ्राण कहा गया है।[३] वैदिक आदर्श में शिक्षा शब्द वेदाङ्ग वाचक तो है ही, विद्या या ज्ञान की प्राप्ति का साधन भी है। **'शिक्ष'** विद्योपादाने' से व्युत्पन्न शिक्षा शब्द यही स्पष्ट करता है कि शिक्षा साधन है तथा विद्या साध्य-**'शिक्ष्यते उपादीयते विद्यामिमा सा शिक्षा'**। अत: शिक्षा का व्याकारण समस्त अर्थ है-विद्या को ग्रहण करना और विद्या का प्राचीनतम स्रोत वेद ही है। वेद के अनुसार विद्या का साधन मुक्ति है। **'सा विद्या या विमुक्तये'** विद्या से मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है।[४] वैदिक ऋषियों की दृष्टि में शिक्षा व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास हेतु है। मानव की अन्तर्निहित प्रतिभा को प्रबुद्ध कर उसके दोषों और विकारों का परिमार्जन करके उसे पूर्णता प्राप्त कराना ही शिक्षा का लक्ष्य है। वैदिक शिक्षा केवल भौतिक उपलब्धियों तक सीमित न रहकर 'आत्मचिन्तन' का ध्येय निर्धारित करती है। अत: शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा-मानव-व्यक्तित्व के इन चारों पक्षों का समग्र विकास वैदिक शिक्षा प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य रहा है। तदनुसार शिक्षा अखण्ड सत्य

---

१. यस्यै ते यज्ञियो गर्भो ....। यजुर्वेद. २८

२. आश्वलायनगृह्य सूत्र।. १३,७

३. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य। पाणिनीय शिक्षा -- ४२

४. विद्ययाऽमृतमश्नुते। ईशोपनिषद् - १४

का बोध कराने वाली अध्यात्म परक होनी चाहिए,[५] वस्तुपरक नहीं। सच्ची शिक्षा आत्मोत्कर्ष का साधन है, न कि केवल वस्तुओं के ज्ञान का संग्रह, उसका सम्बन्ध आन्तरिक व्यक्तित्व का परिष्कार करने से है, बाह्य तत्त्वों का संकलन करने भर से नहीं। इनके लिए केवल ज्ञान प्राप्ति नहीं, अपितु पूर्ण मानव व्यक्तित्व का विकास करना अनिवार्य है।

वैदिक शिक्षा की जो मूल अवधारणा है—वह वाल्मीकि रामायण में पदे-पदे दृष्टिगत होती है। रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय सभी सामाजिक शिक्षित तथा विविध विद्याओं में पारङ्गत थे। महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण के प्रथम श्लोक में ही **'स्वाध्यायनिरतम्'** विशेषण का प्रयोग किया है।[६] महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने कहा है चार प्रकार से विद्या उपयुक्त होती है-आगमकाल, स्वाध्यायकाल, प्रवचनकाल और व्यवहार काल से। दीक्षान्त के अवसर पर आचार्य अपने अन्तेवासी (शिष्य) को उपदेश देते हुए कहता है- **'स्वाध्यायान्माप्रमदः'** रामायणकार ने भी प्रथम श्लोक में स्वाध्याय पद का प्रयोग करते हुए विद्या की प्राप्ति के लिए स्वाध्याय का महत्त्व प्रतिपादित किया है। वैदिक शिक्षा का जो उद्देश्य मानव की सर्वविध उन्नति था, वही रामायण में भी दृष्टिगत होता है।

रामायण में शिक्षा का अभिप्राय

रामायण में शिक्षा का उद्देश्य शारीरिक, मानसिक, चारित्रिक व आत्मिक विकास व सर्वविध उन्नति ही है, प्रथम सर्ग में ही जब वाल्मीकि नारद मुनि से यही प्रश्न करते हैं कि कौन चरित्रवान् है? प्राणियों का हित करने वाला, विद्वान्, सामर्थ्यवान् और प्रियदर्शन कौन है? धैर्ययुक्त काम क्रोधादि शत्रुओं का विजेता, कान्तियुक्त, ईर्ष्या तथा निन्दा न करने वाला कौन है।[७] इस प्रकरण में व्यक्ति की शैक्षिक स्थिति का या उसके स्तर का पता उसके चरित्र से लगाया जा रहा है। उत्तर में नारद श्रीराम का नाम लेते हुए कहते हैं कि राम नाम से विख्यात श्रीरामचन्द्र **'नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी'** है। यहाँ **'नियतात्मा'** पद ध्यातव्य है। उत्तम शिक्षा का परिणाम मन को वश में रखना ही है। जिस समय धनुष टूट जाता है, और कोपाविष्ट महर्षि परशुराम को राजा दशरथ कहते हैं। 'लोक विख्यात, स्वाध्याय, व्रतशाली भार्गव वंश के आप हैं। आपने प्रतिज्ञा की कि मैं शस्त्र नहीं उठाऊंगा, आपका कुल स्वाध्यायशील व्रतधारियों का कुल है, ऐसे विद्याविलासी कुल के लोग प्रतिज्ञा नहीं तोड़ते।[८] इस श्लोक में **'स्वाध्यायव्रतशालिनाम्'** पद महत्त्वपूर्ण है। व्रतग्रहण करने के उपरान्त भी यदि कोई विरुद्ध आचरण करता है तो वह व्रतशाली नहीं, अपितु निकृष्ट है। अयोध्याकाण्ड में भी श्रीराम के गुणों का वर्णन करते हुए श्रीराम को विद्यास्नातक तथा व्रतस्नातक कहा गया[९] अर्थात् शिक्षा का उद्देश्य स्पष्ट होता है कि केवल विद्यास्नातक पर्याप्त नहीं

---

५. अध्यात्मविद्या विद्यानाम्। भगवद्गीता १०/३२
६. तपः स्वाधयायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्! नारदं परिप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुंगवम्।। बालकाण्ड -१
७. वाल्मीकि-रामायण, बालकाण्ड -३,४
८. भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्। सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि।। बालकाण्ड -२७/९
९. सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्। इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।।

'व्रतस्नातक' होकर आचरण व व्यवहार में परिष्कार लाना आवश्यक है। शिक्षा का फल विवेकपूर्ण व्यवहार होता है। युद्धकाल में राम शिविर में आये हुए विभीषण को देखकर सुग्रीव जब अनुचित वाक्यों का प्रयोग करता है तो श्रीराम कहते हैं कि जिस व्यक्ति ने शास्त्र नहीं पढ़े तथा वृद्धजनों का संग नहीं किया, वही ऐसे असामयिक वचन कह सकता है अर्थात् केवल शास्त्रों को पारायण करना ही अध्ययन नहीं होता, अपितु माननीयों का सम्मान तथा यथायोग्य व्यवहार ही विद्याध्ययन का फल है। विभीषण के विषय में हनुमान् द्वारा कहा जाना कि इसके बोलने मात्र से यह ज्ञात हो रहा है कि इसके वचनों में कपट या दुष्टता नहीं है। यह मनोविज्ञान को जानने का परिणाम है-

न त्वस्य ब्रुवतो जातु लक्ष्यते दुष्टभावना।
प्रसन्नवदनं चापि तस्मान्मे नास्ति संशयः॥

एक और प्रकरण में महाबली हनुमान् जब लक्ष्मण की प्रशंसा में यहाँ तक कहते हैं कि आप दोनों को देखकर लगता है कि कहीं सूर्य और चन्द्रमा इस धराधाम पर तो नहीं उतर आए हैं।[१०] इसी प्रकार अनेक परिशुद्ध, प्राञ्जल वाक्यों को सुनकर राम-लक्ष्मण से कहते हैं कि वेदत्रयी का अध्ययन किये विना कोई ऐसे वाक्यों का प्रयोग नहीं कर सकता है। पूरे वार्तालाप में इसने (हनुमान् ने) कुछ भी ऐसा नहीं बोला जो अकथ्य हो या अनावश्यक हो, इससे ज्ञात होता है कि उन्होंने सम्यक्तया शास्त्र पढ़े हैं। वेदाङ्गों में विशेष रूप से शिक्षा का अवगाहन सम्यक्तया किया है। इनके द्वारा प्रयुक्त वाक्य नातिदीर्घ हैं और नातिलघु हैं। निसन्देह हृदयस्थ भावना कण्ठ में आकर मध्यमस्वर युक्त प्रयुक्त है।[११]

अतः वाल्मीकि के अनुसार शिक्षित होने का अभिप्राय है—वाक्कुशलता, व्यवहारदक्षता, देशकालौचित्य का ज्ञान, होने के साथ-साथ स्वर-संस्कारयुक्त सरस मधुर सारयुक्त वाणी का प्रयोग करना, तभी शिक्षा या विद्या सुखकारी हो सकती है। ऐसे विद्यावान् जन ऐश्वर्य के पात्र होते हैं-रामचन्द्र ने ठीक कहा है—

एवं गुणगणैर्युक्ताः यस्या स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः दूतावाक्यप्रचोदिताः॥

वाल्मीकि-रामायण में जहाँ शिक्षा का सामान्यीकरण हुआ है अर्थात् सार्वजनिक शिक्षा पर बल दिया गया है, वहीं समाज के लिए आवश्यक अङ्गों अर्थात् राजपुरुष, स्त्री, सामान्यजन सभी पर विशेष विचार उपलब्ध होते हैं।

राजनीति व राजपुरुषों की शिखा

रामायण के अनुसार राजनीति एक ऐसा विषय है, जिसमें पूर्ण अध्ययन की आवश्यकता है। राजा और मन्त्रियों की योग्यता आदि पर तथा राजव्यवस्था के सञ्चालन में नीतियुक्त आचरण व व्यवहार पर विशदरूप से रामायण में वर्णन मिलता है। रामायण के अनुसार राजा वही हो सकता है जो शस्त्र व शास्त्र[१२] में पारङ्गत हो, प्रजा

---

१०. यदृच्छयेव सम्प्राप्तौ चन्द्र सूर्यो वसुन्धराम्।..................॥ किष्किन्धा काण्ड -२/१६

११. नानृग्वेद विनीतस्य नायजुर्वेदाधारिणः। ....॥ कि० काण्ड २/२८ ....३३ श्लोक।

१२. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हितेरतः। यशस्वी ज्ञान सम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्॥

का हित चाहता हो, आबालवृद्धों का रक्षक हो, राजनीति में निपुण हो, सच्चरित्र व सदाचारी हो, धनुर्धर भी हो, धीर-गम्भीर हो।[१३] श्रीराम के राज्याभिषेक का निश्चय करते समय उनके गुणों का वर्णन उनकी राजा बनने की योग्यता को दृष्टिगत रखकर किया जाता है।[१४] रामायण में रावण को भी राजा के रूप में वेदवेदाङ्गवेत्ता बताया गया है। युद्ध के लिए सन्नद्ध होने पर रावण अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा करते हुए उत्तम, मध्यम तीन प्रकार के व्यक्तियों तथा उनके गुण दोषों की चर्चा करता है।[१५] इसी प्रकार राजनीति में निपुण अमात्यों का चयन सभी राजा करते थे। राजा दशरथ के अमात्य गणों को भी. इङ्गितज्ञ, मन्त्रज्ञ, विद्याविनीत कुशल संयेतेन्द्रिय, शास्त्रज्ञ, प्राणिहित में रत रहने वाले तथा इतने विज्ञ थे कि उनके लिए अपने तथा अपने राष्ट्रों के विषय में कुछ भी अविदित नहीं था।[१६] जिस समय भरत चित्रकूट में अपने भ्राता राम के समीप जाते हैं तो राम पूछते हैं कि तुमने अपने राज्य में जितेन्द्रिय कुलीन मन्त्री नियुक्त किये हैं कि नहीं। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि रामायण में गम्भीरता से राजनीति-परक शिक्षा के अनेक प्रसङ्ग उपलब्ध होते हैं।

स्त्रीशिक्षा

नारियाँ भी सुशिक्षित होती थीं। जिस समय राम के राज्याभिषेक की सूचना मिलती है, उस समय माता कौसल्या अग्निहोत्र कर रही हैं,[१७] सीता भी देवकार्य करती हैं,[१८] यहाँ तक कि जब सुग्रीव पराजित होकर वाली को पुन: युद्ध के लिए ललकारता है, तब वाली की पत्नी तारा कहती है कि मैं यहाँ कुछ विशिष्ट कारण देखती हूँ। इसलिए अभी युद्ध मत करो, तारा का यह कहना उसकी नीतिनिपुणता को व्यक्त करता है।[१९] तारा के बार-बार मना करने पर भी उसकी बात को वाली नहीं मानता और युद्ध करता है तो तारा उसकी विजय हेतु स्वस्तिवाचन करके अन्त:पुर चली जाती है।[२०] सीता भी रावण को अनाचार से रोकती हुई कहती है—'मेरी ओर से मन हटाओं और अपने कुल के लोगा से प्रेम करो, मैं पुण्यकुल में उत्पन्न हुई हूँ और पवित्र कुल में मेरा विवाह हुआ है मैं ऐसा निन्दित कार्य कदापि नहीं कर सकती। हे रावण! जैसे ब्रह्मप्राप्ति रूपी सिद्धि पापिष्ठ जन द्वारा चाहने योग्य नहीं होती, वैसे ही मैं भी तेरे द्वारा चाहने योग्य नहीं हूँ।[२१] इसी प्रकार रावण को समझाते हुए मनोहर उपमा का प्रयोग करती हुई कहती है-जैसे विद्या व्रतस्नात ब्राह्मण को ही प्राप्त होती है, उसी प्रकार मैं भी श्रीराम के ही योग्य हूँ,

---

१३. रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता। वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठित:।।
१४. अयोध्याकाण्ड-प्रथम सर्ग -श्लोक ७ से १३
१५. त्रिविधा पुरुषा ....। मन्त्रिभिर्हितं संयुक्तै....................। एकोऽर्थ: विमृशेदेको ....।
१६. मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रता:। बाल० ५/१ विद्याविनीता ह्रीमन्त: कुशला: नियतेन्द्रिया:। बाल० ५/५ तेपामविदितं किंचित् स्वेपु नास्ति परेपु वा। बाल० ५/७
१७. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा। अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।। अयो० काण्ड १७/१
१८. देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना। अयो०का० २२/१२
१९. किष्किन्धा काण्ड के १५ वें सर्ग के श्लोक ७ से २३ तक तारा का उपदेश।
२०. तत: स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद्धि जयैषिणी अन्त:पुरं सह स्त्रीभि: प्रविष्टा शोकमोहिता।। किष्किन्धा का० ११/७
२१. न मां प्रार्थयितुं युक्तं सुसिद्धिमिव पापकृत्। अकार्यं न मया कार्यमेकपत्न्यां विगर्हितम्।। सुन्दरकाण्ड १२/२

अयोग्य रावण के लिए नहीं।[२२] इस प्रकार कौसल्या, तारा, सीता के वैदुष्यपूर्ण व्यवहार से अवगत होता है कि उन समय स्त्रियाँ न केवल शिक्षित एवं दीक्षित थीं, अपितु नीतिप्रवीण, व्यवहारकुशल एवं दृढ़व्रत वाली थीं।

सामान्यजनों की शिक्षा

वाल्मीकि-रामायण में जहाँ राजा, अमात्य एवं स्त्रियाँ सुशिक्षित थीं। वहीं सामान्यजन भी शिक्षा के क्षेत्र में किसी से कम नहीं थे। अयोध्या के विषय में महर्षि वाल्मीकि ने कहा कि-यहाँ के सामान्य प्रजाजन भी बहुश्रुत, विद्वान्, दानाध्ययनशील, यजनशील, संयतेन्द्रिय, आस्तिक, नीतिनिपुण व धर्मपरायण थे।[२३] महाराज दशरथ के यज्ञ में आए हुए सभी लोग चारों वेदों व छः वेदाङ्गों के ज्ञाता थे, व्रतशाली थे, बहुश्रुत थे। केवल अयोध्या में ही नहीं, अपितु रावण की नगरी लङ्का में भी लोग विद्वान्, वेदवेत्ता, स्वाध्यायशाली व बुद्धिवैभव सम्पन्न थे।[२४] रामायण के अवगाहन से ज्ञात होता है कि सामान्यजन भी केवल सुशिक्षित ही नहीं, अपितु अलौकिक चरित्रपथ, शस्त्र व शास्त्र में पारङ्गत, अध्ययनशील व दानशील थे। दीन-हीन व दुराचारी जन दृष्टि में नहीं आते। आज की स्थिति में कोई भी भौतिक रूप से समृद्ध राष्ट्र रामायण जैसी घोषणा करने में समर्थ नहीं है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न प्रायः सभी राष्ट्र नैतिक दृष्टि से दरिद्र ही हैं।

उपर्युक्त शिक्षा के अतिरिक्त आजीविका हेतु सङ्गीतकला, अर्थशास्त्र, यान्त्रिकी शिक्षा भी पूर्णतः उच्चकोटि की थी। इस आशय के अनेक प्रमाण रामायण के अध्ययन से प्राप्त होते हैं। चिकित्सा विषयक वर्णन युद्धकाण्ड में प्रचुरता से प्राप्त होता है। युद्ध में मूर्च्छित लक्ष्मण की समुचित चिकित्सा वैद्य सुषेण द्वारा की जाती है। सुषेण द्वारा वीर हनुमान् को महोदय नामक गिरि पर भेजना, वहाँ से विशल्यकरणी, सावर्ण्यकरणी, सजीवकरणी, सन्धानी नामक औषधियों को मँगाना आयुर्वेद की उत्कृष्ट स्थिति का परिचय कराता है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि रामायण में शिक्षा की स्थिति, शिक्षा का अभिप्राय, तथा शिक्षा-व्यवस्था अत्युत्कृष्ट उद्देश्य की प्राप्ति हेतु थी। इससे भी रुचिकर है कि उस समय शिक्षा का सुफल समाज की सुव्यवस्था, सच्चरित्रता, स्वस्थता, स्वधर्म, स्वकर्म निष्ठा आदि के रूप में प्राप्त होता है।

---

२२. व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः। सु० १०/१३

२३. बालकाण्ड चतुर्थ सर्ग ५ से १० श्लोक।

२४. शुश्राव जयतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः।। सुन्दरकाण्ड ४/५

गुरुकुल- शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०६३-७१)

वाल्मीकिरामायणे शिक्षायाः स्थितिः

डॉ. (श्रीमती) विजयलक्ष्मी

आदिकाव्यरामायणाध्ययनेन ज्ञायते यत्तदानीं सर्वे सामाजिकाः शिक्षिताः विविधविद्यापारगाश्चासन्। सर्वे विद्यया विनीताः विद्वांसश्च भवन्ति स्म। यथा बालकाण्डे उक्तं वाल्मीकिना-

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदवहुश्रुतः।
नासूयको नाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥[१]

'शिक्ष' विद्योपादाने' इत्यस्माद्धातोः भावे 'अङ्' प्रत्ययकृते स्त्रीलिङ्गे 'टाप्' विहिते शिक्षा पदस्य निर्मितिः। संस्कृत-हिन्दीकोशानुसारं[२] शिक्षापदस्य अधिगमो विनयः, अध्ययनं, शिक्षणं, प्रशिक्षणं, रणशिक्षणं, युद्धविज्ञानञ्चेति अनेकार्थाः। रामायणमहाकाव्ये विद्याशिक्षापदद्वयं पर्यायरूपेण प्रयुक्तमस्ति, महावैयाकरणेन महामुनिना पाणिनिनापि शिक्षापदमपि विद्यार्थे प्रयुक्तम्, अपि च संस्कृत-हिन्दीकोशकारेण विख्यातेन विदुषा श्रीरामवामनशिवरामाप्टेवर्येण विद्या[३] इति पदं विवेचयता पर्यायत्वेन शिक्षापदं विवेचितम्। अत एव पत्रेऽस्मिन् विद्याशिक्षापदे सामानार्थे प्रयुक्ते स्तः। महर्षिवाल्मीकिकृतं महाकाव्यमधीत्य निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते यत् कोशे सम्पादिताः अनेकार्थाः वाल्मीकिसम्मताः खलु। तद्यथा-

तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥[४]

रामायणस्यादिमोऽयं श्लोकः अत्रावधेयं 'स्वाध्यायनिरतमिति'। महाभाष्यकारेण महर्षिपतञ्जलिना-भिहितम्-'चतुर्भिः प्रकारैः विद्योपयुक्ता भवति-आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेन च। दीक्षाकाले आचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति-स्वाध्यायान्माप्रमदः।' मन्ये रामायणकारेणपि आद्ये श्लोके स्वाध्यायपदं प्रयुज्य स्वाध्यायस्य महत्त्वमङ्गीकृतम्।

पत्रेऽस्मिन् विवेचिता विषया विद्यन्ते-रामायणकाले शिक्षया कोऽभिप्रायः राजपुरुषाणां शिक्षा कीदृशी? स्त्रीणां शिक्षायाः का व्यवस्था? सामान्याः जनाः शिक्षिता अशिक्षिता वा? राजनीतिविषयकी शिक्षासीत् न वा? आजीविका हेतुभूतानां अर्थशास्त्र-भवननिर्माण-चिकित्सा-सङ्गीत-स्थापत्य-शिल्पादीनां का दशा वा अवस्था वा आसीत्[४], अर्थप्रधानसमाजाय तथाविधायाः शिक्षायाः किमस्त्यौचित्यम्?

---

१. बाल० ६/१४/
२. संस्कृत -हिन्दी कोशः, वामनशिवराम आप्टे, नाग प्रकाशक।। ए/भू. ए जवाहर नगर दिल्ली -०७/पृ० १०१/५
३. संस्कृत -हिन्दीकोशः पृ० ९३५
४. बालकाण्डः १/१/ पेर्र्मिन्ट गुंदह, ध्रार्हृत घ्हेगूल्ल र्द र्दे-१९६०

रामायणे शिक्षयाभिप्रायः

एवं प्रतीयते यन्मानवस्य सर्वविधोन्नतिरेवासीत् विद्याया उद्देश्यम्। तद्यथा-छिन्ने धनुषि कोपाविष्टं महर्षिपरशुरामं प्रति महाराजा दशरथः कथयति[५]-लोकविख्यातानां स्वाध्यायव्रतशालिनां भार्गवाणां वंशावतंसोऽसि, भवान् च प्रतिज्ञां विधाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवान्, भवद्कुलं स्वाध्यायशीलानां व्रतधारिणां कुलं वर्त्तते, एवंविधाः विद्याविलासिनः कृतां प्रतिज्ञां न परित्यजन्ति। श्लोके **स्वाध्यायव्रतशालिनामतीवमहत्त्वपूर्णं** पदम्। वक्तुं सुकरं यत् शिक्षायाः फलं विवेकपूर्णव्यवहारः। गृहीतव्रतोऽपि यदि विपरीतं करोति तर्हि शिक्षायाः किं फलम्? तथा च युद्धकाले रामशिविरमागतं विभीषणमवलोक्य सुग्रीवस्यानुचितानि वचनान्याकर्ण्य राम उवाच[६]-येन जनेन शास्त्राणि नाधीतानि, वृद्धानां परिचर्या न कृता, सैव एवमसामयिकं वक्तुं समर्थोऽर्थात् न केवलं ग्रन्थपारायणमेव शास्त्राध्यायनमपितु पूज्यानां पूजा, यथायोग्यव्यवहारश्च विद्याध्ययनस्य फलम्। अन्यस्मिन् एकस्मिन प्रकरणे बलवतः हनुमतो वचांसि संश्रुत्य समग्रविद्यावित्[७] श्रीरामः लक्ष्मणमाह[८]-वेदत्रयीमनधीत्य अविदुषा केनापि इयती परिशुद्धा प्राञ्जला वाक् वक्तुं न शक्या। वार्त्तालापकाले अनेन न किञ्जिदप्यपभाषितम्, प्रतिभाति यदमुना सम्यक् पठितानि शास्त्राणि, शिक्षानामकवेदाङ्गस्यावगाहनं समीचीनतया विहितम्, अनेनोच्चारितं वाक्यं नातिदीर्घं नतिलघु असन्दिग्धमुरस्थं कण्ठगं, मध्यमस्वरसंयुक्तञ्च वर्त्तते। महानुभावोऽयं सुखदाममृतां वाचं तथा वदति येन श्रोतामन्दमानन्दमनुभवति। एवमस्य गभीरा भाषा प्राञ्जलतां भव्यतां मधुरतामौचित्यमावहति। उक्तञ्च पाणिनीयशिक्षायाम्-

एवं वर्णाः प्रयोक्तव्या नाव्यक्ता न च पीडिताः।
सम्यग्वर्णप्रयोगेण ब्रह्मलोके महीयते॥[९]

अतः महर्षिवाल्मीकिमतानुसारं शिक्षितः सविद्यो जनः वाक्कुशलः, व्यवहारदक्षः, देशकालौचित्यस्य ज्ञाता, अनुद्वेगकरवाक्यस्य वक्ता, स्वरसंस्कारयुक्तां सरसां मधुरां सारयुतां वाचं वदेत् नान्याम्। तदैव शिक्षापि सुखकरी भवति तथाविधा विद्यावेत्तार एव भवन्ति भाजनानि धनस्य अर्थस्य च। समीचीनमेवोक्तं रामेण—

एवं गुणगणैर्युक्ताः यस्य स्युः कार्यसाधकाः।
तस्य सिध्यन्ति सर्वेऽर्थाः दूतवाक्यप्रचोदिताः॥[१०]

---

५. भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम्। सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि। बाल. २७/१९ वाल्मीकि-रामायण टीका आर्यटीका प्रथमः भागः। पं० आर्यमुनि जी प्रकाशक-हरयाणा साहित्य भण्डार, गुरुकुल झज्जर (रोहतक)
६. अनधीत्य शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च। न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः। युद्ध ८/१८
७. धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः। यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्। १/१२/ [illegible] (अयो० २/२०)
८. नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः। नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्॥ आर्यटीका निष्किन्धाकाण्डे द्वितीयः सर्गः २८ श्लोकादारभ्य ३३ श्लोक पर्यन्तम्।
९. सिद्धान्तकौमुदीपरिशिष्टानि, पाणिनीयशिक्षा ३१/पृ० ६७३.
१०. आर्यटीका किष्किन्धाकाण्डे तृतीयः सर्गः श्लोक ३५

अद्यत्वेऽपि स्वाध्यायशालिन: जना: यदि स्युस्तर्हि प्राचीनानां ग्रन्थानां रक्षापि स्यात्तथा च निजां संस्कृतिमपि ज्ञातुं समर्था: भविष्यन्ति सर्वे सामाजिका:। समस्तो जनमानसश्च मनोमालिन्येन विरतो भविष्यति। साम्प्रतिके काले शारीरिकै: रोगैर्न तथा दूयन्ते जना यथा मानसिकै:। मन्ये स्वाध्यायो रामबाणायते प्राचीनग्रन्थसंरक्षणाय, मानसिकस्वास्थ्यलाभाय च। समुपस्थिते विषमे काले मित्रमिव पालयति सद्ग्रन्थानामध्ययनम्। प्रकरणेऽस्मिन् 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' इति समाचारपत्रस्य नवदिनांकस्याक्टूबरमासस्य "I am Hindu" इत्यभिधेयो लेख: पठनीय:, लेखकोऽस्य श्रीगुरचरणदास:। लिखितं च तेन[११]-आपत्तौ विपत्तौ पाश्चात्या: स्वकीयेन पुरातनसाहित्येन प्रेरणामूर्जां च गृह्णन्ति वयं भारतीया अस्माकं प्राचीनां परम्परायुतां शिक्षां साहित्य-दर्शनञ्च समीक्षापद्धत्या नैव पठाम:, अपरतश्च तरुणै: अमेरिकादेशीयैर्जनै: बी. ए. प्रथमवर्षे Core Curriculan इति विभागे Westerm Classic पठ्यते।

वयं विषयेऽस्मिन् वृद्धेषु जनेषु, अमरचित्रकथासु अथवा दूरदर्शने प्रसारितेषु यथातथाविधेषु कार्यक्रमेषु आश्रिता: स्म:। अद्यत्वे तु संस्कृतपठनं पाठनमपि नोत्कर्षाय, ये आधुनिका: ते न संस्कृतं पठन्ति पाठयन्ति वा, प्राच्यानां ग्रन्थानां विद्यानां तु का कथा। अपि च निखिलस्य समाजस्योच्चारणं लेखनं सर्वमशुद्धं खलु, दूरदर्शनेऽपि लिखितानि वाक्यानि नैकाभिरशुद्धिभि: पूरितानि भवन्ति। अत्रापि रामायणीया शिक्षास्माकं प्रथप्रदर्शिका। जना: वर्णोच्चारणशिक्षां रामायणमहाभारतसदृशान् ग्रन्थान् पठेयु:।

राजपुरुषाणां शिक्षा

रामायणपठनेन जानीम: यत् राजा सैव भवितुमर्हति य: शस्त्रे शास्त्रे[१२] पारगंत:, प्रजाहितेच्छुक: वृद्धानां बालानां[१३] च रक्षक: राजनीतिनिपुण:[१४] सच्चरित्र: शीलवान् च भवेत्। यथा-रामस्य राज्याभिषेकाय पृष्टेषु पौरजनेषु ब्राह्मणेषु त ऊचु:[१५]-रघुवीरं महाबलं महाबाहुं वयमभिषेकाय इच्छाम:, यतो हि राजन्! तस्मिन्[१६] तव पुत्रे बहव: कल्याणगुणा: सन्ति, स: बहुश्रुतानां[१७] वृद्धानां ब्राह्मणामुपासक:, स्वयञ्च सर्वशास्त्रेषु।[१८] विशारद:, पौरान्

---

११. ध्हा दीूहे दीूह .... न्नेुग .... ॉ्द हदू .... एर्ल्हे स्देहग्हु्ातन्ेग्दह.

१२. धर्मज्ञ ....बाल० १/२ वेदावेदङ्गतत्तवज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठित:। १/१३

१३. पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति।। पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्य शिष्यगणेषु च।।

१४. (क) अयोध्याकाण्डे भारतीयराजनीते विस्तृत उपदेश:। (ख) बालकाण्डे नवम: श्लोक:।

१५. इच्छामो हि महाबाहुं रथुवीरं महाबलम्। आर्यटीका अयो० द्वि० १५/

१६. तत्रैव षोडश: श्लोक:।

१७. तत्रैव एकोनविंशतिम: श्लोक:।

१८. (क) सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञ: स्मृतिमान् प्रतिभानवान्। १/१४/ (ख) सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्। अयो० १/१७/ आर्यटीकायाम् (ग) सर्व वेदविद: शूरा: सर्वे लोकहितेरता:। सर्वे ज्ञानोपसम्पन्ना: सर्वे समुदिता गुणै:। बाल० १७/१४

स्वजनवत्[१९] पश्यति, सर्वेषु उत्सवेषु जनकवत् परितुष्यति। महाकाव्यस्याध्ययनेन स्पष्टं भवति यत् रावणोऽपि वेदवेदाङ्गवेत्तासीत्। तद्यथा-[२०] युद्धसन्नद्धे मन्त्रिवरान् आहूय अतीव गभीरामोजस्विनीं नीतिनिपुणां भारतीं वदति। विमर्शेनानेन स्फुटीभवति यत् सर्वविधा सर्वोत्तमा शिक्षा नितरामावश्यकी स्वीकृतासीत् वर्त्तमानानां भव्यानां भूपतीनां कृते। विषयेऽस्मिन्नपि रामायणीया शिक्षानुकरणीया सर्वैः राजपुरुषैः नेतृभिः सामाजिकैः यद्योग्या एव जना योग्येषु पदेषु प्रतिष्ठां लभेरन् नायोग्याः खलु। विविधेषु विभागेषु नियमस्यास्य कठोरतया पालनं स्यात्।

स्त्रीणां शिक्षा

नार्य अपि आसन् सुशिक्षिताः, यथा-रामस्याभिषेकसूचनामाकर्ण्य कौशल्या अग्निहोत्रं करोति,[२१] अपि च रामः[२२] अन्तःपुरं प्रविश्य मातरं कौशल्यां हावयन्तीं[२३]-ददर्श, सीतापि देवकार्यं करोति स्म। रामवनगमनेन खिन्ना माता कथयति उपवासैः योगैः नानाविधैः त्वत्कृते यत् कृतं तत्सर्वं विधिना निराकृतम्। नारीषु योगपरम्परासीत् इत्यवगतं भवति। वालीपत्नी तारापि सुशिक्षिताधीतविद्यासीत्। रामायणे प्राप्यते यत् यदा पराजितः सुग्रीवः वालिनं पुनः युद्धायाह्वयति। सा नीतिदक्षा स्त्री कथयति स्वभर्त्तारम्[२४]-किञ्चिद् विशिष्टं कारणमत्र पश्यामि अतोऽस्मिन् समये अस्मात् द्वन्द्वयुद्धात् विरम। भूयोभूयः निवारिते सत्यपि; समयोचितानि तस्या वचनानि यदा वालिना निराकृतानि, तदा भर्तुः जयाय स्वस्तिवाचनं[२५] कृत्वा अन्तःपुरं जगाम। अपि च अनाचारे प्रवर्त्तमानं रावणं निवारयन्ती सीता प्राह[२६]-मत्तः मनो निवर्त्तय, स्वजने मनः प्रीयताम्। अहं पुण्ये कुले जाता कथं विगर्हितमकार्यं मया कार्यम्। तर्जयन्ती रावणं मनोहरया उपमया अग्रे जगाद[२७]-यथा विद्या व्रतस्नातं ब्राह्मणमुपगच्छति तथैवाहमपि रामाय योग्या, नायोग्याय रावणाय। एवं कौशल्या, तारा, सीता निदर्शनेनावगतं भवति यत् स्त्रियः न केवलं सम्यक् दीक्षिताः शिक्षिताश्च

---

१९. (क) बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता। तेनास्येहातुला कीर्त्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते।। आर्यटीकायां अयो० २/१९/ (ख) पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति। तत्रैव २१ श्लोकः। (ग) व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः। उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।। तत्रैव २२ श्लोकः।

२०. (क) अतीतसमये काले तस्मिन् वै सुधि रावणः। अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च प्राप्तकालममन्यत।। आर्य० युद्ध० ५/२/ (ख) तस्मात्सुमन्त्रितं साधु भवन्तो मतिसत्तमाः। कार्यं संप्रतिपद्यंतामेतत्कृत्यं मतं मम।। तत्रैव युद्ध० ३/९/

२१. सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणाः। अग्निं जुहोति स्म तदामन्त्रवत् कृतमङ्गला।। आर्यटीकायां अयो० १५/१४२।।

२२. प्रविश्य तु तदारामो मातुरन्तःपुरं शुभम्। ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्।। तत्रैव अयो० २२/२।। (ख) देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञाहृष्टचेतना। तत्रैव अयो० २२/२/

२३. (क) उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः। तत्रैव अयो० १६/२६/ (ख) प्राणायामेन पुरुषं ध्यायामाना जनार्दनम्। तत्रैव अयो० ४/२०/

२४. ताराया उपदेशः। किष्किन्धाकाण्डे पञ्चदशतमे सर्गे, ६ श्लोकादारभ्य २३ श्लोकपर्यन्तम्।

२५. ततः स्वस्त्यनं कृत्वा मन्त्रविजयैषिणी। स्वस्त्ययनं मन्त्रविद् विजयैषिणी अन्तःपुरं सह स्त्रीभिः प्रविष्टा शोकमोहिता। कि० १६/१०/

२६. निवर्त्तय मनो मन्त्रः स्वजने प्रीयतां मनः। न मां प्रार्थयितुं युक्तस्त्वं सिद्धिमिव पापकृत्।। आर्यटीका सुन्दरकाण्डे १०/३/१

२७. व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः। तत्रैव सु० १०/१३/

नीतिप्रवीणाः व्यवहारकुशलाः दृढव्रता आसन्। उक्तानां गुणानामनिवार्यताऽद्यापि तथैवानुभूयते। निश्चितं लक्ष्यमवाप्तुं साम्प्रतिके कालेऽपि अनवरत अध्यवसायः करणीयः। स्वकीयानां सिद्धान्तानां रक्षार्थं दृढव्रतापेक्षा तु विद्यत एव।

सामान्यजनानां शिक्षा

प्रकरणेऽस्मिन् सगौरवेणोद्घोषयन् अयोध्याविषये महर्षिणा कथितम्-जनाः, बहुश्रुताः,[२८] विद्वांसः,[२९] दानाध्ययनशीलाः,[३०] यजनशीलाः,[३१] संयताः,[३२] विजितेन्द्रियाः,[३३] आस्तिकाः,[३४] धर्मपरायणाश्चासन्। महाराज्ञो दशरथस्य यज्ञे समागताः सर्वे जनाः चतुर्ण्णां[३५] वेदानां, षण्णां वेदाङ्गानां ज्ञातारः, व्रतशालिनः, बहुश्रुताश्चासन्। अपूर्वायामयोध्यापुर्यामेव जनाः श्रेष्ठाः गुणगणैः गरिष्ठा वरिष्ठाः किम्? नैव। यतो हि राजा रावणस्य रम्यायां लङ्कानगर्यामपि जना आसन् वेदविदः,[३६] स्वाध्यायशालिनः, बुद्धिवैभवसम्पन्नाः। लङ्कायां परिभ्रमता हनुमता जपकुर्वतां स्वाध्यायनिरतान् यातुधानान् ददर्श। किञ्चिच्छेषायां यामायां पवनपुत्रः वेदविदां वेदाङ्गानुशीलानां याजकानां मनीषिणां[३७] ब्रह्मघोषान् श्रावयामास। रामायणपठनेन विदितं भवति यत् सामान्योऽपि जनः न केवलं सुशिक्षितः प्रत्युत लोकोत्तरेण चरित्रेणालंकृतः। अखिलाः पौरजनाः सुसमृद्धाः शस्त्रशास्त्रेनिपुणाः सच्चरित्रा अध्ययनशीला दानशीलाश्च। दीना हीना दुर्गता जना दृष्टिपथं नैवायन्ति स्म। अद्य विश्वस्य समृद्धशालिनः विकसिता अपि राष्ट्राः रामायणसदृशी घोषणा कर्त्तुं समर्थाः किम्? न खलु तथाकथिताः विकसिताः देशाः धन-धान्य-सौविध्येषु समृद्धाः परं नैतिकदृष्ट्या दरिद्राः सर्वे। भ्रष्टाचारः पर्याय एव विकासस्य। अगणिता अनाचाराः कदाचाराः कुविचाराः वायुमण्डले परिव्याप्ताः। निखिलानां दुर्वृत्तानां निवारणाय रामायणतुल्यानाममूल्यानां ग्रन्थानामधिगमः सर्वेषां सौख्याय भवेत्, नास्त्यत्र सन्देहलेशोऽपि।

राजनीतिविषयिकी शिक्षा

राजनीतिविषयमाधृत्य बहुवर्णितं रामायणकारेण।[३८] अत्र तु समासेनैव किञ्चिद् कथ्यते।

---

२८. बालकाण्डे षष्ठसर्गस्य चतुर्दशः श्लोकः।
२९. तत्रैव तस्मिन्नेव श्लोके।
३०. स्वकर्मनिरतानित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे।। तत्रैव त्रयोदशः श्लोकः।
३१. तत्रैव द्वादशः श्लोकः।
३२. तत्रैव त्रयोदशः श्लोकः
३३. तत्रैव त्रयोदशः श्लोकः
३४. तत्रैव चतुर्दशतमः श्लोकः।
३५. नापडङ्ग विदत्रासीन्नाव्रतो नाबहुश्रुतः। बाल० १३/१६/
३६. शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षो गृहेषु वै। स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः।। रामा०सुन्दरकाण्डे ३.६
३७. षडङ्गवेदविदुषां वेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्। शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मराक्षसाम्।। तत्रैव सु० काण्ड ८/६।।
३८. अयो० काण्डे ९४ तमे सर्गे चतुर्थश्लोकादारभ्य ५९ श्लोकपर्यन्तं राजनीतिविषयकी चर्चा।

दशरथस्यामात्यानेव प्रथममवलोकयामः। कीदृशाः ते मन्त्रिणः ? इङ्गितज्ञाः,[३९] मन्त्रज्ञाः, विद्याविनीताः,[४०] कुशलाः, संयतेन्द्रियाः, शास्त्रज्ञाः, कीर्त्तिमन्तः, प्राणिहितेषु रताः, राज्ञाज्ञापालकाः। तेषाममात्यानां कृते स्वीकीयेषु परेषु वा राष्ट्रेषु किञ्चिदप्यविदितं नासीत्, ते सर्वे व्यवहारकुशलाः सौहृदेषु परीक्षिताः।[४१] यथाकालं दण्डधारका अभूवन्। अपरस्मिन् एकस्मिन् प्रकरणे स्वकीयशिविरागतं विभिषणमालोक्य कूटनीतिज्ञः रामः सुग्रीवमाह[४२]-विभीषणः पण्डितः, औचित्यमनौचित्यस्य ज्ञाता। अहं यद् वच्मि तच्छृणु अयं राज्याभिलाषी, वयञ्च विभीषणस्य कुलसदस्याः न, अतः तस्मै राज्यविभाजनस्य वैभवविनाशस्य च चिन्ता निराकृतैव विद्यते। अपि च अस्मद् पार्श्वेऽयं रावणानुजो विगतभयो[४३] वत्स्यति। अतो ग्राह्यः। अनेन रामस्य नीतिनैपुण्येन कियत् हितं साधितमिति प्रत्यक्षमेव सर्वेषाम्। चित्रकूटं समायातं भ्रातरं भरतं पृच्छति रघुवरः[४४]-तात राज्ये कुलीनाः जितेन्द्रियाः, मन्त्रिणः नियुक्ताः नैव वा ? भ्रात सुसंस्कृतैः सुसंवृतैः शास्त्रकोविदैरमात्यैः राज्यं सर्वदैव सम्यक् संरक्ष्यते। हे राघव ! तर्केण अन्यया वा युक्त्या कोऽपि तवाभिप्रायं न जानीयात्तथा व्यवहरणीयः। सहस्रान् मूर्खान् परित्यज्य एवं पण्डितं मित्रं कुरु। यतो हि अर्थज्ञाता पण्डित एव कर्त्तव्याकर्त्तव्यं काले विज्ञाय कल्याणायोपदिशति। दक्षिणः प्रतिभावान् यथोक्तवादी दूतस्तु कृतः स्यादेव। कृषिकर्मरताः गौरक्षकाः कर्मकराः राज्ये सुखेन जीवन्ति। आयव्ययौ समुचितरूपेण करणीयौ। राज्ये ये सेवकाः कर्मचारिणः विद्यन्ते तेषां वेतनं कालेन देयम्। वृद्धाः ब्राह्मणाः सम्यक् सत्करणीयाः।

राजनीतौ राजानः मन्त्रिणः दक्षाः, यथासमये नीतिप्रयोगे चतुराः, दण्डनीतौ प्रवीणाः स्युः। अद्यत्वे तु कूटनीतेः महती आवश्यकता राष्ट्राय। संयुक्तराष्ट्रे भारतस्य स्थानं, ईरान-गैस-पाईप-लाईन, चीन-बांग्लादेश-पाकिस्तानादिराष्ट्रैः सह सीमाविवादाः अनधिकृतरूपेण वैदेशिकानां प्रवेशः, विश्वव्यापारः, आतंकवाद-सदृशाः नैका विषया अपेक्षन्ते रामायणसन्निभान् कूटनीतिपाटवान् सचिवान् मन्त्रिप्रवरान्।

आजीविकाहेतुभूता शिक्षा कला वा

अयोध्याविषये[४५] लङ्काविषये[४६] चातिविस्तरेण प्रतिपादितं महर्षिवाल्मीकिना। यथायोध्यामधिकृत्य कथयति ग्रन्थकारः[४७]-उत्तुङ्गैः सौधैः रम्यैः भवनैः मनोहरैरुद्यानैः मनोज्ञैः पक्षिभिरुपकूजिता अयोध्या कस्मै सहृदयाय सामान्याय विशिष्टाय वा नराय न रोचते। तत्पश्चात् वर्णयामास महर्षिवाल्मीकिः सरयूतीरे कोशलो नाम महान् जनपदः, तस्मिन्नेव मनुना निर्मिता लोकविश्रुता अयोध्यानाम नगरी जलसिक्तैः राजमार्गैश्शोभिता, विकसितैः

---

३९. मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः। आर्य० बाल. ७/१/१

४०. विद्याविनीता ह्रीमन्तः कुशला नियतेन्द्रियाः तत्रैव ७/६/१

४१. कुशलाव्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः।

४२. पण्डिता हि भविष्यन्ति-आर्यटीकायां युद्धकाण्डे अष्टमसर्गे २२ श्लोकः।

४३. अव्यग्राश्च प्रहृष्टाश्च ते भविष्यन्ति संगताः। तत्रैव ८/२३।

४४. अयोध्याकाण्डस्य चतुर्नवतितमे सर्गे विस्तृता चर्चा विषयेऽस्मिन्।

४५. बालकाण्डस्य पञ्चमे सर्गे -आर्यदीकायाम्।

४६. सुन्दरकाण्ड द्वितीयतृतीयसर्गे -आर्यटीकायम्।

४७. प्रासादैर्रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्। बालकाण्ड पञ्चम सर्ग ...

कुसुमैरलंकृता। अरिभिः दुरासदा महान्तैः दुर्गैः गभीराभिः परिखाभिः परित अलंकृतामयोध्यामवलोक्य तत्र शिल्पकाराणां भवनविशेषज्ञानां कलायाः स्पष्टाभिव्यक्तिः भवति। तेषां कला प्रशस्या खलु। रावणस्यापूर्वा लङ्कापुरी सौन्दर्येणच्छादिता। हनुमता[४८] काञ्चनेनावृता गिरिसकाशैः भवनैरभिवृता विविधैः द्रुमैः पुष्पैः फलैराच्छादिता पताकाध्वजैरुपशोभितामरावतीव लङ्कानगरी दृष्टा। तदानीन्तनसमाजे शिल्पिनः[४९] स्थापत्यकलाज्ञातरः खनकाः वर्धकाः, सामान्याः कर्मकराः सर्वे आसन्। यथा महर्षिवसिष्ठः यज्ञसमये राजानं दशरथमादिदेश[५०]-राजन् सर्वे इमे जनास्सम्माननीया न क्रोधवशादपि तेषामवज्ञा कार्या।

सङ्गीतकला

सङ्गीतकलापि तदानीं समुन्नतासीत्-तद्यथा लवकुशविषये अभिहितं महर्षिणा[५१]-कुशलवौ धर्मज्ञौ यशस्विनौ राजपुत्रौ स्वरसम्पन्नौ मेधाविनौ गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकोविदौ स्वरसाधने गन्धर्वाविव।[५२] रामायणकाव्यं पाठ्ये गेये च मधुरं, द्रुतमध्यविलम्बितप्रमाणत्रयैरन्वितम्,[५३] सप्तभिः तन्त्रीलयसमन्वितमासीत्, अतः रामायणमहाकाव्यस्यगायकेनावश्यं भवितव्यः सङ्गीतस्वरसाधकः। तथा च किष्किन्धाकाण्डे राममुखेन कथयति भगवान् वाल्मीकिः[५४]-भाद्रपदमासे सामवेदपाठकानां गायकानां ब्राह्मणानामध्ययनसमय उपस्थितः। यतो हि सलिलेन सर्वे मार्गा आवृताः वैराणि शान्तानि। वर्णनेनानेन ज्ञायते यत् राजकार्येणनिवृत्ता राजानः, मन्त्रिणः पौरजनाश्च भाद्रपदमासे सङ्गीतानन्दमनुभवन्ति स्म।

अर्थशास्त्रम्

विषयेऽस्मिन्नपि जना आसान् निष्णाताः। श्रीरामः भरतं जगाद[५५] अर्थविशारदं सुधन्वानमवश्यं राज्ये संरक्षणं देयम्। अपि च भ्राता तव आयसाधनानि विपुलानि,[५६] तेषां व्ययोऽपि सुविचार्यः करणीयः, सुपात्राणि दानेन सरंक्षणीयानि, कुपात्रेषु धनव्ययः निष्फलः निरर्थकश्च। सूक्ष्मदर्शिभिः विचक्षणैराचार्यैरपि पुरुषार्थचतुष्टयेषु द्वितीयं स्थानमर्थाय निर्धारितम्। यद्यपि धनं धर्मेण नियन्त्रितं तथापि जीवने अर्थस्य महत्तां प्रविभाल्य कामात् पूर्वं धनस्य

---

४८. सुन्दरकाण्डे द्वितीयसर्गे ६ श्लोकादारभ्य ९ श्लोकपर्यन्तम्।
४९. कपाटतोरणवतीं सुविभक्तां तरापणाम्। सर्वयन्त्रायुधवतीमुषिता सर्वशिल्पिभिः।। आर्यटीकायाम् बाल. ५/७१/
५०. (क) स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान्परमधार्मिकान्। कर्मान्तिकाञ्शिल्पिकारान्वर्धकीखनकानपि। बाल. १२/६ (ख) गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान्। तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्। तत्रैव १२/७/
५१. कुशीलवौ तु धर्मज्ञौ राजपुत्रौ यशस्विनौ। भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ ददर्शाश्रमवासिनौ।। बाल० ४ /२/ आर्यटीकायाम।
५२. तौ तु गान्धर्वतत्त्वज्ञौ स्थानमूर्च्छनकौविदौ। भ्रातरौ स्वरसम्पन्नौ गन्धर्वाविव रूपिणौ।। बाल ४/९ अयमेव श्लोकः बाल ४/७ आर्यटीकायाम्। (ख) रूपलक्षणसम्पनौ मधुरस्वरभाषिणौ। बाल ४/१०
५३. पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्। जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्। बाल० ४/५ आर्यटीकायाम्।
५४. किष्किन्धाकाण्डे सप्तदशतमे सर्गे. ३५ श्लोकौ।
५५. इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थ शास्त्रविशारदम्। अयो० ९४/९ अयमेव श्लोकः अयो० ७०/९ आर्यटीकायामुपलभ्यते।
५६. आयस्ते विपुलः कच्चित्कच्चिदल्पतरो व्ययः। अपात्रेषु न ते कच्चित्कोशो गच्छति राघव। अयो० ७०/३०/ आर्यटी०।

प्रतिष्ठा विहिता। राजनीतिशिक्षाप्रदानकाले भरतायोपदिशति भगवान् रामः त्रिवर्गविषये[५७]-त्रिवर्गं विशदयता पण्डितार्यमुनिना आद्यानां त्रयाणां पुरुषार्थामुल्लेखो विहितः। तेषु पुरुषार्थत्रयेषु अर्थो विशिष्टं स्थानं भजते। विवरणेन ज्ञातुं शक्नुमो यदर्थविशारदा जनाः समाजे आदरास्पदीभूताः। नृपेण आयव्यये दक्षः, अर्थसञ्चये प्रवीणमतिः काले प्रदाता च भवितव्य इत्यस्ति रामायणसम्मतं मतम्।

चिकित्सा

चिकित्साविषयकं वर्णनं युद्धकाण्ड उपलभ्यते। यत्र सुषेणाभिद्यो[५८] वैद्यो युद्धे मूर्च्छितस्य लक्ष्मणस्य चिकित्सां करोति। हनुमन्तमुवाच सुषेण अयि सौम्य! अस्माद् स्थानात् **महोदयनामकं** गिरिं गच्छ, गत्वा च विशल्यकरणीं, सावर्ण्यकरणीं, सञ्जीवकरणीं, सन्धानीनाम्नीमौषधिमानय। विशल्यकरणीति आहतस्थानं शीघ्रं पूरयित्री, सावर्ण्यकरणी-सौन्दर्यकारिका, सञ्जीवकरणी-जीवनदायिका। इयं (सञ्जीवकरणी) औषधिः, साम्प्रतमपि लोकख्याता सञ्जीवनी नाम्ना, सन्धानी-अस्थिसन्धानकारिका। राजनीतिप्रकरणेऽपि श्रीरामः पप्रच्छ भरतम्[५९]-वैद्या आद्रियन्ते नैव वा? ते चावश्यमादरणीयाः सम्पूजनीयाश्च। विमर्शेनानेनागन्तुं पारयामो यन्नानाविधानामौषधीनां ज्ञातारो जनाः समाज अभूवन्, चिकित्साव्यवसायोऽपि आसीत् आजीविकाकारणमिति।[६०]

शास्त्राणामनेकानां नामानि तेषां प्रयोगेण च स्पष्टं भवति यत् स्वल्पाकारे बृहदाकारे वा आयुधशालानामस्तित्वमप्यासीत्। विमानचर्चापि[६१] रामायणे समुपलभ्यते, अतो विमानानि द्रव्योपार्जने हेतुभूतानि स्युरेव।[६२] बलातिबलानामके द्वे विद्येऽपि रामायणे प्राप्येते, के च ते? अनुसन्धानमपेक्षितमत्र। यद्यपि सर्वज्ञानस्य मातरौ स्तः। बलामतिबलां पठन् क्षुत्पिपासे न बाधेते इति कथयति भगवान् विश्वामित्रः, तथापि विस्तृमध्ययनमपेक्षितमेवानयोः विद्ययोः। तिसृणामन्यानामपि[६३] विद्यानामुल्लेख अयोध्याकाण्डे कृतो महर्षिणा। निष्कर्षरूपेण कथयितुं शक्नुमो यत् रामायणे सर्वासां प्रायो विद्यानां आजीविकाहेतु भूतानां व्यवसायानां च समाजे व्यवहार आसीत्। इतोऽपि रुचिकरं तथ्यमिदं यज्जनाः स्वधर्मनिरताः सच्चरित्राः सुखिनश्चासन्। शिक्षा मानवानां सम्पूर्णविकासाय सक्षमाऽऽसीत्। अतः सर्वैः सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा च सेवनीया पालनीयानुकरणीया रामायणशिक्षा।

---

५७. अष्टवर्गं त्रिवर्गं च -----। अयो० ७०.३८

५८. सौम्य शीघ्रमितो गत्वा पर्वतं हि महोदयम्। दक्षिणे शिखरे जातां महौषधिमिहानय।। विशल्यकरणीं नाम्ना सावर्ण्यकरणीं तथा। सञ्जीवकरणीं वीर सन्धानीं च महौषधीम्। युद्ध ४७/२५/२६ आर्यटीकायाम्। तत्रैव २४ तमे श्लोके महाप्रज्ञासुषेण नाम आयाति।

५९. वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे। अयो० ७०/ ८१ आर्य०

६०. इष्वस्त्रवर ....अयो० ९४/९/ अपि च रामायणस्य युद्धकाण्डोऽवलोकनीयः।

६१ ६०(क) हर्म्यैर्विमानैः प्रासादैरवेक्ष्य रथमागतम्। अयो० ५३/०९/ (ख) युद्धकाण्डे १९/४/५ श्लोकौ, आर्यटीकायाम्।

६२. मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा। बाल० १०/८/९/१०/ आर्य०

६३. अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव। अयो० ७०/३८ आर्य०

अन्ते च—

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात्स्यात्क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्
वणिग्जनः पुण्यफलत्वमीयात् जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्।।[६४]

६४. बाल. १/७९/ तथा च आर्य० ६/२० (बालकाण्ड)।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०७२-८०)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित वैदिक शिक्षा का स्वरूप

डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता
डॉ. दीपा गुप्ता

प्राचीन काल से ही शिक्षा मनुष्य के बौद्धिक और आध्यात्मिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम रही है। शिक्षा के द्वारा ही मनुष्य का जीवन समृद्ध और उन्नत होता है तथा उसकी बुद्धि और प्रज्ञा सुदृढ़ तथा प्रांजल होती है। कोई भी मनुष्य किसी अन्य मनुष्य से उसी स्थिति में श्रेष्ठ माना जाता है, जब उसकी बुद्धि और मस्तिष्क शिक्षा के द्वारा अधिक प्रखर और पूर्ण होते हैं, इसलिए विद्याहीन मनुष्य को पशुवत् कहा गया है।[१]

विद्या से ही मनुष्य अपना जीवन सार्थक करता है और इसके विना उसका जीवन निरर्थक एवं सारहीन रहता है। वास्तव में शिक्षा वह अमूल्य औषधि है, जो मनुष्य के अन्धविश्वास को मिटाती है और इससे उसे दूसरों के दृष्टिकोण को समझने में सहायता मिलती है। फलस्वरूप व्यक्ति न्यायप्रिय और दूरदर्शी बनता है। इसके संयोग से बुद्धि प्रखर, बोध-क्षमता विकसित और विवेक पुष्ट होता है। यह ऐसे मार्ग का दिग्दर्शन कराती है जिससे मनुष्य पथभ्रष्ट होने से बच जाता है तथा सही मार्ग का अनुसरण करके अपना इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन सुखमय बनाता है। शास्त्रों की वह उक्ति विद्या के महत्त्व को पूर्णरूपेण स्पष्ट करती है—

'स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।'

शिक्षा के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए शतपथ-ब्राह्मण में कहा गया है कि स्वाध्याय और प्रवचन करने से मनुष्य का चित्त एकाग्र होता है, वह स्वतन्त्र बनता है, नित्य उसे धन की प्राप्ति होती है, वह सुख से सोता है, उसका इन्द्रियों पर संयम होता है। उसकी प्रज्ञा बढ़ती है। उसे यश मिलता है और वह अपने को संसार के अभ्युदय में लगा देता है।[२] वैदिक साहित्य की भाँति रामायण में भी प्राचीन शिक्षा के स्वरूप का आदर्श वर्णन मिलता है। लेकिन रामायणकालीन शिक्षा के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उस समय में प्रचलित शिक्षाकेन्द्रों का अध्ययन करें। रामायण में शिक्षाकेन्दों के रूप में गुरुकुलीय शिक्षापद्धति का बड़ा ही मनोरम वर्णन मिलता है। इसमें विद्यार्थी उपनयन-संस्कार के उपरान्त गृहत्याग कर गुरु के सान्निध्य में रहकर पूर्ण एकाग्रता और लगन के साथ विभिन्न विषयों की शिक्षा प्राप्त करते थे। इसी कारण छान्दोग्य उपनिषद् में विद्यार्थी के लिए **'अन्तेवासी'** शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है—'आचार्य के सान्निध्य में वास करने वाला।[३]' साधारणत: गुरुकुलों का निर्माण गाँवों तथा शहरों के कोलाहल से दूर ऐसे स्थानों पर किया जाता था, जो प्राकृतिक सौन्दर्य से भरपूर हो, जहाँ जल सुलभ हो, जहाँ जीवन की सुविधायें सरलता से जुटाई जा सकें और जहाँ विद्यार्थी,

---

१. नीतिशतक, १६ 'विद्याविहीन: पशुभि: समाना।'
२. शतपथ-ब्राह्मण, ११/५/७/१-५
३. छान्दोग्य उपनिषद्, २/२३/१,४/९/१,४/१०/१,

अभिभावक या अन्य श्रद्धालुजन सरलता से पहुँच सकें, इसलिए अधिकांशतः गुरुकुल नदियों के तटवर्ती प्रदेशों तथा पर्वतों की तलहटियों में स्थापित किये जाते थे। रामायण के अनुसार भारद्वाज, वाल्मीकि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, अगस्त्य तथा परशुराम ऋषि के आश्रम उच्चकोटि के गुरुकुल थे। जहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी और जहाँ बहुसंख्यक छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे।

महर्षि भारद्वाज का आश्रम उत्तर में गङ्गा को पार करके दक्षिणी तट पर गङ्गा-यमुना के सङ्गम पर, जो तत्कालीन समय में प्रयाग के नाम से प्रसिद्ध था, में स्थित था। यह अपने समय का अत्यधिक प्रसिद्ध महान् शिक्षाकेन्द्र था। रामायण में इस आश्रम के वातावरण का बड़ा ही मनोरम वर्णन मिलता है।[४] महर्षि भारद्वाज की कुलपति के रूप में ख्याति चारों दिशाओं में फैली हुई थी। यहाँ विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। राम को वापिस लाने के लिए चित्रकूट की ओर जाते हुए भरत ने एक रात इसी आश्रम में विश्राम किया था। तब महर्षि भारद्वाज ने भरत का यथोचित सत्कार किया था।[५] वनवास से लौटकर आते समय राम ने भारद्वाज मुनि से अयोध्या का हालचाल पूछा था।[६] इस आश्रम में वेद-वेदाङ्गों की शिक्षा के साथ अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा भी दी जाती थी।

रामायण के रचियता वाल्मीकि का आश्रम भी अपने समय का महान् शिक्षाकेन्द्र था। रामायण के अनुसार यह आश्रम अयोध्या से चलकर गङ्गा को पार करके दूसरे पार तमसा (सम्भवतः टौंस) नदी के तट पर स्थित था।[७] यहीं पर उन्होंने राम के पुत्रों लव और कुश का स्वयं अपने तपोवन में उपनयन संस्कार करके विद्याध्ययन कराया था। वाल्मीकि ने उन्हें त्रयी और धनुर्वेद आदि की शिक्षा दी थी। इस धनुर्विद्या में वे इतने दक्ष हो गये थे कि उन्होंने राम के अश्वमेध यज्ञ के अश्व को पकड़कर पिता की सारी सेना को पराजित कर दिया था। आचार्य वसिष्ठ का आश्रम हिमालय की तलहटियों में स्थित था। आश्रम की पवित्रता और रमणीयता ऋषियों, मयूरों, फल के वृक्षों और नदी की झरनों से सुशोभित थी।[८] विश्वामित्र का आश्रम भी विद्या के केन्द्र के रूप में विख्यात था। यह आश्रम गङ्गा और सरयू नदियों के सङ्गम पर स्थित था। वर्तमान समय में यह स्थल बक्सर कहलाता है, जो पटना से काफी दूर पूर्व में स्थित है। बक्सर के समीप सिद्धासन है, जिसको विश्वामित्र का आश्रम माना जाता है। यहाँ के उत्खनन से यज्ञ-कुण्ड तथा अन्य यज्ञीय सामग्री के अवशेष प्राप्त हुए हैं। राम-लक्ष्मण ने इसी स्थान पर महर्षि विश्वामित्र से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त थी और उनके यज्ञ को विध्वंस करने वाले राक्षसों का संहार किया था।[९] अगस्त्य मुनि का आश्रम गोदावरी नदी के तट पर स्थित था। यह आश्रम ब्रह्मविद्या (वेदान्त) के अध्ययन का महान् केन्द्र था। इस विद्या का अध्ययन करने के लिए छात्र दूर-दूर से इस आश्रम में आते थे। वनवास की अवधि

---

४. रामायण, २/५४,

५. वही, २/९०/८,

६. वही, २/१२४/२, सोऽपृच्छदभिवाद्यैनं भारद्वाजं तपोधनम्। शृणोषि कश्चिद् भगवन्सुभिक्षानामयं पुरे। कश्चित्स युक्तो भरतो जीवन्त्यपि च मातरः।।'

७. वही, ३/४५/१७-१८ 'गङ्गायास्तु परे पारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः। आश्रमो दिव्यसङ्काशस्तमसा तीरमाश्रितः।।'

८. वही, २/५१/२३-५८, १/५२/४,

९. वही, १/२७-२८,

में जब राम अगस्त्य मुनि के आश्रम में आये थे तो उन्होंने राम को प्रयोग विधि सहित दिव्यास्त्र प्रदान किये थे।[१०] अगस्त्य-लोपामुद्रा के कहने पर ही राम ने अपनी कुटी गोदावरी नदी के तट पर बनाई थी। अगस्त्य के इस आश्रम की पहचान नासिक से १५ मील दूर अकोल्हा ग्राम से की जाती है। रामायण के अनुसार इस आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, महेन्द्र, विवस्वान् (सूर्य), सोम, भग, कुबेर, धाता, विधाता, वायु, वरुण, गायत्री, वसुगण, नागराज, गरुड़ तथा कार्तिकेय के स्थान बने हुए थे।[११] सम्भवतः यहाँ पर इन्हीं देवताओं से सम्बद्ध साहित्य और विज्ञान का अध्ययन होता था। परशुराम का आश्रम महेन्द्र पर्वत पर था। राजशेखर के अनुसार यह स्थान कोंकण में है।[१२] जबकि अनेक विद्वान् इसकी स्थिति उड़ीसा में मानते हैं। ये अपने समय के युद्धकाल के सर्वश्रेष्ठ आचार्य थे। इस आश्रम में प्रयोग, रहस्य और विधि के साथ सभी अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दी जाती थी।

गुरुकुलों के अतिरिक्त इस समय अनेक नगर भी शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। इन नगरों में अयोध्या का स्थान सबसे महत्त्वपूर्ण था। यहाँ पर अनेक शिक्षाकेन्द्र थे। जिनमें पारम्परिक शास्त्रीय ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक एवं सांस्कृतिक विषयों की भी शिक्षा दी जाती थी। उदाहरणार्थ, इक्ष्वाकु-वंशी राजकुमारों के सैन्य शिक्षक का एक आश्रम अयोध्या में या उसके आस-पास कहीं बसा हुआ था। इस आचार्य के घर पर शस्त्राभ्यास के निमित्त राम-लक्ष्मण के शस्त्रास्त्र और कवच रखे रहते थे।[१३] यह आचार्य सम्भवतः सुधन्वा ही थे, जो बाण आदि अस्त्रों के प्रयोग में विलक्षण तथा अर्थशास्त्र के विशारद थे। राम ने उनका सम्मान करने के लिए भरत को चित्रकूट में विशेष रूप से स्मरण दिलाया था।[१४] अयोध्या के परम्परागत राजपुरोहितों वसिष्ठ का एक विद्यालय भी अयोध्या में था। इसका सञ्चालन राजकुमारों के सखा सुयज्ञ-वसिष्ठ करते थे। वनप्रस्थान करते समय राम ने सुयज्ञ को अपने यहाँ आदरपूर्वक बुलाया था और अपनी तथा सीता की अनेक सुन्दर एवं बहुमूल्य वस्तुयें उनके और उनकी पत्नी के लिए भेंट की थीं। अयोध्या में एक शिक्षणालय तैत्तिरीयों का था। इसके अभिरूप नामक एक वैदिक आचार्य को राम से वाहनों, कौशेय वस्त्रों तथा दासियों का उपहार मिला था।[१५] इसके अतिरिक्त अगस्त्य तथा कौशिक आदि ऋषियों के आश्रम भी राजधानी में रहे होंगे, क्योंकि इन्हें राम के द्वारा उपहार स्वरूप वस्तुयें प्राप्त हुई थीं।[१६] राजधानी में रहने वाले मेखलाधारी ब्रह्मचारियों का एक पृथक् संघ भी था। राजपरिवार पर उनके भरण-पोषण का भार रहता था। राम के वन गमन के समय इस संघ के सदस्य कौशल्या के पास सहायतार्थ आये थे।[१७] सम्भवतः, इन वैदिक आश्रमों और अध्येताओं के अतिरिक्त के कारण ही अयोध्या निवासियों में कोई अशिक्षित या

---

१०. वही, ३/१२/३२-३६,

११. वही, ३/११/७५-८०, ३/१२/१७-२१,

१२. बालरामायण, २/३,

१३. रामायण, २/३१/३१ 'सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि। सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण।।'

१४. वही, २/१००/१४, इष्वस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे।।'

१५. वही, २/३२/१५-१६,

१६. वही, २/३२/१३-१४,

१७. वही, १/३२/२२, 'मेखलीनां महासंघः कौसल्यां समुपस्थितः। तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदायकः।।'

अल्पशिक्षित व्यक्ति ढूंढे नहीं मिलता था।

इसके अतिरिक्त तक्षशिला भी शिक्षाकेन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था। कहा जाता है कि इसकी स्थापना राम के छोटे भाई भरत ने की थी और अपने पुत्र तक्ष को यहाँ का शासक नियुक्त किया था।[१८] इसी तक्ष के नाम पर इसका नाम तक्षशिला पड़ा था। वर्तमान समय में यह स्थल वर्तमान पाकिस्तान में रावलपिंडी के समीप स्थित है।। तक्ष ने ही यहाँ पर एक महान् शिक्षाकेन्द्र की स्थापना की, जो आगे चलकर शिक्षा के एक महान् केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हुआ। ऋषियों की तपोभूमि और शिक्षाकेन्द्र के रूप में नैमिषारण्य भी एक प्रसिद्ध तीर्थ था। गोमती के तट पर स्थित यह केन्द्र एक महान् विश्वविद्यालय की भाँति ही था। ज्ञान के इच्छुक छात्र यहाँ दूर-दूर से आते थे, शौनक यहाँ के प्रसिद्ध कुलपति थे। रामायण में अनेक स्थलों पर नैमिषारण्य का उल्लेख मिलता है।

गुरुकुलों में गुरु तथा शिष्य के परस्पर सम्बन्ध अत्यन्त मधुर, स्नेहिल तथा सौहार्द्रपूर्ण होते थे। जहाँ विद्यार्थी अपने गुरुओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। वहाँ आचार्य भी उनके साथ पुत्रवत् व्यवहार करते थे। अथर्ववेद के अनुसार माता शरीर देने के कारण जननी है, पिता पोषण करने के कारण जनक है, किन्तु गुरु मस्तिष्क, चरित्र एवं व्यक्तित्व का निर्माता होने के कारण बालक का आध्यात्मिक बौद्धिक एवं मानसिक जनक है।[१९] वैदिक साहित्य की यही अवधारणा रामायण में भी अभिव्यक्त होती है। रामायण के अनुसार माता-पिता और ज्येष्ठ भ्राता की तरह गुरु भी शिष्य के पितरों में गिना जाता है, क्योंकि वह विद्या का श्रेष्ठ ज्ञान देता है।[२०] रामायण में एक स्थल पर वसिष्ठ राम से कहते हैं कि माता-पिता तो पुत्र को केवल जन्म देते हैं, जबकि शिक्षक उसे प्रज्ञाचक्षु देता है, इसी कारण वह गुरु कहलाता है।[२१] राम ने स्वयं भी माता-पिता के समान गुरु को आराधना और अर्चना का पात्र बताया है।[२२] गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त करते समय विद्यार्थियों में आपस मे ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव नहीं होता था। गुरु भी उनके साथ समानता का व्यवहार करते थे। छात्र चाहे धनी हो या निर्धन, उच्च कुल का हो या निम्न कुल का, राजा हो या रंक, बुद्धिमान् हो या जड़मति, आचार्य सबके प्रति समानता का व्यवहार करते थे। गुरुकुलों मे शिष्यों को गुरु केवल सैद्धान्तिक ज्ञान की ओर ही उन्मुख नहीं करते थे, वरन् ज्ञान और कर्म के सामञ्जस्य का महत्त्व समझाते हुए उन्हें मध्यममार्गी जीवन जीने का सन्देश देते थे। गुरु विद्यार्थियों को कुशल, व्यावहारिक, सक्षम, कार्यकुशल, सजग, ज्ञानी एवं उत्तरदायी नागरिक बनाकर सब प्रकार से योग्य बनाते थे। शिष्य भी गुरु के प्रति भक्तिभाव रखना, उनकी आज्ञाओं का पालन करना और उनकी सेवा करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। राम विना किसी प्रश्न के एक स्त्री (ताड़का) का वध करने को इसलिए तैयार हो गये, क्योंकि यह गुरु की आज्ञा थी।[२३] इस प्रकार शिष्यों में नवजीवन का सञ्चार करने वाले गुरु निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते थे

१८. वही, ७/१०१/१०-१६,
१९. वही, ११/५/३,
२०. रामायण, ४/१८/१३, 'ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति। त्रयस्ते पितरो ज्ञेया धर्मे च पथि वर्तिनः।।'
२१. वही, २/१११/३, 'पिता ह्येनं जनयति पुरुषं पुरुषर्षभ। प्रज्ञां ददाति चाचर्यस्तस्मात्स गुरुरुच्यते।।'
२२. वही, २/३०/३३, 'अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते। स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम्।।'
२३. वही, १/२५/२२,'

और उनकी समस्त जिज्ञासाओं का समाधान करते थे। गुरु अपने छात्र से कुछ भी नहीं छिपाते थे और शिष्य भी निःस्वार्थ भाव से दिन-रात पूर्ण निष्ठा एवं लगन से उनकी सेवा में तल्लीन रहते थे। गुरु-शिष्य के ये सम्बन्ध केवल अध्ययन काल तक ही सीमित नहीं रहते थे, वरन् गृहस्थाश्रमी बनकर भी शिष्य गुरु के पास दक्षिणा सहित भेंट करने आते थे।[२४] गुरु भी अपने शिष्यों के घरों में जाया करते थे। फलतः शिष्य भी जीवन पर्यन्त विद्यानुरागी बने रहते थे।

लेखन कला के स्वल्प प्रचार तथा कागज और छपाई के पूर्ण अभाव के कारण शिक्षा अधिकतर मौखिक रूप से ही दी जाती थी। शिष्य अपने अर्जित ज्ञान को जीवन पर्यन्त स्थित रख सके, इसके लिए उनकी स्मरणशक्ति को बढ़ाने का प्रयास किया जाता था। आचार्य छात्र को उपदेश देते थे और छात्र उसको स्मरण कर लेते थे। अयोध्या के ब्राह्मणों ने राम से कहा था कि हमारी जो बुद्धि सदा वेद-मन्त्रों के चिन्तन में लगी रहती है, आपको वन जाते देख वहीं वनवास का निश्चय कर चुकी है, हमारे परम धन वेद तो हमारे हृदय में स्थित रहेंगे ही।[२५] जनसमूहों में रामायण कण्ठाग्र सुनाते समय लव-कुश के पास कोई लिखित पुस्तक या संकेत होने का प्रमाण नहीं मिलता। चूँकि उस समय वेद ही अध्ययन के प्रमुख विषय थे, इसलिए आचार्य शब्दों के शुद्ध उच्चारण पर बहुत अधिक बल देते थे, ताकि वेदों के पाठ में लेशमात्र भी स्वर या उच्चारण दोष न होने पाये। लेकिन यदि छात्र को अध्ययन में किसी प्रकार की कठिनाई होती थी तो उसे मन्त्र का अर्थ और भी स्पष्ट कर दिया जाता था। ऋग्वेद के **'अनुब्रुवाणो अध्येति'** में इसी विधि का निर्देश किया गया था।[२६] उपनिषदों के अनुसार छात्र पहले आचार्य की शिक्षा को ध्यानपूर्वक सुनता था, उसके बाद उस पर विचार करता था और अन्त में उसके अनुकूल अपने व्यक्तित्व का विकास करता था। इस प्रकार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन शिक्षा के महत्त्वपूर्ण चरण थे। इस शिक्षण-पद्धति से सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि भारतवर्ष की ज्ञान की विविध शाखाओं को विविध वर्गों में आचार्यों और उनके छात्रों ने कण्ठस्थ कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जब विदेशी आक्रान्ताओं द्वारा हमारे पुस्तकालयों को जलाकर राख कर दिया गया, तब ज्ञान इसी परम्परा के द्वारा अक्षुण्ण रहा।

लेकिन इसके बावजूद लेखन कला का सर्वथा अभाव नहीं था। रामायण के अनुसार राम ने जो अँगूठी हनुमान् द्वारा लङ्का में सीता के पास भिजवाई थी, उस पर नाम अंकित था। लेकिन तत्कालीन समय में मुद्रण कला का आविष्कार नहीं हुआ था, इसलिए पुस्तकों को हाथ से ही लिखा जाता था। छात्र पूरी पुस्तक की प्रतिलिपि हाथ से ही लिखकर पूर्ण कर लेते थे और उसके अध्ययन को गति देते थे। प्रसिद्ध है कि रामायण की रचना को अभिनय प्रबन्ध के रूप में लिखकर और पुस्तकाकार बाँधकर वाल्मीकि ने शिष्य भरतमुनि के पास भेजा था, जिसका अभिनय उन्होंने अप्सराओं द्वारा कराया था। इसी प्रकार युद्धकाण्ड के अन्त में दी गई फलश्रुति में रामायण लिखने

---

२४. वही, ६/१२४/२, २/३२/१५, २/३२/१३,

२५. वही, २/४५/२४-२५, 'या हि नः सततं बुद्धिर्वेदमन्त्रानुसारिणी। त्वत्कृते सा कृता वत्स वनवासानुसारिणी।।' हृदयेष्ववतिष्ठन्ते वेदा ये नः परं धनम्।

२६. ऋग्वेद, ७/१०३/५, ४/४४/१,

वालों तथा उसकी प्रतिलिपि तैयार करने वालों को स्वर्ग का अधिकारी बताया गया है।[२७]

शिक्षणविधि को सरल, सुबोध तथा आकर्षक बनाने के लिए उदाहरणों एवं कथाशैलियों का प्रयोग किया जाता था। इसके द्वारा गुरु रोचक एवं उपदेशपूर्ण कथाओं को सुनाकर शिष्य को ऊँचे धार्मिक एवं नैतिक सिद्धान्त हृदयङ्गम करा देते थे। ये कथायें परम्परागत होती थीं और उनमें महान् नर-नारियों की स्मरणीय कृतियाँ उपनिबद्ध रहती थीं। इस प्रकार इन कथाओं द्वारा शिष्यों को गुरु पौराणिक साहित्य से भी अवगत करा देते थे। रामायण के अनुसार आश्रामों में सायंकाल का समय प्राय: कथा-वार्ता में व्यतीत होता था।[२८] बालकाण्ड में विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को उनके पूर्वजों के चरित्र तथा पावन गङ्गा को भूलोक पर लाने वाले भागीरथ के पराक्रम की गाथा सुनाते हैं। साथ ही इन राजकुमारों को उनका अनुकरण करने के लिए भी प्रोत्साहित करते हैं। उत्तरकाण्ड तें भी ऐसे बहुत से आख्यान मिलते हैं।

शिक्षणविधि को और अधिक रोचक बनाने के लिए प्रश्नोत्तर, विचार-विमर्श ओर तर्क-वितर्क का प्रयोग किया जाता था। इस विधि की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इसके अन्तर्गत छात्र कभी निष्क्रिय श्रोता नहीं रहता था। अपितु सदैव सक्रिय, सचेत जागरूक रहता था। रामायण में अनेक ऐसे प्रसङ्ग मिलते हैं, जब गुरु अपने शिष्यों को प्रश्नोत्तर तथा तर्क-वितर्क के द्वारा जटिल विषयों को आसानी से समझा देते थे। राम असाधारण वक्ता थे। अपने न्याययुक्त पक्ष के समर्थन में वे वाचस्पति के समान एक से बढ़कर एक युक्तियाँ देते थे।[२९] अस्त्र चलाने का अभ्यास करते समय उन्हें जो अवकाश के क्षण मिलते थे, उनमें वे चरित्रज्ञान तथा आयु में बड़े सत्पुरुषों से सदा बातचीत करते और उनसे शिक्षा लेते थे।[३०] सुशासित राज्यों के विद्वज्जन वनों-उपवनों में जाकर निश्चिन्तता से शास्त्रचर्चा किया करते थे।[३१] इन चर्चाओं में तर्क और विश्लेषण की पद्धति अपनाई जाती थी। छात्रों के साहित्यिक प्रशिक्षण में ये तर्क-वितर्क बड़े सहायक होते थे।

अर्जितज्ञान कहीं शिथिल या विस्मृत न हो जाए, इसके लिए प्राचीन शिक्षा शास्त्रियों ने दैनिक स्वाध्याय या अभ्यास की प्रणाली निकाली थी, जिसमें विद्यार्थी गुरु से प्राप्त ज्ञान को नित्य नियमपूर्वक दोहराता था और कण्ठस्थ किये हुए शास्त्रों का बारम्बार पाठ करता था। वनवास जाते समय राम ने जिन ब्रह्मचारियों को दान-दक्षिणा से सन्तुष्ट किया था, वे '**नित्यस्वाध्ययशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन**' निरन्तर स्वाध्याय में लगे रहने के कारण और कुछ भी नहीं करते थे। इस प्रकार यह अध्ययन प्रणाली जब कागज और मुद्रणकला का आविष्कार नहीं हुआ था, सर्वोत्तम थी।

रामायण के अनुसार इस समय छात्रों को अनेकानेक विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि शिक्षण-

---

२७. रामायण, ६/१२८/२० 'भक्त्या रामस्य ये चेमां संहितामृषिणा कृताम्। ये लिखन्तीह य नरास्तेषां वासस्त्रिविष्टये।।'
२८. वही, २/५४/३४, 'चित्रा: कथयत: कथा:।'
२९. वही, २/१/१७, 'उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।'
३०. वही, १/१/१२, ' शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनै:।' कथयन्नास्ति वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि।।'
३१. वही, २/६७/२६, नाराजके जनपदे [illegible]सः शास्त्रविशारदाः। संवदन्तोपतिष्ठन्त वनेषूपवनेषू वा

विषयों में वेदों का प्रमुख स्थान था, लेकिन इसके साथ-साथ शब्द, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, गणितशास्त्र, अर्थशास्त्र, युक्तिशास्त्र, इतिहास, सांख्य, न्याय, कर्मकाण्ड, दर्शन, उपनिषद्, गन्धर्वविद्या, वेदाङ्ग, आयर्वेद, शल्य-चिकित्सा, वार्त्ता, उपवेद तथा विविध कलों आदि अध्ययन के प्रमुख विषय थे।[३२] रामायण के अनुसार दशरथ, राम, भरत, लक्ष्मण तथा शत्रुघ्न आदि सभी वेदविद् अर्थात् चारों वेदों के ज्ञाता थे।[३३] अयोध्याकाण्ड में ब्राह्मण राम से कहते हैं कि हमारी जो बुद्धि सदा वेद मन्त्रों के चिन्तन में लगी रहती है, आपको वन जाते देख वही वनवास का निश्चय कर चुकी है, हमारें परम धन वेद तो हमारे हृदय में ही स्थित रहेंगे।[३४] अन्यत्र कहा गया है कि राजा को वेद, नीतिशास्त्र, धनुर्वेद, सांख्य, न्याय, गन्धर्व, विद्या तथा राजनीति का ज्ञाता होना चाहिए।[३५]

चूँकि तत्कालीन समय में जनपदों और जातियों में प्रायः युद्ध होते रहते थे। इसलिए सैन्य-शिक्षा एक अनिवार्य आवश्यकता थी। सैन्यविद्या का बोध धनुर्वेद के नाम से होता था। धनुर्वेद के अन्तर्गत सभी शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की शिक्षा विद्यार्थी को दी जाती थी। इसके अन्तर्गत विद्यार्थियों को शब्दवेध (शब्द सुनकर लक्ष्य वेध करने की), अस्त्रों के संग्रहण, संहार, पाणिलाघव (शस्त्रास्त्रों के प्रयोग में हाथों की सफाई) तथा शत्रु के शस्त्रों का निवारण सभी कुछ सिखाया जाता था। सुयोग्य गुरु की देख-रेख में धनुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने के बाद यह आवश्यक माना जाता था कि विभिन्न युद्ध प्रणालियों का वास्तविक अभ्यास किया जाए। इसलिए युवराजों को युद्ध का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त कराने के लिए उच्च सैन्य अधिकारियों के साथ मोर्चों पर भेजा जाता था। राजकुमार राम और अङ्गद सैनिक अभियानों में जाया करते थे।[३६] शासक वर्ग के अतिरिक्त सामान्य प्रजाजन भी किसी न किसी स्तर पर सैनिक शिक्षा को अवश्य ग्रहण करते थे। यही कारण है कि प्राचीन समय में सैन्य-शिक्षा के लिए विशेष विद्यालयों की स्थापना का प्रबन्ध था। रामायण में भी सैन्य विद्यालयों के अस्तित्व के संकेत मिलते हैं। गुरुकुल में आचार्यो द्वारा सैन्य-शिक्षा का पूर्ण प्रबन्ध किया जाता था। राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न ने वसिष्ठ ऋषि के गुरुकुल में सैन्य-शिक्षा प्राप्त की थी। महर्षि विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को विशिष्ट आयुधों का सञ्चालन सिखाया था।[३७] अगस्त्य मुनि ने भी राम को नवीन शस्त्रास्त्रों का ज्ञान दिया था।[३८] लव-कुश ने वाल्मीकि से धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी।

तत्कालीन समाज में स्त्रियों की शिक्षा का पूरा ध्यान रखा जाता था। रामायण में अनेक ऐसी स्त्रियों के उल्लेख मिलते हैं, जो अपने वैदुष्य के कारण अति प्रसिद्ध थीं। इनमें सीता, कौशल्या, कैकेयी तथा मन्दोदरी के

---

३२. वही, १/१०/२७, १/१३/१६, १/४४/१६, २/२/६, २/१८/४०, २/१००/४७, ६८, ५/२६/६, ६ /१०५/१३, ६/१०९/२३,

३३. वही, १/१/१३, १/६/१, १/१७२१४,

३४. वही, २/४५/२४,

३५. वही, १/१०/२७, २/२/६,

३६. वही, २/२/३६-३७, ४/२९/३३,

३७. वही, १/२७-२८,

३८. वही, ३/१२ /३२-३६, ६/१४८/४,

नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। रामायण के अनुसार कौशल्या ने राम के लिए दो बार स्वस्त्ययन (यज्ञ) किया था। प्रथम बार विश्वामित्र के साथ राक्षसों से यज्ञ की रक्षा के लिए भेजते समय और द्वितीय बार चौदह वर्षों के वनवास की आज्ञा देते समय।[39] एक अन्य स्थल पर कौशल्या के द्वारा मन्त्रपूर्वक अग्नि में आहुति देने का उल्लेख मिलता है।[40] इसी प्रकार वालि के सुग्रीव के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थान करने से पूर्व उसकी पत्नी तारा के द्वारा यज्ञ करने का उल्लेख मिलता है।[41] जिससे पता चलता है कि ये दोनों नारियाँ मन्त्रविद् (वैदिक साहित्य की ज्ञाता) थीं। सीता भी प्रतिदिन वैदिक सूक्तों द्वारा सन्ध्या-पूजन करती थी।[42] वैदिक साहित्य के अतिरिक्त स्त्रियों को इतिहास, पुराण एवं ललित कलाओं आदि विषयों की शिक्षा दी जाती थी। क्षत्रिय स्त्रियों को सैनिक विद्या की शिक्षा भी दी जाती थी, ताकि आवश्यकता पड़ने पर युद्ध-क्षेत्र में वे अपने पति का साथ दे सकें। कैकेयी इसका उदाहरण है। रामायण के अनुसार देवासुर संग्राम में कैकेयी अपने पति राजा दशरथ के साथ गई थी। जब दशरथ शत्रु के प्रहार से घायल हो गये तो कैकेयी ने न केवल उनकी रक्षा की वरन् स्वयं युद्ध का सञ्चालन भी किया।[43] इससे पता चलता है कि वे रथ सञ्चालन के साथ-साथ शस्त्रविद्या में भी निपुण थी।

रामायण में अनेक ऐसी स्त्रियों के भी उल्लेख मिलते हैं, जो आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए आश्रमों में निवास करती थीं और स्वाध्याय, यज्ञ एवं तपस्या में निरत रहती थीं। रामायण के अनुसार उस समय देश में कई आश्रम थे, जहाँ सुशिक्षित तपस्विनियाँ धर्मचर्या और कर्मकाण्ड में निरत रहती थीं। ऐसी स्त्रियों में सावर्णि ऋषि की पुत्री स्वयंप्रभा का नाम विशेष उल्लेखनीय है। यह अपने पिता के आश्रम में रहते हुए तपस्वी जीवन व्यतीत करती थी। सीता की खोज करते समय हनुमान् वानरों सहित इस तपस्विनी से मिले थे।[44] इसी प्रकार ब्रह्मर्षि कुशध्वज की कन्या वेदवती ने भी अपने पिता के सान्निध्य में वेदों और कर्मकाण्डों की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। यह हिमालय के निकट आश्रम में रहती थी और कृष्ण मृगचर्म तथा जटाजूट धारण कर ऋषियों की भाँति जीवन व्यतीत करती थी।[45] शबरी ने भी ब्रह्मवादिनी की भाँति शिक्षा प्राप्त की थी। शबरी पंपा के निकट मतङ्गाश्रम में शिक्षा प्राप्त करते हुए नियमों का पालन एवं धर्माचरण करती थी।[46] वाल्मीकि ने उसके लिए चीरकृष्णाजिनाम्बरा, जटिल, सिद्धा और तापसी जैसे विशेषण प्रयुक्त किये हैं, जिससे पता चलता हैं कि वह अत्यन्त विदुषी महिला थी।

इस प्रकार रामायणकालीन शिक्षा के स्वरूप पर विहङ्गम दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि

---

३९. वही, १/२२/२, २/२५/३७-३९,
४०. वही, २/२०/१५,
४१. वही, ४/१६/१२, 'ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणी।'
४२. वही, ५/१५/१८, 'सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी' नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थं वरवर्णिनी।।'
४३. वही, २/९/१२,. १६,
४४. वही, ४/१२/१, ४/५०/५२,
४५. वही, ७/१२/२, ७/३०/२१-३२,
४६. वही, ३/७४/३२/, ३/७४/७,

तत्कालीन समय में शिक्षा का उद्देश्य समाज को साक्षर ही नहीं, अपितु सुसंस्कृत भी बनाना था। छात्र को शिष्टाचार, विन्रमता और सुशीलता, संयम और सदाचार, सत्य, दया और धर्मपरायणता की भावनाओं से प्रेरित कर उसे एक सुयोग्य नागरिक बनाना शिक्षा का यथार्थ लक्ष्य था। इसका उत्तरदायित्व समाज ने उन ऋषि-मुनियों के हाथों में सौंप रखा था, जो स्वयं अरण्यों में रहकर त्याग और धार्मिक अनुशासन का जीवन व्यतीत करते थे। इस प्रकार धर्म और सदाचार की शिक्षा केवल उपदेशों द्वारा नहीं अपितु क्रियात्मक जीवन के उदाहरण के रूप में उपस्थित की जाती थी। इस प्रकार विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास करना, उसके शारीरिक और मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक, धार्मिक और व्यावहारिक तथा व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को समुन्नत करना शिक्षा का मूलभूत आदर्श था। आज हमें अपनी शिक्षापद्धति में रामायणकालीन प्राचीनता और नवीनता के मणि-कांचन संयोग की आवश्यकता है। ताकि विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके।

सहायक ग्रन्थ

१-अल्तेकर, अनन्त सदाशिव, प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, १९६८१।

२-कृष्ण कुमार, प्राचीन भारत की शिक्षापद्धति, मयंक प्रकाशन, कनखल, हरिद्वार, १९९९।

३-व्यास, शान्तिकुमार नानूराम, रामायणकालीन संस्कृति, साहित्य मण्डल, नई दिल्ली, १ ९६४।

४-मुखर्जी, राधाकुमुद, एशियेण्ट इण्डियन एजुकेशन, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, १९६०।

५-सरकार एस० सी०, एजूकेशनल आइडियाज एण्ड इन्स्टिट्यूशन्स इन ंशियेण्ट इण्डिया।

६-वेङ्कटेश्वर, एस० वी०, इण्डियन कल्चर थ्रू दि एजेज, भाग १, लन्दन, १९२८।

वाल्मीकि-रामायण में शिक्षा का स्वरूप

डॉ० विजेन्द्र शास्त्री

शिक्षा का मानव जीवन में अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा के अभाव में सफल मानव जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि मनुष्य इतर प्राणियों के सदृश मात्र स्वाभाविक ज्ञान द्वारा जीवन यापन नहीं कर सकता। वह तो नैमित्तिक ज्ञान अर्थात् शिक्षा द्वारा ही सुव्यवस्थित जीवन यापन में करने में सक्षम होता है। सृष्टि के आदि में मानव ने जब प्रथम नेत्र उन्मीलन किया तब परम गुरु[१] ने उन्हें वेद के रूप में नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त कराया। वेदो में अनेकत्र शिक्षा विषयक वर्णन उपलब्ध होता है। अथर्ववेद स्पष्ट आज्ञा देता है कि बालक-बालिकाओं को उपनयन-संस्कार के पश्चात् आचार्यकुल में निवास करना चाहिए। वहाँ ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्या ग्रहण करनी चाहिए।[२] ब्रह्मचारी को ऋग्वेद में वेदों का अङ्ग कहा है।[३] वैदिक समाज-व्यवस्थानुसाार मानवजीवन को चार भागों में (आश्रमों में) विभक्त किया गया है। इसमें सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष को यह आवश्यक है कि वह अपने जीवन का प्रथम भाग ब्रह्मचर्याश्रम में व्यतीत करे अर्थात् माता-पिता से पृथक् होकर आचार्य कुलों में निवास करें और वहाँ विभिन्न विद्याओं का विद्वान् होकर स्नातक बनें।

वैदिक काल में ऋषियों-मुनियों ने वेदानुसार शिक्षा की उत्तम व्यवस्था स्थापित की थी। जिसका ब्राह्मणग्रन्थों-आरण्यकों, उपनिषदों तथा रामायणिक इतिहास ग्रन्थों में विशद् चित्रण उपलब्ध होता है। यहाँ वाल्मीकि-रामायण के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के स्वरूप का अध्ययन अपेक्षित है।

वाल्मीकि-रामायण एक आर्षकाव्य है। जो प्राचीन गौरवमय वैदिक संस्कृति का उज्ज्वल स्वरुप हमारे समक्ष उपस्थित करता है। वैदिक संस्कृति में आश्रमों की उत्तम व्यवस्था थी, जो मानव जीवन को उसके परमलक्ष्य (मुक्ति) तक पहुँचाने में परम सहायक सिद्ध थी। वाल्मीकि-रामायण में भी आश्रम व्यवस्था अपने उत्कृष्ट रूप में दृष्टिगोचर होती है। उस समय बालक-बालिकायें अपने जीवन के प्रथम चरण में आचार्यकुल में रहकर अनुशासन तथा तपस्या का जीवन व्यतीत करते थे। कौशलराज दशरथ के पुत्रों को भी उस युग की परम्परानुसार गुरुकुल में शिक्षा ग्रहण करनी पड़ी थी।[४] वहाँ आचार्यकुल में निवास करते हुए विद्यार्थियों को रामायणकाल में ये आरण्यकाश्रम विद्या, ज्ञान एवं शिक्षा के मुख्य केन्द्र थे। उनमें गुरु एवं शिष्य एक विशाल परिवार की भाँति निवास करते थे।

विद्या के केन्द्र ऋषियों के आश्रमों का इतना सात्त्विक वातावरण होता था कि उनमें प्रवेश करने मात्र से

---

१. स पूर्वेषामपि गुरुः योगदर्शन
२. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः। अथर्ववेद ११.५.३
३. ऋग्वेद १०/१०/९/५
४. वाल्मीकि-रामायण २/१२/८४

तामसिक वृत्तियाँ दग्ध और सात्त्विक वृत्तियाँ उत्पन्न हो जाती थीं। वाल्मीकि-रामायण में ऐसे अनेक आश्रमों का वर्णन उपलब्ध होता है, जिनमें भारद्वाज, अगस्त्य, वसिष्ठ, अत्रि, शरभङ्ग, वाल्मीकि, गौतम, सुतीक्ष्ण और शबरी के आश्रम प्रमुख हैं। विद्वान् ऋषि-मुनि इनमें निवास करते थे और उनके ज्ञान व सदाचारमय जीवन से प्रभावित होकर वहाँ शिक्षा ग्रहण करने हेतु राजकुमार तक आते थे।

वाल्मीकि-रामायण में अयोध्या के ऐसे अनेक शिक्षणालयों का वर्णन उपलब्ध होता है, जिनमें वेद-शास्त्र तथा धर्म के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान एवं व्यावहारिक विषयों की शिक्षा भी दी जाती थी। इन विद्यालयों में कोशल जनपद के राजपुरोहित वशिष्ठ का विद्यालय उल्लेखनीय है। राम के समय में वसिष्ठ कुल के सुयज्ञ वसिष्ठ इस विद्यालय के सञ्चालक थे। वनवास गमन के समय राम ने लक्ष्मण द्वारा सुयज्ञ को आदपूर्वक बुलाया था। राम ने सुयज्ञ तथा उसकी पत्नी को बहुत से यान, आसन, शय्या, आभूषण रत्नादि भेंट किये थे।[५] अयोध्या के इन शिक्षणालयों में विद्याध्ययन करने वाले विद्यार्थी तथा ब्रह्मचारियों की संख्या इतनी अधिक थी कि उन्होंने अपना पृथक् संघ बनाया हुआ था। जिसके लिए रामायण में मेखला धारण करने वाले ब्रह्मचारियों का सङ्गठन कहा गया है। राम के वनवास गमन समय इस संघ के अनेक सदस्य कोशल्या माता के पास भिक्षा के लिए आए थे, उनको राम ने एक-एक मुद्रा प्रदान की थी।[६]

वाल्मीकि-रामायण में किन-किन विषयों का अध्ययन कराया जाता था। इसका वर्णन भी उपलब्ध होता है। शिक्षा के विषय चार प्रकार के होते थे— १-शारीरिक, २-बौद्धिक, ३-व्यावहारिक और, ४-नैतिक। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहते हुए छात्र हृष्ट-पुष्ट, बलवान् और सहनशील बनने के लिए विशेष ध्यान देता था। इसके साथ-साथ वे अस्त्र-शस्त्र तथा युद्धविद्या की भी शिक्षा प्राप्त करते थे। बौद्धिकशिक्षा के लिए वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन किया जाता था। राम के गुणों का वर्णन करते हुए नारद राम के लिए **'वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः'**[७] **'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः'**[८] शब्दों का प्रयोग करते हैं। जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि उस समय वेद (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद), वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द ज्योतिष शास्त्र) न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त अध्ययन के विषय थे।

लव-कुश दोनों ब्रह्मचारियों को महर्षि वाल्मीकि ने रामायण काव्य पढ़ाया था, जो साधारण पाठ तथा स्वर विशेष के आलाप द्वारा गायन करने योग्य द्रुत, मध्य विलम्बित रूप गन्धर्वशास्त्र प्रसिद्ध तीन प्रमाणों से युक्त, निषाद, ऋषभ, गान्धारादि सात प्रकार के जातियों से वीणा द्वारा आलाप करने योग्य है एवं जिसमें शृङ्गार, करुण, हास्य, रौद्र, वीर और भयानक रसों को कविता की शैली से भली प्रकार दर्शाया गया है। ऐसे काव्य का दोनों

---

५. वाल्मीकि-रामायण २/३२/९/१०

६. मेखलिनां महासंघः कौशल्यां समुपस्थितः। तेषां सहस्रं सौमित्र प्रत्येकं दापय। वाल्मीकि-रामायण २/३२/२१।

७. वाल्मीकि-रामायण १/१/१४

८. तत्रैव १/१/१५

ब्रह्मचारियों ने अध्ययन किया।[९] इस वर्णन से शास्त्र तथा काव्यशास्त्र का उस समय अध्ययन होता था, यह बोध होता है।

भारद्वाज ऋषि अपने आश्रम में पुरुषोत्तम राम को बला तथा अति बला नामक दो विद्यायें प्रदान करते हैं।[१०] प्राचीन ऋषि मुनि जहाँ अध्ययन विज्ञान के मर्मज्ञ होते थे, वहीं भौतिक विद्या में भी पारङ्गत होते थे। दुष्टों के संहारार्थ ऋषिजन अमोघशस्त्रास्त्रों का निर्माण भी स्वाश्रमों में किया करते थे, जिनको वे सुपात्रों को ही प्रदान करते थे। श्रीराम जब वनवास के समय सुतीक्ष्ण-आश्रम में जाते हैं, तब महर्षि सुतीक्ष्ण ने राम को अनेक दिव्य अस्त्र-शस्त्र प्रदान किये थे।[११]

हनुमान् की प्रशंसा करते हुए श्रीराम लक्ष्मण को कहते हैं-न ऋग्वेद की शिक्षा पाया हुआ, न यजुर्वेद को धारण करने वाला और न सामवेद को जानने वाला ऐसा भाषण कर सकता है, निःसन्देह हनुमान् ने अनेक बार व्याकरणादि का श्रवण किया है, इत्यादि।

इस प्रकार रामायण में अनेकत्र शैक्षिक विषयों का संकेत प्राप्त होता है, जो उस समय की उत्कृष्ट शिक्षा-व्यवस्था का विशद चित्रण प्रस्तुत करते हैं।

---

९. वाल्मीकि-रामायण १/४/४-६

१०. वाल्मीकि-रामायण १/२०/९

११. वाल्मीकि-रामायण ३/९/२३-२५

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०८४-९६)

वाल्मीकिरामायण में वैदिक वर्णव्यवस्था

डॉ० वेद प्रकाश वेदालङ्कार,

वाल्मीकि-रामायण भारत का राष्ट्रिय आदि काव्य है। वैदिकवर्णव्यवस्था का स्वर्णयुग इसमें प्रतिबिम्बित है। वेदों तथा समस्त वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से परिज्ञात होता है कि वैदिक काल में वर्णव्यवस्था का स्वरूप अपने शुद्धतम रूप में विद्यमान था। वर्णव्यवस्था के माध्यम से उसके विभाजन तत्त्व जनता को विभक्त नहीं करते थे। उस युग में वर्ग-जाति का कोई प्रश्न नहीं था। यही कारण है कि ऋग्वेद आदेश देता है कि तुम्हारी मन्त्रणा में, समितियों में विचार और चित्रण में समानता हो, सद्भावना हो, वैषम्य या दुर्भावना न हो--

समानों मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सहचित्तमेषाम्।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।।
समानी आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।। [१]

समष्टि भावना से युक्त होकर वैदिक ऋषि अपने-अपने नियत कर्त्तव्य-पालन पर बल देते रहे हैं। यजुर्वेद में उल्लेख आता है-

व्रह्मणे व्रह्मणं क्षत्रायराजन्यं मरुद्म्यो वैश्यं तपसे शुद्रम्। [२]

यहाँ ब्रह्म-कृत्यों के लिए ब्राह्मण, राजकृत्यों के लिए क्षत्रिय, व्यापार-कृषिकर्म के लिए वैश्य और सेवा तथा तपस्या के लिए शूद्र को माना गया है। जब ये सभी वर्ण मिलकर अपने-अपने धर्म का पालन करते हैं, तभी सम्पूर्ण उन्नति सम्भव है। यजुर्वेद में कहा है-

यत्र व्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना।। [३]

इन वैदिक मन्त्रों में सभी वर्णों की सहचारिता और सामञ्जस्य को राष्ट्रोन्नति मूलक माना गया है। वेद के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रजाओं के हित सम्पादन के लिए एक शाश्वत मर्यादा का प्रादुर्भाव स्वयं भगवान् प्रजापति ने किया। ऋग्वेद और युजर्वेद में इस आशय का द्योतक यह मन्त्र है-

व्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् वाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।। [४]

---

१. ऋग्वेद १०/१९/३-४
२. यजुर्वेद ३०/५
३. यजु०२०.२५
४. ऋग्वेद १०/९०/ १२, यजुर्वेद ३१/११

अर्थात् ब्राह्मण इस समाज के ज्ञानप्रधान होने से मुखस्थानीय है, क्षत्रिय रक्षणप्रधान होने से बाहु स्थानीय है, वैश्य कोषरक्षण प्रधान होने से ऊरू स्थानीय है और शूद्र सेवाधर्म प्रधान होने से पादस्थानीय है।

जैसे हमारे शरीर में मुख, बाहू, ऊरू और पैर ये चार प्रमुख अङ्ग हैं, वैसे ही समाज रूपी शरीर के निर्वहण के लिए चार वर्ण (अङ्ग विशेष) हैं। इन चार वर्णों में वेदों ने विद्या के अध्ययन में कुशल ज्ञान-विज्ञान के प्रसारक, धर्मशास्त्र के प्रवर्तक, राज्य नियमों के व्यवस्थापक, विधिविधान के ज्ञाता, ब्रह्मतेज से सम्पन्न, राष्ट्रनीति के निर्धारक तथा पूजा के प्रणेता को-'**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्**' कथन द्वारा ब्राह्मण की संज्ञा दी है।

राष्ट्र रक्षा के व्रती, राज्यपाल, राष्ट्रपति, सकलशास्त्रों के पारङ्गत, शस्त्रास्त्र विद्यानिपुण, वीर शासक, न्यायधीश, नीतिकुशल राष्ट्रनीति सञ्चालक, लोकरक्षक को '**वाहू राजन्यः कृतः**' कहकर क्षत्रिय माना है।

व्यापार वृत्ति में निपुण, अर्थशास्त्र के पण्डित, धनोत्पादन में कुशल, कृषि विशेषज्ञ, खनिजशास्त्र पारङ्गत, राष्ट्रसंपत्ति वर्धक, दानशील, शिल्पकला निष्णात, समस्त शस्त्रास्त्र निर्माता, धनधान्य सम्पन्न, राष्ट्रहित में समर्पित सम्पत्ति करने वाले उद्यमशील वैश्य को '**ऊरू तदस्य यद् वैश्यः**' इस सम्बोधन से अभिहित किया है।

अनवरत गतिशील, सेवापरायण, शक्ति-भक्ति-सम्पन्न, स्वामिभक्त, विनम्र, भारधारक गुणों वाले शूद्र को '**पद्भ्यां शूद्रोऽजायत**' कहा है। ऋषि दयानन्द ने शूद्र का अर्थ इस प्रकार किया है-जो विद्याहीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट, सेवा में कुशल हो वह शूद्र[५] अथवा जो मूर्खत्वादि गुण हो वह शूद्र है।[६]

इस वैदिकवर्णव्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को अपने गुण-कर्म स्वभाव रुचि के अनुसार वर्ण को चुनने की व्यवस्था है। '**वर्णो वृणोतेः**'[७] वह तदनुसार अपने कर्तव्य का पालन करता है। इसी तथ्य को गीता में '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः**'[८] द्वारा पुष्ट किया गया है।

वैदिकवर्णव्यवस्था में लचीलापन है। सभी वर्ण अपनी-अपनी जगह पर खूंटे की तरह गड़े हुए नहीं हैं। कोई भी वर्ण नीचे से ऊपर उठ सकता है और इसके विपरीत किसी भी उच्च कहे जाने वाले वर्ण का पतन भी हो सकता है। आचार को प्रथम मानकर वेदों ने प्रत्येक वर्ण (व्यक्ति) को ऊपर उठने की पूरी स्वतन्त्रता दी है-

'आरोहणमाक्रमणं जीवतोऽजीवतोऽयनम्।'[९]

ब्राह्मण सदा ब्राह्मण ही बना रहे और शूद्र सदा शूद्र ही बना रहे, ऐसा कठोर बन्धन वैदिक नहीं है। ब्राह्मण वर्ग के प्रति उदारता और शूद्र वर्ण के प्रति निर्ममता वैदिकवर्णव्यवस्था का अङ्ग नहीं थी।

इस व्यवस्था में राज्य शासन की प्रभुता क्षत्रियों के हाथ में रहती थी और वे राजनीति के ज्ञाता ब्राह्मणों के निर्देश पर अपनी प्रभुता शक्ति का प्रयोग करते थे। वैश्य जन ब्राह्मणों से ज्ञान सीखकर तथा क्षत्रियों की रक्षा में

---

५. संस्कारविधि, गृहस्थाश्रम-प्रकरण
६. सत्यार्थ-प्रकाश, चतुर्थ-समुल्लास
७. निरुक्त २/३
८. गीता अध्याय-४ श्लोक १३
९. अथर्ववेद ३/३०/७

रहकर, भौतिक सम्पत्ति को पैदा करते थे। शूद्र इन तीनों वर्णों की सेवा में तत्पर रहते थे। ब्राह्मणों का ज्ञान क्षत्रियों की शक्ति और वैश्यों की सम्पत्ति राष्ट्रहित में खर्च होती थी। सभी वर्ण स्वयं को राष्ट्र का न्यायरक्षक (ट्रस्टी) समझते थे।[१०]

वैदिकवर्णव्यवस्था की यह मर्यादा वाल्मीकि-रामायण में प्रतिपद परिलक्षित होती है। इसके परिरक्षण और स्थिरीकरण के प्रति वाल्मीकि-रामायण में अत्यन्त कठोर नियम थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि तत्कालील समाज एक ऐसी सुदृढ़ व्यवस्था पर आधारित था, जो वेदसम्मत था। महाराजा दशरथ एवं श्रीरामचन्द्र स्वयं वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता थे—

तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपद प्रियः॥
यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥[११]

श्रीराम चन्द्र के विषय में कथन है—

रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य रक्षिता।
वेद वेदाङ्ग तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः॥[१२]
यजुर्वेद विनीतश्च वेदविद्भिः सुपूजितः।
धनुर्वेदे च वेदे च वेदाङ्गेषु च निष्ठितः॥[१३]

श्रीराम राज्य अभिषेक वेदपाठी वसिष्ठ आदि महर्षियों ने ही सम्पन्न कराया था, जिसमें सभी वर्ण हर्षित होकर सम्मिलित हुए थे।

ऋत्विग्भिः ब्राह्मणै पूर्वं कन्यामिः मन्त्रिभिस्तथा।
योधेश्चैवाभ्यर्षिंच स्ते सम्प्रद् दृष्टैः स नैगमैः॥[१४]

प्रथम ऋत्विक् ब्राह्मणों ने उसके पीछे कन्याओं ने फिर मन्त्री, योद्धागण, पुरवासी और वैश्यों ने हर्षित मन से श्रीरामचन्द्र का अभिषेक किया। इसी प्रकार राम के ही राज्याभिषेक हेतु उसके गुण वर्णन में वाल्मीकि लिखते हैं-

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता।
तेनास्येहाऽतुलाकीर्तिर्यशश्च तेजश्च वर्धते॥

---

१०. मेराधर्म आचार्य प्रियव्रतवेदाचर्स्पीत पृ. ८२
११. बाल काण्ड, सर्ग-६ श्लोक १,४
१२. बाल काण्ड, सर्ग-१ श्लोक ४
१३. सुन्दर काण्ड, सर्ग ३५-श्लोक १४
१४. युद्धकाण्ड, सर्ग-१३०, श्लाक ६२

देवासुरमनुष्याणां सर्वशास्त्रेषु विशारदः।
सम्यक् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्।।[१५]

स्वामिभक्त हनुमान् भी वेदनिष्णात थे। सुग्रीव के मन्त्री हनुमान् के विषय में श्रीराम लक्ष्मण से कहते हैं-

नानृग्वेदविनीतस्य नायजुर्वेदधारिणः।
नासामवेदविदुषः शक्यमेवं विभाषितुम्।।[१६]

रामायण का जनसामान्य वेदानुसार वर्णों ओर आश्रमों में विभक्त होता हुआ सहयोग और सौहार्द्र के तन्तुओं से परस्पर अनुस्यूत था। इसमे ब्राह्मणों को बौद्धिक एवं आध्यात्मिक योग्यता के कारण असाधारण सम्मान एवं विशेषाधिकार प्राप्त थे। क्षत्रिय उनका वर्चस्व स्वीकार करते थे। वे नीति परम्परा के अनुसार राष्ट्र का सञ्चालन करते थे। वेद का यह राष्ट्रीय प्रार्थनामन्त्र-

ओं आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्।
आ राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्।।[१७]

उस काल में पूर्ण चरितार्थ था। वैश्य, वाणिज्य व्यापार द्वारा राष्ट्रिय समृद्धि में योगदान करते और शूद्र अन्य वर्णों की सेवा में लगे रहते थे।

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूराः विक्रमसंयुताः।।[१८]

ब्राह्मणादि चारों वर्ण देवता और अतिथि की पूजा करते थे। सभी कृतज्ञ दाता और शूर थे।

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरताः त्रीन् वर्णनुपचारिणः।।[१९]

श्रीराम स्वयं धर्मचारिणी शूद्रा शबरी को मिलने उनके पास जाते हैं-

सोऽभ्यगच्छत् महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः।
शवर्या पूजितःसम्यक् रामो दशरथात्मजः।।[२०]

महाराज दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ में भी सभी वर्णों को समान-सम्मान के साथ आमन्त्रित किया गया-

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्।
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः।।

---

१५. अयोध्या काण्ड, सर्ग-२, श्लोक ३३-३४
१६. किष्किन्धा काण्ड, सर्ग १, श्लोक २८
१७. यजु०२२.२२.
१८. बाल काण्ड सर्ग ६, श्लोक १७
१९. बाल काण्ड सर्ग-६, श्लोक १९
२०. बाल सर्ग १, श्लोक ५७

ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान् शूद्रांश्चैव सहस्रशः।। [२१]

ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः।

ऋण्यशृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा।। [२२]

तात्कालिक ब्राह्मणवर्ण धन-वैभव का आकांक्षी नहीं था। राजा दशरथ द्वारा ऋषियों को दान में दी गई पृथ्वी को वे स्वीकार नहीं करते हैं। वे महाराज दशरथ से कहते हैं-

भवानेव महीं कृत्स्नामेको रक्षितुमर्हति।

न भूम्या कार्यस्माकं न हि शक्ताः स्म पालने।। [२३]

अर्थात् हे राजेन्द्र! आप एकाकी इस समस्त भूमण्डल की रक्षा करने योग्य हैं, हमें नहीं पृथ्वी चाहिए। क्योंकि हम इसके पालन करने में असमर्थ हैं।

रामायणकालीन वर्णव्यवस्था का उद्देश्य समाज के विकास के लिए एक ऐसे वातावरण की सृष्टि करना था, जिसमें सभी वर्ण सामाजिक सङ्गठन में रहकर अपने विहित कर्मों का यथायोग्य निर्वाह कर सकें और उपलब्ध साधनों द्वारा अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक समस्याओं का समाधान प्राप्त कर सकें तथा जीवन में सफलता उपलब्ध कर सकें। दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ में एक परिवार की तरह सभी वर्ण सहयोग करते हैं और सामाजिक सौहार्द्र का परिचय देते हैं—

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।

तापसा भुञ्जते चापि श्रमनाश्चैव भुञ्जते।। [२४]

यज्ञभूमि में ब्राह्मण, शूद्र, तपस्वी व संन्यासी नित्य भोजन करने लगे।

वाल्मीकि-रामायण में वर्णों के लिए 'चातुर्वर्ण्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। किष्किन्धाकाण्ड में राम की आज्ञा से लक्ष्मण हनुमान् को अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि धर्मानुकूल पालन करने वाला दशरथ नाम से प्रसिद्ध राजा के हम पुत्र हैं-

राजा दशरथो नाम द्युतिमान् धर्मवत्सलः।

चातुर्वर्ण्यं स्वधर्मेण नित्यमेवाभिपालयन्।। [२५]

भरत जब राम को अयोध्या नगरी लौटाने के लिए दण्डकारण्य में जाते हैं, तो अयोध्या में रहने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्णों के व्यक्ति उनके साथ जाने को उद्यत होते हैं।

ततः समुत्थाय कुले कुले ते। राजन्य वैश्याः वृषलाश्च विप्राः।

---

२१. बाल सर्ग-१३, श्लोक २०

२२. वही. श्लोक ४१

२३. बाल काण्ड सर्ग-१४, श्लोक ४७

२४. बाल काण्ड, सर्ग१४, श्लोक १२

२५. किष्किन्धाकाण्ड सर्ग-४, श्लोक ६

अयूयुजन् उष्ट्ररथान् खरांश्च नागान् हयांश्चैव कुलप्रसूतान्।। [२६]

अर्थात् प्रत्येक घर के लोग ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उठ-उठ कर अच्छी जाति के घोड़े हाथी, ऊंट गधे तथा रथों को जोतने लगे।

दण्डकारण्य में ही राम राजकुमार भरत से राज्य शासन के विषय में पूछते हुए चारों वर्णों के लोगों की कुशल क्षेम जानना चाहते हैं-

ब्राह्मणै: क्षत्रियैर्वैश्यै: स्वकर्मनिरतै: सदा।
जितेन्द्रियै: महोत्साहै: वृतामार्यै: सहस्रश:।। [२७]

राजा दशरथ के राज्य शासन का उल्लेख करते हुए भी वाल्मीकि ने चारों वर्णों का स्पष्ट उल्लेख किया है-

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजका:।
कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा: विक्रमसंयुता:।। [२८]

वैदिकवर्णव्यवस्था के अनुसार रामायण में भी चारों वर्णों के कर्त्तव्य के विषय में स्पष्ट प्रतिपादन है कि क्षत्रिय ब्राह्मणों की आज्ञा का पालन करते थे, वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा मानते थे तथा शूद्र अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा मे तत्पर रहते थे-

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत् वैश्या: क्षत्रमनुव्रता:।
शूद्रा: स्वकर्मनिरता: त्रीन् वर्णानुपचारिण:।। [२९]

इन उद्धरणों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाल्मीकि-रामायण में सामाजिक जीवन की मूलाधार शिला वैदिकवर्णव्यवस्था ही थी। समाज में यही धारणा थी कि ईश्वर ने सभी को समान रूप से उत्पन्न किया है। **'सर्वे अमृतस्य पुत्रा:'**। अपने कर्मों एवं गुणों के अनुसार ही लोग विभिन्न जातियों में विभक्त हैं। वस्तुत: रामायण में सिद्धान्त रूप से जाति-पाँति का भेदभाव नहीं था, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जाति के बन्धन कठोर थे। तदनुसार भी समाज में प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति का उचित सम्मान होता था। कहीं भी छूत-छात का भेदभाव नहीं था-

सर्वे वर्णा: यथापूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृता:।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि।। [३०]

उच्चवर्ण कभी भी अपने से निम्न वर्ण को तिरस्कार की भावना से नहीं देखता था। चारों वर्णों में पारस्परिक रोजी-रोटी के साथ मधुर सम्बन्ध थे। यही कारण था कि राजा दशरथ के पुत्रेष्टियज्ञ में चारों वर्णों के

---

२६. अयोध्या काण्ड, सर्ग-८३, श्लोक ३२
२७. अयोध्या काण्ड, सर्ग-१००, श्लोक ४१
२८. बाल काण्ड, सर्ग-६, श्लोक १७
२९. बाल काण्ड, सर्ग-६, श्लोक १९
३०. बालकाण्ड, सर्ग-१३, श्लोक १३-१४

लोगों ने एक साथ मिलकर भोजन किया-

ब्राह्मणा भुञ्जते नित्यं नाथवन्तश्च भुञ्जते।
तापसा भुञ्जते चापि श्रमणाश्चैव भुञ्जते।[३१]

तात्पर्य यह है कि वाल्मीकि-रामायण में वर्णव्यवस्था को सामाजिक व्यवस्था के अङ्गरूप में स्वीकार किया जाता था, अन्य संकीर्ण भावनाओं के रूप में नहीं।

इस वेदानुकुल वर्णव्यस्था में ब्राह्मणों का स्थान सर्वप्रथम था। ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न अथवा विद्वान् ब्राह्मणों के विहित कर्म करने वाला व्यक्ति ब्राह्मण कहा जाता था। विश्वामित्र ने जन्मना क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण विहित कर्म करने के कारण, घोर तपस्या द्वारा ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लिया था-स्वयं ब्रह्मा का विश्वामित्र को यह कथन है-

ब्रह्मर्षिस्त्वं न सन्देह: सर्वं सम्पद्यते तव।
इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम्।।
विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्।।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम्।।[३२]
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक:।
दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गण:।।[३३]

ब्राह्मणों की आज्ञा के विरुद्ध राजा भी कार्य नहीं कर सकता था। राजा दशरथ ने अपने पुत्रेष्टि यज्ञ में सुमन्त्र के द्वारा सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, वसिष्ठ आदि ब्राह्मणों को बुलाया तथा उनके उपस्थित होने पर, सभी ब्राह्मणों का देवता के समान पूजन किया तथा उनकी आज्ञा के अनुसार ही यज्ञ सम्पन्न किया-

सुयज्ञं वामदेवञ्च जावालिमथकाश्यपम्।
पुरोहितं वसिष्ठञ्च ये चान्ये द्विजोत्तमा:।
समानयत् स तान् सर्वान् समस्तान् वेदपारगान्।
तान् पूजयित्वा धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा।
धमार्थं सहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्।।[३४]

राजार्षि से ब्रह्मर्षि बने विश्वामित्र की सेवा शुश्रूषा करते हुए राजादशरथ अपने को अहोभाग्य समझकर कहते हैं-

यस्मात् विप्रेन्द्रमद्राक्षम् सुप्रभाता निशा मम।

---

३१. बाल काण्ड, सर्ग-१४, श्लोक १२
३२. बाल काण्ड सर्ग-६५, श्लोक २६-२७
३३. बाल काण्ड सर्ग-६५, श्लोक २०
३४. बाल काण्ड, सर्ग १२, श्लोक ५-७

पूर्वं राजार्षिशब्देन तपसा द्योतितप्रभः।
ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधामया।।
तदद्भुतमभूत् विप्रं पवित्रं परमं मम।[३५]

सीता के शपथ समारोह में भी श्रीरामचन्द्र ने चातुर्वर्ण्य सहित ब्राह्मणों को आमन्त्रित करके उनको विशेष सम्मान दिया-

वसिष्ठो वामदेवश्च जावालिः अथ काश्यपः।
विश्वामित्रो दीर्घतमा दुर्वासाश्च महातपाः।।[३६]
क्षत्रियाः ये च शूद्राश्च वैश्याश्चैव सहस्रशः।[३७]

ब्राह्मणों के वर्चस्व एवं सम्मान का प्रमुख कारण था उनका ब्रह्मतेज। महात्मा सगरराज के पुत्रों को महातपस्वी कपिल मुनि ने अपने ब्रह्मतेज से क्षण भर में ही भस्म कर दिया। जब उन सगर पुत्रों ने अश्वमेध यज्ञ के घोड़े के चुराने का आरोप लगाया-

रोषेण महताविष्टो हुंकारमकरोत् तदा।
ततस्तेनाप्रमेयेण कपिलेन महात्मना।।
भस्मराशीकृताः सर्वे काकुत्स्थसगरात्मजाः।।[३८]

इसी प्रकार वसिष्ठ की होमधेनु (कामधेनु) विश्वामित्र द्वारा उसके अपहरण के समय वसिष्ठ से कहती है-

न बलं क्षत्रियस्याहुर्ब्राह्मणा बलवत्तराः।
ब्रह्मन् ब्रह्मबलं नित्यं क्षत्राच्च बलवत्तरः।।
अप्रमेयं बलं तुभ्यं न त्वया बलवत्तरः
विश्वामित्रों महावीर्यस्तेजस्तव दुरासदम्।।[३९]

जन्मना क्षत्रिय विश्वामित्र भी वसिष्ठ (ब्राह्मण) से पराजित हो जाने के पश्चात् ब्राह्मण को क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र से अधिक बलशाली मानते हुए कहते हैं-

धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजो बलम्।
एकेन ब्रह्मदण्डेन सर्वास्त्राणि हतानि मे।।

अर्थात् क्षत्रिय के बल को धिक्कार है। ब्राह्मण तेज से प्राप्त होने वाला बल ही वास्तव में बल है, क्योंकि

---

३५. बालकाण्ड, सर्ग १८, श्लोक ५४-५५
३६. उत्तर काण्ड, सर्ग १६४, श्लोक २
३७. वही, श्लोक-७
३८. बालकाड, सर्ग ४१, श्लोक ३०
३९. बाल काण्ड सर्ग ५४, श्लोक १४-१५

आज एक ब्रह्मदण्ड ने मेरे सभी अस्त्र नष्ट कर दिये।

ब्राह्मण के बाद क्षत्रिय का स्थान था। क्षत्रिय शासक वेदानुकूल चारों वर्णों का पालन करता था। भरत का राम के प्रति यह कथन द्रष्टव्य है-

क्व चारण्यं क्व क्षात्रं जटा: क्व च पालनम्।
ईदृशं व्याहतं कर्म न भवान् कर्तुमर्हसि।।
एष हि प्रथमो धर्म: क्षत्रियस्याभिषेचनम्।।
येन शक्यं महाप्राज्ञ प्रजानां परिपालनम्।। [४०]
अथ क्लेशजमेव त्वं धर्म चरितुमिच्छसि।
धर्मेण चतुरो वर्णान् पालयन् क्लेशमाप्नुहि।। [४१]

अर्थात् यदि शरीर को ही कष्ट देने वाले धर्म को ही करने की आपकी बड़ी अच्छा है तो धर्मानुसार ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पालन करने का कष्ट आप भोगिये। कहाँ क्षत्रिय धर्म के और कहाँ जनशून्य वन? कहाँ प्रजापालन और कहाँ जटा धारण? ऐसे परस्पर विरोधी कार्य आपको नहीं करने चाहिए।

क्षत्रिय यदि अपने धर्म का पालन नहीं करता, वह पाप का भागी बनता है और नरकगामी बनता है। राम ने वाली को मारने का यही कारण दिया था।-

शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेन: पापात् विमुच्यते।
राजात्वशासन् पापस्य तदवाप्नेति किल्विषम्।। [४२]

सुन्दरकाण्ड में हनुमान् सीता को राम का परिचय देते हुए कहते हैं-

रक्षिता जीवलोकस्य स्वजनस्य च रक्षिताा।
रक्षिता स्वस्य वृत्तस्य धर्मस्य च परंतप:।।
रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य च रक्षिता।
मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च स:।। [४३]

राजा दशरथ की अन्तिम क्रिया के समय राज्यसभा में उपस्थित मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, आदि ब्राह्मण ऋषि, अराजक राज्य के दोषों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अराजक राज्य में वर्णधर्म बिगड़ जाते हैं।

नाराजके जनपदे यज्ञशीला: द्विजातय:।
सत्राण्यवासते दान्ता: ब्राह्मणा: संशितव्रता:।। [४४]

---

४०. अयोध्या काण्ड, सर्ग १०६, श्लोक १९-२०

४१. वही, श्लोक, २१

४२. किष्किन्धा काण्ड, सर्ग १८, श्लोक ३२

४३. सुन्दर काण्ड, सर्ग ३५, श्लोक १० -११

राजा सत्यं च धर्मस्य राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्।।[४५]

वाल्मीकि-रामायण में विश्वामित्र बलपूर्वक वसिष्ठ की होमधेनु शबला को ले जाते हैं, तब वसिष्ठ शबला से कहते हैं-हे शबले, मुझ में इतना बल नहीं है, विशेषत: यह राजा बलवान्, जाति में क्षत्रिय और फिर पृथ्वी के अधिपति हैं-

न त्वां त्यजामि शबले नापि मेऽपकृतं त्वया।
एष त्वां नयते राजा बलात् मत्तो महाबल:।[४६]
नहि तुल्यं बलं मह्यं राजा त्वद्य विशेषत:।
बली राजा क्षत्रियश्च पृथिव्या: पतिरेव च।।[४७]

तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का प्रथम कर्त्तव्य था, अपने राज्य की रक्षा करना। अयोध्याकाण्ड में राम एक स्थान पर कहते हैं कि दान देना, यज्ञों में दीक्षा ग्रहण करना और युद्ध में देहत्याग करना क्षत्रिय का प्रथम धर्म है-

दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि।
इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्।।[४८]

क्षत्रिय धर्म को पालन करते हुए ही श्रीराम परशुराम के क्रोधित होने पर ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करते हैं-

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव।
अवजानासि मे तेज: पश्य मेऽद्य पराक्रमम्।[४९]

वनगमन के अवसर भी राम रथ से उतरकर, पुरवासी एवं ब्राह्मणों का सम्मान रखते हुए उनके साथ पैदल ही चलते हैं। श्रीराम अपना कदम भी बहुत छोटा रखते हैं, ताकि ब्राह्मणों के साथ-साथ चल सकें-

एवमार्त प्रलापान् तान् वृद्धान् प्रलपतो द्विजान्।
अवेक्ष्य सहसा रामो रथादवततार ह।।
पद्भ्यामेव जगामाथ ससीत: सहलक्ष्मण:।
सन्निकृष्टपदन्यासो रामो वनपरायण:।[५०]

---

४४. अयोध्या काण्ड, सर्ग १३३, श्लोक १३
४५. अयोध्या काण्ड, सर्ग १३४, श्लोक ३४
४६. बाल काण्ड, सर्ग ५३, श्लोक १०
४७. बाल काण्ड, सर्ग ५३, श्लोक ११
४८. अयोध्या काण्ड, सर्ग ४०, श्लोक ७
४९. बाल काण्ड सर्ग ७६, श्लोक २
५०. अयोध्या काण्ड, सर्ग ९३, श्लोक १७-१८

रामायण के इन प्रसङ्गों से स्पष्ट है कि वाल्मीकि ने वेद का ही अनुसरण किया है। ब्राह्मण के ही समान क्षत्रिय को जितेन्द्रिय, पराक्रमी, यज्ञशील, गुणवान, विद्यावान् बनकर धर्मपूर्वक राज्य की धुरा को धारण करना पड़ता था। बृद्ध होने पर दशरथ का कथन है-

राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन्॥[५१]

अर्थात् अजित्तेन्द्रिय जिस भार को नहीं उठा सकते, मैं राजप्रभावानुसार वही गुरुतर धर्मभार वहन करके थक गया हूँ। इस गुरुतर भार को वे अपने ज्येष्ठपुत्र राम को सौंपने की अनुमति ऋषियों को देते हैं, जो कि राज्यभार वहन करने में पूर्ण सक्षम और योग्य हैं-

वहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणनामुपासिता।
तेनास्येहातुलाकीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते।
देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्॥[५२]

रामायण में वैश्यों की स्थिति ब्राह्मण और शूद्र के मध्य थी। वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा पालन करते थे-

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीत् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरताः त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥[५३]

इसके साथ ही साथ समाज व देश की अर्थव्यवस्था का सञ्चालन भी वैश्यों द्वारा किया जाता था। कृषि, पशुपालन तथा वाणिज्य ये तीन देश की अर्थव्यवस्था के प्रमुख अङ्ग थे, जिन्हें वैश्य लोग सम्पादित करते थे। जब भरत वन में राम को लेने जाते हैं। वहाँ श्रीरामचन्द्र भरत से सबका कुशलक्षेम पूछते हैं। ब्राह्मणों, नौकरों, देवताओं, क्षत्रियों के कुशल-वृत्तान्त के उपरान्त वैश्यों की कुशलता पूछते हैं-

कच्चित्ते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्ष्यजीविनः।
वार्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते॥
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम्।
रक्ष्याः हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः॥[५४]

अर्थात् हे भ्राता भरत! जो लोग खेती करके और पशुओं का पालन करके अपना निर्वाह करते हैं, इनसे विशेष प्रसन्न तो रहते हो। इनके वाणिज्य व्यापार में ही यह समाज सुख-समृद्धि को प्राप्त करता है। वेदानुगामी वाल्मीकि ने इन वैश्यों को अन्यत्र कोषाध्यक्ष के रूप में सम्बोधित किया है-

---

५१. अयोध्या काण्ड, सर्ग २, श्लोक ९

५२. अयोध्या काण्ड, सर्ग २, श्लोक ३३-३४

५३. बालकाण्ड, सर्ग ६, श्लोक १९

५४. अयोध्या काण्ड, सर्ग १००, श्लोक ४७-४८

कर्मान्तिकान् वर्धिकन: कोपाध्यक्षांश्च नैगमान्।[५५]

अथार्त् कार्याध्यक्ष, शास्त्रज्ञ, कोषाध्यक्ष और सेवक सब भरत के साथ अश्वमेध यज्ञ में चलें।

आदिकवि वाल्मीकि ने वेदसम्मत अन्य वर्णों के समान शूद्रों का भी सेवाधर्म ही कर्तव्य-कर्म निर्दिष्ट किया है—

शूद्राः स्वकर्मनिरताः त्रीन् वर्णानुपचारिणः।[५६]

निषादराज गुह का राम को कथन है—

वयं प्रेष्या भवान् भर्ता साधुराज्यं प्रशाधि नः।
भक्ष्यं भोज्यं च पेयं च लेह्यं चैतदुपस्थितम्॥[५७]

युद्धकाण्ड में भृत्य-सेवक के धर्म प्रतिपादन में सेवा-कर्म को प्रमुखता दी गई है-

यो हि भृत्यो नियुक्तः सन् भर्त्रा कर्मणि दुष्करे।
कुर्यातदनुरागेण तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥
यो नियुक्तः परं कार्यं न कुर्यात् नृपतेः प्रियम्।
भृत्यः युक्तः समर्थश्च तमाहुर्मध्यमं नरम्॥
नियुक्तो नृपतेः कार्यं न कुर्याद् यः समाहितः।
भृत्यो युक्तः समर्थश्च तमाहुः पुरुषाधमम्॥[५८]

रावण भी सीता को उसकी पटरानी बन जाने पर दासियों का लालच देता है

पञ्चदास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः।
सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि।[५९]

निष्कर्ष

वाल्मीकि रामायण में वर्णव्यवस्था के प्रतिपादन से यही निष्कर्ष निकलता है कि आदिकवि पद-पद पर वेद का अनुसरण करता है। उसमें प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था पूर्णतः वेद के अनुकूल है। कहीं भी वेदविरुद्ध वर्णधर्म निरूपित नहीं हुए हैं। इस युग में वेदों को पूर्ण रूप से धार्मिक महत्त्व प्राप्त था। राम आदि चारों राजकुमारों का विवाह-संस्कार वसिष्ठ ने वैदिक रीति से ही सम्पन्न कराया-

ऋषिश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः।
यथोक्तेन ततश्चक्रुः विवाहं विधिपूर्वकम्॥[६०]

---

५५. उत्तरकाण्ड, सर्ग ९१, श्लोक २४
५६. बाल काण्ड, सर्ग ६, श्लोक १९
५७. अयोध्या काण्ड, सर्ग १०१, श्लोक ३९
५८. युद्धकाण्ड, सर्ग १, श्लोक ७-९
५९. अरण्यकाण्ड, सर्ग ४७, श्लोक ३१

दशरथ का पुत्रेष्टि यज्ञ भी अथर्ववेद के मन्त्रों से ही ऋष्यशृङ्ग ऋषि ने पूर्ण किया-

इष्टिं ते करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
अथर्वशिरसि प्रोक्तैः मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥[६१]

रावण को मारने के लिए राम ने अपना बाण वेदोक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित करके धनुष पर चढ़ाया था-

अभिमन्त्र्य ततो रामस्तं महेषुं महावलः।
वेदप्रोक्तेन विधिना संदधे कार्मुके वली॥[६२]

निःसन्देह वाल्मीकि-रामायण में विभिन्न जातियों एवं वर्गों में बँटे हुए समाज को, जिस रहस्यमयी शक्ति ने सुसंगठित रखा, उसके प्रकट विरोधों में समन्वय स्थापित किया, उसे सत्य, सदाचार और सत्परम्पराओं के मंच पर प्रतिष्ठापित किया। दृष्टिकोण की ऐसी समानता और एकात्मता स्थापित कर दी, जिसके समक्ष समस्त वैभिन्य-विरोधाभास तिरोहित हो गये-यह थी वेदसम्मत वर्ण-व्यवस्था, जिसके कारण रामायणकालीन युग को भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

---

६०. बाल काण्ड, सर्ग ७३, श्लोक ३६

६१. बाल काण्ड, सर्ग ५१, श्लोक २

६२. युद्ध काण्ड, सर्ग ११०, श्लोक १४

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०९७-१०१)

वाल्मीकिरामायणे वैदिकवर्णव्यवस्था

डॉ० कामदेव झा

वैदिकवर्णव्यवस्थायाः स्वरूपं वाल्मीकिरामायणे सर्वथा परिलक्ष्यते। यथा वेदेषु वर्णव्यवस्थायाः चतुर्विधं रूपं प्रतिपादितमस्ति तथैव तत्रापि किल वाल्मीकिरामायणेऽवलोक्यत इति। ऋग्वेदे सर्वेषां चतुर्णां वर्णानामुत्पत्ति स्थानान्यपि निर्दिष्टानि सन्तीति। तत्र ब्राह्मणस्योत्पत्तिः मुखाद्, भुजातः क्षत्रियः, ऊरूभागात् किल वैश्यस्य अथ च पद्भ्यां शूद्रः ज्ञात इति तत्र व्याकृतमस्ति। यथोक्तं तत्र ऋग्वेदे-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥[१]

पुरुषसूक्तस्य मन्त्रेऽस्मिन् पुरुषस्यास्य ब्राह्मणो मुखभागः, पुरुषस्यास्य भुजाभागः क्षत्रियः, ऊरूभागः पुरुषस्य वैश्यरूपः, अथ च पादभागः पुरुषस्यास्य शूद्रत्वेन प्रोक्त इति प्रतिपादितमस्ति।

एवमप्यत्र निगदितं वेदे यत् आदौ एकमेव रूपमासीत्। पश्चाच्चतुर्भागः सञ्जातः। यथोक्थं तत्र ऋग्वेदे- एकं वा इदं बभूव सर्वम्।[२] महाभारतेऽप्यत्र निगदितं यत् सर्वादौ एकः वर्णः एवासीत्, ततः परं कर्मविभेदेन बहुत्वेन चतुर्भागेन वा विभक्त इति यथोक्तं तत्र-

एकं वर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीत् युधिष्ठिर।
कर्मक्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥[३]

उपर्युक्तं श्लोकं वीक्ष्य श्रीमद्भगवद्गीतायाः वचनं समीचीनं प्रतिभाति यत्र भगवता श्रीकृष्णेनोक्तं यत्-
चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।[४]

मनोरुद्घोषोऽयं विद्यते यदेभ्यो वर्णेभ्यः बहिर्भूताः ये वर्णाः सर्वे दस्यव इति निगद्यन्ते कामं ते आर्यभाषां वदन्तु म्लेच्छभाषां वेति। यथोक्तं तत्र मनुस्मृतौ-

मुखबाहूरूपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचश्चार्यताचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥[५]

इत्यनेन प्रतिभाति यद्वैदिकपद्धत्या खलु इयमेव वर्णव्यवस्थेति। समाजस्तत्र भारतीयश्चतुर्विध एवः। एष्वेव वर्णेषु पुनश्चः सर्वाः जातयः उपजातयश्चापि विभक्ताः स्युरिति ध्वन्यते।

---

१. ऋग्वेदः, १०/९०/१२
२. तदेव, ८/५८/२
३. महाभारते, शान्तिपर्व, ११८
४. श्रीमद्भगवद्गीता, ४/१३
५. मनुस्मृतिः, १०/४५

वाल्मीकि-रामायणेऽप्यत्र वर्णचतुष्टयस्योल्लेखः सर्वथा बालकाण्डस्य प्रथमे एव सर्गे कृतः वर्तत इति। वैदिकवर्णव्यवस्थायाः यत् स्वरूपं तत्र विद्यते तदेव स्वरूपमत्र रामायणे दृष्टिगतं भवति। तत्र किल यज्ञप्रसङ्गे राघवस्य नीतिः निर्दिष्टा वर्तते। तत्र उद्घोष्यते यत् सर्वान् वर्णान् स्व-स्व धर्मेषु कार्यक्षेत्रेषु वेति नियोजयिष्यति किल रामः। यथा न कोऽपि वर्णानां कर्मसु भ्रमः भवत्विति।[६] यथोक्तं तत्र-

राजवंशाञ्छतगुणान् स्थापयिष्यति राघवः।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे-स्वे धर्मे नियोक्ष्यति॥

चातुर्वर्ण्यमितिपदं वीक्ष्य मानसपटले सहसा चातुवर्ण्यं मया सृष्टमिति गीतायाः श्लोकः समागच्छतीति। इत्यत्र प्रतिभाति यत् रामायणादेव पद्यमिदं अनुकृतं तत्र स्यादिति विचारणीयमस्ति। रामचन्द्रस्य घोषणायां स्वे स्वे धर्मे नियोजनस्याभिप्रायः कदाचिदयं भवेत् यत् परस्परं कार्यक्षेत्रविषये कलहो विवादो वेति न भवेयुरिति। तत्रैव ब्राह्मणेभ्यो धनदानस्यापि चर्चा समवलोक्यते। यतो हि ब्राह्मणस्य धर्मविषये मनुस्मृतौ गीतायाञ्चापि सम्यग् प्रकारेण वर्णितमस्ति। मनुस्मृतौ तत्र ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यमित्थमस्ति-

अध्यायनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥[७]

तत्रैव गीतायमाप्यत्रे-

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।[८]

उपर्युक्तेन मतेनावगम्यते यत् वाल्मीकिरामायणकालेऽपि तत्र ब्राह्मणस्य धर्मः दानग्रहणस्यासीदिति भावः।

रामायणस्य पाठस्य महत्त्वं प्रतिपादयता महर्षिणा वाल्मीकिना सर्वेभ्यो वर्णेभ्यो लाभः प्रतिपादित इत्यनेन स्फुटं भवति यत् ब्राह्मणस्य कीदृशं कर्त्तव्यमस्ति। अथ चान्येषां वर्णानाञ्चापि कीदृशानि कर्त्तव्यानि काले तस्मिन्नासन्निति। तत्र निर्दिष्टं यत् द्विजः रामायणं पठेच्चेत्तदा विद्वान् भवति, क्षत्रियः पठेच्चेत्तदा पृथ्वीं प्राप्नुयात्, वैश्यः धनलाभं करोति, अथ च शूद्रः प्रतिष्ठां लभत इति यथोक्तं तत्र[९]-

पठन् द्विजो वागृषभत्वमियात् स्यात् क्षत्रियो भूमिपतित्वामीयात्।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयाज्जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्॥[१०]

उपर्युक्तेन मतेनानेन स्फुटं भवति यत् वाल्मीकि-रामायणकाले सर्वेषां वर्णानां एकरूपत्वेन समादरः भवति स्म यतो हि काले तस्मिन् न कोऽपि वर्णः समाजे न्यूनः किल। सर्वेषां महत्त्वं समानमेव चासीदीति। अत्र एवमपि

---

६. वाल्मीकिरामायणम्, प्रथम सर्गः, श्लोकः ९५
७. मनुस्मृतिः १/८८
८. श्रीमद्भवद्गीता, १८/४२
९. असंख्येयं धनं दत्वा ब्राह्मणेभ्यो महाशयाः। वा. रा. १/९५
१०. बाल काण्ड १/१००

चिन्तनीयं यत्तस्मिन् समये सर्वेषां वर्णानां कृते रामायणस्य पाठस्याधिकार आसीदिति। अद्यत्वे समाजे या कुरीतिः प्रथिताऽस्ति यत् शूद्राणाम् कृते पवित्ररामायणस्य पाठाधिकारः नास्तीति कुरीतिः तत्र नावलोक्यते। एषा प्रथिता कुप्रथा वर्तमानस्य समाजस्य कृतेति ध्वन्यते। वाल्मीकि--रामायणे एतदप्यत्र प्रतिपादितं यद्यज्ञकर्मणि सर्वेषां वर्णानां सहयोग अपेक्षित आसीसीदिति। तत्र यज्ञकर्मणि किं वा ब्राह्मणाः किं वा नटनर्तकाः किं वा शिल्पकाराः सर्वेषां वर्णानामाह्वानं मुनिना वसिष्ठेन कृतमिति यथोक्तं तत्र रामायणे-

ततोऽब्रवीद् द्विजान् वृद्धान् यज्ञकर्मसुनिष्ठितान्।
स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमार्थिकान्॥ [११]
कर्मान्तिकाञ्शिल्पकारान् वर्धकीन् खनकानपि।
गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान्॥ [१२]
तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान् सुबहुश्रुतान्॥
यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात्॥ [१३]

वाल्मीकिरामायणे मुनिना वसिष्ठेन समुद्घोष्यते यद्यज्ञकर्माणि संलग्नाः सर्वे वर्णाः समानपूर्वकः सम्मानीयाः भवेयुः। न कदाचित् कोऽपि वर्णः समाजे अपमानस्य पात्रं भवेदिति व्यवस्थया भवतिव्यम्। न कोऽपि वर्णः कामक्रोधवशादपि समाजेऽपमानीतो न भवेदिति व्यवस्था भवतु। यथोक्तं तत्र रामायणे-

सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः।
न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि॥ [१४]

वैदिकवर्णव्यवस्था या वर्तते अत्रेदानीं सैव खलु काले तस्मिन् सर्वथा परिलक्ष्यते। चत्वारो वर्णास्तत्र वाल्मीकिरामायणसमये यथावत् वर्तते एव। सर्वेषां वर्णानां मध्ये परस्परं सहयोगभावा अपि परिलक्ष्यते। गुरुः वसिष्ठः सुमन्त्रमाहूय चादिशति यत् पृथिव्यामस्यां ये खलु चत्वारो वर्णाः सन्ति सर्वे यज्ञकर्मणि समवेताः भवेयुरिति। इत्यनेनावगम्यते यत् यज्ञकार्येऽपि सर्वेषां वर्णानां सहयोग अपेक्षित आसीदिति। यथोक्तं तत्र वाल्मीकिरमायाणे-

ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्।
निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः॥ [१५]
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः॥

रामायणकाले यज्ञकार्यसम्पादनक्रियां ये संलग्नाः शिल्पिनस्तत्र समागता आसन्, तेषां कृते वैशिष्ट्येण पूजा भवति स्म यथा तत्र प्रतिपादितमस्ति-

---

११. वा.रा. १/१००
१२. तदैव, त्रयोदश सर्गः, ६
१३. ,,,,,७
१४. ,,,,,८
१५. वा. रा. सर्गः १३, श्लोकसंख्या १४

यज्ञकर्मसु ये व्यग्राः पुरुषाः शिल्पिनस्तथा।[१६]

तेषामपि विशेषेण पूजा कार्या यथाक्रमम्॥

वाल्मीकिरामायणात् खल्वेतदप्यत्र ध्वन्यते यत् सर्वे वर्णास्तत्र सर्वगुणसम्पन्नाः किलासन्। ते तथैव वीरा अपि यथा क्षत्रियाः भवन्तीति। सर्वे तत्रातिथिपूजका अपि। यथोक्तं तत्र-

वर्णेष्वग्र्यचतुर्थेषु देवतातिथिपूजकाः।

कृतज्ञाश्च वदान्याश्च शूरा विक्रमसंयुता॥[१७]

वाल्मीकि-रामायणे वर्णाणां कर्त्तव्यमपि व्याकृतमस्ति। यथा वर्णानां चतुर्णां कर्त्तव्यानि मनुस्मृतौ[१८] अथ च श्रीमद्भागवद्गीतायां[१९] निर्दिष्टानि सन्ति तद्वदेवात्र निर्दिष्टानि सन्ति किल। एकस्मिन्नेव श्लोके महर्षिणा वाल्मीकिना वर्णानां कर्त्तव्यं निर्दिष्टमिति। यथोक्तं तत्र-

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।

शूद्रः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥[२०]

श्लोकेऽस्मिन् स्फुटमेव व्याकृतं यत् क्षत्रियाः खलु तत्र ब्राह्मणानामनुयायिनः क्षत्रियाणामाज्ञापालकाः वैश्यास्तत्रासन्, शूद्रास्तत्र चान्येषां वर्णानां सेवाकर्मणि संलग्नाः आसन्निति। वस्तुतः शूद्राणां कर्त्तव्यं सेवा एव। अस्या एव सेवायाः विषये भर्तृहरिणोक्तं यत् सेवाकर्म महद्कष्टप्रदं भवति। एष मार्गः, एष वो धर्मः काठिन्येन करणीयः खलु। सेवाधर्मः परमगहनः योगिनामप्यगम्यः[२१] इति यथा मनुस्मृतौ ब्राह्मणस्य कर्मसन्दर्भे अध्यापनमध्ययनादिकर्मनिर्दिष्टं तथैवात्र वाल्मीकिरामायणे दृश्यते-

स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।

दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे॥[२२]

तत्र वाल्मीकिरामायणकाले ब्राह्मणाः नैवासन् खलु नास्तिकाः। यथा प्रोक्तं तत्र-

नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः।

नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥[२३]

वाल्मीकिरामायणकाले सर्वेषां चतुर्णां वर्णानां सरक्षणं राज्ञां कृते किलावश्यकमासीदिति। सर्वेषां वर्णानां

---

१६. तदैव, श्लोकसंख्या,. २०

१७ तदेव,,,,१५

१८. वा. रा. सर्ग: ६/७

१९. मनुस्मृतौ, १/८८, ८९, ९०, ९१

२०. गीता, १८/,४२,.४४,

२१. नीतिशतकम् भर्तृहरिकृतम्

२२. वा.रा. षष्ठः सर्गः, श्लोक १३

२३. तदेव, श्लोक १४

हितार्थाय खलु स्त्रीहननमपि तत्रोत्तमे कर्म व्याकृतमस्ति। महर्षिणा वाल्मीकिना तत्र प्रथम एव काण्डे ताटकावधप्रसङ्गे प्रोक्तं खलु। तत्र महर्षिः विश्वामित्रः स्वयमेव रामं सम्बोधयत्यत्र कथयति च राज्ञः परमं कर्त्तव्यमस्ति यत् सर्वेषां वर्णानां सम्यग् सुरक्षा भवेदिति यथोक्तं तत्र रामायणे-

नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम।[२४]
चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्त्तव्यं राजसूनुना॥

तत्रैव रामायणे एवमपि प्रोक्तं यत् प्रजाणां रक्षणाय सदोषमपि कार्यं नैव किल दोषयुतमिति। यथा प्रतिपादयत्यत्र-

नृशंसमनृशंसं वा प्रजारक्षणकारणात्।
पातकं वा सदोषं वा कर्त्तव्यं रक्षता सदा॥[२५]

उपर्युक्तेन वचनेनात्र ध्वन्यते यत् वाल्मीकिरामायणकाले सर्वेषा वर्णानां कृते सुरक्षा महती आसीत्। न कोऽपि वर्ण असुरक्षित आसीदिप्ति। वाल्मीकिरामायणकाले सर्वे वर्णाः स्व-स्व कर्त्तव्यं प्रति जागरूकाः आसन्नित्यस्योद्धरणं सर्वथा खल्वत्र वर्तते। समये तस्मिन् सर्वे जनाः वर्णेनैव ज्ञायते स्म। दशरथः स्वयमेव विचारमिमं प्रस्तौति कथितं तत्र-

क्षत्रियोऽहं दशरथो नाहं पुत्रो महात्मनः।
सज्जनावमतं दुःखमिदं प्राप्तं स्वकर्मजम्॥[२६]

केन वर्णेन कीदृशं कर्म करणीयमित्यस्यापि भावः, अत्र प्रकटितो विद्यते। क्षत्रियस्य धर्ममप्यत्र प्रतिपादितोऽस्ति। प्रकारान्तरेणात्र प्रोक्तमस्ति। यथोक्तं तत्र-

क्षत्रियेण वधो राजन् वानप्रस्थे विशेषतः।
ज्ञानपूर्वं कृतः स्थानाच्च्यावयेदपि वज्रिणम्॥[२७]

---

२४. वा.रा. १/२५/१७
२५. तदेव १/२५/१८
२६. अयोध्यांकाण्डम्, ६४/१३
२७. तदेव ६४/२३

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१०२-१०८)

वाल्मीकिरामायण में वैदिक वर्णव्यवस्था

डॉ० उमा जैन

'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृञ् वरणे' अथवा 'वृ' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है—वरण करना अथवा चुनना अर्थात् एक विशेष प्रकार के कार्य अथवा व्यवसाय को चुनने वाले समूह को वर्ण कहा जाता है। वर्ण का शब्दिक अर्थ है-रंग, रोगन, मनुष्य श्रेणी, जनजाति या कबीला, जाति (ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण) के लोग[1] ऋग्वेद में कई स्थानों पर वर्ण का अर्थ रंग या 'प्रकाश' किया है।[2] कहीं कहीं वर्ण का सम्बन्ध ऐसे जनसमूह से किया है, जिसका चर्म काला या गोरा है।[3] तैत्तिरीय-ब्राह्मण में ब्राह्मण को दैवीवर्ण और शूद्र को असूर्यवर्ण (शूद्र जाति) कहा है।[4]

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद में ब्राह्मण को एक विराट् पुरुष कहा गया है।[5] पुरुषसूक्तों के मन्त्रों में समस्त समाज को चार मुख्य श्रेणियों में बाँटा गया है— ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र। जिनकी उत्पत्ति विराट् पुरुष से मानी गयी है, ब्राह्मण उसका मुख है, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजायें हैं, वैश्य उसकी जंघा (या मध्यभाग) है और शूद्र उसके पैर हैं।[6] इन चारों वर्णों को चतुर्वर्ण कहा जाता है। इसी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर ही भारतीय समाज का संगठन और विकास हुआ है। शतपथ-ब्राह्मण[7] में ब्राह्मण 'ओ३म्' से, क्षत्रिय 'भूः, से, वैश्य 'भुवः' व शूद्र 'स्वः' से उत्पन्न हुए माने गये हैं। इस प्रकार शूद्र को समाज का अविकल अङ्ग मानते हुए पवित्र गायत्री मन्त्र की व्याहृति से उत्पन्न बताया है।

वर्ण--व्यवस्था भारतीय संस्कृति की सबसे महत्त्वपूर्ण सामाजिक विशेषता है। वेदों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। हर व्यक्ति की रुचि, स्वभाव और कार्यक्षमता पृथक्-पृथक् होती है। यदि वह स्वरुचि का कार्य करता है तो उसमें उसे शीघ्र दक्षता प्राप्त हो सकती है, जबकि अन्य कार्यों में नहीं।[8] इस दृष्टि से वेदों में वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख हुआ है, क्योंकि समाज के पूर्ण निर्माण हेतु कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है। यथा- ज्ञान (बुद्धिबल), रक्षणशक्ति, प्रजा--पालन या भरण-

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश वामन शिवराम आप्टे पृ० १०१
२. ऋग्वेद १/७३/७, २/३/५, ९/९७/१५, ९/१०४/४, ९/१०५/४, १०/१२४/७
३. वही २/१२/४, १/१७९/६
४. तैत्ति० ब्रा० १/२/६
५. ऋ० १०/९०, यजु० अ० ३१, अथर्वव० १९/६
६. वही १०/९०/१२, वही ३१/११, वही १९/६/६
७. शत० ब्रा० ५/४/६/९
८. वेदों में राजनीति--शास्त्र, डॉ० कपिल देव द्विवेदी पृ० २२

पोषण की सामर्थ्य, श्रमशक्ति और मौलिक एकता। समाज में ब्राह्मण ज्ञान या बुद्धि का, राजन्य रक्षण-शक्ति का, वैश्य प्रजा-पालन का और शूद्र श्रमशक्ति का प्रतीक है। इसी को यजुर्वेद में इस प्रकार रखा है-ब्रह्म (ज्ञान, विद्या, बुद्धि) के लिए ब्राह्मण है, रक्षण के लिए राजन्य है, प्रजा के भरण-पोषण के लिए वैश्य है और तप (श्रम शक्ति) के लिए शूद्र है।[९] एक आदर्श समाज के विषय में यजुर्वेद में कहा है कि 'लोकपृण' अर्थात् लोक-कल्याण को सर्वप्रथम रखो और जनहित में बाधक तत्त्व या छिद्र को दूर करो।[१०]

समाज के पूर्ण विकास हेतु वेदों में वर्ण-व्यवस्था दी गयी है, वह शुद्ध रूप से गुणों और कर्मों पर आश्रित है। वेदों में वर्ण वृत्तिपरक हैं, जातिपरक नहीं। अत: ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध जन्म से नहीं है, अपितु जिसकी जो वृत्ति होगी, वही उसका वर्ण होगा।[११] शास्त्रों में प्रत्येक वर्ण के कुछ कर्त्तव्य अथवा धर्म हैं। यथा सत्य का अन्वेषण चरित्र एवं जीवन की शुद्धता बनाये रखना, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, अहिंसा, क्षमादि। इन सामान्य कर्त्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य एवं धर्म वेदों में इस प्रकार वर्णित किये गए हैं।

सामाजिक व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऋग्वेद[१२] में ब्राह्मणों के मैत्रीभाव पूर्ण यज्ञ करने का उल्लेख है। ये ईश्वराधना, आध्यत्मिक विकास से समाज में पूजनीय माने जाते थे और राजा से भी आदर पाते थे। वेद का पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना, योग-साधना, तपश्चर्या, यम-नियमादि द्वारा आत्मविकास का मार्ग प्रशस्त करना, ऐहिक ऐश्वर्य से दूर होकर समाजसेवा, सांस्कृतिक विकास में कालयापन करना[१३] ब्राह्मण का प्रमुख कर्त्तव्य है। ब्राह्मण का मुख कहने का अभिप्राय ही यही है कि वह मुख का कार्य करता है-ज्ञान-प्रसार, भाषण, प्रवचन, धार्मिक क्रिया-कलाप, शास्त्रार्थ आदि।[१४] ब्राह्मण का आदर प्रकट करते हुए ऋग्वेद में कहा है कि जो राजा ब्राह्मण का सम्मान करता है, वह घर में सुख पूर्वक रहता है।[१५] तैत्तिरीय-संहिता में ब्राह्मण को देवता कहा है, जो पवित्र ज्ञान का अर्जन करते हैं, उसे पढ़ाते है।[१६] अथर्ववेद[१७] में भी ब्राह्मणों की महत्ता गायी गयी है।

वाल्मीकि-रामायण में अग्निहोत्री, शम-दम आदि उत्तम गुणों से सम्पन्न तथा छः अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता, विद्वान्, श्रेष्ठ ब्राह्मण अयोध्या नगरी को सर्वदा घेरे रखते थे तथा दान लेने और सत्यपालन में तत्पर रहते थे।[१८] सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, वसिष्ठ आदि सत्य श्रेष्ठ ब्राह्मण[१९] राजा दशरथ के पुत्र प्राप्ति हेतु किये

---

९. यजु० ३०/५
१०. वही १५/५९
११. वेदों में राज० पृ० २३
१२. ऋ० १०/७१/८,९
१३. वेदकालीन समाज-डॉ० शिवदत्त ज्ञानी पृ ११९
१४. ऋ० १०/९०/१२
१५. वही ४/५०/८,९
१६. तैत्ति० संहिता १/१७/१९
१७. अथर्व० ५/१७/ १९
१८. वेद० समाज पृ० ११६

जाने वाले यज्ञ में ऋष्यशृङ्ग को आगे करके शास्त्रोक्त विधि से यज्ञकर्म[२०] सम्पन्न करते हैं।[२१] वेदों के पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणों को राजा दशरथ विपुल धन-धान्य अर्पित करते हैं।[२२] वाल्मीकि-रामायण में महर्षि विश्वामित्र साक्षात् धर्ममूर्ति होने के साथ-साथ बलवानों में श्रेष्ठ भी हैं।[२३] चराचर प्राणियों सहित तीनों लोकों में नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र सञ्चालन में निष्णात, त्रिकाल द्रष्टा हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान की कोई भी बात उनसे छिपी नहीं है।[२४] बला और अतिबला नामक विद्यायें जगत् की रक्षा हेतु श्रीराम को प्रदान करते हैं।[२५] विश्वामित्र दिव्य एवं महान् दण्ड, चक्र, धर्मपाश, वरुणपाश, वायव्यास्त्र, मोहनास्त्रादि भी राम को प्रदान करते हैं।[२६] नरेश श्रेष्ठ महातेजस्वी, महायशस्वी राजा सुमति आदि भी विश्वामित्र का सत्कार कर अपने को धन्य समझते हैं।[२७]

महर्षि वसिष्ठ राजा दशरथ के कुल गुरु थे। जिन्होंने समय-समय पर सभी बालकों के जातकर्म आदि संस्कार कराये थे। आवश्यकतानुसार राजा को उचित मन्त्रणा देकर उनके वचन की रक्षा भी करते थे। निशाचरों के वध हेतु महर्षि विश्वामित्र द्वारा राम लक्ष्मण के मांगे जाने पर पुत्रस्नेह के वशीभूत हुए दशरथ द्वारा इन्कार करने पर क्रुद्ध विश्वामित्र के दिव्य तेज से उनको अवगत कराते हुए राम-लक्ष्मण को उन्हें समर्पित करा देते हैं।[२८] वसिष्ठ को राजा दशरथ की सभा में ही नहीं, अपितु मौद्गल्य, मार्कण्डेय, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम, नारद आदि महर्षियों के साथ श्रीराम चन्द्र के दरबार में भी उच्चासन पर बैठाया जाता था।[२९] सूर्यतुल्य तेजस्वी महर्षि अगस्त्य प्रभावशाली मुनि हैं। जिनके आश्रम में रहने वाला झूठ-क्रूर, शठता, नृशंसता, पापाचार से सर्वदा दूर हो जाता है। आश्रम के समीप आने पर महर्षि अगस्त्य श्रीराम को सम्मान पूर्वक ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र द्वारा प्रदत्त बाण, खड्ग और वज्रादि अमोघ अस्त्र प्रदान करते हैं।[३०] साथ ही विश्वकर्मा द्वारा बनाया हुआ दिव्य रूप और तेज से प्रकाशित दिव्य आभूषण भी देते हैं।[३१]

महर्षि भारद्वाज अपनी दिव्य शक्ति से विश्वावसु, हाहा ओर हूहू आदि देव, गन्धर्वों, अप्सराओं आदि का

---

१९. वा० रा० बालकाण्ड ६/१-४
२०. वही २०/५
२१. वही २२/१६,१७
२२. वही २६/२४,२५
२३. वही २१/१०
२४. वही २१/११,१९
२५. वही २२/१५-१८
२६. वही २८/४-१९
२७. वही ४६/२०,२२
२८. वा० रा० बाल २१/१८-२१
२९. वही उत्तर० ७४/३,५
३०. वही अरण्य० ११/९०, १२/३२-३६
३१. वही उत्तर० ७६/३०

आह्वान करके विभिन्न भोग्य एवं सुखोपभोग के साधन प्रस्तुत कर सेना सहित आये हुए दशरथ पुत्र भरत का सत्कार करते हैं।[३२] रावण कुम्भकर्ण, विभीषण पुलस्त्य नन्दन ब्राह्मण विश्रवा के पुत्र बड़े ही तपस्वी, पराक्रमी हैं। पराक्रमी रावण ने उग्र तप द्वारा ब्रह्मा को प्रसन्न कर विजयी होने का आशीर्वाद प्राप्त किया।[३३] महाबलशाली पराक्रमी कुम्भकर्ण ने इन्द्रियों को संयमित कर ग्रीष्मकाल में पञ्चाग्नि तप, वर्षा ऋतु में जाड़े के दिनों में जल के भीतर रहकर दस हजार वर्ष तक भयंकर तप किया था।[३४] ये दोनों महान् तपस्वी होते हुए भी अपनी दुष्ट प्रकृति एवं प्रवृत्ति के कारण राक्षस कहलाये, क्योंकि वेदों में भी वर्ण-व्यवस्था जातिमूलक न होकर कर्म प्रधान (वृत्तिमूलक) रही है। यही रूप वाल्मीकि-रामायण में भी द्रष्टव्य है। वाल्मीकि-रामायण में ब्राह्मण भी बल, पराक्रमादि में क्षत्रियों से प्रबल होते थे, क्योंकि उनमें बल के साथ-साथ दिव्य शक्ति भी होती थी।[३५]

ऋग्वेद[३६] में क्षत्रिय विराट् पुरुष की भुजाओं से उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार भुजायें सम्पूर्ण शरीर की रक्षा के लिए हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय सम्पूर्ण समाज की रक्षा के लिए हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ करना, प्रजा रक्षण, स्वाध्याय, इन्द्रिय-दमनादि क्षत्रिय के प्रमुख कर्त्तव्य समझे जाते थे।[३७] वाल्मीकि-रामायण में राजा दशरथ यज्ञ करने वाले, धर्म परायण जितेन्द्रिय, दिव्यगुण सम्पन्न, बलवान्, शत्रुहीन महातेजस्वी सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करने में समर्थ क्षत्रिय थे।[३८] महर्षि विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा हेतु विध्वंसकारी निशाचरों का विनाश करने के लिए प्राणार्पण तक की बात कहते हैं।[३९] पुत्रप्राप्ति हेतु किये जाने वाले यज्ञ में सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि, काश्यप, कालपुरोहित और वसिष्ठ जैसे श्रेष्ठ ब्राह्मणों को आदरपूर्वक आमन्त्रित करके यज्ञानुष्ठान कराते हैं।[४०]

कौशल्या नन्दन श्रीराम महर्षि विश्वामित्र से बला और अतिबला मन्त्रविद्या ग्रहण करके राक्षसी ताड़का, मारीच, सुबाहु का वध कर निर्विघ्न यज्ञ कार्य पूर्ण कराते हैं।[४१] वैदिक ज्ञानसम्पन्न, महातेजस्वी श्रीराम नाव पर आरूढ़ हो दैवी नाव इत्यादि मन्त्र का जाप करके शास्त्रोक्त विधि से आचमन सहित गङ्गा को प्रणाम करते हैं।[४२] ब्राह्मण राजा द्वारा पूजनीय माने जाते थे। तभी वे वाल्मीकि-रामायण में देवतुल्य तेजस्वी और अत्यन्त दुर्जय श्रीराघवेन्दु अश्वमेध यज्ञ में आमन्त्रित अग्रगण्य एवं सर्वश्रेष्ठ वसिष्ठ आदि सभी ब्राह्मणों के चरणों में प्रणाम सहित

---

३२. वही अयो० ९१ सर्ग
३३. वही उत्तर० ९/४८, १०/१०-१९
३४. वही उत्तर० १०/३-५
३५. वही बाल० ५४/१४
३६. ऋ० १०/९०/१२
३७. वा० रा० पृ०११६
३८. वा० रा० बाल० ६/१-४
३९. वही २०/५
४०. वही २०/५
४१. वही २२/१६,१७, २६/२४,२५, ३०/१७
४२. वही अयो० ५२/७८,७९

स्वागत कर शुभाशीर्वचन प्राप्त कर यज्ञसम्पन्न होने पर ब्राह्मणों और याचकों को अभिलाषा से अधिक सोना, चाँदी रत्न, धन, वस्त्र, अन्नादि प्रदान करते हैं।[४३] लक्ष्मण और सीता के साथ वनगमन से पूर्व राम अपने दिव्य अभेद्य कवच, अक्षय बाणों से परिपूर्ण तरकस, स्वर्णभूषित खड्ग, हार, सुवर्णसूत्र, करधनी, अङ्गद, केयूर, रत्नविभूषित पलंग, शत्रुञ्जय नामक हाथी एक हजार अशरफियाँ वसिष्ठ मुनि पुत्र सुयज्ञ को देते हैं तथा अन्य सभी सेवकों के लिए खजाने के द्वार जितना धन ले जाओं कहकर खोल देते हैं।[४४] राजा राम क्षत्रिय होते हुए भी कुपित महर्षि परशुराम पर बाण का प्रहार न करके उनके प्रति विनयी ही बने रहते हैं।[४५]

प्रजा संरक्षण हेतु पराक्रमी राम शस्त्र द्वारा अवध्य राक्षस विराध का अपने पैर से गला दबाकर वध करते हैं। कोई भी दुराचारी और आततायी उनके समक्ष ठहर नहीं पाता था। खर नामक राक्षस द्वारा भेजे चौदह भयानक राक्षस तथा स्वयं खर-दूषण सहित अन्य चौदह सहस्त्र राक्षसों को राम धाराशायी कर देते हैं, जिनको देखकर अन्य राक्षसगण पलायन कर जाते हैं।[४६] साथ ही कुम्भकर्ण, मकाराक्ष, अभिमानी रावण का वधकर सम्पूर्ण राक्षस कुल का संहार करते हैं।[४७]

शूरता, दक्षता, बल, धैर्य, बुद्धिमान्, नीति, पराक्रम, अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, आदि अष्टसिद्धि सम्पन्न केसरी नन्दन वीर हनुमान् माता सीता की खोज हेतु दृढ़ निश्चय कर सम्पूर्ण वानर सेना को हर्षातिरेक कर देते हैं। लघु-विशाल रूप धारण कर सुरक्षा नामक राक्षसी पर विजय प्राप्त कर तथा सिंहिका का वध कर विशालकाय समुद्र पार लङ्का में प्रवेश कर जाते हैं।[४८] वहाँ पर सीता की खोज कर उनकी प्राप्ति हेतु होने वाले युद्ध में बाधक पराक्रमी राक्षस धूमाक्ष, अकम्पन, देवान्तक, त्रिशिराका तथा निकुम्भक आदि पर पर्वतशिखर चलाकर, गदादि के प्रहार से वध कर राक्षस सेना को नष्ट कर राम के प्रिय सेवक बनते हैं।[४९]

तेजस्वी, अतुलनीय पराक्रमी वाली पुत्र अङ्गद दूत के रूप में रावण की सभा में पहुँचकर, उसको अपमानित कर युद्धभूमि में राक्षस सेना के वीर योद्धा वज्रदंष्ट्र और नरान्तकादि को परलोकगामी बना देता है।[५०] इस प्रकार राम राज्य में प्रजा पूर्णतः सुरक्षित होकर रहती थी।

ऋग्वेद में 'विश' शब्द वैश्य वर्ण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है,[५१] जिसको विराट् पुरुष की जंघाओं से सम्बन्धित किया गया है। जिस प्रकार जंघाए शरीर के समस्त भार को धारण करती हैं, उसी प्रकार वैश्य भी समाज

---

४३. वही उत्तर० ९१/३,५, ९२/१५-१८

४४. वही अयो० ३१/३०, ३२/७-१०,२६

४५. वही बाल० ७६/३

४६. वही अरण्य० ४/२६, २०/२१,. २६ सर्ग

४७. वही युद्ध ६७/१७२, पृ० १३०६, १३९३

४८. वही सुन्दर० १ सर्ग

४९. वही युद्ध० ३४/३५,३६, ५६/३०, पृ० १२६४, १२९७

५०. वही ५४/३४, पृ० १२५७

५१. ऋ० १०/९०

के भरण-पोषण रूप समस्त भार को धारण करता है। पशु-पालन, कृषि, वाणिज्य, दान देना, यज्ञ करना, वेदाध्ययनादि वैश्यों के कर्त्तव्य हैं।[५२] वाल्मीकि रामायण में वैश्य वर्ण बड़ा सुदृढ़ एवं कर्मनिष्ठ था। अयोध्या नगरी घोड़े, हाथी, गाय, बैल, ऊंट, तथा गधे आदि उपयोगी पशुओं से हमेशा भरी-पूरी रहती थी। कर देने वाले सामन्त नरेशों के समुदाय उसे सदा घेरे रहते थे। विभिन्न देशों के निवासी वैश्य उसकी शोभा बढ़ाते थे।[५३] वहाँ पर ऐसा कोई भी कुटुम्बी नहीं था। जिसके पास उत्कृष्ट वस्तुओं का संग्रह अधिक मात्रा में न हो, जिसमें धर्म, अर्थ और काममय पुरुषार्थ सिद्ध न हो गये हों।[५४] प्रत्येक प्राणी कुण्डल, मुकुट, पुष्पाहार, आदि से सुसज्जित, चन्दनादि सुगन्धित द्रव्यों से पूरित एवं भोज्य सामग्री से परिपूर्ण था।[५५] अयोध्या गगनचुम्बी देवमन्दिरों, चौराहों, व्यापारियों की बड़ी-बड़ी दुकानों तथा कुटुम्बी गृहस्थों के सुन्दर समृद्धिशाली भवनों, चहुं ओर नटों और नर्तकों के सुन्दर समूहों, सड़कों के दोनों ओर वृक्षों की भाँति अनेक शाखाओं से युक्त दीपस्तम्भों से इन्द्रपुरी के समान प्रतीत होती थी। उत्तम श्रेणी के चन्दनों, अगरु नामक धूपों, उत्तम ग्रन्थों, द्रव्यों, अलसी या सनादि के रेशों से बने हुए कपड़ों तथा रेशमी वस्त्रों के ढेर, अनबिंधे मोती, उत्तमोत्तम स्फटिक रत्नों से वहाँ राजमार्ग सुशोभित होते थे।[५६] श्रीराम द्वारा किये जाने वाले अश्वमेधयज्ञ के समय मार्ग में आवश्यक वस्तुओं के क्रय-विक्रय हेतु वणिक् व्यापारियों हेतु विभिन्न बाजारों का सुसज्जित होना भी वाल्मीकि-रामायण में वैश्यवर्ण की धनाढ्यता एवं सुसम्पन्नता का द्योतक है।[५७]

शरद् ऋतु के बादलों के समान श्वेत भवनों वाली सैकड़ों अट्टालिकाओं, सुवर्णमय फाटक, लता-बेलों से चित्रित भित्तियों वाली लङ्का नगरी विश्वकर्मा के मानचित्र संकल्प से रची गयी सुन्दर स्त्री के समान लगती थी, जिसके स्फटिक और वैदूर्यमणि जटित फर्श, मोतियाँ की जालियाँ महल की शोभावर्धक थीं।[५८] यह सब वहाँ की प्रजा की सुख-सम्पन्नता को प्रकट करता है।

ऋग्वेद में शूद्रवर्ण की उत्पत्ति विराट् पुरुष के पैरों से हुई बतायी गयी है, जिस प्रकार पैर गमनागमन का साधन हैं, शरीर का भार ढोते हुए उसे क्रियाशील बनाता है। उसी प्रकार शूद्र श्रम से सम्बद्ध सभी कार्यों को करके समाज को गतिशील, क्रियाशील और विकासशील बनाता है।[५९]

वेदों में शूद्रों को सेवा-शूश्रूषा का कार्य करना पड़ता था और उनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था जैसा क्रि अथर्ववेद में कहा है कि मुझे देवताओं तथा राजाओं में प्रिय बनाओ। मैं सबका प्रिय बनूँ, चाहे आर्य हों

५२. वा० रा० पृ० १२०
५३. वा० रा० बाल० ५/१३,१४
५४. वही ६/१७
५५. वही ६/१७
५६. वा० रा० अयो० ६/११-१४, १८,२८, १७/७
५७. वही उत्तर० ९१/२२
५८. वही सुन्दर २१७-२१, ५३
५९. ऋक० १०/९०/१२

या शूद्र हों।[६०] यजुर्वेद में तो शूद्रों के वेदाध्ययन के अधिकार का भी उल्लेख है।[६१] ऐतरेय-ब्राह्मण[६२] तथा कौषीतकी-ब्राह्मण[६३] में कवष ऐलूष का वर्णन आता है, जो दासी पुत्र होते हुए भी अपनी विद्वत्ता से गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ, आदि महर्षियों से आदर पाते हैं। कवष ऐलूष ऋग्वेद[६४] में कितने ही मन्त्रों का द्रष्टा थे।[६५] वाल्मीकि-रामायण में कारीगर, रथकार, यन्त्रकार, बढ़ई, मार्गरक्षक, पेड़ काटने वाले, चटाई बनाने वाले, माली आदि ने राम वनगमन हेतु कंकरीले रास्तों, दुर्गम स्थलों, छोटे-छोटे संकीर्ण मार्गों को सुव्यवस्थित कर, चन्दनमिश्रित जल छिड़कर अयोध्या से गङ्गा तट का राजमार्ग बड़ा ही सुरम्य बना दिया था।[६६]

रामायण में निषादराज गुह श्रीराम के प्रति सेवा भाव सम्पन्न होकर उनका स्वागत करता है और अपना सर्वस्व उनके चरणों में समर्पित कर उनको नौका से नदी पार कराता है।[६७] साथ ही गुह सभी मल्लाहों को साथ लेकर नदी की रक्षा करते हुए गङ्गा के तट पर खड़े नाव पर रखे हुए फल-मूल आदि से आहार कराकर भरत से रात्रि व्यतीत करने की प्रार्थना करते हुए 'हमारा घर आपका ही है' इस प्रकार मनोवाञ्छित वस्तुओं से उनका स्वागत करते हैं।[६८] वेदकालीन सूत्रों के समान वाल्मीकि-रामायणकालीन शूद्रों को भी तपस्यादि करके देवत्व प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार था। शूद्रयोनि में जन्मा शम्बूक नीचे सिर ऊपर 'पैर कर' उग्र तपस्या[६९] द्वारा देवत्व को प्राप्त करना चाहता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था के समान वाल्मीकि-रामायण में भी वर्ण-व्यवस्था पूर्ण रूपेण व्यवस्थित थी। सभी वर्ण अपने-अपने कार्यों का सम्यक् प्रकार निर्वाह करते थे। प्रजा भी सामाजिक, मानसिक, आर्थिक एवं शारीरिक रूप से अपने को सुसम्पन्न एवं स्वस्थ अनुभव करती थी। वैदिक वर्ण-व्यवस्था के आधार पर जब हम वाल्मीकि-रामायण में वर्णित वर्ण-व्यवस्था का अवलोकन करते हैं तो प्रतीत होता है कि महर्षि वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ रामायण में वैदिक वर्ण-व्यवस्था का पर्याप्त अनुशीलन किया है।

---

६०. अथर्व० १९/६२/१
६१. यजु० २६/२
६२. ऐत० ब्रा० २/१९
६३. कौशी० ब्रा० १२/३
६४. ऋक० १०/३०/१-१५, १०/३१/१-११, १०/३२/१-९, १०/३३/१९, १०/३४/१-१४
६५. वही १/१८/१, १/५१/१३, १/११२/११, ४/२६/१, ८/९/१०
६६. वा० रा० अयो० सर्ग ८०
६७. वही ५१/३३,३८, ५२/९०,
६८. वही सर्ग ८४
६९. वही उत्तर० ६२/२३

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१०९-११५)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक पारिवारिक स्वरूप

कुलदीप सिंह आर्य

वाल्मीकि-रामायण लौकिक संस्कृत का प्राचीनतम महाकाव्य है। रामायण को वैदिक संस्कृति का प्रतिपादक ग्रन्थ भी कहा जाता है, जो संस्कृति सभ्यता, समाज वेदों में प्रदर्शित एवं प्रतिपादित था। उसका प्रभाव वाल्मीकि-रामायण पर पड़ा है जिस प्रकार वैदिक साहित्य में कर्त्तव्याकर्त्तव्य के द्वारा शुभाशुभ का ज्ञान कराया गया है, उसी प्रकार वाल्मीकि-रामायण में भी रामादि के द्वारा शुभ एवं मङ्गलकारी एवं रावणादि के द्वारा अशुभ कर्त्तव्यों का बोध कराया है। **'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्'** जब कोई श्रेष्ठ पुरुष श्रेष्ठ आचरण करता है तो शेष लोग उसे प्रमाण मानकर वैसा ही करते हैं।[१] अतः वैदिक साहित्य में जो श्रेष्ठ एवं मंलगकारी आविष्कृत हुआ उसके बाद के साहित्य पर उसका भरपूर प्रभाव पड़ा और साहित्य के ज्ञान-विज्ञान का अनुकरण हुआ।

वैदिक समाज, वर्ण, आश्रम, शिक्षा, दण्ड, राज्य आदि की जैसी व्यवस्थायें थीं, वाल्मीकि-रामायण में भी प्रायः वैसी ही दृष्टि गोचर होती हैं। परिवार समाज की लघु इकाई है, व्यक्तियों से परिवार बनता है और परिवारों से समाज और समाज से राष्ट्र की परिकल्पना सम्भव है। परिवार का प्रारम्भ गृहस्थाश्रम से माना जाता है और उसका उद्देश्य सभी को सन्तुष्ट रखते हुए राष्ट्र को सबल बनाना होता है।

वाल्मीकि-रामायण में मुख्य रूप से दो कुलों की चर्चा है—एक राम के वंश की और दूसरी रावण वंश की। ये दोनों राजवंशों को महाकवि ने नायक और खल नायक के रूप में चित्रित किया है। इसके अतिरिक्त, कुछ सहायक चरित्र हैं, जिन पर आर्य ओर राक्षस दोनों ही संस्कृतियों का प्रभाव है।

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक परिवार का स्वरूप अनेक प्रकार देखा जाता है। परिवार के जैसे आदर्श और कर्त्तव्य वेदों में प्रतिपादित हैं, प्रायः आदिकवि ने वैसे ही निर्धारित किये हैं।

परिवार में नारी का महत्त्व

वेदों में नारी की महिमा का अत्यन्त गौरवपूर्ण उल्लेख देखने को मिलता है। ऋग्वेद में २४ और अथर्ववेद में १९८ मन्त्रों को आविष्कृत किया।[२] वहाँ स्त्री को सावित्री[३] आत्मा का आधा अंश[४] गृहलक्ष्मी और साक्षात् श्री माना है।[५] इन सब भावों से प्रभावित होकर ही आचार्य मनु ने **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'**[६] का उद्घोष

---

१. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। गीता-३.२१
२. वेदों में नारी, डॉ० कपिल देव द्विवेदी पृ० ५
३. स्त्री-सावित्री जै० उप० ब्रा० २७.१०.१७
४. अर्धो वा एषः आत्मनः यत् पत्नी। तै० ब्रा० ३.३.३.५
५. श्रिया वा एतत् रूपं यत् पत्न्यः। तै० ब्रा० ३.९.४.७
६. मनुस्मृति ३/५६

किया था। ऋग्वेद कहता है—'**सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधि देवृषु**'[७] हे वधू! तू ससुर, सास, ननद, और देवरों के साथ गृहस्वमिनी के रूप में रहना। अथर्ववेद कहता है—'**शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्य: शिवा। शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा ने इहैधि**'[८] हे नारी! सभी पुरुषों गायों और घोड़ों के लिए तुम सुखकर होना भूमि के लिए सुखदायी होना, हम सब के लिए कल्याणकारी होना। इस प्रकार सभी वेदों में नारी की विशेषताओं का बखान हुआ है, जो उसके अधिकारों, आदर्शों एवं माहात्म्य का प्रमाण है। स्त्री सशक्तीकरण के जो सूत्र वेदों में बताए गए हैं, यदि उनका अनुसरण किया जाए तो आज नारी किसी प्रकार से अबला नहीं रह सकेगी।

आदि महाकवि वाल्मीकि ने नारी के इसी सम्मान को रामायण में चित्रित किया है। रामायण के तीन उदाहरण इसके प्रमाण हैं, कुछ विद्वान् रामायण को नारी के पूर्ण सम्मान का काव्य नहीं मानते, लेकिन ऐसा नहीं है-रामायण में नारी अपने सम्पूर्ण अधिकारों एवं सम्मान के साथ चित्रित हुई है।

१-कैकेयी

राजा दशरथ की महारानी कैकेयी रामायण के नारी सशक्तीकरण की प्रथम उदाहरण हैं। श्रीराम को अगले दिन होने वाले उनके राज्याभिषेक की सूचना दे दी गई है और कैकेयी का अहं बीच में आ जाता है और महाराजा दशरथ से वह कहती है—

तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वच:। अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पित:।।
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्। यो द्वितीयो वरो देव दत्त: प्रीतेन मे त्वया।।
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागत:। नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रित:।।
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापस:। भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम्।।[९]

हे देव पृथ्वीनाथ! उन दिनों आपने जो दो वर देने की प्रतिज्ञा की थी, वे अब मुझे देने चाहिये, उन दोनों वरों को अभी मैं बताऊँगी, आप मेरी बात सुनिएं यह जो राम के राज्याभिषेक की तैयारी की गई है। इसी अभिषेक सामग्री द्वारा मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाए। देव! आपने उस समय देवासुर संग्राम में प्रसन्न होकर जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करने का यह समय भी आ गया है। धीर स्वभाव वाले श्रीराम तपस्वी के वेश में वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षों तक दण्डकारण्य में जाकर रहें। भरत को आज निष्कण्टक युवराज पद प्राप्त हो जाए।

यहाँ एक राजमहिला की जिद के कारण सम्राट दशरथ भी उसके वचनों को मानने को मजबूर हैं, यद्यपि वेदों में ऐसी नारियों को श्रेष्ठ नहीं माना गया, परन्तु यहाँ केवल नारी के वचनों का पालन करने से आशय है, उसके स्वभाव व चरित्र से नहीं। महाराज दशरथ के लिए रानियों की क्या कमी थी जहाँ तीन और भी हो सकती थीं,

---

७. ऋ० १०/८५/४६
८. अ० ३/२८/३
९. वा० रा०. अयोध्या काण्ड ११ वां सर्ग. २७

लेकिन दशरथ नारी के वचनों को पूरा करते हैं यह नारी के सम्मान की पराकाष्ठा है, चाहे उसके लिए कितनी ही हानि क्यों न उठानी पड़ी हो।

२-सीता

रामायण में नारी सम्मान की दूसरी उदाहरण है—सीता। सीता का हरण जब रावण द्वारा होता है तो राम के सामने दो रास्ते हैं—एक रावण जैसे महान् दानव से युद्ध करके, अपने प्राणों को संकट में डालकर सीता को वापस लाना और दूसरा उनका वनवास समाप्ति में थोड़ा ही समय बचा था, तब दूसरा विवाह करना। श्रीराम जैसे राजकुमार के लिए सुन्दरियों की क्या कमी थी उस समय? लेकिन श्रीराम ने अपने प्राणों के साथ भाई लक्ष्मण तथा पूरी वानर सेना को महान् जोखिम में डालकर रावण के साथ युद्ध किया और सीता को वापस लाए, श्रीराम सीता से कितना प्रेम करते थे कि उसकी प्राप्ति में सर्वस्व दाँव पर लगा दिया और एक पत्नीव्रत की परम्परा चलाई। क्या यह नारी का वैदिक सम्मान नहीं, अवश्य ही वेदों का अनुसरण है।

३-शूर्पणखा

नारी सम्मान का तीसरा उदाहरण है शूर्पणखा, अपने भ्राता रावण से राम लक्ष्मण की निर्दयता का वर्णन करते हुए कहती है-

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तो निरङ्कुशः। समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे।[१०]

राक्षसराज! तुम स्वेच्छाधरी और निरङ्कुशः होकर विषय भोगों में मतवाले हो रहे हो तुम्हारे लिए घोर भय उत्पन्न हो गया है, तुम्हें इसका ज्ञान होना चाहिए था।

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणम्। हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः॥ १।[११]

अकेले राम ने जो अनायास ही महान् कर्मों के करने वाले हैं। भीम कर्मा राक्षसों की १४ हजार सेना को यमलोक पहुँचा दिया, खरदूषण के भी प्राण ले लिए शूर्पणखा की इस फटकार से रावण को राम के बल के बारे में पूछने पर मजबूर होना पड़ा-

कश्च रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः। किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टश्च सुदुस्तरम्।[१२]

यहाँ रावण एक स्त्री की अस्मिता पर समर्पित होकर उसके प्रतीकार के लिए सीता-अपहरण हेतु प्रेरित हो जाता है और अपनी सेना योद्धा सम्बन्धियों सहित मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। रावण वेदज्ञ था उसे स्त्रीहरण का कार्य अवश्य ही पाप प्रतीत होता होगा, लेकिन अपनी बहन के लिए ऐसा भी किया, जिसकी कीमत उसने अपने सर्वनाश से चुकाई। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीनों स्त्रीपात्रों के कारण महान् विध्वंस हुए, फिर भी उन बातों को माना, उन्हें सम्मान दिया वह सम्मान ही स्त्री सशक्तीकरण का प्रतीक है।

---

१०. वही अरण्यकाण्ड ३३/२,
११. वही अरण्यकाण्ड ३३/१२
१२. वही अरण्यकाण्ड ३४/२

माता-पिता-पुत्र-सम्बन्ध

वेदों में माता-पिता के कर्त्तव्य बताते हुए कहा गया है कि वे अपनी सन्तानों का इस प्रकार से पोषण करें कि उनकी सन्तान योग्यतम बने, उनका संरक्षण अमृततुल्य हो, **सुरेतसा पितरा अमृतं वरीमभि:**[१३] माता-पिता अपने बच्चों से मधुरता का व्यवहार करें तथा उदार हृदय से उनकी आर्थिक सहायता करें। माता-पिता **मधु वचा:सुहस्ता:**[१४] वैदिक परिवार में माता-पिता पूरे परिवार के सञ्चालक, संवाहक होते थे। उनकी आज्ञा सन्तानों को प्रत्येक दिशा में मान्य थी।

अनुव्रत: पितु: पुत्रो मात्रा भवतु संमना। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्।।[१५]

पुत्र पिता के अनुकूल कार्य करने वाले तथा माता के साथ समान मन वाला हो। पति-पत्नी आपस में मधुर व्यवहार करें।

यह पारिवारिक अनुशासन एवं प्रेम का उत्कृष्ट वैदिक उदाहरण है, परिवार को सुखी एवं सन्तुष्ट बनाने के लिए पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी-के सम्बन्धों का आदर्श प्रस्तुत किया है। पुत्र पिता का आज्ञाकारी होवे वेदमन्त्र के इस अंश का उदाहरण रामायण में श्रीराम के वनगमन द्वारा आचरित हुआ है—

संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रति श्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च।।[१६]

तुम पिता की आज्ञा के अधीन रहो जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है। उसके अनुसार तुम्हें १४ वर्ष के लिए वन में प्रवेश करना चाहिए।

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वित:। जटाचीरधरो राज्ञ: प्रतिज्ञामनुपालयन्।।[१७]

मां बहुत अच्छा ऐसा ही हो। मैं महाराज की प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए जटा और चीर धारण करके वन में रहने के लिए चला जाऊँगा।

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणनिष्टान् धनानि च।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदित:।।[१८]

हे माँ! मैं केवल तुम्हारे कहने से ही अपने भाई भरत के लिए राज्य को, सीता को, प्यारे प्राणों को तथा सारी सम्पत्ति को प्रसन्नता पूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ।

माता का हृदय अपने पुत्र से मिला हुआ हो, पुत्र माता का आज्ञा पालक हो, माता का हितैषी हो और पुत्र

---

१३. ऋ० १/१५९/२
१४. ऋ० ५/४३/२
१५. अ० ३/३०/२
१६. वा० रा० अयो० १८/३५
१७. वही अयो० १९/२
१८. वही अयो० १९/७

'मातृ देवो भव, पितृ देवो भव आचार्य देवो भव' में संलग्न हो और रामायण में श्रीराम ने तीनों ही गुण विद्यमान हैं, वे माता-पिता और आचार्य तीनों के वचनों का अक्षरशः पालन करते नजर आते हैं, पत्नी के आदर्श की बात करते हुए वेद कहता है पत्नी पति का सदैव हित सोचे, पति से मधुर वचन बोले उसका प्रत्येक कार्य मधुरता से भरा हो वे शान्तिदायक और सुखदायक हों। वाल्मीकि रामायण में कैकेयी के एक प्रसङ्ग को छोड़ कर दशरथ की तीनों रानियाँ, रामादि चारों भाइयों की रानियाँ तथा राक्षसवंश की रानियाँ भी अपने पतियों से मधुर व्यवहार करती हैं।[१९]

भाई वहन का प्रेम

भाई बहन के प्रेम के विषय में अथर्ववेद कहता है—

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥[२०]

भाई-भाई, भाई-बहन और बहन-बहन सदैव प्रेम से रहें। वे परस्पर द्वेष या दुर्भावना न रखें। एक भाई दूसरे से प्रेम करे और बड़े भाई का छोटे भाई बहन सदैव आदर करें-'**ज्येष्ठायो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय**'[२१] वे मिलकर ही परिवार की श्री वृद्धि करें भाई-बहन के लिए आदेश है कि वे इस पवित्र बन्धन को दूषित न होने दें, रामायण में भाई-भाई के प्रेम की पराकाष्ठा है। श्रीराम जब वन जाने लगते हैं तो लक्ष्मण भी साथ जाते हैं और अपनी पत्नी को भी छोड़ कर १४ वर्ष भाई के साथ रहते हैं। भरत को जब राम के वन जाने का सन्देश मिलता है तो उनसे मिलने वहाँ जाते हैं और वहीं रहने की बात करते हैं। रामादि चारों भाइयों के प्रेम-बन्धन आपस में अटूट थे, कहीं भी उनके विचार वैमनस्य की घटना नहीं घटी। यहाँ एक भाई दूसरे भाई के लिये सर्वस्व देने के लिए तत्पर है। लक्ष्मण राम से कहते हैं—

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहंवृणे। ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना॥
एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः। रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत्॥

मैं आपके विना स्वर्ग में जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकों का ऐश्वर्य प्राप्ति की भी इच्छा नहीं रखता, वनवास के लिए निश्चित विचार करके ऐसी बात कहने वाले सुमित्रा कुमार लक्ष्मण को श्रीराम ने बहुत से सान्त्वनापूर्ण वचनों द्वारा समझा कर वन में चलने से मना किया। इसी प्रकार रावण अपनी बहन शूर्पणखा से प्रेम करता था और उसके द्वारा उकसाये जाने पर उसने सीता का हरण किया, रावण के भाई भी उससे बड़ा प्रेम करते थे।

३-परिवार के अधिकार

जिस प्रकार वैदिक परिवारों में पिता की बातों को मानना सबके लिए आवश्यक था। प्रायः रामायण में भी

---

१९. वही ७/५९/१४, १५/१२
२०. अ० ३/३०/३
२१. ऋ० ५/५०/५

ऐसा ही था, पिता ही परिवार का मुखिया होता था, उसकी आज्ञा पालन ही सब का धर्म था। यह प्रथा केवल आर्य परिवारों में ही नहीं, अपितु राक्षस एवं वानर वंशों में भी प्रचलित थी। रावण की सीता हरण आदि गलत एवं कुलविहीन बातों को जानते हुए भी सम्पूर्ण राक्षस कुल ने उसका विरोध नहीं किया। विभीषण को छोड़कर रावण पिता, राजा और बड़ा होने के नाते स्वेच्छा से कार्य करता रहा। इसी प्रकार क्रोधित ययाति यदु से कहते हैं यदि तुम्हे राज्य नहीं मिलेगा, इसका अर्थ यह भी है कि यदि सन्तान या माता-पिता के अधीन सदस्य उनका कहना नहीं मानते थे तो अधिकारों से वंचित हो जाते थे, कहना न मानने के कारण रावण ने विभीषण को अधिकारों से वंचित कर दिया था। इसी प्रकार ययाति कहते हैं-

राक्षसस्त्वं मया जातः क्षत्ररूपो दुरासदः। प्रतिहंसिममाज्ञां त्वं प्रजार्थे विफलो भव।।

पितरं गुरुभूतं मां यस्मात् त्वमवमन्यसे। राक्षसान् यातुधानांस्त्वं जनयिष्यसि दारुणान्।।[२२]

मैं पिता हूँ गुरु हूँ फिर भी तुम मेरा अपमान करते हो इसलिए भयंकर राक्षसों और यातुधानों को तुम जन्म दोगे। पिता की आज्ञा मानने पर ही पुत्र को अधिकार मिलते थे। ययाति पुरु से कहते हैं-

प्रीतश्चास्मि महावाहो शासनस्य प्रति ग्रहात्।

त्वां चाहमभिषेक्ष्यामि प्रीतियुक्तो नराधिपम्।।[२३]

हे महाबहो। तुमने मेरी आज्ञा मान ली है अतः मैं प्रसन्न हूँ, अब में बड़े प्रेम से राजा के पद पर तुम्हारा अभिषेक करूँगा।

पिता के वृद्ध होने पर या मर जाने पर बड़ा बेटा परिवार का मुखिया होता था। महाराज दशरथ की मृत्यु के बाद भरत बड़े भाइयों के होते हुए राज्याभिषेक नहीं कराना चाहते थे और राम के वन चले जाने पर भरत कहते हैं-बड़े भाई के विना मुझ दुखिया को राज्य से क्या काम ?[२४] उसके बाद चित्रकूट पर राम से विनती करते हुए भरत कहते हैं दे देव! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ पर कृपा कीजिए और आज ही इन्द्र के समान अपना अभिषेक करा लें।

संयुक्त परिवार व्यवस्था

वेदों में संयुक्त परिवार व्यवस्था के दर्शन होते हैं, जो पुरुष प्रधान भी कही जा सकती है। इसमें ज्येष्ठता के क्रम से प्रधान पुरुष की व्यवस्था होती थी। पितामह, पिता और पुत्र पितामह के बाद पिता और उसके बाद बड़ा पुत्र परिवार का मुखिया होता था। जिस पर परिवार का सम्पूर्ण दायित्व रहता था। परिवार के सभी सदस्य एक साथ रहते थे। उसके निवास स्थान, खान-पान आदि भिन्न हो सकते थे, परन्तु वे संयुक्त रूप से ही रहते थे। इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में संयुक्त परिवारिक व्यवस्था थी, जिसके कारण कुटुम्ब के सभी सदस्यों को धन, प्रेम और सहायता का कभी अभाव नहीं खलता था। रामायणकालीन परिवारों में संयुक्त का आशय एक साथ रहने

---

२२. वा० रा० अयो० ३०/५-६

२३. वा० रा० अयो० ३०/५-६

२४. वा० रा० २/६७/२ किंतु कार्यहतस्येहमम राज्येन शोचत:

से नहीं था अर्थात् पारिवारिक सदस्य भिन्न-भिन्न स्थानों पर भी रहते थे, परन्तु उनकी शासन-व्यवस्था एक थी। राजा दशरथ की तीनों रानियाँ अलग-अलग भवनों में रहती थीं। विवाह के बाद राम और सीता को भी अलग भवन मिल गया।[२५] राजा जनक के छोटे भाई दूसरे नगर में रहते थे हुए भी संयुक्त परिवार के अङ्ग थे।[२६] रावण, कुम्भकरण, विभीषण और मेघनाद एक संयुक्त परिवार के सदस्य होते हुए भी अलग-अलग भवनों में रहते थे। इसी प्रकार खरदूषण और शूर्पणखा विभिन्न नगरों में रहते हुए भी संयुक्त परिवार के अङ्ग थे। परिवार के सभी सदस्यों का एक दूसरे से नित्य मिलना भी आवश्यक नहीं था, जिसको जिससे कार्य होता था, वह उससे मिल लेता था। अतः रामायणकालीन परिवार व्यवस्था पर वैदिक परिवार व्यवस्था का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

---

२५. वा० रा० अयो० ४/३

वा० रा० अयो० २५/१-४

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०११६-१२४)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक पारिवारिक स्वरूप

डॉ० इन्द्रेश 'पथिक'

परिवार शब्द 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वृ' आवरणे धातु से 'घञ्' प्रत्यय संयुक्त होने पर निष्पन्न होता है। संस्कृत-हिन्दी-कोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-**परिव्रियतेऽनेन परि+वृ+घञ् (परिजन) पक्षे उपसर्गस्य दीर्घः, नौकर, अनुचर वर्ग, अनुयायी।**[1] तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिनके द्वारा चारों ओर से आवृत रहता है। उनके परिवार को ही परिवार कहते हैं। यह व्युत्पत्ति यह तथ्य उद्घाटित करती है कि परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, दादा-दादी, चाचा-चाची, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन आदि तो होते ही हैं, किन्तु इसमें नौकर आदि जो अन्य भी रहते हैं, वे भी परिवार के ही सदस्य माने जाते हैं। इस प्रकार सभी सदस्यों के अपने-अपने कर्त्तव्यों के पालन पूर्वक प्रेम से रहने का नाम ही परिवार है। वाल्मीकि-रामायण में परिवार के स्वरूप के दिग्दर्शन के पूर्व प्रथमतः वैदिककालीन परिवार के स्वरूप का विहङ्गावलोकन करते हैं।

वैदिककालीन परिवार संस्था व उसका स्वरूप

वैदिक साहित्य के गहन अध्ययन से विदित होता है कि वैदिककाल से ही परिवार संस्था का उदय हो चुका था। प्रथमतः परब्रह्म, जिसे एकाकी रहना अच्छा न लगा, ने एक से बहुत हो जाने की इच्छा की। **'एकोऽहम् बहुस्याम्'** की ब्रह्म संकल्पना ही परिवार संस्था का प्राथमिक आधार बनी। उस ब्रह्म ने एक से बहुत अनेकानेक प्राणियों की रचना की और सम्पूर्ण भूमण्डल को ही परिवार मानकर उसका पालन-पोषण किया। यही **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** के रूप में पारिवारिकता का शिलान्यास था।

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणादि ग्रन्थों में परिवार के अर्थ में 'कुल' कुटुम्ब' आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है। सम्भवत वहाँ परिवार शब्द का प्रयोग निवास स्थान अथवा गृह के लिए हुआ है। लाक्षणिक प्रयोग द्वारा वहाँ निवास करने वाले जनों के समूह को भी कुल माना गया है।[2] जैसे-गुरुकुल, गुरुगृह अथवा गुरुगृह में निवास करने वाले लोग। ऋग्वेद में **'कुलपा'** शब्द का प्रयोग कुल या कुटुम्ब के अर्थ में हुआ है।[3]

वैदिक काल में संयुक्त परिवार का प्रचलन था-जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन आदि सभी सदस्य मिलकर एक दूसरे के प्रति अपने-अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए प्रेम पूर्वक रहते थे। वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र देखे जा सकते हैं, जिनमें वर्णन है कि सभी गृहस्थजन परस्पर सौहार्द्र और सुख का अनुभव करते हुए अपने पुत्र-पौत्र के साथ शतायु जीवन जियें।[4] वैदिक परिवार के इस प्रेम-सुख का मूल आधार 'कर्त्तव्य

---

१. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ५८९, वामन शिवराम आप्टे।

२. वैदिक संहिताओं में आचार मीमांसा, पृ० ११३, डॉ. प्रतिभा रानी।

३. ऋ० १०/१७९/२-श्रातं हविरो ....कुलपा न व्राजपति चरन्तम्।

४. ऋ० २/४२/३ -अवक्रन्द दक्षिणतो गृहाणां ....बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥ , वही १०/८५/४२-४३-इहैव स्तं मा

भावना' थी। कर्त्तव्य भावना से ही परस्पर सद्भावना और उत्सर्ग की प्रवृत्तियों का जन्म होता है, जिससे परिवार के सदस्यों को पारिवारिक अनुशासन, सेवा, साहिष्णुता एवं त्याग आदि की मर्यादा के अनुकरण की प्रेरणा स्वतः ही प्राप्त होती है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के ८५ वें सूक्त एवं अथर्ववेद के १४ वें काण्ड के प्रथम व द्वितीय सूक्त में सूर्या विवाह के प्रकरण में गृहस्थ व उसके परिवार के अनेक सदस्यों व उनके दायित्वों का वर्णन मिलता है।[५] वह अपना सर्वस्व पति के लिए समर्पित करके, सास-ससुर, ननद, देवर के साथ उस परिवार की सम्राज्ञी बनकर, सबके हितों को ध्यान में रखती हुई, उस परिवार को स्वर्गीय सुखों से ओत-प्रोत करती है।[६]

इस प्रकार के अनेक वैदिक सन्दर्भों से सिद्ध होता है कि वैदिक परिवार पितृ सत्तात्मक संयुक्त परिवार थे, जिनमें एक रक्त से सम्बद्धजन एक साथ रहते थे। जिनमें माता-पिता, पुत्र-पुत्रवधुयें, भ्रातृवधुयें, चाचा-चाची ताऊ-ताई एवं उनके पुत्र-पुत्री आदि सभी मिलकर रहते थे। पिता के कुल गोत्र के अनुसार पुत्र का भी कुल गोत्रादि निर्धारित होता था।[७]

वैदिक पारिवारिकता के आधारभूत मापदण्ड अथवा गुण

वैदिक परिवार आदर्शनिष्ठ थे। परिवार में सुख-शान्ति समृद्धि एवं स्वर्गीय परिस्थितियाँ रहें, इसके लिए वैदिक ऋषियों ने पारिवारिकता के कुछ आधारभूत मापदण्ड आचार-संहिता निश्चित की थी। इन मापदण्डों को वे गुण भी कह सकते हैं, जिन्हें अपनाकर परिवार सुखी-समुन्नत होता था। ये मापदण्ड अथवा गुण इस प्रकार हैं-

१. प्रेम-आत्मीयता

वैदिक-पारिवारिकता का सबसे आवश्यक व महत्त्वपूर्ण मापदण्ड या गुण प्रेम और आत्मीयता है। प्रेम का अभिप्राय सबके प्रति आत्मभाव है। परिवार का प्रत्येक सदस्य परस्पर प्रेम-आत्मीयता एवं सौहार्द्र पूर्वक कर्त्तव्य पालन करे। अथर्ववेद के एक मन्त्र में पारिवारिक सदस्यों में उसी प्रकार प्रेम आत्मीयता बनाये रखने का सन्देश दिया गया है, जैसे-गौ सद्यः प्रसूत वत्स को सौहार्द्र प्रदान करती है।[८] इसी प्रकार का उल्लेख उनके अथर्ववेदीय मन्त्रों में है।[९]

वियौष्टं........... भव द्विपदे शं चतुष्पदे। यजु० १८/७४, अथर्व० १९/६२/१-प्रियं मा कुरु देवेषु ....उत शूद्र उत आर्ये॥

५. ऋ० १०/८५/२५-२६-प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धामुत तस्करम् ....सुभागासति॥ पूषा त्वेतो नयतु ....गृहान् गच्छ गृहपत्नी ...,.......विदथमावदासि, अथर्व० १४/१/१८, १४/१/२०

६. सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव। ननान्दरि सम्राज्ञी अधि देवृषु (ऋ० १०/८५/४६)॥, सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ (अथर्ववेद १४/१/४४)॥

७. प्राचीन भारत का सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ३१७, कृष्ण कुमार।

८. अथर्व० ३०/३/१ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

९. अथर्व० ६/७३/३ इहैव स्त माप याताध्यस्मत्.........रमतिर्वोऽस्तु॥ वही ६/७४/१ सवं: प्रच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रता। ....सं वो अजीगमत्॥

२. सहिष्णुता-कर्त्तव्य परायणता

पारिवारिकता का दूसरा महत्त्वपूर्ण आचार अथवा मापदण्उ और कर्त्तव्य परायणता है। सहिष्णुता को तप भी कहते हैं। गृहस्थरूपी तपोवन में सभी को सन्तुष्ट रखने के लिए अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को सीमित रखना पड़ता है। वेदमूर्ति तपोनिष्ठ पं० श्रीराम शर्मा आचार्य का यह सद्वाक्य इस सन्दर्भ में प्रासङ्गिक है- **गृहस्थ एक तपोवन है, जिसमें संयम, सेवा और सहिष्णुता की साधना करनी पड़ती है।** ऋग्वेद का ऋषि तप महिमा निर्दिष्ट करता हुआ कहता है। **अतप्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रृतास इद् वहन्तस्तत् समाशत। तपोष्वपित्रं विततं दिवस्पदे।**[१०] अथर्ववेद में भी इसी प्रकार के अनके मन्त्र हैं।[११]

सहिष्णुतारूप तपश्चर्या के साथ ही वैदिक गृहस्थाश्रमी अपने परिवार में सबके प्रति कर्त्तव्य परायणता भी अपनाता है। यजुर्वेद अनासक्त भाव से कर्त्तव्य परायणता अपनाने के लिए प्रेरित करता है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥[१२]

३-धैर्य-विश्वास

वैदिक पारिवारिकता के अन्तर्गत पारिवारिक समुन्नति के लिए धैर्य और विश्वास भी आवश्यक थे। कोई भी कार्य प्रारम्भ करके पूर्ण पुरुषार्थ करते हुए धैर्यपूर्वक लक्ष्य तक पहुँचाना प्रतयेक पारिवारिक सदस्य का कर्त्तव्य था। श्रुति-स्मृति दोनों में ही धैर्य-महिमा वर्णित है।[१३] वैदिककालीन परिवार में परस्पर विश्वास भी एक आवश्यक आचार था। परस्पर अविश्वास करने से कभी पारस्परिक समन्वय नहीं हो एकता और जिस परिवार में सूमन्वय नहीं वह अन्ततः टूट जाता है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्वकुलोद्भूत बान्धवगों के प्रति विश्वास का अनूठा उदाहरण द्रष्टव्य है-

इहैव स्तमाप याताध्यस्मत् पूषा परस्ताद् पथं वः कृणोतु।..............रमतिर्वो अस्तु॥[१४] अर्थात् हे-समकुलोद्भूत बान्धवगण! आप यहीं रहें। हम से दूर न जायें, गृहपति यज्ञीय अग्नि आपको हमारे समीप लायें। आपका हममें विश्वास हो।

४-साहस-जागरूकता

वैदिक पारिवारिकता के मापदण्ड के अन्तर्गत परिवार के सदस्यों में साहस और जागरूकता को भी

---

१०. ऋ० ९/८३/१, वही ९/८३/२

११. अथर्व० ७/६१/२-अग्ने तपस्तप्यामहे उप तप्यामहे तपः.......... ....आयुष्मन्तः सुमेधसः॥, वही ७/६१/१ भी

१२. यजु० ४०/२)

१३. यजु ८/५१-इहरतिरिह रमध्वमिह धृतिरिहः स्वधृतिः स्वाहा।, मनुस्मृ० -६/१२-धृति क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः.........धर्म लक्षणम्॥

१४. अथर्व० ६/७३/३

परिगणित किया गया था। वस्तुतः साहस एक ऐसा सद्गुण है जो किसी भी क्षेत्र में व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में आने वाली बाधाओं से संघर्ष करने की शक्ति देता है। ऋग्यजुसामाथर्व सभी वेदों में साहस पूर्वक निर्भय रहने के अनेक मन्त्र समुपलब्ध हैं।[१५] जागरूकता और सावधानी की भी जीवनपथ के प्रत्येक पग पर अमोध अस्त्र रूप में आवश्यकता वैदिक परिवार में निरन्तर जागरूक रहने के लिए अथर्ववेद निर्देश करता है कि अग्नि सदैव जागती है, अतः गृहस्थ भी जागरुक होकर सावधानी से रहें।[१६]

५. सन्तोष और मधुर व्यवहार

वैदिक परिवार का अन्य आवश्यक सद्गुण सन्तोष और मधुर व्यवहार भी था। परिवार का प्रत्येक सदस्य लालच न करते हुए न्यायोपार्जित साधनों में ही सन्तोष करता था, भले ही वे स्वल्प क्यों न हों। यही उसके सुख का मूल आधार था। **'सन्तोषी सदा सुखी, लोभी सदा दुःखी'** की कहावत इसी तथ्य की पोषक है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का पहला मन्त्र व ईशावास्योपनिषद् का भी प्रथम मन्त्र-

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥[१७]

त्यागपूर्वक भोग करने एवं लोभ न करते हुए स्वल्प में सन्तुष्ट रहने की प्रेरणा देता है। वैदिक परिवार में सन्तोष के साथ मधुर व्यवहार भी पारिवारिकता का एक आवश्यक मापदण्ड था। यजुर्वेद कहता है—**'भद्रवाच्याय प्रेषितो मानुषः।'**[१८] अथर्ववेद एवं ऋग्वेद भी परिवार में परस्पर मधुरवाणी-मधुर व्यवहार पूर्वक रहने का निर्देश करता है।[१९]

६. आस्तिकता एवं सत्यनिष्ठा

वैदिक पारिवारिकता का एक अन्यसूत्र आस्तिकता (ईश्वर-विश्वास) और सत्यनिष्ठा (सत्यवाणी) और न्यायोचित साधनों का प्रयोग भी था। वेद का कथन है कि आस्तिकता सभी सुःखों का मूल कारण है। जिस परिवार में ईश्वर के अस्तित्व और उसके कर्मफल के सिद्धान्त पर विश्वास किया जाता हैं। उसके सदस्यों के दोष-दुर्गुंण और पाप स्वतः विनष्ट हो जाते हैं। वेद में आस्तिकों की प्रशंसा और नास्तिकों की निन्दा की गई है-**'अनुव्रताय**

---

१५. ऋ० ८/६१/१३ यत इन्द्र भयामहे ततो नोऽभयं कृधि, यजु० ३/. गृहा मा बिभीत मा वेपध्वमूर्ज बिभ्रतऽएमसि, साम० २००-इन्द्रो ....महद् भयमभीषदपचुच्यवत्।
१६. अथर्व० १९/१५/१५ अभयं पश्चादभयं पुरस्तात्। अथर्व० २/६/३ त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः..........................जागृहि प्रयुच्छन्॥
१७. यजु०४०.१
१८. यजु० २१/६१
१९. अर्थव० ३/३०/७-सध्रीचीनान् वः संमनस्कृणोमि........सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु, ऋ० ५/४३/३ पिता माता मधुवचाः सुहस्ता ....यशसावविष्टम्॥

रध्यन् अपव्रतान्।'[20] वैदिक परिवार के सदस्यों में सत्यनिष्ठा का होना भी आवश्यक माना गया था। इसका अभिप्राय है कि वाणी और व्यवहार दोनों एक हों। इसीलिए वेद और स्मृति में प्रिय और सत्य वचन बोलने को प्रेरित किया गया है।[21] ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में सत्यनिष्ठा के अनेक उदाहरण देखे जा सकते हैं।[22]

७. सङ्गठन एवम् एकता

वैदिक परिवारों में सङ्गठन एकत्व पारिवारिकता का प्रमुख मापदण्ड था। जिन परिवरों में विभिन्न विचारों के लोग परस्पर विशृङ्खलित रहते हैं, उनकी गणना भद्र परिवारों में नहीं होती। वेदों में उल्लिखित है कि परिवार के सभी लोग विचारों से, मन से और हृदय से एक हों।[23] इसीलिए वेद एक अन्य मन्त्र में प्रेरणा देता है कि साथ-साथ चलो, साथ-साथ बोलो, सभी के मन में एक जैसे विचार हों, जैसे पूर्व में देवों ने एक होकर अपने-अपने भाग अङ्गीकार किया था-

संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।[24]

वस्तुतः वैदिककालीन परिवार इसी कारण सुःखी समुन्नत थे कि उनके सदस्य उपर्युक्त गुणों-**प्रेम, आत्मीयता, सहिष्णुता, कर्त्तव्य-परायणता, धैर्य-विश्वास, साहस-जागरूकता, सन्तोष-मधुर व्यवहार, आस्तिकता-सत्यनिष्ठा एवं संगठन-एकत्व** को धारण किया करते थे। इसी परम्परा का अनुकरण रामायणकाल में भी हुआ था. जिसके कारण तत्कालीन रामराज्य को सर्वाधिक श्रेष्ठ राज्य कहा जाता है। आइये, वाल्मीकि-रामायण में वैदिक परिवार के स्वरूप का दिग्दर्शन करें।

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक पारिवारिक व्यवस्था का अनुकरण-अनुगमन

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक परिवार-संयुक्त और संगठित परिवार थे। त्रेतायुग में आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम के संयुक्त परिवार को आदर्श मानकर उसके पात्रों के परस्पर व्यवहार का जो चित्र अपने महाकाव्य 'वाल्मीकि-रामायण' में खींचा है, उससे पग-पग पर वैदिक पारिवारिक आभा झलकती देखी जा सकती है तो आइये अब, वैदिक पारिवारिक व्यवस्था के मापदण्डों को क्रमशः वाल्मीकि-रामायण के सन्दर्भ में देखें-

---

२०. ऋ० १/५१/९, अथर्व २०/९३/१-ब्रह्मद्विषो जहि, वही २०/६८/६ स्यामेन्द्रिस्य शर्मणि।

२१. प्रियं च सत्यं च वचो हि सूनृतम्। सुखी गृहस्थ वेदामृतम् पृ० १५८ डॉ. कपिल देव द्विवेदी। मनु० ४/१३४ सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।

२२. ऋ० ८/५९/५ अवोचाम महते सौभगाय सत्यम्। यजु० ५/५ सत्यमुपगेषठं स्विते मा धाः। सा० ७०१ ऋतस्य जिह्वा पवते मधुप्रियम्। अथर्व० ४/९७ सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्।

२३. ऋ० १०/१९/४ समानी वः आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥

२४. ऋ० १०/१९२/२

१. वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक प्रेम और आत्मीयता

पारिवारिक गृहस्थ जीवन के प्रमुख आधार पति और पत्नी होते हैं। पति-पत्नी दो शरीर एक प्राण बनकर रहें, यह उनके परस्पर प्रेम और आत्मीयता की चरमावस्था है। अयोध्याकाण्ड में राम के साथ सीता को भी कैकेयी द्वारा वनवास हेतु वल्कलवस्त्र दिये जाने पर महर्षि वसिष्ठ कैकेयी से सीता को रोकने के लिए कहते हैं। वे सीता को राम के स्थान पर प्रजा का पालन करने के लिए कहते समय, सीता को राम की आत्मा बताते हैं-

आत्मा हि दारा: सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम्।
आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम्।।[२५]

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम अपनी धर्म पत्नी सीता के प्रति अपने प्रेम की और अपने प्रति सीता के प्रेम की चरम सीमा बताते हुए किष्किन्धा काण्ड में लक्ष्मण से कहते हैं-

मयि भावो हि वैदेह्या: तत्त्वतो विनिवेशित:।
ममापि भाव: सीतायां सर्वाथा विनिवेशित:।।[२६]

राम के प्रति सीता का अनन्य प्रेम और आत्मीयता देखिये कि वे राम के साथ वनवास में जाने की अपनी उपयोगिता बताती हुई कहती हैं कि मैं तुम्हारे वन के मार्ग में आये काँटों को साफ करूँगी व साथ-साथ चलूँगी-

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्‌गन्ती कुशकण्टकान्।।[२७]

अत: कहा जा सकता है कि जिस प्रकार वैदिक परिवारों में प्रेम और आत्मीयता का आदर्श स्थापित था, वही वाल्मीकि-रामायण में भी दृष्टिगोचर होता है।

२-वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक सहिष्णुता और कर्त्तव्य-परायणता

वैदिक पारिवारिककता में एक-दूसरे के लिए सहिष्णुता और कर्त्तव्यपरायणता का विशेष स्थान था। वाल्मीकि रामायण में भी अनेक स्थलों पर यह तथ्य देखा जा सकता है। राम का वनगमन निश्चित हो जाने पर सीता भी साथ चलने को कहती है। उनकी सुकुमारता को ध्यान में रखकर राम मना करते हैं, पर सहिष्णुता और कर्त्तव्य-परायणता की प्रतिमूर्ति सीता कहती है-

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदु:खयो:।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदु:खिनीम्।।[२८]

हे काकुत्स्थ! आप में पूर्ण भक्ति रखने वाली दीन, सुख-दु:ख में साथ रहने वाली, मुझे आप वन में साथ ले चलिए। राम के प्रति अपने कर्त्तव्य का बोध कराती हुई वे आगे कहती है कि पत्नी का कर्त्तव्य पति के हर अच्छे

---

२५. वा० रा० अयो० ३६/२४
२६. वा. किष्कि. १/५२
२७. वा.रा. अयो. २९/७
२८. वा. रा.अयो २९/२०

कार्य में सहयोग करना होता है। अत: आप चाहे तप करें, चाहे वनवास और चाहे स्वर्गवास, हर जगह मुझे आपके साथ रहना ही उचित है।[२९] केवल पति-पत्नी का ही नहीं, रामायण में भाई-भाई, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा के कर्त्तव्यों का भी महान् दिग्दर्शन है। राम के वनवास में रहने पर भरत ने एक आदर्श भाई, राजा, सेवक आदि की सभी भूमिकायें निभाकर, राम के लौटने पर उन्हें जैसा का तैसा राज्य सौंप दिया।[३०]

३. वाल्मीकि रामायण में पारिवारिक धैर्य व विश्वास

वैदिक परिवार में धैर्य और विश्वास को परमावश्यक माना गया था। वाल्मीकि-रामायण में अनेकश: इसके दर्शन होते हैं। विभीषण के रामदल में आने के औचित्य-अनौचित्य पर कोई निर्णय न हो पाने पर श्रीलक्ष्मण राम को ही अपनी सन्तुलित बुद्धि से निर्णय करने का निवेदन करते हुए धैर्य महिमा बताते हुए कहते हैं कि धैर्यवान् पुरुष स्वजन वियोग के समय, धनाश के समय, भय एवं प्राण संकट उपस्थित होने पर भी अपनी बुद्धि से काम लेते हैं।[३१] विश्वास भी आदर्श पारिवारिकता का महत्त्वपूर्ण गुण है। अशोक वाटिका में कष्ट झेल रही सीता श्रीराम के प्रति अपना विश्वास प्रकट करती हुई हनुमान् से कहती हैं कि श्रीराम मुझे अवश्य ले जायेंगे-

आशंसेयं हरिश्रेष्ठ क्षिप्रं मां प्राप्स्यते पति:।
अन्तरात्मा हि मे शुद्धस्तस्मिंश्च बहवो गुणा:॥[३२]

४. वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक साहस एवं जागरूकता

परिवार में अनेक ऐसे अवसर आते हैं, जिनमें घोर संघर्ष करना पड़ता है। उस संघर्ष के लिए साहस और जागरूकता की आवश्यकता होती है। वैदिक पारिवारिक व्यवस्था में इस गुण को बहुत उभारा गया था। वाल्मीकि-रामायणकार ने भी इसका पूरा ध्यान रखा है। रावण द्वारा हरी जाने पर सीता को शोक तो है, पर वे विचलित नहीं हैं। वे हनुमान् से राम के लिए साहसवर्धक सन्देश कहकर उनमें प्रबल उत्साह भरती हैं।[३३] साहस के साथ-साथ जागरूकता भी आवश्यक है। सीता चाहतीं तो, हनुमान् के कहने पर उनकी पीठ पर बैठकर श्रीराम के पास जा सकती थीं, पर वे कहती हैं कि जब राम आयेंगे तभी में जाऊँगी। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, तो भी एक साध्वी नारी का पर पुरुष से स्पर्श उचित नहीं है।[३४] सीता की जागरूकता का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

५. वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक सन्तोष और मधुर व्यवहार

पारिवारिक जीवन में पग-पग पर सन्तोष की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक परिवार की तो यह विशेषता थी कि परिवार का हर सदस्य यथालाभ सन्तोषी था। वाल्मीकि-रामायण में राम के राज्याभिषेक के समय वनवास

---

२९. वा. रा. अयो० ३०/१०-स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि। तपो वा यदि वाऽरण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह॥

३०. वा. रा. युद्ध० १२७/५५ एतत् ते सकलं राज्यं न्यासं निर्यातितं मया। अद्य जन्म कृतार्थं मे संवृत्तश्च मनोरथ:॥

३१. वा.रा. किष्कि. ७/९ व्यसने वार्थकृच्छे वा भये वा जीवितान्तगे। विमृशंश्च स्वया बुद्ध्या धृतिमान् नावसीदति॥

३२. वा.रा.सुन्दर.३४/१४

३३. वा. रा. सुन्दर. ३८/४३ तस्य वीर्यवत: कश्चिद् यद्यस्ति मयि सम्भ्रम:। किमर्थं न शरैस्तीक्ष्णै: क्षयं नयति राक्षसान्॥
वही ३७/६४ यदि रामो दशग्रीवमिह हत्वा सराक्षसम्॥ मामितो गृह्य गच्छेत् तत् तस्य सदृशं भवेत्।

३४. वही, ३७/६२ भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर। नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

की परिस्थिति बन गयी, लेकिन उसमें भी सन्तुष्ट रहकर कैकेयी से कहते हैं हे देवि! मैं अर्थपरायण लोभी नहीं हूँ। मुझे संसार की किसी वस्तु की इच्छा नहीं है, मैं केवल धर्म में ही स्थित हूँ और उसी में मेरी आस्था है।[३५] राम इतने सन्तोषी हैं कि जैसे अयोध्या के राजमहल में, राजसी भोजन में प्रसन्न थे, वैसे ही वन में फल-फूल खाते हुए भी प्रसन्न और सन्तुष्ट हैं-

उपस्पृशंस्त्रिषवणं मधुफूलफलाशनः।
नायोध्यायै न राज्याय स्पृहे च त्वया सह॥[३६]

सन्तोष के समान ही परिवार में मधुरवाणी का प्रयोग और मधुर व्यवहार भी आवश्यक है। इसी से प्रेम बढ़ता है और परिवार में सुख-शान्ति अक्षुण्ण रहती है। वैदिक परिवार की तरह वाल्मीकि रामायण में भी परिवार में परस्पर मधुर व्यवहार पारिवारिकता का एक आवश्यक अङ्ग है। चित्रकूट में राम-भरत के मधुर वार्तालाप और मधुर व्यवहार की प्रशंसा करते हुए ऋषि कहते हैं कि इन दोनों के वार्तालाप को सुनकर हमारी इच्छा हो रही है कि इसे सुनते ही रहें-

सदार्यौ राजपुत्रौ द्वौ धर्मज्ञौ धर्मविक्रमौ।
श्रुत्वा वयं हि सम्भाषणमुभयोः स्पृह्यामहे॥[३७]

अपना अपकार करने वाले के साथ भी मधुर व्यवहार करना चाहिए। लङ्का विजय के पश्चात् हनुमान् के यह कहने पर कि जिन राक्षसियों ने सीता का कष्ट दिया है, उन्हें दण्डित करना चाहिए। सीता ने उन्हें रोकते हुए कहा कि पापियों के पापकर्म के अनुरूप सज्जनों को अपना मधुर व्यवहार नहीं बदल देना चाहिए।[३८] इसी प्रकार प्रत्यक्षतः राम को वनवास कराने वाली कैकेयी और मन्थरा के प्रति भी राम ने अपने मधुर व्यवहार में कोई कमी नहीं आने दी।

६. वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक आस्तिकता एवं सत्यनिष्ठा

वैदिक परिवार में आस्तिकता अर्थात् ईश्वर व स्वयं पर विश्वास एवं सत्यनिष्ठा पारिवारिकता के मापदण्ड का अनिवार्य अङ्ग थी। वाल्मीकि-रामायण में भी आस्तिकता का वातावरण सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। राम-लक्ष्मण सभी ईश्वर विश्वास पूर्वक दैनिक उपासना का क्रम सम्पन्न करते हैं। सीता वियोग के समय दुःखी राम को सच्चा आस्तिक बताते हुए लक्ष्मण उन्हें विचलित न होने का परामर्श देते हैं।[३९] कर्मफल में विश्वास रखना भी आस्तिकता है, अतः वाल्मीकि रामायण में अनेकशः कर्मफल की महिमा बताते हुए श्रेष्ठ कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है।[४०]

---

३५. वा. रा.अयो. १९/२०-नाहं अर्थ परो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे। विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम्॥
३६. वा.रा. अयो. ९५/१७
३७. वा.रा. अयो. १२१/२
३८. वा. रा. युद्ध. ११३/४४-न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम्। समयो रक्षितव्यस्तु सन्तश्चारित्रभूषणाः॥
३९. वा.रा. किष्कि. २७/३५-भवान् क्रियापरो लोके भवान् देवपरायणः। आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघव॥
४०. वा. रा. उत्तर १५/१९-यो हि मोहाद्विषं पीत्वा नावगच्छति दुर्मतिः। स तस्य परिणामान्ते जानीते कर्मणः फलम्॥ वही

पारिवारिक जीवन में सत्यनिष्ठा से ही सब को अपने-अपने अधिकार मिल जाते हैं और सभी सुखी रहते हैं। अयोध्या में निवास करने वाले सभी परिवार सत्यनिष्ठ थे। वे निर्लोभी, धर्मात्मा सत्याचारण करने वाले थे। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड के छठे सर्ग के ये दो श्लोक इसी तथ्य के स्पष्ट संकेत करते हैं-

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः। नरा तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः।।[४१]

दीर्घायुषो नराः सर्वे धर्मं सत्यं च संश्रिताः। सहिताः पुत्रपौत्रैश्च नित्यं स्त्रीभिः पुरोत्तमे।।[४२]

७. वाल्मीकि-रामायण में पारिवारिक संगठन एवं एकत्व

वैदिक परिवारों की सुख-समुन्नति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारण उसमें परस्पर संगठन और एकत्व की भावना थी। वाल्मीकि रामायण में भी तत्कालीन परिवारों की संगठन एवं एकत्व की प्रवृत्ति के दर्शन अनेक स्थलों पर होते हैं। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न में इतना संगठन और एकत्व है कि पिता के यश को बढ़ाने के लिए चारों एक होकर अपने धर्म का पालन करते हैं। चित्रकूट प्रकरण में श्रीराम कहते हैं-

शत्रुघ्नस्त्वतुलमतिस्तु ते सहायः। सौमित्रिर्मम विदितः प्रधानमित्रम्।।
चत्वारस्तनयवरा वयं नरेन्द्रम्। सत्यस्थं भरत चराम मा विषीद।।[४३]

अयोध्या के राज परिवार में इतना एकत्व है कि भरत और शत्रुघ्न के विना मिले किसी भी वस्तु के सुख को श्रीराम सुख मानते ही नहीं।[४४]

इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय और वाल्मीकि-रामायण का गहनशोध-अध्ययन करने पर यह तथ्य उद्घाटित होता है कि वैदिक साहित्य में परिवार व्यवस्था का जो आदर्श स्वरूप प्रतिष्ठापित है, युगान्तर में महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रामायण में उसी वैदिक परिवार-व्यवस्था को अङ्गीकार करके, रघुकुलभूषण, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम को नायक बनाकर, उनके परिवार को आदर्श परिवार-स्वरूप में प्रस्तुत किया है। ऐसा अनुगमन करके महर्षि वाल्मीकि ने मानो वैदिक पारिवारिक परम्परा का न केवल अनुगमन किया है, अपितु उसे अग्रसारित भी किया है। अस्तु, वर्तमान की विभिन्न परिस्थितियों में, जब परिवार टूट रहें हों, पारिवारिकता छिन्न-भिन्न हो रही हो, सर्वत्र पारिवारिक अशान्ति फैली हो-तब वह वैदिक पारिवारिक व्यवस्था आज भी प्रासङ्गिक है-अङ्गीकरणीय है।

१५/२६-ऋद्धि रूपं बलं पुत्रान् वित्तं शूरत्वमेव च। प्राप्नुवन्ति नरा लोके निर्जितं पुण्यकर्मभिः।।

४१. वा. रा. ६/६

४२. वा. रा. ६/१८

४३. वा. रा. अयो. १०७/१९

४४. वा. रा. अयो. ९७/८-यद्विना भरतं त्वां च शत्रुघ्नं वापि मानद। भवेन्मम सुखं किञ्चिद् भस्म तत् कुरुतां शिखी।।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१२५-१२९)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक समाज-व्यवस्था

डॉ० विनोद कुमार गुप्त

भारतीय संस्कृति के अमूल्य धरोहर वेदों के पठन-पाठन का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है। क्योंकि वेदों के साङ्गोपाङ्ग अध्ययन हेतु प्रचुर समय एवं प्रखर बुद्धि का होना आवश्यक है, जबकि वर्तमान युग में दोनों में ही अपकर्षकत्व गोचर हो रहा है। शायद इसी तथ्य को ध्यान में रखकर हमारे त्रिकालदर्शी, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने सरल एवं सुबोध भाषा में वैदिक ज्ञान को जन-साधारण के समक्ष प्रस्तुत करने के उद्देश्य से ही पुराणों एवं इतिहास ग्रन्थों की रचना की थी। इतिहासग्रन्थों में वाल्मीकि-रामायण का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय वाङ्मय का वह मुकुटमणि है, जिसमें वैदिक समाज-व्यवस्था प्रतिच्छायित होती हुई तात्कालिक समाज-व्यवस्था प्रतिबिम्बित होती है। प्रकृत शोध-निबन्ध में इसी बिन्दु पर यथाशक्य शोध परक दृष्टि प्रस्तुत है-

ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में विराट् पुरुष के द्वारा वर्णचतुष्टय की उत्पत्ति का उल्लेख प्राप्त होता है। वहीं आगे इसी भूमि पर परवर्ती कालो में इन वर्णों का गुणकर्मानुसार विभाजन मिलता है। रामायणकालिक सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम की भित्ति पर अवलम्बित थी। प्रकृतकालिक समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता थी। वर्णों में रञ्चमात्र भी विद्वेष का न होना। सभी वर्णों के लोग निरन्तर अपने-अपने कर्मों में लगे रहते थे। इनके आपसी सम्बन्ध अत्यन्त सौहार्द्रपूर्ण थे। ब्राह्मण का कर्म था-वेदों का अध्ययन-अध्यापन, यज्ञों का अनुष्ठान तथा राजकार्य में राजा की मदद करना। महाराज दशरथ के मन्त्रिमण्डल में वसिष्ठ एवं वामदेव ये दो महर्षि पुरोहित थे तथा सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, दीर्घायु, मार्कण्डेय, कात्यायन आदि उसे सुशोभित करते थे।[1] पुरोहित या ऋत्विक् बनने का अधिकार केवल ब्राह्मणों को ही था। राजकीय कार्य में पुरोहित की महती प्रतिष्ठा थी। वे राजा के अनिवार्य सहायक व परामर्शदाता होते थे। राजा की अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल का सञ्चालन, युवराज विषयक निर्णय आदि पुरोहित ही करता था। दशरथ की मृत्यु के पश्चात् महर्षि वसिष्ठ से ही मन्त्रियों ने राजा के निर्वाचन की प्रार्थना की थी।[2] विवेच्य काल में ब्राह्मण को अवध्य माना गया है। ब्राह्मण के प्रति प्रभूत सम्मान प्रदर्शित करते थे। श्रीराम को तो ब्राह्मणों का उपासक कहा गया है।[3] रामायणकालिक ब्राह्मण सदा अपने कर्मों में लगे रहते, इन्द्रियो को वश में रखते, दान और स्वाध्याय करते तथा व्यक्तिगत स्वार्थ से उठकर परोपकार की भावना से कार्य करते

---

१. ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ। वसिष्ठो वामदेवश्च तथाऽपरे॥ सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः। वा. रा. १/७/४-५

२. स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्। कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं त्वमेव राजानमिहाभिषेचय॥ वा. रा. २/६७/३८

३. बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता। तेनास्येहातुला कीर्तियशस्तेजश्च वर्धते॥ वा. रा. २/२/३३

थे।[४] इसी कारण वे राजा एवं प्रजा के द्वारा दोनों के द्वारा असाधारण सम्मान प्राप्त करते थे।

विवेच्य काल में समाज-व्यवस्था का द्वितीय महत्त्वपूर्ण स्तम्भ क्षत्रिय था। क्षत्रियों का प्रमुख कर्त्तव्य था गाय, ब्राह्मण, प्रजा तथा शरणागत की रक्षा करना। श्रीराम ने न केवल शरणागत विभीषण की रक्षा की थी, वरन् उसे लङ्का के राजसिंहासन पर भी पदारूढ़ किया था। विभीषण के शरण में आने पर श्रीराम के वचन ध्यातव्य हैं।[५] क्षत्रिय का कर्त्तव्य धार्मिक यज्ञों एवं ब्राह्मण की रक्षा के साथ ही दान देना था। वह दान लेने का अधिकारी नहीं था। किञ्चित् अपवादों को छोड़कर दोनों वर्णों के सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण थे।

समाज के तृतीय स्तम्भ के रूप में वैश्यों की गणना की जाती है। इनका कार्यक्षेत्र विशाल था। वैदिक काल की भाँति इस काल में भी समाज-व्यवस्था इन्हीं पर आधारित थी। ये लोग समाज की धुरी थे। ये कृषि, पशुपालन, व्यवहार, आदि कार्य करते थे। रामायणकाल में व्यापारियों की अनेक समितियों का उल्लेख प्राप्त होता है। जिन्हें श्रेणी, नैगम, पौर आदि कहा जाता था। नैगम-संस्था व्यापार संघों का प्रतिनिधित्व करती थी एवं पौर-संस्था नगर-व्यवस्था का कार्य देखती थी। व्यापारी वर्ग के निवास स्थान पृथक् बने होते थे, जो समस्त सुविधाओं से सम्पन्न होते थे। **श्रेणी मुख्यैः,**[६] **नैगमाश्च**[७]**, गणवल्लभान्**[८]**, नैगमयूथवल्लभाः**[९] आदि शब्दों से यह स्पष्ट होता है कि रामायणकाल में वैश्यों की गणना प्रभावशाली नागरिकों में होती थी, जो समय-समय पर राजकार्यों में भी सहयोग प्रदान करते थे। समाज का समस्त उत्पादान एवं वितरण वैश्यवर्ग पर ही अवलिम्बत था।

चतुर्थ स्तम्भ के रूप में शूद्रों को मान्यता दी गयी थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनुसार शूद्र तो पैरों से उत्पन्न थे, अतः रामायणकाल में भी वैदिक काल की भाँति शूद्रों का कार्य सेवा करना था। वे वेदाध्ययन, यज्ञों में सहभागिता एवं तपस्या करने के अधिकार से वञ्चित थे। जब शम्बूक नामक वृषल ने तप करना चाहा तो स्वयं श्रीराम ने उसे दण्डित किया था।[१०] इस प्रकार रामायणकाल में क्षत्रिय ब्राह्मणों का मुँह जोहते थे, वैश्य क्षत्रियों की आज्ञा का पालन करते थे और शूद्र अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए उक्त तीनो वर्णों की सेवा में लगे रहते थे।[११] वर्णाश्रम-व्यवस्था व्यष्टि एवं समष्टि के पारस्परिक हित के लिए थी, जो सामाजिक व्यवस्था को सम्यक् रूप से चलाने के लिए आधुनिक प्राशासनिक व्यवस्था जैसी दिखायी देती है।

रामायणकाल में संयुक्त परिवार प्रथा के स्पष्ट सङ्केत प्राप्त होते हैं। वैदिक संस्कृति परम्परा का निर्वहण

---

४. स्वकर्मनिरता नित्यं ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः। दानाध्ययनशीलाश्च संयताश्च प्रतिग्रहे॥ वा. रा. १/६/१३

५. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम। वा.रा. ६/१८/३३

६. द्विजातिमुख्यैर्धर्मात्मा श्रेणीमुख्यैः सनैगमैः। वा.रा. ६/१२७/१७

७. नैगमाश्च ....वही २/१५/२३

८. गणवल्लभान् ....वही २/८१/१२

९. नैगमयूथवल्लभा ....वही २/०६/३५

१०. भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम्। निष्कृष्य कोशाद् विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः॥ वही ७/७६/४

११. क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥ वा.रा. १/६/१९

करते हुए विवेच्य काल में भी परिवार का प्रमुख पिता ही होता था एवं पारस्परिक सम्बन्ध अत्यन्त स्नेहपूर्ण होते थे। पिता की आज्ञा का पालन करना धर्माचरण माना जाता था।[१२] पिता की प्रतिज्ञा पालनार्थ ही श्रीराम ने सहर्ष १४ वर्ष का वनवास स्वीकार किया था।[१३] ज्येष्ठपुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी होता था। रामायण में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-भाई, सास-बहू, देरवर-भाभी के बीच जिस स्नेह एवं सौहार्द्र को प्रदर्शित किया गया है, वह विश्व के किसी भी साहित्य में प्राप्त होना दुर्लभ है। वन में राम का भरत एवं माता कैकेयी के प्रति अनन्य प्रेम पारिवारिक प्रेम की पराकाष्ठा को द्योतित करता है। प्रकृत काल में सभी स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्न रहने वाले तथा शील एवं सदाचार की दृष्टि से महर्षियों की भाँति निर्मल थे।[१४] पारिवारिक स्थिरता, लौकिक एवं पारलौकिक सुखार्थ विवाह को आवश्यक एवं वाञ्छनीय माना जा चुका था। कन्याओं को पतिवरण की स्वतन्त्रता नहीं थी, वरन् वे अपने पिता की इच्छानुसार ही पति का वरण करती थीं। उदाहरणार्थ कुशनाभ की कन्याओं द्वारा वायु के विवाह प्रस्ताव रखने पर पिता की आज्ञानुसार ही विवाह की सम्मति प्रदान करना[१५] एवं महाराजा जनक द्वारा सीता सहित चारों राजकुमारियों को वरण हेतु स्वीकृति प्रदान करना।[१६] विवाह के अवसर पर वर एवं वधू दोनों पक्षों को उपहार देने की प्रथा भी दिखायी पड़ती है।[१७] वैदिक काल की ही भाँति रामायणकाल में भी राजपरिवारों में बहु विवाह प्रथा दिखायी देती थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में दो-दो पत्नियों का उल्लेख प्राप्त होता है।[१८] किन्तु श्रीराम ने एक पत्नीव्रत का पालन करके एक महान् आदर्श की स्थापना की थी। गृहस्थ जीवन में पत्नियों का महत्त्वपूर्ण स्थान था। वे पातिव्रत्य धर्म का उच्चतम आदर्श प्रतिष्ठित करती थीं। नारी पुरुष की सहधर्मचारिणी थी। यज्ञ-यागादि कर्म उसके विना नहीं सम्पन्न होते थे। पारिवारिक कार्यों के अतिरिक्त वे बाह्य कार्यों में भी पति की सहायता करती थीं। वे राजसिंहासन पर भी बैठने की अधिकारिणी थीं[१९] लेकिन रणक्षेत्र में नहीं जाती थीं। अपवाद स्वरूप ऋग्वेद में विष्पला नामक एक स्त्री[२०] एवं महारानी कैकेयी[२१] के युद्ध में जाने का उल्लेख प्राप्त होता है। वाहनों पर चढ़ते समय स्त्रियों को पहले स्थान दिया जाता था। पर्दा प्रथा का भी उल्लेख रामायण में प्राप्त होता है। रावण वध के पश्चात् जब राम ने सीता को सबके सम्मुख लाने के लिए कहा, तब लक्ष्मण द्वारा आश्चर्यचकित होकर राम की ओर देखना ओर उस समय राम का यह कहना कि विपत्ति काल में, शारीरिक या मानसिक पीड़ा के

---

१२. न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्। यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया। वही २/१९/२२
१३. अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्। वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश॥ वही २/१९/२३
१४. सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः। मुदिताः शीलवृत्तभ्यां महर्षय इवामलाः॥ वही १/६/९
१५. पितृमत्यः स्म भद्रं ते स्वच्छन्दे न वयं स्थिताः। पितरं नो वृणीष्व त्वं यदि नो दास्यते तव॥ वही॥ ३३/३
१६. एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने। पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः॥ वही॥ १/७२/१२
१७. अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम्। व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः॥ वही १/६९/२
१८. ऋग्वेद १०/१४५/२-४
१९. अभ्यषिञ्चन्नरव्याघ्रं प्रसन्नेन सुगन्धिना। सलिलेन सहस्राक्षं वसवो वासवं यथा॥
२०. उद्धृत भारतीय संस्कृति, सिंह एवं यादव, पृष्ठ-२८
२१. वा. रा. २/११/१९

अवसरों पर, युद्ध में, स्वयंवर अथवा यज्ञ के समय स्त्री का दर्शन आपत्तिजनक नहीं है। मानसिक कष्ट में होने के कारण सीता का पर्दे के विना सबके सामने आना दोष की बात नहीं है।[२२] इसके साथ ही साथ सब कुछ जानते हुए भी राम द्वारा सीता को ग्रहण करने से इन्कार एवं किसी अन्य के साथ जाने को कहना[२३] उनकी अग्नि परीक्षा और लोकापवाद के भय से उनका परित्याग[२४] एवं भाई द्वारा भाई की पत्नी का बलात् वरण[२५] आदि अनेक प्रमाण स्त्रियों की ह्रासोन्मुखी स्थिति की ओर सङ्केत करते हैं।

रहन-सहन की दृष्टि से यह काल सादा जीवन उच्च विचार वाला था। नगरवासी प्रसन्न, धर्मात्मा, बहुश्रुत, निर्लोभी, सत्यवादी तथा अपने-अपने धन से सन्तुष्ट रहने वाले थे।[२६] कोई भी वर्णसङ्कर नहीं था।[२७] शिष्टाचार का पालन सभी जगहों पर किया जाता था, चाहे वह राजदरबार हो, गुरुकुल हो या अन्य कोई स्थान। आसन ग्रहण करते समय ज्येष्ठ के आसन ग्रहण के पश्चात् ही कनिष्ठ आसन-ग्रहण करते थे। गुरुजनों के प्रति शिष्टाचार का भाव रामायण में अनेकशः प्राप्त होता है। गुरु भी शिष्य के प्रति अनन्य स्नेह रखते थे। प्रकृत काल में लोकाचार का पालन करना आवश्यक था। लोकापवाद न हो इस हेतु श्रीराम अपने भाइयों, अपनी भार्या यहाँ तक के अपने प्राणों का उत्सर्ग कारने को भी तैयार हैं।[२८] यज्ञ एवं राज्याभिषेक के अवसर पर अतिथि सत्कार एवं उपहार देने की भी प्रथा थी। वैदिक काल की भाँति रामायण में भी उत्तरीय एवं अधोवस्त्र[२९] दोनों धारण किये जाते थे। साथ ही साथ सूती एवं रेश्मी[३०] दोनों प्रकार के वस्त्रों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। धनसम्पन्न एवं राजघराने के लोग रत्नजटिल वस्त्रों का प्रयोग करते थे। नर एवं नारी दोनों ही आभूषण के रूप में कुण्डल, द्वार, करधनी आदि धारण करते थे।[३१] प्रकृत काल में लोगों की आर्थिक स्थिति प्रशंसनीय थी। कृषि समाज के आर्थिक स्रोत का महत्त्वपूर्ण अङ्ग था। यव (जौ), शालि (चावल), गोधूम (गेहूँ), माष (उड़द), मुद्ग (मूंग), आदि की खेती की जाती थी। ब्राह्मण प्रायः शाकाहारी होते थे। ईख, मधु, श्रेष्ठ आसव, पानकरस, मोदक, पायस, घृत, दधि आदि भक्ष्य पदार्थों का उल्लेख प्राप्त होता है।[३२] गोपालन तथा गोरक्षा का भी उल्लेख प्राप्त होता है। ऋग्वेद में गाय के वध का विरोध किया गया

---

२२. वा. रा. ६/११४/२८-२९
२३. वही ६/११५
२४. अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम् ....वही ७/४५/१५
२५. वही ३/१०/२८ एवं ४/१८/१९-२०
२६. वही १/६/६
२७. वही १/६/१२
२८. वही १/४५/१५
२९. वही २/९/५०
३०. वा. रा. २/४५
३१. वही २/९/४३-५३ एवं ६/११/२९
३२. वही १/५३/२-४

है।[33] वहाँ अथर्ववेद में उसे अघ्न्या कहकर सम्बोधित किया गया है।[34] रामायणकाल में भी गौ एवं ब्राह्मण की रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य था। व्यापार की स्थिति अत्यन्त सुदृढ़ थी। जल, थल एवं नभ तीनो मार्गों से यातायात का विवरण प्राप्त होता है। चूँकि रामायणकालिक आर्थिक स्थिति अत्यन्त समृद्धशाली थी, इसलिए लोगों का सामाजिक जीवन भी अत्यन्त उच्चकोटि का था। वे दीर्घजीवी, नीरोगी, प्रसन्न और धन-धान्य सम्पन्न थे। प्रकृत काल में कहीं भी कोई कमी, कृपण, मूर्ख, क्रूर, नास्तिक मनुष्य देखने को नहीं मिलता था।[35] फलस्वरूप समाज में शान्ति एवं सुव्यवस्था व्याप्त थी।

विवेच्य काल में शिक्षा का स्तर राजकीय प्रोत्साहन प्राप्त होने के कारण बहुत ऊँचा था। मुनियों के आश्रम ही तात्कालिक शिक्षा के केन्द्र थे। जहाँ पर शिष्य वैदिक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य प्रकार की शिक्षायें भी ग्रहण करते थे। अध्ययन-अध्यापन की प्रणाली मौखिक ही थी। लिखने की कला से भी उस काल के लोग परिचित थे। गुरु की सेवा-शुश्रूषा शिष्य का परम कर्त्तव्य था। नैतिक शिक्षा भी शिक्षा का एक आवश्यक अङ्ग थी। जिसके फलस्वरूप प्रारम्भ से ही प्राप्त संस्कार समाज के उत्थान में सहायक होते थे। जहाँ स्त्रियाँ पूर्णत: शिक्षित हुआ करती थीं, वहीं क्षत्रिय राजकुमारियाँ राजधर्म, पौराणिक साहित्य, ललित कला एवं शस्त्र-विद्या से भी परिचित हुआ करती थीं।

रामायणकाल में धर्म जीवन के समग्र उत्कर्ष का मूल स्रोत था '**धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।**'[36] प्रार्थना द्वारा इष्टसिद्धि में लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। अनेक स्थल देखे जा सकते हैं, यथा दशरथ द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ[37] रामद्वारा सूर्योपासना[38], इन्द्रजित् द्वारा निकुम्भिला देवी की आराधना[39] आदि। प्रतिज्ञापालन, दानशीलता, सत्य वादिता, इन्द्रियनिग्रह का वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार उक्त विश्लेषण के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि रामायणकालिक समाज धर्म द्वारा अनुप्राणित था। वेदों का प्रभुत्व सर्वव्यापी होने के कारण वे धार्मिक अनुष्ठानों में प्रमाणभूत थे। वेद जहाँ '**सत्यं वद, धर्मं चर, आचारन्मा प्रमद:**'[40] आदि वाक्यों के द्वारा गुरु की भाँति उपदेश देते हैं, वहीं रामायण में राम के चरित्र द्वारा हमें इसका अनुपालन करने की सीख मिलती है। किस प्रकार समाज की उन्नति एवं चतुर्दिक् विकास में सहयोग करना चाहिए। यह शिक्षा हमें रामायण से प्राप्त होती है। रामायणकाल की समाज-व्यवस्था वैदिक समाज-व्यवस्था की भूमि पर पुष्पित एवं पल्लवित होती हुई दिखायी देती है।

---

३३. गामनागादितिं वधिष्ट ....ऋग्वेद ८/१०१/१५
३४. अघ्न्ये ! ते रूपाय नम: ....अथर्ववेद १०/१०/१
३५. कामी वा न कदर्यो वा नृशंस: पुरुष: क्वचित्। द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिक:॥ वा. रा. १/६/८
३६. वही ३/९/३०
३७. तत: प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्। जुहावाग्नौ च तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥ वही १/१५/३
३८. वही ६/१०५
३९ वही ६/८२/२४-२५
४०. तैत्तिरीयोपनिषद् प्रथम वल्ली। अनुवाक्-११

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१३०-१३२)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित राज्यव्यवस्था में राजा

डॉ० श्रीधर मिश्र आचार्य

वेद में जिस परम तत्त्व का वर्णन कया गया है, वाल्मीकि-रामायण में वही तत्त्व श्रीराम के रूप में निरूपित है। इसलिए रामायण सभी के लिये पूज्य है। महनीय काव्य में राजनीति, भूगोल, मनोविज्ञान, दर्शन, धर्म, आयुर्वेद, ज्योतिष सभी कुछ अपने उच्चतम रूप में विद्यमान है। भारतीय समाज का गौरव एवं भूतल के प्रथम काव्य वाल्मीकि-रामायण में उच्चकोटि की राजनीति एवं राजव्यवस्था के भी दर्शन होते हैं। वाल्मीकि द्वारा प्रस्तुत राज्य-व्यवस्था के समक्ष अन्य व्यवस्थायें तुच्छ प्रतीत होती हैं, समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि वाल्मीकि ने राजा को राज्यव्यवस्था का केन्द्र बिन्दु माना है। वैदिक राज्यव्यवस्था के अनुसार वाल्मीकि ने राजा को प्रजा का रञ्जक, उनका हितचिनतक एवं राष्ट्र का उन्नायक बताया है। राजा से रहित राष्ट्र को महर्षि ने जंगल कहा है-**नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्**[1] राज्यव्यवस्था में राजा के महत्त्व के सम्बन्ध में उनकी मान्यता है कि राजा राज्य के भीतर सत्य और धर्म का प्रवर्तक होता है। राजा ही सत्य और धर्म है। राज ही कुलवानों का कुल है। राजा ही माता और पिता है तथा मनुष्यों का हित करने वाला है।

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते। तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः।
राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्। राजा माता पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥[2]

अयोध्याकाण्ड का एक प्रसङ्ग है-महाराज स्वर्ग चले गये, श्रीराम वनवासी हो गये, तेजस्वी लक्ष्मण राम के साथी हो गये, भरत और शत्रुघ्न भी इस अवसर पर ननिहालवासी थे। ऐसे में राज्य का प्रबन्ध करने वाले वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम एवं जाबालि आदि ब्राह्मण श्रेष्ठ राजपुरोहित वसिष्ठ सम्मुख बैठकर राज्यव्यवस्था की चिन्ता में परामर्श देते हुए बोले कि जिस राज्य में कोई राजा नहीं होता वहाँ यज्ञकर्ता द्विज एवं कठोर व्रत का पालन करने वाले जितेन्द्रिय ब्राह्मण बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करते हैं।[3]

राजा रहित जनपद में यदि किसी तरह महायज्ञों का आरम्भ हो भी जाए तो उसमें धन सम्पन्न ब्राह्मण भी ऋत्विजों को प्रभूत दक्षिणा स्वरूप द्रव्य नहीं देते हैं-

नाराजके जनपदे महायज्ञेषु यज्वनः। ब्राह्मणा वसुसम्पूर्णा विसृजन्त्याप्तदक्षिणाः।[4]

महर्षि द्वारा रामायण में प्रस्तुत यह राज्यव्यवस्था शुद्ध रूप से वैदिक व्यवस्था को रूपायित करती है। राज्यव्यवस्था में राजा की सर्वोच्च महत्ता को रेखांकित करते हुए महर्षि ने बताया है कि जिस प्रकार जलरहित

---

१. रामायण अयो० ६७-३८

२. वही,,६७-३३,३४

३.-नाराजके जनपदे यज्ञशीला द्विजातयः। सत्राण्यन्वासते दान्ता ब्राह्मणाः संशितव्रताः॥ अयो० ६७-१३

४. रामायण अयोध्या. १४

नदियाँ, घास (तृण) रहित वन एवं ग्वाले से रहित गायें शोभा विहीन होती हैं, उसी प्रकार राजा के विना राज्यव्यवस्था शोभा विहीन होती है।

यथा ह्यनुदकां नद्यो यथा वाप्यतृणं वनम्। अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्।[५]

इतना ही नहीं राज्य पुरोहित वशिष्ठ से राज्यप्रबन्धकर्ता ब्राह्मणों ने कहा कि आज ही किसी को राजा बना दिया जाये, अन्यथा राज का नाश हो जायेगा-

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चित् राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्।[६]

महर्षि का मन्तव्य स्पष्ट है कि राजा विना राज्यव्यवस्था नष्ट हो जाती है। राजा अच्छे/बुरे का विभाजन करने वाला होता है। उसके न रहने से राज्य अन्धकार से आच्छन्न सा हो जाता है।[७]

वाल्मीकि ने रामायण में वैदिक राज्यव्यवस्था को रूपायित करते हुए बताया है कि राजा अपने चरित्र के द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबलशाली वरुण आदि देवताओं का भी अतिक्रमण कर देता है। वह प्रजा का इन्द्र की भाँति पालन कुबेर की भाँति धन, वरुण की भाँति सदाचरण एवं यम की भाँति दण्ड देता है।

यमो वैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल:। विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत:॥[८]

वैदिक राज्यव्यवस्था में राजा पर दैवी कृपा बनी रहती है। प्रजा के लिये राजा ईश्वर तुल्य होता है। महर्षि ने इस तथ्य को रामायण में बड़े ही सरल, सहज एवं सुन्दर ढंग से उपस्थित किया है कि देश में राजा के न रहने पर ईश्वर की भी अनुकम्पा प्रजा पर नहीं रहती है।

नाराजके जनपदे विद्युन्माली महास्वन:।
अभिवर्षति पर्जन्यो महीं दिव्येन वारिणा॥
नाराजके जनपदे वीजमुष्टि: प्रकीर्यते।[९]

राजारहित राज में विद्युत्युक्त गरजने वाले मेघ भी वर्षा नहीं करते मात्र गर्जन कर रह जाते हैं। वर्षा के अभाव में खेतों में मुठ्ठी के बीच भी नहीं बिखेरे जाते। ऐसे में प्रजा को धन-धान्य का संकट हो जाता है। इस कथन में वैदिक राज्यव्यवस्था की परिकल्पना परिलक्षित हो रही है।

राजा का दैवी गुणों से सम्पन्न होना बताया गया है। राजा के अभाव में ईश्वर की भी कृपा प्रजा पर नहीं रहती है। राजा के कारण ही राज्य की व्यवस्था सुदृढ़ होती है। राजा के विना राज्य में धन अपना नहीं होता। पत्नी

---

५. वही अयो० ६७-२९
६. वही अयो० ६७-०८
७. रामायण अयो० ६७-३६ अहो तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायेत किंचन। राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी॥
८. रामायण अयो० ६७-९,१०
९. अराजके धनं नास्ति, नास्ति भार्याप्यराजके। अयो० ६७-११

भी अपनी नहीं रह पाती।[१०]

राज्यव्यवस्था के सन्दर्भ में सामाजिक धार्मिक एवं लोकोपकारी कार्यों के दायित्व को महर्षि ने राजा से ही जोड़ते हुए कहा है कि विना राजा के राज्य में कोई मनुष्य किसी प्रकार का पंचायतभवन, रमणीय उद्यान एवं मन्दिर, धर्मशाला जैसे पुण्यगृह निर्मित नहीं करवाता है।[११] इतना ही नहीं दैवीगुण सम्पन्न राजा के अभाव में राज्य में सुरक्षा व्यवस्था समाप्त प्राय होती है। प्रजा सदा भयाक्रान्त रहती है। इससे देश का आर्थिक विकास बाधित होता है। महर्षि का उद्घोष है कि

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः। शेरते विवृतद्वाराः कृषि गोरक्षजीविनः॥

नाराजके जनपदे तूद्यानानि समागताः। सायाह्ने क्रीडितुं यान्ति कुमार्यो हेमभूषिताः॥

नाराजके जनपदे वणिजो दूरगामिनः॥ गच्छन्ति क्षेममध्वानं वहुपण्यसमाचिताः।[१२]

राजा के ऊपर ही राज्य की व्यवस्था, प्रजा की सुरक्षा एवं देश की चहुँमुखी विकास रहता है। राजा रहित राज्य में किसी भी मनुष्य की कोई भी वस्तु अपनी नहीं रहती, जिस प्रकार मछलियाँ एक-दूसरे को खा जाती हैं उसी प्रकार अराजक देश में शक्तिशाली जनों द्वारा निर्बलों को समाप्त कर दिया जाता है।

न्याय एवं दण्डव्यवस्था का केन्द्र राजा ही होता है। राजा के द्वारा ही वादी/प्रतिवादी के विवाद का संतोषजनक निपटारा सम्भव होता है। उसके अभाव में न तो उचित न्याय हो पाता है और न तो अपराधी को समुचित दण्ड मिल पाता हैं।[१३] ऐसे में दैवी गुण सम्पन्न समुचित राजा के अभाव में राज्य मे अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति एवं प्राप्ति की रक्षारूपी योगक्षेम भी नहीं हो पाता तथा सेना भी युद्ध में शत्रुओं का सामना करने में अपने को असमर्थ पाती है। अतः राज्य पूर्णतः विनष्ट हो जाता है।

नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते। न चाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि॥[१४]

इसी प्रकार से अनेक स्थलों में राज्य एवं राजनीति से सम्बन्धित सारभूत अद्भुत बातों को आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में समाहित किया है। जो वैदिक राज्यव्यवस्था की लौकिक विवेचना प्रतीत होती है। युद्ध काण्ड के १८ वें एवं ६३ वें सर्ग में भी राज्यव्यवस्था से सम्बन्धित अत्यन्त उच्चादर्शों को महर्षि द्वारा स्थापित किया गया है। सम्पूर्ण रामायण में उपलब्ध राज्यव्यवस्था की समस्त बातों को यहाँ एकत्र कर पाना सम्भव नहीं हैं। यह लघु शोध पत्र उसका एक निदर्शनमात्र है।

---

१०. नाराजके जनपदे कारयन्ति सभां नराः। उद्यानानि च रम्याणि हृष्टाः पुण्यगृहाणि च॥ वही ६७-१२

११. रामा० अयो० ६७-१८, १७,२२

१२. वही,,, ६७-३१

१३. नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिणः। कथाभि रज्यन्ते कथाशीला: कथाशीला: कथाप्रियैः॥

१४. रामा० अयो० ६७-२४०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१३३-१३७)

रामायण एवं वैदिक परम्परा में राज्यव्यवस्था

डॉ० हरि प्रकाश शर्मा

श्रीमद्वाल्मीकि-रामायण की प्रतिष्ठा वेदतुल्य है। रामायण को संस्कृत-साहित्य के आदिकाव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। रामायण को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थों की रचना हुई है। इस ग्रन्थ का एक-एक अक्षर महापाप का नाश करने वाला है। रस, अलङ्कार आदि से युक्त यह महाकाव्य अत्यधिक सुन्दर संवादों वाला है। पुराणों में भी रामायण के माहात्म्य का वर्णन किया गया है। हनुमान् की वार्तालाप-कुशलता, श्रीराम की प्रतिपादनशैली, दशरथ की सम्भाषणपद्धति अत्यधिक सुन्दर है। इस ग्रन्थ में महर्षि वाल्मीकि की दृष्टि में ज्योतिष, तन्त्र, आयुर्वेद, राजनीति आदि शास्त्रों की प्राचीनता एवं समीचीनता ज्ञात होती है। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, आचारशास्त्र आदि की पर्याप्त सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। वाल्मीकि की राजनीति अत्यन्त उच्चकोटि की है। आदर्श राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन रामायण में विशद रूप से किया गया है।

अयोध्याकाण्ड के सौवें सर्ग में श्रीराम का भरत को कुशल-प्रश्न के बहाने राजनीति के उपदेश का वर्णन है। श्रीराम भरत से पूछते हैं कि क्या वे देवताओं, पितरों, भृत्यों गुरुजनों, पिता के समान आदरणीय वृद्धों, वैद्यों और ब्राह्मणों का सम्मान करते हैं?[१] यहाँ श्रीराम का कहने का तात्पर्य यही है कि राजा को देवताओं, पितरों, भृत्यों, गुरुजनों, वृद्धों, वैद्यों एवं ब्राह्मणों का सम्मान करना चाहिए। शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाहरी चेष्टाओं से ही मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहिए।[२] हजारों मूर्खों की अपेक्षा एक पण्डित को ही अपने पास रखना चाहिए, क्योंकि विद्वान् व्यक्ति ही अर्थसंकट के समय महान् कल्याण कर सकता है। हजारों मूर्खों को अपने पास रखने के अवसर आने पर कोई सहायता नहीं मिल सकती। मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ अकेला मन्त्री भी राजा अथवा राजकुमार को बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त करा सकता है।[३] प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम कोटि के व्यक्तियों को निम्न कार्यों में नियुक्त किया जाना चाहिए। रिश्वत न लेने वाले, निश्छल, बाप-दादों के समय से ही काम करने वाले, बाहर-भीतर से पवित्र एवं श्रेष्ठ अमात्यों को ही उत्तम कार्यों में नियुक्त करना चाहिए। प्रजा को अत्यधिक कठोर दण्ड भी नहीं देना चाहिए। अन्यथा प्रजा उद्विग्न होकर मन्त्रियों का तिरस्कार करना शुरू कर देती है।[४] अतः राजा को न तो पूर्ण रूप से

---

१. कच्चिद् देवान् पितॄन्, भृत्यान् गुरून् पितृसमानपि। वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चाभिमन्यसे॥ वा., रा. अयो० १००,१३ तु० दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणाश्च कुरुद्वह। आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते॥ महाभारत, शान्तिपर्व, ५६,१३

२. कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः। कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥ वा.रा., अयो० १००,१५

३. एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः। राजानां राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥ वही, १००,२४

४. कश्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिताः प्रजाः। राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकयीसुतः॥ वही, १००,२७ तु० मुदुर्हि राजा

कोमलतायुक्त और न पूर्णरूप से कठोरतायुक्त व्यवहार करना चाहिए, अपितु आवश्यकतानुसार कठोरता एवं कोमलता दोनों का आश्रय लेना चाहिए। जिस प्रकार पवित्र याजक पतित यजमान का तथा स्त्रियाँ कामचारी पुरुष का तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक व्यवहार करने वाले राजा का तिरस्कार करती है। रात को निद्रा के वशीभूत नहीं होना चाहिए, उसे चाहिए कि वह रात्रि के अन्तिम प्रहर में अर्थसिद्धि के उपाय पर विचार करे, गूढ़ विषय पर अकेले विचार न करे और न ही अनेकों के साथ मन्त्रणा करे, अन्यथा गुप्तमन्त्रणा शत्रु तक पहुँच सकती है।[५]

सामदाम आदि उपायों के प्रयोग में कुशल, राजनीति-शास्त्र के विद्वान् विश्वासी भृत्यों में अविश्वास पैदा करने वाले, शूरवीर तथा राज्य को हड़पने की कामना वाले शत्रु का वध राजा के द्वारा कर दिया जाना चाहिए, अन्यथा स्वयं राजा उस शत्रु के हाथों मारा जाता है।[६] भीष्म पितामह भी युधिष्ठिर को राजधर्म का उपदेश देते हुए कहते हैं कि राजा, मन्त्री, मित्र, खजाना, देश, दुर्ग और सेना—इन सात अंगों से युक्त राज्य के विपरीत जो भी व्यक्ति आचरण करे, चाहे वह गुरु हो या मित्र, मार डालने के योग्य है।[७] सेनापति की नियुक्ति के समय राजा को ध्यान रखना चाहिए कि सदा सन्तुष्ट रहने वाले, शूरवीर, धैर्यवान्, बुद्धिमान्, पवित्र, कुलीन, आत्मानुरागी, रणकर्मदक्ष पुरुष को ही सेनापति बनाया जाए। सैनिकों को नियत समय पर समुचित वेतन एवं भत्ता दिया जाना चाहिए। समय का अतिक्रमण करके भत्ता एवं वेतन दिये जाने पर सैनिक अपने स्वमी के प्रति अत्यन्त कुपित हो जाते हैं तथा इससे भारी अनर्थ हो जाता है।[८] राजदूत के पद पर नियुक्त होने वाला व्यक्ति अपने देश का वासी, विद्वान्, कुशल, प्रतिभाशाली, यथोक्तवादी तथा सदसद्विवेकयुक्त होना चाहिए।[९] मनुस्मृति में बतलाया गया है कि दूत सभी शास्त्रों का ज्ञाता, संकेतमात्र से चेष्टा को जानने वाला, पवित्र, कुशल, कुलीन, अनुरागयुक्त, स्मृतिमान्, देशकालज्ञ, भयरहित, वाक्पटुता आदि गुणों से युक्त होना चाहिए।[१०]

राजा को नास्तिक ब्राह्मणों को अपने समीप नहीं रखना चाहिए क्योंकि वे बुद्धि को परमार्थ की ओर से विचलित करने में कुशल होते हैं तथा वस्तुतः अज्ञानी होते हुए अपने को बहुत बड़ा पण्डित मानते हैं। उनका ज्ञान वेद के विरुद्ध होने के कारण दूषित होता है और वे प्रमाणभूत मुख्य धर्मशास्त्रों के होते हुए भी तार्किक बुद्धि का आश्रय लेकर व्यर्थ प्रलाप किया करते हैं।[११] कृषि एवं गोरक्षा से आजीविका चलाने वाले सभी वैश्य राजा के

सततं लंघ्यो भवति सर्वशः॥ तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय॥ महाभारत, शान्तिपर्व ५६,२१

५. कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह। कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति॥ वा.रा. २.१००.१८

६. उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसंदूषणे रतम्। शूरमैश्वर्यकामं च यो हन्ति न स हन्यते॥ वही, १०० , २९

७. सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्। गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः। महाभारत, शान्तिपर्व, ५७,५

८. कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्। सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि विलम्बसे॥ वा. रा.२.१००.३२

९. कच्चिजानपदो विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्। यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः॥ वही १००,३५

१०. दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रविशारदम्। इङ्गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्गतम्॥ अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालवित् वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते॥ मनुस्मृति, ७,६३-६४

११. धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः। बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थं प्रवदन्ति ते॥ वा.रा. अयोध्याकाण्ड, १००,३९

प्रीतिपात्र होने चाहिए, क्योंकि कृषि एवं व्यापार ही राष्ट्र की समृद्धि के कारण होते हैं, वैसे राजा का कर्तव्य है कि वह राज्य में रहने वाले लोगों का धर्मानुसार पालन करे।[१२] राजा को प्रतिदिन पूर्वाह्णकाल में वस्त्राभूषणों से विभूषित होकर मुख्य मार्ग पर जाकर नगरवासियों को दर्शन देने चाहिए।[१३] कर्मचारियों के विषय में मध्यम स्थिति का आश्रय लेना ही अर्थसिद्धि का कारण होता है। राज्य में सभी दुर्ग धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र, शिल्पी तथा धनुर्धर सैनिकों से परिपूर्ण होने चाहिये।[१४] आय एवं व्यय में सन्तुलन होना चाहिए। अपात्रों के पास खजाने का धन नहीं जाना चाहिए। देवता, पितर, ब्राह्मण, अभ्यागत योद्धा तथा मित्रों पर धन खर्च नहीं किया जाना चाहिए।[१५] राजा के द्वारा किसी श्रेष्ठ, निर्दोष एवं शुद्धात्मा पर दोष लगाकर शास्त्रों द्वारा उसके विषय में जाँच कराए विना आर्थिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। राजा को इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि जिस व्यक्ति पर चोरी करने का आरोप सिद्ध हो गया है, उसे धन के लोभ के कारण छोड़ तो नहीं दिया जाता।[१६] निर्दोष व्यक्ति पर मिथ्या दोष लगाकर उसे दण्डित करना राजधर्म के विरुद्ध है। दण्डित होने वाले निर्दोष व्यक्ति की आँखों से गिरते हुए आँसू पक्षपातपूर्ण शासन करने वाले राजा के पुत्र एवं पशुओं का नाश कर देते हैं।[१७] वृद्ध पुरुषों, बालकों, एवं मुख्य वैद्यों को आन्तरिक अनुराग, मधुर-वचन एवं धनदान के द्वारा सम्मानित करना राजा का कर्त्तव्य है। गुरुजनों, वृद्धों, तपस्वियों, देवताओं अतिथियों, चैत्यवृक्षों एवं पूर्णकाम ब्राह्मणों को राजा के द्वारा नमस्कार किया जाना चाहिए।[१८]

राजा धर्म, अर्थ एवं काम का सेवन यथोचित समय से ही करे।[१९] महाभारत में धर्म, अर्थ एवं काम को राजधर्म में समाविष्ट किया गया है।[२०] मनुस्मृति में बतलाया गया है कि मन्त्रियों के साथ अथवा अकेले राजा के द्वारा दिन के मध्य भाग अथवा रात्रि के मध्यभाग में धर्म एवं काम के अनुष्ठान का चिन्तन किया जाना चाहिए।[२१]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजधर्म का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार राजा को दिन के पूर्व भाग में रक्षाविधान एवं आय-व्यय के विषय में सुनना चाहिए, द्वितीय भाग में नगरवासियों के कार्यों को देखना चाहिए, तृतीय भाग में राजा स्नान एवं भोजन करे तथा स्वाध्याय भी करे, पञ्चम भाग में मन्त्रिगण से मन्त्रणा करे एवं गुप्तचरों से गुप्त बातों को जाने। षष्ठ भाग में स्वच्छन्द विहार एवं मन्त्रणा करे, सप्तम भाग में हाथी, घोड़े, रथ आदि सेना का निरीक्षण करे, अष्टम भाग में सेनापति के साथ पराक्रम का चिन्तन करे एवं दिन की समाप्ति में

---

१२. तेषां गुप्तिपरीहारैः क्वचित् ते भरणं कृतम्। रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः॥ वही, १००,४८
१३. कच्चिद् दर्शयसे नित्यं मानुषाणां विभूषितम्। उत्थायोत्थाय पूर्वाह्णे राजपुत्रमहापथे। वही, १००, ५१
१४. कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः। यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः॥ वही १००,५३
१५. देवतार्थे च पित्रर्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च। योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः॥ वा.रा. अयो० काण्ड १०० ,५५
१६. गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः। कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ। वही,१००, ५७
१७. यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव। दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैबुभूषसे॥ वही, १००, ५९/६०
१८. कच्चिद् गुरूंश्च वृद्धांश्च तापसान् देवातिथीन्। चैत्यांश्च सर्वान् सिद्धार्थान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥ वही , १००, ६१
१९. कच्चिदर्थं च कामं च धर्मं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे॥ वही, १००, ६३
२०. त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव। मोक्षधर्मश्च विस्पष्ट संकलोऽत्र समाहितः॥ महाभारत, शान्तिपर्व ५६,४
२१. मध्यंदिनेऽर्धरात्रे वा विश्रान्तो विगतक्लमः। चिन्तयेद्धर्मकामार्थान्सार्धं तैरेक एव वा। मनुस्मृति, ७, १५१

संध्या-उपासना करे। रात्रि के प्रथम भाग में गुप्तपुरुषों पर निगरानी रखे, द्वितीय भाग में स्नान, भोजन एवं स्वाध्याय करे, तृतीय भाग में नगाड़े आदि के घोष के साथ सोया हुआ चतुर्थ एवं पंचम भाग में भी सोया रहे, षष्ठ भाग में नगाड़े की आवाज के साथ जगा हुआ शास्त्रचिन्तन करे। सप्तम भाग में मन्त्रणा करे एवं गुप्त पुरुषों को भेजे, अष्टम भाग में ऋत्विक् आचार्य, पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन करे एवं चिकित्सक से स्वास्थ्य की जानकारी के लिए, रसोइये से भोजन-व्यवस्था के लिए, ज्योतिषी से शुभ-अशुभ ग्रहों की जानकारी के लिए मिले तथा बछड़े सहित गाय एवं वृषभ की प्रदक्षिणा करके मण्डप में जाए।

अथर्ववेद में 'राजन्' शब्द को परिभाषित करते हुए बतलाया गया है कि जो विशेष प्रभावशाली और पराक्रमी होता है, वही प्रजाओं का अधिपति होता है। उस राजा का सहायक मृत्यु होता है। जो जगत् को दण्ड देने वाला होता है। मृत्यु का अंश ही राजा के पास आकर निवास करता है। उसकी सहायता से राजा अपराधियों को दण्डित करता है।[२२] वेद में इस प्रकार के राजा होने की बात स्वीकार की गई है। राजा मित्र को बढ़ाने वाला, प्रतापी, शत्रुनाशक तथा अपने स्थान पर स्थिर रहने वाला होना चाहिए। ऐसे राजा को विद्वन् लोग यथासमय योग्य मन्त्रणा देते रहें।[२३] राजा को दुष्टों का दमन करने के लिए विशिष्ट उपायों की योजना बनाकर सब दिशाओं में पराक्रम करके विजयी होना चाहिए। दुग्ध, जल आदि पदार्थों की कामना करने वाली प्रजायें ऐसे राजा को शासन करने के लिए चाहें।[२४] राज्याभिषेक के समय समुद्र, पवित्र महानदियाँ, अन्य पवित्र स्रोत और आकाश से प्राप्त होने वाला दिव्य जल लाने की बात वेद में स्वीकार की गई है। इससे संकेत मिलता है कि राज्य समुद्र पर्यन्त होना चाहिए। जिस राजा का राज्य समुद्र पर्यन्त नहीं होता, उसका व्यापार ठीक प्रकार से नहीं चलता।[२५]

निष्कर्ष रूप में महाकवि वाल्मीकि द्वारा राजा के निम्न चौदह दोष बतलाए गए हैं-नास्तिकता, असत्यभाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, इन्द्रियों के वशीभूत होना, राजकार्यों के विषय में अकेले विचार करना, मूर्खों से मन्त्रणा लेना, निश्चित किये गए कार्यों का शीघ आरम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणा को प्रकट कर देना, माङ्गलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक साथ चढ़ाई कर देना।[२६] श्रीराम ने उपर्युक्त दोषों को छोड़ने के लिए भरत को कहा है। दशवर्ग, पञ्चवर्ग, चतुर्वर्ग, सप्तवर्ग, अष्टवर्ग, त्रिवर्ग, तीन विद्या, इन्द्रियजय, छः गुण, दैवी और मानुषी बाधायें, नीतिपूर्ण कार्य, विशंतिवर्ग, प्रकृतिमण्डल, यात्रा (शत्रु पर आक्रमण), दण्डविधान, सन्धि एवं विग्रह इन सबकी ओर भी राजा को

---

२२. भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्वभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ अथर्ववेद ४.८.१

२३. अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा। आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन्॥ वही, ४.८.२

२४. व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः। विशंस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ वही ४.८.४

२५. या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्। तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा॥ वही, ४.८.५.

२६. नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्। अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥ एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्। निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥ मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः। कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥ वा.रा. अयो० १००. ६५. ६६. ६७

ध्यानावस्थित होने की आवश्यकता है।[२७] इनमें से त्याज्य दोषों को त्याग कर ग्राह्य गुणों को ग्रहण करना चाहिए। यहाँ दश वर्ग से अभिप्राय आखेट, जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्री में आसक्ति रखना, मदिरापन, नाचना, गाना, बाजा बजाना एवं व्यर्थ घूमने से है। जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग, वृक्षदुर्ग, ईरिणदुर्ग, धन्वदुर्ग ये पाँच वर्ग हैं। बंजरभूमि को ईरिण तथा मरुभूमि को धन्व बतलाया गया है। साम, दाम, दण्ड, भेद-को चतुर्वर्ग कहा गया है। राजा, मन्त्री, राष्ट्र, किला, खजाना, सेना और मित्र-ये हैं। सप्तवर्ग क्रोध से उत्पन्न होने वाले चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोषदर्शन, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता एवं दण्ड की कठोरता को अष्टवर्ग माना गया हैं। धर्म, अर्थ काम त्रिवर्ग हैं। त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति-तीन विद्यायें हैं। सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय-षड्गुण हैं। आग लगना, बाढ़ आना, बीमारी फैलना, अकाल पड़ना और महामारी का प्रकोप होना-दैवी बाधायें है। राज्य के अधिकारियों, चोरों, शत्रुओं तथा स्वयं राजा से जो भय प्राप्त होता है, वह मानवी बाधा है। जिन्हें वेतन न मिला हो, जो अपमानित किये गए हों, जिन्हें डराया गया हो, ऐसे लोगों को मनचाही वस्तु देकर फूट डालना, राजा का कृत्य है। बालक, वृद्ध, दीर्घकाल का रोगी, जाति से निष्कासित, कायर, कायर मनुष्यों को साथ रखने वाला, लोभी व्यक्तियों को आश्रय देने वाला, मन्त्री-सेनापति आदि को असन्तुष्ट रखने वाला, विषयासक्त, चञ्चलचित मनुष्यों से मन्त्रणा लेने वाला, देवता ब्राह्मण आदि की निन्दा करने वाला, दैव का मारा हुआ, पुरुषार्थ न करने वाला, अकालपीड़ित, सैन्यशक्तिरहित, प्रवासी, अधिक शत्रुओं वाला, क्रूरग्रहदशा से युक्त और सत्यधर्म से रहित-इन विंशतिवर्ग से युक्त राजा को सन्धि के योग्य नहीं माना है। राज्य के स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग सेना-इन अङ्गों को ही प्रकृतिमण्डल कहा गया है।[२८]

---

२७. दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गं च तत्त्वतः। अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव॥ इन्द्रियाणां जयं बुध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्। कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्। यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ। कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे॥ वा.रा. अयो०, १००,६८,६९,७०

२८. द्रष्टव्य वा.रा. अयो०, अध्याय १००, व्याख्या-श्लोक ६८, ६९, ७०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१३८-१४५)

वाल्मीकिरामायणे वैदिकी राज्यव्यवस्था

डॉ० प्रियंवदा वेदभारती,

वैदिकस्य भारतीयस्य च राजनीतिशास्त्रस्य सिद्धान्तद्वयं प्राधान्येन विलसति। प्रथमस्तावत्-

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति।।[१]

द्वितीयराज्ञि धर्मिणी धर्मिष्ठाः पापे पापपराः प्रजा।
राजानमनुवर्तन्ते यथा राजा तथा प्रजाः।। (महाभारतम्)

सिद्धान्तद्वयस्यास्य सन्दर्भे यदा वाल्मीकिरामायणस्यानुशीलनं क्रियते तदा दृश्यते समग्रमपि रामराज्यम् अनयोर्मान्यतयोः निकषकषितमिति। भगवान् श्रीरामचन्द्रः राजा भरतश्चोभावापि वेदवेदाङ्गतत्वज्ञौ धर्मिष्ठौ नृपौ बभूवतुः। एतस्मादेव कारणादेतयोः राज्ये प्रजावर्गोऽपि सुखी समृद्धो मुदितश्चासीत्। रामराज्यस्य परिपूर्णतां सर्वविद्यासम्पन्नताञ्च विलोक्य अद्यापि स्त्रीबालयुववृद्धानां मुखाद् रामराज्यस्योद्घोषः प्रशस्तिश्च श्रूयते। स्वयं भगवान् श्रीरामचन्द्रः अयोध्यावासिभिः सार्धं चित्रकूटप्रदेशे समुपस्थिताय अनुजाय महात्मने राज्ञे भरताय कुशलक्षेमव्याजेन यां वैदिकीं राजनीतिमुपदिदेश सैवात्र निबन्धे समासतः प्रस्तूयते।

१. नृपः (गुणाः नीतिः कार्याणि च)

राष्ट्रस्य सम्पूर्णाऽपि व्यवस्था राजानमनुवर्त्तते, अतो राजनि बहूनां गुणानाम् अस्तित्त्वम् आशास्यते। अर्थववेद आदिशति-मनुष्यसमुदाये स एव राज सभापतिर्वा भवितुमर्हो यः परमैश्वर्यवान् शत्रुभिर्जेतुमशक्यः, योग्यतमः, प्रशंसनीयगुणकर्मस्वभावोपेतः, वन्द्यः, उपास्यः, माननीयश्च भवति।[२] अत एव च भगवता मनुना इन्द्र-अनिल-यम-अर्क-अग्नि-वरुण-चन्द्र-वित्तेशानां सारभूतादंशात् राज्ञरुत्पत्तिरङ्गीकृता।[३] वाल्मीकि-रामायणे राजनि भवितव्यत्वेन ये गुणा याश्चार्हता निर्दिष्टास्ता इत्थं वेदितव्याः—वेदवेदाङ्गतत्वज्ञः धर्मज्ञः, दण्डनीतिवित्, न्यायवित्, आत्मवित्, महावीर्यः, सत्यसन्धः, विद्याविनयसम्पन्नः, प्रियदर्शनः, श्रीमान्, जितक्रोधः, बुद्धिमान्, नीतिमान्, जीवलोकस्य रक्षिता, क्रोधे कालाग्निसदृशः, गाम्भीर्ये समुद्र इव, धैर्येण हिमवानिव, धर्मन्याययुक्तमार्गेण राष्ट्रविवर्धनः, समदर्शनः, प्रजानां हिते सततं रतश्च। रामायणोक्तदिशा एवंविधो दिव्यो मनुष्य एव राजपदेऽभिषेक्तुमर्हः। गुणैस्सह वर्जनीया दोषा अप्यत्र परिगणिता

नास्तिक्यम् असत्यभाषणम्, क्रोध, प्रमादः, दीर्घसूत्रता, ज्ञानिपुरुषाणाम् असङ्गतिः, आलस्यम्,

---

१. मनु०१२.१००

२. इन्द्रा जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै। चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह।। अथर्व ६/९८/१

३. इन्द्रनिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहत्य शाश्वतीः७/४

रूपःसगन्धस्पर्शशब्दवृत्तिवश्यत्वम्, राजकार्येषु एकाकिचिन्तनम्, प्रयोजनानभिज्ञैः मूर्खैस्सह परामर्शः, निश्चितानां कार्याणामननुष्ठाता, सर्वेषु शत्रुषु युगपत् प्रत्युत्थानमिति चतुर्दश दोषा राज्ञाम्।[४] एतदतिरिक्तं यथा मनुना-

दश कामसमुत्थानि तथाष्टौ क्रोधजनि च।
व्यसनानि दुरन्तानि प्रयत्नेन विवर्जयेत्॥[५]

इत्युक्त्वा मृगयाक्षदिवास्वप्नादयो दश कामजा दोषाः— पैशुन्य-साहस-द्रोह-ईर्ष्यादय अष्टौ क्रोधजा दोषा वर्ज्यतया प्रोक्तास्ते रामायणीये कच्चिदध्याये दशवर्ग-अष्टवर्गसञ्ज्ञायाभ्यां वर्ज्यतया प्रकीर्त्तिताः। एतैर्दोषैस्सह बाल्यमप्यत्र दोष इव परिगणितम्। **'कच्चित् सौम्य न ते राज्यं भ्रष्टं बालस्य शाश्वतम्'**[६] इति भरतं संपृच्छन् रामः संकेतयति परिपक्वप्रज्ञः युवावस्थासम्पन्न एव नृपः राज्यं परिरक्षितुं समर्थो भवतीति।

नीतिः

नीतिनृपनीतिविषये रामायणे प्रथमो निर्देशः प्राप्यते राजा बहुभिस्सह एकाकी वा गुप्तमन्त्राणां न कुर्यात्।[७] द्वितीयः-लघुभूतानि किन्तु महोदयानि महाफलप्रदानि कार्याणां त्वरितमेव आरभेत।[८] तृतीयः-राष्ट्रे कृतानि कृतकार्याण्येव अन्येदशीयाः पार्थिवा जानीरन्, न करिष्यमाणानीति व्यवस्था विधेया।[९] यथा अस्माकं भारतवर्षे परमाणुविस्फोटो यदा जातस्तदैव अमेरिकादिदेशवासिन अजानन्। यदि ततः पूर्वमन्यैर्ज्ञातं स्यात् तर्हि परमाणुविस्फोट एव न स्यात्। चतुर्थो निर्देशो विद्यते-विमृश्यकारी राजा तर्कैः युक्तिभिरन्यपार्थिवानां मन्त्रितं जानीयात् परं निजमन्त्रणां कथञ्चिदपि न प्रकटयेत्।[१०] पञ्चमः-मूर्खाणां सहस्रापेक्षया एको मेधावी पण्डितो राज्ञा आश्रयणीयः यतो हि आत्ययिके काले मूर्खाणां सहस्रं दशसहस्रं वा न तथा साहाय्यं कर्तुं प्रभवन्ति यथैको मेधावी मनुष्यः।[११] षष्ठः-राजनीतिशास्त्रस्य वेत्तारं सामदामाद्युपायकुशलं विश्वस्तभृत्यसन्दूषणे रतम्, राज्यमधि कर्तुकामं शूरं पुरुषं राजा प्राणैर्वियोजयेत्। यो राजा नीतिमितां नाश्रयति स तादृक्षेण पुरुषेण हन्यते।[१२] सप्तमः-निष्क्रमितानां शत्रूणां क्षमायाचनं स्वीकृत्य यदि राजा राजहितं समीक्ष्य तान् पुनः स्वराष्ट्रे स्थापयेत्तर्हि दुर्बलान् तान् विज्ञाय न वसेत्तेषां सततं निरीक्षणं

---

४. नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्। अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम्॥ एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्। निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्॥ मंगलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः। कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश॥ वा.रा. अयो०१०० ,६५, ६६, ६७

५. मनु०७.४३

६. अयो०१००/६

७. कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह। कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो राष्ट्रं न परिधावति। वा.रा. अयो०१००/१८

८. कच्चिदर्थं विनिश्चित्य लघुमूलं महोदयम्। क्षिप्रमारभसे कर्म न दीर्घयसि राघव। वा.रा. अयो०१००/१९

९. कच्चित्तु सुकृतान्येव कृतरूपाणि वा पुनः। विदुस्ते सर्वकार्याणि न कर्तव्यानि पार्थिवाः। वा.रा. अयो०१००/२०

१०. कच्चिन्न तर्कैर्युक्त्या वा ये चाप्यपरिकीर्त्तिताः। त्वया वा तव वामात्यैर्बुध्यते तात मन्त्रितम्। वा.रा. अयो०१००/२१

११. कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकमिच्छसि पण्डितम्। पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं महत्। वा.रा. अयो०१००/२२ सहस्राण्यपि मूर्खाणां यद्युपास्ते महीपतिः। अथवाप्ययुतान्येव नास्ति तेषु सहायता। वा.रा. अयो०१००/२३

१२. उपायकुशलं वैद्यं भृत्यसन्दूषणे रतम्। शूरमैश्वर्यकामं यो हन्ति न स हन्यते। वा.रा. अयो०१००/२९

कुर्यादिति तात्पर्यम्।[१३] अष्टमः-राजपरिवारस्य सर्वेऽपि सदस्याः राज्ञा सन्तोषणीयाः सुरक्षणीयाश्च परं न तेषु अतिविश्वासो विधेयः[१४], गुह्यं न भाषणीयमित्यभिप्रायः। नवमः-शत्रुराजस्य ये सेवकाः वेतनमप्राप्य असन्तुष्टा अपमानिता भाविताः, अथ च केनापि दुर्व्यवहारेण राजानं प्रति कुपिता भवेयुः, तान् सेवकान् द्रव्यलोभेन वस्तुलोभेन वा द्वितीयो राजा स्वपक्षे कुर्यादिति नीतिः।[१५] दशमो निर्देशः-सामदानदण्डभेदाभ्यां चतुर्विधां नीतिम्, सन्धि-विग्रह-यान-आसन-द्वैधीभाव-समाश्रयाख्यान् षड्गुणान् राजा आत्मरक्षार्थं यथावसरमाश्रयेत्॥

कार्याणि

राज्ञः कार्याकार्यसम्प्रधारणायां विशेषतास्तत्रोच्यते- ऋत्विजः, कुलगुरोः, आचार्यस्य, पुरोहितप्रवरस्य वा सत्कारो राज्ञा सदैव करणीयः। एतेषामाज्ञया अनुशंसया च विना राजा किमपि कर्म न कुर्यादिति तात्पर्यम्। कर्तव्यमिदं वेदादेशेनानेन सर्वथा सङ्गच्छते यत्रोच्यते-

यत्र ब्रह्म च क्षत्रञ्च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत देवाः सहाग्निना।[१६]

'क्षत्रं ब्रह्मपुखञ्चासीत् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः' अयोध्याराज्यस्येदं वैशिष्ट्यमपि इममेव वेदादेशमाभिमुख्येन वदति। राज्ञा सत्कर्तव्या अन्येऽपि जना रामायणे परिकीर्तितास्ते च पितरो देवताः, गुरवः, पितृतुल्यादरणीया जनाः, वृद्धाः, बालाः, प्रधानचिकित्सकाः, अतिथयः, पूर्णकामाः, ब्राह्मणाश्च। एते अनुरागयुक्तेन मनसा मधुरभाषणेन अभीष्टवस्तुप्रदानेन च राज्ञा तर्पणीयाः।[१७] राजा स्वादिष्टं भोजनमेकाकी एव न भुञ्जीत, आशंसमानानि निजमित्राण्यपि भोजयेत्।[१८] सप्ताहे मासे संवत्सरे वा राजकीयभोजने निजमित्राणां स्मरणमपि राज्ञा कार्यमिति तात्पर्यम्। एवमाचरणेन राजा सर्वेषामाशिषं प्राप्नोति महाप्राज्ञो रामः प्रोवाच-

कच्चित्ते ब्राह्मणाः शर्म सर्वशास्त्रार्थकोविदाः।
आशंसन्ते महाप्राज्ञ पौरजानपदैः सह॥[१९]

त्रिवर्गसेवनम्

राज्ञः कृते विशिष्टोऽयं निर्देशः प्राप्यते शास्त्रेषु रामायणे च यत् धर्मार्थकामान् त्रिवर्गान् समानरूपेण राजा

---

१३. कच्चिद् व्यपास्तानहितान् प्रतियातांश्च सर्वदा। दुर्बलाननवज्ञाय वर्तसे रिपुसूदन॥ वा.रा. अयो०१००/३६

१४. कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसे कच्चित् तास्ते सुरक्षिताः। कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे॥ वा.रा. अयो०१००/१९

१५. कच्चिद् वृद्धांश्च बालांश्च वैद्यान् मुख्यांश्च राघव। दानेन मनसा वाचा त्रिभिरेतैर्बुभूषसे॥ वा.रा. अयो०१००/६०

१६. यजु २०/२५

१७. कच्चिद् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव। कच्चिाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि॥ वा.रा. अयो०१००/७८

१८. वा.रा. उ०का० १००/६८

१९. वा.रा. अयो०१००/६४

सेवेतेति।[२०] अस्य तात्पर्यमिदम्-अर्थासक्तो भूत्वा धर्मस्य हानिं, धर्माधिक्याच्च अर्थस्य हानिं न कुर्यात्। पुनश्च आसक्त्या लोभेन च कामपीडितो भूत्वा धर्मार्थयोः हानिर्न कुर्यात्।[२१] धर्मार्थकामसेवनार्थं राजा समयस्य समुचितं विभागं कुर्यात्।[२२] ब्राह्ममुहूर्त्तात् प्रभृति पूर्वाह्नकालं यावत् धर्मसेवनम् मध्याह्नात् प्रभृति सायंकालं यावदर्थसेवनम्, रात्रौ च कामसेवनमिति।

एवं धर्मार्थकामसिद्धिदा आयुष्या यशस्य चेयं राजनीतिः। विद्वान् राजा एवं धर्मेण प्रजाः सम्पाल्य कृत्स्नां वसुधामवाप्नोति। देहत्यागञ्च विधाय स्वर्गं लोकं उपैति जीवानां चोत्तमां गतिस्तां प्राप्नोतीति तात्पर्यम्।

अमात्यवर्गः

रामायणे अध्यमात्यमुच्यते-अर्थशास्त्रविशारदः, शूरः, शास्त्रज्ञः, जितेन्द्रियः, कुलीनः, इङ्गितज्ञः, मन्त्रनिगूहकः, नीतिज्ञः, मेधावी एक एव अमात्यः राजानं महतीं श्रियं प्रापयितुं समर्थो भवतीति।[२३]राजा अमात्यानां निर्धारणं बुद्धिपूर्वकं कुर्यात्। राज्ञो विजयस्य मूलं मन्त्र एव। मन्त्रधारणादेव च मन्त्रिणः। अतः सर्वेऽपि नीतिशास्त्रनिपुणा मन्त्रिणो मन्त्रं सुसंवृतं धारयेयुः।[२४] राजा मन्त्रिपरिषदि विद्यमानैः योग्यतमैश्चतुर्भिः त्रिभिर्वा साकं सम्भूय पृथक् पृथक् वा परामर्शं कुर्यात्। राज्यकार्याणि उत्तममध्यमजघन्यभेदेन त्रिविधानि भवन्ति तानि च कार्याणि तथा भूतैरेवामात्यैः राज्ञा सम्पादनीयानि।[२५] श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु मध्यमान् मध्यमेषु जघन्याञ्जघन्येषु कर्मसु राजा नियोजयेदिति तात्पर्यम्। श्रेष्ठकर्मसु नियुक्तानाममात्यानां लक्षणमुच्यते ते अधातीताः, उत्कोचस्य अग्रहीतारः, निश्छलाः, कुलपरम्परया एतस्मिन् कर्मणि प्रवृत्ताः कुशलाः, बाह्याभ्यन्तरशुचयो भवेयुः। मन्त्रिणः अधिकारिणश्चैते राजानं प्रति अनुरागिण एकचित्ताश्च स्युः, किञ्च राजहिते प्राणत्यागार्थमपि समुद्यता भवेयुः।

नृपामात्यवर्गयोः निर्देशाय काले काले धार्मिककृत्यसम्पादनाय च राष्ट्रे आचार्यस्य पुरोहितस्य च व्यवस्थार्थमत सुस्पष्टः संकेतः प्राप्यते। तत्राचार्यः ब्रह्मवेत्ता, धर्मनित्यः, धर्मज्ञः, महातेजस्वी भवति[२६] किञ्च पुरोहितः शास्त्रोक्तधार्मिककृत्यानां निरन्तरं द्रष्टा, विधिज्ञः, मतिमान्, विनयसम्पन्नः, बहुश्रुतः, ऋतुस्वभावः, हुतानां होष्यमाणानाञ्च आहुतीनां कालस्य ज्ञापयिता भवति।[२७] आचार्य ऋत्विगप्यभिधीयते। एतयोः वेदविदोः धर्मज्ञयोः आचार्यपुरोहितयोः सङ्गेन राज्ञो नास्तिक्यमपि अपाक्रियते। नास्तिक्यं हि राज्ञो दोषेषु परिगण्यते। परमार्थात्

---

२०. कच्चिदर्थेन वा धर्मण वा पुनः। उभौ वा प्रीतिलोमेन कामेन विबाधसे॥ वा.रा. अयो०१००/६२

२१. कच्चिदर्थं कामं च धर्मं च जयतां वर। विभज्य काले कालज्ञ सर्वान् वरद सेवसे॥ वा.रा. अयो०१००/६३

२२. एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दक्षो विचक्षणः। राजानं राजपुत्रं प्रापयेन्महतीं श्रियम्॥ वा.रा. अयो०१००/२४

२३. मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव। सुसंवृत्तो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः॥ वा.रा. अयो०१००/१६

२४. कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः। जघन्याश्च जघन्येषु भृत्यास्ते तात योजिताः॥ वा.रा. अयो०१००/२५

२५. अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्। श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु॥ वा.रा. अयो०१००/२६

२६. स कच्चिद् ब्राह्मणो विद्वान् धर्मनित्यो महाद्युतिः। इक्ष्वाकूणामुपाध्यायो यथावत् तात पूज्यते॥ वा.रा. अयो०१००/९

२७. कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः। अनसूयुरनुद्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः॥ वा.रा. अयो०१००/११ कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः। हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा॥ वा.रा. अयो०१००/१२

बुद्धिविचालनात् नास्तिकानां ब्राह्मणानां संसर्गः राज्ञः कृते प्रतिषिद्धः।[२८]

सेनापतिः सैन्यवेतनञ्च-

सेनापतिः सर्वदा सन्तुष्टः धृतिमान् मतिमान् बलवान्, पवित्रः, कुलीनः, राजन्यनुरक्तः, रणकर्मदक्षश्च भवेत्।[२९] राजा एतेषां शौर्यमपि परीक्षेत, सत्कारपूर्वकं सम्मानयेच्च।[३०] सैन्यवेतनस्य विषये निगद्यते-सैनिकानां नियतं समुचितं वेतनं भक्तञ्च समय एव प्रदातव्यम्, तत्र विलम्बो न विधेयः। कालातिक्रमणे सति सैनिकाः राजानमभिक्रुध्यन्ति। एतेन च सुमहान् अनर्थः सम्भाव्यते।[३१]

राजकर्मचारिणः

राज्यस्य कर्मचारिणः नातिभयग्रस्ता भवेयुः न चाति धार्ष्टमाचरेयुः। तात्पर्यमिदं राजकर्मचारिभिः सह राज्ञः नातिसमीपता नातिविप्रकृष्टता वा समुचिता। मध्यमव्यवहारेणैव तैस्सह वर्त्तनीयम्।[३२]

राजकोषः कर-व्यवस्था च

राजकोषविषये भगवता रामेण निर्दिष्टम्- आयात् व्ययः सर्वदा स्वल्पो भवितव्यः। राजकोषस्य धनम् अपात्रेषु कथञ्चिदपि न गच्छेत्।[३३] देवताभ्यः पितृभ्यो ब्राहणेभ्यः अभ्यागतेभ्यः योद्धृभ्यो मित्रेभ्यश्च समुचितं धनं राजकीयकोशाद् गन्तव्यम्।[३४] करविषये उच्यते-प्रजाभ्य उग्ररूपेण करग्रहीता राजा प्रजाभिस्तथैव तिरस्क्रियते यथा पतितो यजमानो याजकैः।[३५] अतो राज्ञाः स्वल्प एव करो ग्राह्यः।

न्यायदण्डव्यवस्था-

न्यायमधिकृत्य दण्डमधिकृत्य च उच्यते कच्चिदध्याये-मानवेषु दोषारोपणं भवेच्चेत् न्यायाधीशैः मन्त्रिभिश्च सुपरीक्ष्यैव दण्डनिर्धारणं विधेयम्। कोऽपि मनुष्यो लोभान्न दण्डयेत्। स्तेनकर्मकुर्वाणः केनचिद् दृष्टः सकारणो निगृहीतश्चौरः सिद्धे अपराधे लोभादिकारणवशात् दण्डान्न मुच्येत।[३६] दण्ड्येभ्य उग्रदण्डो न प्रदेयः।

---

२८. कच्चिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तात सेवसे। अनर्थकुशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः॥ वा.रा. अयो०१००/३८

२९. कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः। कुलीनश्चानुनरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः॥ वा.रा. अयो०१००/३०

३०. बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्यां युद्धविशारदाः। द्रष्टापदाना विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः॥ वा.रा. अयो०१००/३१

३१. कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतन च यथोचितम्। सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे॥ वा.रा. अयो०१००/३२
कालातिक्रमणे ह्येव भक्तवेतनयोर्भृताः। भर्तुरप्यतिकुप्यन्ति सोऽनर्थः सुमहान् कृतः॥ वा.रा. अयो०१००/३३

३२. कच्चित् सर्वे कर्मान्ताः प्रत्यक्षस्तेऽविशङ्कया। सर्वे वा पुनरुत्सृष्टा मध्यमेवात कारणम्॥ ३४॥ वा.रा. अयो०१००/३४

३३. आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः। अपात्रेषु न ते कच्चित् कोषो गच्छति राघव॥ वा.रा. अयो०१००/५४

३४. देवतार्थे च पित्रार्थे ब्राह्मणाभ्यागतेषु च। योधेषु मित्रवर्गेषु कच्चिद् गच्छति ते व्ययः॥ वा.रा. अयो०१००/५५

३५. कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा। उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः॥ वा.रा. अयो०१००/२८

३६. गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः। कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभ॥ वा.रा. अयो०१००/५७

उद्वेजिता प्रजा हि मन्त्रिणां तिरस्कारं कुर्वन्ति।[३७] निर्धनस्य धनिनश्च मध्ये विवादे समुत्पन्ने सति अर्थलोभाद् धनिकस्य पक्षे निर्णयो न दीयेत[३८] इति मन्त्रिभिः न्यायधीशैर्वा सदा ध्यातव्यम्। अयञ्चापि ध्यातव्यविषयो यत् कदाचिदपि शुद्धात्मा निर्दोषः पुरुषो मिथ्या दोषारोपणं विधाय न दण्डयितव्यः।[३९] एतादृशः पुरुषः दण्ड्यते चेत्तस्य निरपराधस्य मनुष्यस्य अक्षिभ्यां पतन्ति अश्रूणि पक्षपातपूर्णस्य शासकस्य पुत्रान् पशूंश्चापि विनाशयन्ति-

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव।
तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः॥[४०]

मनुरप्यत्र दार्ढ्येनाह-

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ १२८॥[४१]
समीक्ष्य स धृतः सम्यक्सर्वा रञ्जयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः॥ १९॥[४२]

कृषिगोरक्षावणिज्यानि

राज्यस्य समृद्धेः प्रसन्नतायाश्च प्रमुखाः स्कन्धा कृषिगोरक्षावाणिज्यानि वर्तन्ते। अतो राजा एषु कर्मसु संलग्नान् वैश्यान् प्रजाजनांश्च प्रति सदैव प्रीतिमादधीत।[४३] इष्टं प्रापणाय अनिष्टञ्च परिहरणाय वैश्यवर्गस्य पोषणं राज्ञः प्रमुखं दायित्वम्।[४४] कृषकाः कृषिकर्मकुशलानां पशूनां साहाय्येन कृषिकर्म कुर्युः। कृष्यर्थं वृष्टिजलश्रिता एव कृषका न भवेयुः, नदीकुल्यातडागादीनां जलसंसाधनानां व्यवस्थाऽपि राष्ट्रे भवितव्या।[४५] दुग्धप्रदाः गावो राष्ट्रे प्रचुरमात्रायां भवेयुः।

दुर्गाणि

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।

---

३७. कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिता प्रजाः। राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकेयीसुत॥ वा.रा. अयो०१००/२७
३८. व्यसनं कच्चिदाढ्यस्य दुर्बलस्य च राघव। अर्थं विरागाः पश्यन्ति तवामात्या बहुश्रुतः॥ वा.रा. अयो०१००/५८
३९. कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा। अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् बध्यते शुचिः॥ वा.रा. अयो०१००/५६
४०. वा.रा. अयो०१००/५९
४१. मनु०८/१२८
४२. मनु. ७/१९
४३. कच्चिते दयिताः सर्वे कृषिगोरक्षणजीविनः। वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते॥ वा.रा. अयो०१००/४७
४४. तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित्ते भरणं कृतम्। रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः॥ वा.रा. अयो०१००/४८
४५. अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः। परित्यक्तो भयैः सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः॥ वा.रा. अयो०१००/४५
सुकृष्टसीमा पशुमान्..............॥४४॥ वा.रा. अयो०१००/४४

यन्त्रैश्च प्रतिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः॥[४६]

इत्युक्त्वा राष्ट्रे सर्वाणि दुर्गाणि धनधान्यैः अस्त्रशस्त्रैः जलैः यन्त्रैः शिल्पिभिः प्रशिक्षितसैनिकैश्च परिपूर्णानि भवितव्यनीति निर्दिष्टम्। धन्वदुर्ग-महीदुर्ग-नृदुर्ग-गिरिदुर्गादय एतेषामेव भेदाः। स्वामी-अमात्य-जनपद-दुर्ग-कोष-दण्ड-मित्राणि प्रकृतय इति परिगणितेषु राज्यस्य सप्तसु अङ्गेषु दुर्गस्याप्यस्ति विशिष्टं स्थानम्। दुर्गैरेतैः नियन्त्रणं सैन्यबलस्य चायोजनं भवति। आधुनिके युगे दुर्गाणीमानि भण्डारणशब्देन व्यवह्रियन्ते। प्रशिक्षितसैनिकानां दुर्गः छावनी कैण्ट शिविकेत्यभिधीयते।

राजदूतः

स्वदेशनिवासी विद्वान् कुशलः प्रतिभासम्पन्नः यथोक्तवादी सदसदविवेकयुक्तः पुरुषः राजदूतपरे नियोक्तव्य इति भगवतो रामस्य निर्देशः।[४७]

गुप्तचराः

गुप्तचराणां नियुक्तिमधिकृत्य निर्दिश्यते-शत्रुपक्षस्य अष्टादशसु तीर्थेषु स्वपक्षस्य च पञ्चदश सुतीर्थेषु परस्परमविजानन्तः त्रयस्त्रयः पुरुषा गुप्तचरकर्मणि नियोक्तव्याः।[४८] शत्रुपक्षस्य अष्टादशतीर्थानि तावत् इत्थं वेदितव्यानि-मन्त्री, पुरोहितः, युवराजः, सेनापतिः, द्वारपालः, अन्तःपुराध्यक्षः, कारागाराध्यक्षः, कोषाध्यक्षः, कर्मसु यथायोग्यं व्ययं कुर्वाणः सचिवः, प्रहरिणां प्रदेष्टा, नगराध्यक्षः, शिल्पिनां निर्देशकः, धर्माध्यक्षः, सभाध्यक्षः, दण्डपालः, दुर्गपालः, राष्ट्रसीमापालः, अथ च वनरक्षकः। अत्र राजनीतिग्रन्थेषु मतान्तरमपि श्रूयते। एतेषु अष्टादशसु तीर्थेषु आदितस्त्रीणि विहाय स्वपक्षस्यापि पञ्चदश तीर्थानि राज्ञा गुप्तचरान् संनियोज्य सततं द्रष्टव्यानि।

राजधानी

राजधानी सदैव अभ्युदयशीला समृद्धिशालिनी च भवितव्या। राजधान्यां सर्वाण्यपि द्वाराणि प्रवेशस्थानानि वा सुदृढानि भवेयुः। विविधाकाराः प्रासादाः, राजभवनानि, देवस्थानानि, तडागाः, प्रपाश्चास्यां शोभां वर्धयेयुः। अत्र नाना प्रकाराणां खनीनामपि शोभना व्यवस्था स्यात् येन उत्तमसुवर्णरजतादिरत्नानां प्राप्तिः सम्भवा स्यात्। राजधान्यां शूद्राणां स्वल्पता, प्रतिष्ठितानां ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां वैश्यानां च प्राभूता संख्या भवेत्। सर्वे चेमे स्वस्वकर्मसु निरता भवेयुः। नागरिकाश्च समे उत्साहिनः जितेन्द्रियाः श्रेष्ठाः वीरा भयरहिता भवन्त्विति राज्ञा प्रयासो विधेयः।[४९]

---

४६. वा.रा. अयो०१००/५३

४७. कच्चिदष्टादशान्येपु विद्वान् दक्षिणः प्रतिभानवान्। यथोक्तवादी दूतस्ते कृतो भरत पण्डितः॥ वा.रा. अयो०१००/३६

४८. कच्चिदष्टादशान्येपु स्वपक्षे दश पञ्च च। त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थां विचारकैः॥ वा.रा. अयो०१००/३६

४९. वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः। श्सत्यनामां दृढद्वारां दृस्त्यश्वरथसंकुलाम्॥ ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः स्वकर्मनिरतैः सदा। जितेन्द्रियैर्महोत्साहैवृतामार्यैः सहस्रशः॥ प्रासादैर्विविधाकारैवृतां वैद्यजनाकुलाम्। कच्चित् समुदितां स्फीतामयोध्यां परिरक्षसे॥ कच्चिच्चैत्यशतैर्जुष्टः सुनिविष्टजनाकुलः। देवस्थानैः प्रपाभिश्च तटाकैश्चोपशोभितः। प्रहृष्टनरनारीकः समाजोत्सवशोभितः। सुकृष्टसीमापशुमान् हिंसाभिरभिवर्जितः॥ अदेवमातृको रम्यः श्वापदैः परिवर्जितः। परित्यक्तो भयैः

इत्थम्भूता राजधानी राज्ञा सदैव प्रयत्नेन परिपालनीया।

मान्याः सूरिमूर्धन्याः!

इत्थं तावत् रामायणीये वर्णिता राज्यव्यवस्था मयाऽत्र। प्रस्तुता। अत्र राजामात्यादीनां वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञधर्मज्ञादिविशेषणैः विभूषितत्वात् सैनापत्यञ्च राज्यञ्चेति श्लोके मनुप्रोक्तं **'राज्ञि धर्मिणि धर्मिष्ठाः'** इति व्यासप्रोक्तं सर्वथा सङ्गच्छते। यजुर्वेदे **'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मसर्चसी जायताम्'**[५०] इति मन्त्रे राज्यस्य यत् प्रशस्तं स्वरूपं वर्ण्यते रामायणे तदेव प्रत्यङ्गविस्तरेण निर्दिश्यमानं दृश्यते। एतेन प्रतीयते वैदिकद्रष्ट्या नार्यः प्रशासनेनापि नगरं राज्यं वा धारयितुं समर्थाः। वनगमनकाले सीतार्थम्-

आत्मा हि दारा सर्वेषां दारसंग्रहवर्त्तिनाम्।
आत्मा हीयं रामस्य परिपालयिश्यर्तिनाम्।।[५१]

इति वसिष्ठकथनेन ज्ञायते नार्यः न केवलं राज्यकार्येषु सहयोगिन्य एव अपितु राज्यकार्यसञ्चालनेऽपि कुशलाः समर्था भवितुमर्हन्ति।

राज्ञः चयनप्रक्रियायां यद्यपि वेदे आनुवंशिकपरम्पराया अभावो दृश्यते, रामायणे च सा प्रवर्त्तते परं रामराज्ये विधिवत् मन्त्रिमण्डलस्य परामर्शेनैव सर्वेषां कार्याणं सम्पादनात् स्वेच्छाचारितायाः सर्वथा अभावः। प्रजापतेर्दुहितृरूपेण विद्यमाने सभासमित्यौ रामराज्ये स्पष्टरूपेण अवर्त्तेताम्। अत्र मन्त्रिपरिषदपि आसीत् संसदप्यासीत्। संसदोऽध्यक्षः महर्षिवसिष्ठोऽवर्त्तत। अस्यामेव संसदि रामस्य राज्याभिषेकस्य प्रस्तावः पारितोऽभवत्। एवं निश्चयेन वक्तुं शक्यते वाल्मीकिरामायणे या राज्यव्यवस्था विलोक्यते सा वैदिकी एव वेदानुकूला एव। रामायणयुगे विद्यमानयोः लङ्काकिष्किन्धाराज्ययोः यद्यपि वेदाध्ययनपरम्परा अयोध्याराज्यवदेव प्रवर्तते, परं न तद्राज्यवसिनः तदाज्यसम्पालकाः सर्वथा वेदादेशमनुपालयन्तो दृश्यन्ते। भगवान् श्रीरामचन्द्रो वैदिकी राज्यव्यवस्थामक्षरशोऽनुपालयन्नास्ते, अतस्तद्राज्यम् अद्य यावत् प्रशस्यते आप्रलयान्तञ्च प्रशंसिष्यते।। इत्यलमतिविस्तरेण वेदविदांवरेषु।

सर्वैः खनिभिश्चोपशोभितः। विवर्जितो नरैः पापैर्मम पूर्वैः सुरक्षितः। कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव।।

५०. यजु०२२.२२

५१. वा० रा० अयो० ३६/२४

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१४६-१५२)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक राज्य-व्यवस्था

डॉ० कंचन गुप्ता

प्राचीन वैदिक ग्रन्थ न केवल हमारी अमूल्य धरोहर हैं, वरन् अक्षय ज्ञान के प्रकाशक होने के साथ ही साथ वे हमारे सर्वविध कल्याण के एकमात्र आश्रय हैं, किन्तु वेद साधारण जन के उपयोग की वस्तु नहीं है। बल्कि केवल साक्षाकृतधर्मा ऋतम्भरा प्रज्ञा से युक्त महापुरुष ही इसको जानने में समर्थ हैं। अतः घर में ज्ञान निधि के रहते हुये भी हम उसके उपयोग से वञ्चित न रह जाये, इसलिये वेद भगवान् करुणा करके वाल्मीकि द्वारा रामायण के रूप में अवतीर्ण हुये-**'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रमायणात्मना'** इस प्रकार वेद का ही सर्वलोकहितकारी संस्करण वाल्मीकि-रामायण है।

महर्षि वाल्मीकि का अद्भुत महाकाव्य रामायण साहित्याकाश का वह निर्मल चन्द्रमा है, जो अपनी स्निग्ध छटा से मानवमात्र के अन्तःकरणों को शीतल कर देता है तथा जिसके दिव्य आलोक में मानव के सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं पारिवारिक सभी प्रकार के आदर्श अत्यन्त परिष्कृत रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसमें भारतीय सभ्यता का जो महान् एवं उज्ज्वल आदर्श प्राप्त होता है, वह भारतीयों के लिए वन्दनीय होने के साथ ही विदेशियों को भी आश्चर्यचकित कर देता है। वाल्मीकि-रामायण में तत्कालीन राज्य-व्यवस्था का विस्तृत रूप से वर्णन प्राप्त होता है।

रामायण में जिस आदर्श राज्य-व्यवस्था की चर्चा प्राप्त होती है, वह सीमा तक वेदों से प्रभावित थी। रामायण में वर्णित रामराज्य तो सुशासन का पर्याय माना जाता है, जिसकी समुन्नत से समुन्नत राज्य-व्यवस्था से तुलना की जा सकती है। वैदिक परम्परा का निर्वहण करते हुये रामायण में भी राजा को राष्ट्र-शासन-व्यवस्था का सर्वेसर्वा तथा कर्णधार माना गया है। राजा ही राष्ट्र का अधिकारी होता था। रामायण में राजपद कुल परम्परागत था। बहुधा ज्येष्ठपुत्र ही पिता का उत्तराधिकारी होता था।[१] राम ने भरत से जब राज्य ग्रहण करने के लिये कहा तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया कि ज्येष्ठपुत्र के रहते छोटा भाई राजा नहीं बन सकता।[२] फिर भी नया शासक वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित किया जाता था। राम को युवराज बनाने के पूर्व दशरथ ने अपनी सभा की स्वीकृति प्राप्त की थी।[३] वाली की अनुपस्थिति में मन्त्रियों ने सुग्रीव को राजा बनाया था।[४] अभिषेकोत्सव

---

१. अ-ज्येष्ठस्य राजता-वा.रा. २/७९/७ ब-तथानुपूर्व्या युक्तश्च युक्तं चात्मनि मानद। राज्यं प्राप्नुहि धर्मेण सकामान् सुहृदः कुरु॥ वही २/१०/१० स-पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते॥ वही २/११०/३६

२. शाश्वतोऽयं सदाः धर्मः स्थितोऽस्मासु नरर्षभ। ज्येष्ठे पुत्रे स्थिते राजा न कनीयान् भवेन्नृपः॥ वही २/१०२/२

३. अ-वही-२/२/१९-२१ ब-अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम। यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ॥ वही २/३/३

४. वही ४/१०/२०-२१

में राजकुमार को युवराज की पदवी दी जाती थी। ऋग्वेद में भी विश (प्रजा) द्वारा राजा के वरण की कामना की गई है।[५] इससे भी स्पष्ट होता है कि वैदिक काल से ही राजा का पद वंशानुगत होने पर भी निर्वाचन योग्य था।

प्रशासन-तन्त्र का प्रधान राजा ही होता था। जिसे **'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'** के आधार पर शासन शब्द से भी सम्बोधित किया जाता है। राज्य-व्यवस्था का प्रमुख तत्त्व राजा होने के कारण उनके विषय में वैदिक ग्रन्थों में विस्तृत चर्चा की गई है। मनुस्मृति में राजा की योग्यता के विषय में कहा गया है कि उसे सत्यवादी, विचारशील, विवेकशील, बुद्धिमान्, शास्त्रानुसार व्यवहार करने वाला एवं योग्य सहायकों से सम्पन्न होना चाहिए।[६] रामायण में भी राजा के विषय में कहा गया है कि उसे गुणवान्, पराक्रमी, धर्मज्ञ, उपकार करने वाला, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ व जितेन्द्रिय होना चाहिए। ये सभी विशेषतायें श्रीराम के चरित्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं।[७] वहीं मनु राजा के प्रथम कर्तव्य की ओर संकेत करते हुये कहते हैं कि वह न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करे।[८] राजा एवं प्रजा का परस्पर सुमधुर सम्बन्ध ही राष्ट्र के अभ्युदय में सहायक होता है। राजा यदि धार्मिक हो तो प्रजा भी धार्मिक होती है, किन्तु राजा यदि पापी हो तो प्रजा भी पापी होती है। यथा राजा तथा प्रजा। इस प्रकार राजा ही प्रजा का सुख शान्ति व समृद्धि देने वाली धर्म-व्यवस्था का रक्षक होता है। प्रजा के प्रति श्रीराम कितने उदार हैं। यह उनके इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि 'मैं लोकनिन्दा न हो अर्थात् प्रजा की प्रसन्नता के लिये' अपने प्राण, अपने सभी भाइयों एवं अपनी प्राणं प्रिया सीता का भी परित्याग कर सकता हूँ।[९] उनके इसी आदर्श से प्रेरित होकर उनके वनागमन पर प्रजा भी कहती है कि जहाँ राम जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाये और हमारे यहाँ न रहने पर नगर भी वन के रूप में परिणत हो जाये।[१०] इस प्रकार रामायण में राजा प्रजावर्ग की समष्टि आत्मा का प्रतिनिधि है। प्रजारञ्जन ही उसके जीवन का व्रत है। प्रजावर्ग में केवल शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के प्रति ही नहीं, बल्कि उनके सभी प्रकार के कल्याण-विधान के प्रति भी राजा की जिम्मेदारी है।

राजा को वेद-वेदाङ्ग का ज्ञाता होने के साथ ही साथ ही साथ घुड़सवारी, शिकार, राजनीति, सङ्गीत-कला एवं सैन्य-सञ्चालन में भी निपुण होना चाहिए। उसे व्यक्तिगत हित की जगह जनहित का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, तभी तो जनकल्याण के लिये श्रीराम ने सीता का भी परित्याग कर दिया था। राजा को स्वेच्छाचारी न होकर न्यायप्रिय एवं लोकप्रिय बनना चाहिए। उनका आचार-व्यवहार भी आदर्श होना चाहिये। क्योंकि उसी का अनुकरण प्रजा भी करती है। उसे राजकार्य में सदैव सक्रिय योगदान देना चाहिये। राजपद को प्राप्त कर जब सुग्रीव राजकार्य में विरत हो केवल स्वसुख में डूब गया तो हनुमान् ने उन्हें उपालम्भ देकर राजकार्य

---

५. ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सुवो अप वृत्रादतिष्ठन्। ऋग्वेद. १२४/८
६. तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम्। समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम्॥ मनुस्मृति -७/२६
७. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः। क्षान्तः सान्त्वयिताश्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः॥ मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः। प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः। वा.रा. २/२/३२
८. ब्राह्मं प्राप्तेन संस्कारं क्षत्रियेण यथाविधि। सर्वस्यास्य यथा न्यायं कर्तव्यं परिरक्षणम्॥ मनुस्मृति ७/२
९. अप्याहं जीवितं जह्यां युष्मान् वा पुरुषर्षभ। अपवादभयाद् भीतः किं पुनर्जनकात्मजाम्॥ वा.रा. ६/४५/१४
१०. वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः॥ अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम्॥ वही २/३३/२२

के प्रति सचेष्ट किया था।[११] प्रजावर्ग के प्रति राजा का दायित्व था कि उससे मिलने के लिये आने वाला प्रत्यक व्यक्ति सुगमतापूर्वक उनसे मिल सके। उसे सभागृह में राजोचित वेशभूषा पूर्वक उनसे मिल सके। उसे सभागृह में राजोचित वेशभूषा में मन्त्रियों के साथ बैठकर प्रजाजनों के विवादों का निपटारा करना चाहिए। अपनी अनुपस्थिति में राजा को देश की शासन-व्यवस्था का समुचित प्रबन्ध कर देना चाहिये। ताकि राज्यकार्य सुचारु रूप से चलता रहे। शम्बूक की खोज में जाने से पूर्व महाराज राम ने भरत एवं लक्ष्मण को अयोध्या का शासन-भार सौंप दिया था।[१२] वृद्ध हो जाने पर राजा अपने सभासदों से मन्त्रणाकर, राज्य सञ्चालन की जिम्मेदारी अपने पुत्र पर डाल कर स्वयं वानप्रस्थ स्वीकार कर लेते थे।[१३]

रामायण-कालीन शासन-व्यवस्था एवं सैन्य-संगठन उच्च-कोटि का था। राजा के मन्त्रिमण्डल में राजनीति विशारद, शास्त्रज्ञ, निःस्वार्थी, परोपकारी, न्यायप्रिय, सत्यवक्ता एवं दृढ़प्रतिज्ञ मन्त्रिगण उसकी सहायता के लिये होते थे। शासनतन्त्र के प्रति प्रजा में पैतृक भावना का प्रसार था। रामायणकालीन मन्त्रिपरिषद् का महत्त्व काफी हद कर आधुनिक एसेम्बली की ही भाँति था। मन्त्रिपरिषद् का प्रमुख स्वयं राजा होता था या उसकी अनुपस्थिति में राजपुरोहित। महाराज दशरथ की मृत्यु के उपरान्त मन्त्रियों ने वसिष्ठ से आग्रह करके किसी योग्य पुरुष को राजा के पद पर अभिषिक्त करने का आग्रह किया था।[१४] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल की भाँति रामायणकाल में भी पुरोहित का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। पुरोहित राजा के सहायकों में सर्वप्रधान होता था। वह राजा का अभिन्न मित्र, पथ-प्रदर्शक, मन्त्रद्रष्टा, एवं स्तुतिकर्ता होता था। कीथ महोदय के अनुसार वैदिक काल में पुरोहित राजा के साथ रणक्षेत्र में जाता था और अपनी प्रार्थनाओं और मन्त्रों के द्वारा उसकी विजय की कामना करता था।[१५]

मन्त्रिपरिषद् के दो भाग थे-अमात्य-मण्डल एवं मन्त्रिमण्डल। अमात्य-मण्डल के सदस्य अमात्य या सचिव कहलाते थे। इनमें से प्रत्येक के अधिकार में एक विभाग था। महाराज दशरथ के अमात्य-मण्डल में धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल और सुमन्त्र आठ सदस्य थे।[१६] वहीं मन्त्रिमण्डल में सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कण्डेय, कात्यायन आदि मन्त्री थे।[१७] अमात्यगण सम्भवतः क्षत्रिय होते थे तथा ये दैनिक शासन कार्य सञ्चालन में राजा की मदद करते थे। वहीं मन्त्रिमण्डल एक परामर्शदात्री समिति थी, जो कार्य

११. वा. रा. ४/२९/९-१९
१२. धनुर्गृहीत्वा तूणी च खड्गं च रुचिरप्रभम्। निक्षिप्य नगरे चैतो सौमित्रिभरतावुभौ॥ वही ६/७५/९
१३. सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते। संनिकृष्टानिभान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान्॥ वही २/२/१०
१४. स नः समीक्ष्य द्विजवर्य वृत्तं नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्। कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं त्वमेव राजामिहाभिषेच॥ वही २/६७/३८
१५. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया जि. १, पृष्ठ-१६, उद्धृत-प्राचीन भारतीय कला एवं संस्कृति सिंह एवं यादव।
१६. धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः। अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥ वा.रा. १/७/३
१७. ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ। वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिगणश्च च तथापरे॥ सुयज्ञोऽप्यथ जाबालिः काश्यपोऽप्यथ गौतमः। मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुस्तथा कात्यायनो द्विजः॥ वही १/७/४-५

विशेष पर आमन्त्रित की जाती थी। इसके सदस्य ब्राह्मण होते थे। अश्वमेध यज्ञ करने के समय,[१८] युद्ध की घोषणा करते समय, युवराज चयन के अवसर पर[१९] तथा अन्य अनेकों कठिन समस्याओं का समाधान करने हेतु राजा अपनी मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करता था। अपने पुत्र की असमय मृत्यु पर जब एक ब्राह्मण द्वारा श्रीराम पर दोषारोपण हुआ, तब उन्होंने अपनी मन्त्रिपरिषद् से मन्त्रणा करके ब्राह्मण पुत्र को पुनः जीवनदान दिया था।[२०]

सभा के सदस्य जो प्रजा के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि होते थे, सभासद् या आर्यमिश्र कहलाते थे। सभा का प्रमुख राजा ही होता था। इनमें सरकारी एवं गैर सरकारी दो प्रकार के सदस्य होते थे। सरकारी सदस्यों में अमात्यगण अथवा मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते थे और गैर सरकारी सदस्यों में नगर और राष्ट्र के प्रतिनिधि होते थे जो व्यक्ति राजधानी अथवा नगर का प्रतिनिधित्व करते थे वे पौर[२१] तथा जो प्रान्तों अथवा जनपदों का प्रतिनिधित्व करते थे, जानपद[२२] कहलाते थे। नगरों का स्वायत्तशासन स्थानीय समितियाँ देखती थीं। जिन्हें गण[२३], नैगम[२४] पौर[२५] तथा श्रेणी[२६] आदि नामों से जाना जाता था। इन सभी समितियों की देखरेख व कार्य सञ्चालन शहर के गणमान्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता था। नैगमसंस्था व्यापारी संघों का प्रतिनिधित्व करती थी।[२७] वहीं नगर व्यवस्था का कार्य पौरसमिति करती थी। श्रीराम पौरकार्य (नगर-व्यवस्था) में महाराज दशरथ की मदद करते थे।[२८] इस प्रकार राजा अथवा युवराज ही नगर-प्रबन्ध-समिति का अध्यक्ष होता था। सभी सभासदों के निवासस्थान राजधानी में होने के कारण वे सुचारु रूप से अपने कार्यों का सञ्चालन करते थे। यद्यपि रामायण में यह स्पष्ट रूप से नहीं प्राप्त है कि उक्त पदाधिकारियों का चुनाव जनता द्वारा होता था। अथवा इनकी नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी। फिर भी **गणवल्लभान्, श्रेणीमुख्याः,**[२९] **ग्रामघोष महत्तरा**[३०] एवं **जनमुख्याः** आदि शब्दों से किसी न किसी निर्वाचन पद्धति का संकेत अवश्य मिलता है। सामान्यतः सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सभा की बैठक

---

१८. अ-एतान् सर्वान् समानीय मन्त्रयित्वा च लक्ष्मण। हयं लक्षणसम्पन्नं विमोक्ष्यामि समाधिना॥ वही ७/९१/३ ब-वही १/८/७-८
१९. वही २/२/१२-१६
२०. वही ७/७४/६-७
२१. पौरजानपदैः सह। वही ७/३७/१६
२२. नानाजनपदेश्वराः वही ७/५७/१६
२३. गणवल्लभान् / वही २/८१/१२
२४. नैगमयूथवल्लभास्तथा/ वही २/१०६/३५
२५. पौरजनः। वही २/६/१०
२६. श्रेणीमुख्यैः/ वही ६/१२७/१७
२७. नैगमाश्च/ वही २/१५/२३, श्रेष्ठा नैगमाश्च २/१४/४०
२८. पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः। वा.रा. १/७७/२१
२९. श्रेणीमुख्यास्तथा/ वही ६/१२७/४
३०. ग्रामघोषमहत्तराः / वही २/८३/१५

बुलाई जाती थी। जिसकी सूचना भेरीवादकों व संदेशवाहकों द्वारा प्रेषित की जाती थी। सभा के सभी सदस्य एवं सभापति उत्तम वस्त्र एवं आभूषणों से युक्त होकर सभा में आते थे एवं वे सभी राजा की ओर मुँह करके बैठते थे।[३१] सभापति की अनुमति मिलने पर ही सभासद् सभा को सम्बोधित करते थे।

वैदिककाल की ही भाँति प्रकृत-काल में भी एक राजतन्त्र प्रणाली विद्यमान थी, किन्तु साथ ही साथ विचार स्वातन्त्र्य का अधिकार सभी को प्राप्त था। प्रजा भी राजकार्य में अपना योगदान दे सकती थी। जब श्रीराम ने लङ्का पर चढ़ाई की थी, तब रावण की सभा में विभीषण द्वारा दूत का वध करने की रावण की आज्ञा का विरोध एवं माल्यवान् द्वारा रावण के मत के विरुद्ध उसे राम से युद्ध न करने एवं सीता को वापस करने की मन्त्रणा देना।[३२] वहीं राम वनवास के समय सुमन्त्र एवं वसिष्ठ द्वारा कैकेयी को फटकारना[३३] इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि लोगों को अपना मत रखने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी।

रामराज्य में न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था अत्यन्त उच्चकोटि की थी। धर्मानुसार न्याय का वितरण करना राजा का प्रथम कर्तव्य था। दशरथ के अनुसार राजा को काम एवं क्रोध से उत्पन्न होने वाले दुर्व्यसनों का सर्वथा परित्याग कर, स्वयं जाँच-पडताल करके एवं गुप्तचरों द्वारा सही जानकारी प्राप्त कर समुचित न्याय करना चाहिए।[३४] वैदिक काल की भाँति विवेच्यकाल में भी राजा ही प्रधान न्यायाधीश होता था एवं सभागृह को ही न्यायालय का रूप दिया जाता था। अपीलकर्ता कार्यार्थी[३५] कहलाता था। राजा की मदद हेतु मन्त्रिपरिषद् के सदस्य, उसके भाई, अनुभवी विद्वान् एवं धर्मपरायण ऋषिगण आदि न्यायालय के सदस्य होते थे।[३६] राजा का यह परम धर्म था कि वह स्वधर्म का पालन करने वालों की रक्षा करे एवं उल्टे मार्गों पर चलने वालों को दण्डित करे। विना किसी जटिल प्रक्रिया एवं व्यय के अविलम्ब एवं निष्पक्ष न्याय की प्राप्ति रामायणकालीन न्याय-व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु थी।

वाल्मीकि-रामायण में आय-व्यय के साधनों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राजा राम आय के विभिन्न उपायों तथा व्यय के उचित साधनों से परिचित थे।[३७] महाराज दशरथ के मन्त्रिगण भी राजकोष को यथोचित तरीके से समृद्ध करने में लगे रहते थे।[३८] राजा की आय का मुख्य स्रोत था

---

३१ अ-सुवर्णनानामाणिभूषणानां सुवाससां संसदि राक्षसानाम्। तेषां परार्घ्यागुरुचन्दनानां स्रजां च गन्धाः प्रववुः समन्तात्॥ वही ६/११/२९ ब-अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च। राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥ वा.रा. २/१/५०

३२. वा.रा. ६/ ३५/७-११

३३. वही २/३५/५-३५ एवं २/३७/२२-३५

३४. कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च। परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा॥ वही २/३/४३

३५. कायार्थिनश्च सौमित्रे व्याहर्तुं त्वमुपाक्रम। वा.रा., उत्तरकाण्ड, प्रक्षिप्तसर्ग १/६

३६. वही, उत्तरकाण्ड, प्रक्षिप्त सर्ग १/३

३७. वही २/१/२६

३८. कोशसंग्रहणे युक्ता / वा.रा. १/७/११

प्रजा पर लगने वाला कर, जो उसकी आय का छठा हिस्सा होता था तथा जिसे बलिषड्भाग[३९] कहते थे। रामराज्य में कर की वसूली कभी भी क्रूरतापूर्वक नहीं की जाती थी। युद्ध में पराजित एवं मित्र राजाओं से प्राप्त होने वाले उपहार आदि भी आय के अन्य स्रोत थे। इस धन का सदुपयोग राजा द्वारा यज्ञ करने, जनता की सुरक्षा करने, नगर व्यवस्था करने एवं सैन्य रख-रखाव तथा दानादि कार्यों हेतु किया जाता था।

इस प्रकार आदर्श राजा एवं मन्त्रिमण्डल के प्रभाववशात् प्रजा सुखी, सम्पन्न एवं धर्मरत थी। सभी प्रान्त एवं प्रजाजन सम्पदासम्पन्न एवं समृद्धिशाली थे। राजा एवं उनके उत्तराधिकारियों के उत्तम अनुकरणीय चरित्र ने ही प्रजा को नैतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान के लिये प्रेरित किया। वेद वेदाङ्गों के ज्ञाता, अग्निहोत्री और गुणी पुरुषों से नगर भरा पड़ा था। कामी, कृपण, क्रूर, मूर्ख और नास्तिक तो ढूढें नहीं मिलते थे।[४०]

रामायणकालीन सैन्य संगठन भी समृद्ध एवं शक्तिशाली था। सैनिक विभाग का प्रमुख राजा होता था। रथ, हाथी, घोड़े और पैदल इनकी चतुरङ्गिणी सेना होती थी।[४१] जो धन-धान्य, जल अस्त्र-शस्त्र एवं शिल्पकारों के द्वारा सुसज्जित किलों में निवास करती थी। रणपरिषदें भी होती थीं, जो युद्ध छिड़ने के पूर्व बुलायी जाती थीं। इनमें युद्ध का कार्यक्रम बनाया जाता था। राम के द्वारा लङ्का पर चढ़ाई के अवसर पर रावण ने विचार-विमर्श हेतु अपनी रणपरिषद् की बैठक बुलाई थी।[४२] इसके सदस्य सचिव होते थे, जो शत्रु के बलाबल का ज्ञान रखते थे तथा तदनुसार ही राजा को मन्त्रणा प्रदान करते थे।[४३] राजदूतों का संग सैनिकनीति का प्रधान अङ्ग था। ये दूत अवध्य होते थे।[४४] गुप्तचर व्यवस्था का भी अनेक स्थलों पर वर्णन प्राप्त होता है। सैन्यसञ्चालन एवं शिविरों की स्थापना वैज्ञानिक ढंग से की जाती थी। प्रकृतकाल में सैनिकों से अस्त्र-शस्त्रों के ज्ञान के अतिरिक्त वेदों का ज्ञान भी अपेक्षित था। सैनिकों को वेतन तथा अन्य सुविधायें नियत समय पर देने का प्रावधान था।[४५] युद्ध के नियम आदर्श थे। भागते हुये अथवा निःशस्त्र व्यक्ति पर वार करना निन्दनीय माना जाता था। शत्रु पर विजय के पश्चात् उसे वहाँ के राजसिंहासन पर करद के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया जाता था, किन्तु युद्ध में राजा कि मृत्यु हो जाने पर उसके योग्य उत्तराधिकारी का सिंहासन पर राजतिलक कर दिया जाता था। यथा-वाली की मृत्यु पर सुग्रीव एवं रावण की मृत्यु पर विभीषण का राजतिलक कर दिया गया था। राजकुमारों को प्रान्तीय शासक बनाकर भेजने की प्रथा थी। भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न के पुत्रों एवं स्वयं शत्रुघ्न को राजा बनाकर दूर देशों में भेजा गया था।[४६]

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि रामराज्य का वह युग समुन्नत एवं सुसंस्कृत

---

३९. बलिषड्भागमुद्धृत्य / वही २/७५/२५
४०. कामी वा न कदर्यो वा नृशंसः पुरुषः क्वचित्। द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां नाविद्वान् न च नास्तिकः॥ वही १/६/८
४१. चतुरङ्गमहाबला/ वही २/ ७९/९, चतुरङ्गया वही २/९३/३
४२. वा.रा. ६/६, ७/११
४३. वही १/७/९
४४. अ-वधं न कुर्वन्ति परावरज्ञा दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्रा/ वही ५/५२/५ ब-न दूतान् घ्नन्ति काकुत्स्थ/ वही ६/२०/१८
४५. वा.रा. २/१००/३२-३३
४६. वही ७/६३, ७/१०१/११, ७/१०२/११

न्याय एवं नीति पर आधारित भारतीय शासन-व्यवस्था का स्वर्णयुग था, जिसमें आधुनिक प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के बहुत से संकेत हमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार वर्तमान शासन-प्रणाली के उपजीव्य के रूप में रामायणकालीन शासन-प्रणाली को देखा जा सकता है, जो वैदिक राजनीति का ही विकसित एवं परिष्कृत रूप थी। रामराज्य में स्वायत्त शासन-प्रणाली के भी चिह्न प्राप्त होते हैं। सभा, पौर, जानपद आदि समितियों के अस्तित्व एवं कार्य प्रणालियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम राज्य में प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। ये संस्थायें राजा के निरंकुश शासन पर प्रतिबन्ध स्वरूप थी। रामराज्य में सदाचार, निष्कपटता, न्यायप्रियता आदि की न्यूनता तथा शासनवर्ग के प्रति असन्तोष की शून्यता आदि स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होती है, जो आज के वैज्ञानिक युग में पर परम अनुकरणीय आदर्श के रूप में हमारे सम्मुख चिर प्रतिष्ठत है। अब हम सभी का यह कर्त्तव्य है कि व्यक्तिगत निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर समष्टिगत या लोकोपकार की भावना से समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर कर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय हेतु कार्य करें। जिससे भारतवर्ष में पुनः एक बार रामराज्य की स्थापना की जा सके।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२५३-२५७)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक राजनैतिक-व्यवस्था

डॉ० रुचि कुलश्रेष्ठ

आदिकवि वाल्मीकि द्वारा रचित रामायण वैसे तो एक धार्मिक ग्रन्थ है, परन्तु इसमें उच्चकोटि की राजनीति एवं राजनैतिक व्यवस्था का वर्णन आया है। प्राय: सभी राजनीतिज्ञों नें राज्य के सात अङ्ग बताये हैं। यथा १-स्वामी (शासक या सम्राट्), २-अमात्य, ३-जनपद या राष्ट्र (राज्य की भूमि एवं प्रजा), ४-दुर्ग (सुरक्षित नगर या राजधानी), ५-कोश (शासक के कोश में द्रव्य राशि), ६-दण्ड (सेना) एवं ७-मित्र। इन अङ्गों तथा नामों में कहीं-कही पर अन्तर भी पाया जाता है। राजनीतिज्ञों ने शासक को सप्ताङ्गों में सर्वश्रेष्ठ माना है।

सर्वप्रथम किसी भी राष्ट्र को चलाने के लिए उसके शासक की आवश्यकता पर बल दिया गया है। मनु ने शुक्रनीतिसार में जिस मात्स्य न्याय का संकेत करते हुए कहा है कि बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निगल जाती है[1] अर्थात् बली दुर्बल को दबा देता है, वाल्मीकि ने अयोध्याकाण्ड के ६७ वे श्लोक में कही है-

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्
मस्त्या इव जनानित्यं भक्षयन्ति परस्परम्।[2]

अर्थात् राजा के न रहने पर राज्य में किसी भी मनुष्य की कोई भी वस्तु अपनी नहीं रह जाती। जैसे मत्स्य एक दूसरे को खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देश के लोग सदा दूसरे को खाते लूटते खसोटते रहते हैं।

राजा के देवत्व अधिकार की ध्वनि ऋग्वेद मैं राजा त्रसद्दस्यु कहता है-देव लोक वरुण की शक्ति पर निर्भर हैं किन्तु मैं लोगों का राजा हूँ, मैं इन्द्र एवं वरुण हूँ। मैं अदिति का पुत्र हूँ।[3] यहाँ पर राजा अपने को वैदिक देवों में सर्वश्रेष्ठ देवों के समान कहता है। अथर्ववेद में भी आया है कि तुम इन्द्र के समान सुस्थिर रहकर राज्य को धारण करो।[4] रामायण में भी राजा के गुणों का वर्णन करते हुए उसे स्वर्ग के देवताओं से भी बढ़कर बताया है-

यमो वैश्रवण: शको वरुणश्च महाबल:।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत:।।[5]

अर्थात् राजा अपने चरित्र के द्वारा यम, कुबेर, इन्द्र और महाबली वरुण से भी बढ़ जाते हैं। यम केवल दण्ड देते हैं, इन्द्र केवल पालन करते हैं और वरुण केवल सदाचार में नियन्त्रित करते हैं। परन्तु एक श्रेष्ठ राजा में ये चारों गुण मौजूद होते हैं। अत: वह इनसे बढ़ जाता है।

---

१. शुक्रनीतिसार १/७१
२. अयो० काण्ड ६७/३२
३. ऋग्वेद के ४/४२
४. अथर्ववेद ६/८७११-२
५. अयो०का० ६७/३५

राजा के न रहने पर पूरे राज्य में असन्तुलन की स्थिति हो जाती है। राज्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए राजगद्दी पर किसी योग्य व्यक्ति का आसीन होना अत्यन्त आवश्यक है। राजा दशरथ के स्वर्गगमन के पश्चात् मन्त्रियों एवं ऋषियों द्वारा व वसिष्ठ से किसी योग्य व्यक्ति को सिंहासन पर बैठाया जाने का अनुरोध-

सः न समीक्ष्य द्विजवर्यवृत्तं, नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं, त्वमेव राजानमिहाभिषेचय।।[६]

हे विप्रवर! इस समय हमारे व्यवहार को देखकर तथा राजा के अभाव में जंगल बने हुए इस देश पर दृष्टिपात करके आप ही किसी इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार को अथवा अन्य किसी योग्य पुरुष को राजा के पद पर अभिषिक्त कीजिए।

विजय एवं निर्वाचन के कतिपय उदाहरणों को छोड़कर वैदिक काल से ही राजत्व बहुधा आनुवंशिक था तथा ज्येष्ठपुत्र को ही गद्दी मिलती थी। वैदिक काल में भी ज्येष्ठपुत्र एवं पुत्रियों के अधिकारों की रक्षा की जाती रही है। ऋग्वेद ने इन्द्र के ज्येष्ठ पद की ओर कई बार संकेत किया है।[७]

रामायण में वसिष्ठ द्वारा राम को वंश परम्परा से अवगत कराते हुए यह कहा गया है कि वह राजा दशरथ के ज्येष्ठपुत्र हैं, इसलिए उन्हें राजगद्दी को स्वीकार कर लेना चाहिए। क्योंकि यह ज्येष्ठपुत्र का अधिकार होता है-

इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः।
पूर्वजे नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते।।[८]

इसी के साथ वाल्मीकि ने रामायण में राजा के चौदह दोषों का भी उल्लेख किया है-

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं, पञ्चवृत्तिताम्।।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणम्।
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः।
कच्चित् त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश।।[९]

प्रस्तुत श्लोक में श्रीराम भरत को राजनीति का उपदेश देते हुए कहते हैं कि नास्तिकता, असत्य भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इन्द्रियों के वशीभूत होना, राजकार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, प्रयोजन को न समझने वाले मूर्खों से मन्त्रणा लेना, निश्चित किये हुए कार्यों को शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्तमन्त्रणा को सुरक्षित न रखकर प्रकट कर देना, माङ्गलिक आदि कार्यों का

---

६. अयोध्या काण्ड ६७/३८
७. ऋग्वेद १/५/६, ३/ ५०/३
८. अयोध्या काण्ड ११०/३६
९. अयोध्या काण्ड १००/ ६५-६६-६७

अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक साथ चढ़ाई कर देना ये राजा के चौदह दोष हैं। तुम इन दोषों का सदा परित्याग करते हो न?

राजा की शिक्षा के लिए उपयुक्त विद्याओं के विषय में भी प्रचलित है। मनुस्मृति,[१०] याज्ञवल्क्य स्मृति[११] तथा अग्नि पुराण[१२] के अनुसार राजा की शिक्षा के विषय चार हैं, यथा-आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति। कौटिल्य ने टिप्पणी की है कि मानवों के सम्प्रदाय के अनुसार तीन विद्यायें है और आन्ववीक्षिकी त्रयी की ही एक विशिष्ट शाखा है। वाल्मीकि-रामायण के अन्तर्गत भी राजा के लिए इन तीन विद्याओं को बताया गया है।

दशपञ्चचतुर्वर्गान् सप्तवर्गे च तत्त्वत:
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव॥[१३]

पुत्र के समान प्रजा की रक्षा करना ही राजा का प्रथम कर्तव्य बताया गया है। राम के गुणों का वर्णन करते हुए भी यह कहा गया है कि वह प्रजा के साथ पितृवत् व्यवहार करते थे। यदि प्रजा दुःखी रहती है तो वे दुखी हो जाते हैं यदि प्रजाजन आमोद-प्रमोद में मग्न होते थे तो उन्हें पिता जैसा आनन्द मिलता था-

अधर्म: सुमहान् नाथ भवेत्तस्य तु भूपते:।
यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्॥[१४]

राजा के प्रमुख अङ्गों में एक अङ्ग अमात्य भी है, जिसे हम मन्त्री भी कह सकते हैं। ऋग्वेद में अत्यधिक आरम्भिक रूप में भी इसका प्रयोग आया है-

कृण्णुष्व पाज: प्रसितिं न पृथ्वीं याहि राजेवामवाँ इभेन[१५]

अर्थात् हे-अग्नियो! मन्त्रियों के साथ हाथी पर चढ़े हुए राजा के समान होओ।

आदिकाव्य रामायण में भी राजा दशरथ को गुणों से युक्त मन्त्रियों से घिरा हुआ बताया है-

तैर्मन्त्रिभिर्मन्त्रहिते निविष्टैर्वृतोऽनुरक्तै: कुशलै: समर्थै:।
स पार्थिवो दीप्तिमवाप युक्तस्तेजोमयैर्गोभिरिवोदितोऽर्क:॥[१६]

अर्थात् उनके मन्त्री मन्त्रणा को गुप्त रखने तथा राज्य के हित साधन में संलग्न रहते थे। वे राजा के प्रति अनुरक्त कार्यकुशल और शक्तिशाली थे। जैसे सूर्य अपनी तेजमय किरणों के साथ उदित होकर प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार राजा दशरथ उन तेजस्वी मन्त्रियों से घिरे रहकर बड़ी शोभा पाते हैं।

---

१०. मनुस्मृति ७/४३
११. याज्ञवल्क्य स्मृति १/३११
१२. अग्नि पुराण २३८/८
१३. अयोध्या काण्ड १००/६८
१४. अरण्य काण्ड ६/११
१५. ऋग्वेद ४/४/१
१६. बाल काण्ड ७/२४

मंन्त्रियों के सन्दर्भ में यह प्रसङ्ग भी आया है कि राजा को ३ या ४ मन्त्रियों से परामर्श करना चाहिए।

मन्त्रिभिस्त्वं यथोद्दिष्टं चतुर्भिस्त्रिभिरेव वा।

कश्चिवत् समस्तैर्व्यस्तैश्च मन्त्रं मन्त्रयसे बुध।। [१७]

प्रस्तुत श्लोक में श्रीरामचन्द्र भरत से कुशलक्षेम पूछने के बहाने राजनीति का उपदेश देते हुए कहते हैं कि तुम नीतिशास्त्र की आज्ञानुसार चार या तीन मन्त्रियों के साथ सबको एकत्र करके अथवा सबसे अलग-अलग मिलकर मन्त्रणा करते हो।

ऋग्वेद में बहुधा नगरों का उल्लेख हुआ है कि इन्द्र ने राजा पुरुकुत्स के सात नगर ध्वस्त कर डाले थे।[१८] राजा के लिए उसके नगर की भी बहुत महत्ता होती है। अयोध्याकाण्ड में अयोध्या का वर्णन भी कुछ इसी प्रकार आया है।

वीरैरध्युषितां पूर्वमस्माकं तात पूर्वकैः।

सत्यनामा दृढद्वारां हस्त्यश्वश्वरथसंकुलाम्।। [१९]

प्रासदैर्विविधाकारैर्वृतां वैद्यजनाकुलाम्।

कच्चित् समुदितां स्फीतातयोध्यां परिरक्षसे।। [२०]

अर्थात्-अयोध्या हमारे वीर पूर्वजों की निवास भूमि है, उसका जैसा नाम है वैसा ही गुण है। उसके दरवाजे सब ओर से सुदृढ़ हैं, वह हाथी घोड़े और रथों से परिपूर्ण है, नाना प्रकार के राजभवन और मन्दिर उसकी शोभा बढ़ाते हैं, वह नगरी बहुसंख्यक विद्वानों से भरी है, ऐसी अभ्युदयशील और समृद्धिशालिनी नगरी अयोध्या की तुम भलीभाँति रक्षा करते हो न।

सुन्दरकाण्ड में लङ्का नगरी के सौन्दर्य का वर्णन आया है। जिसकी सुरक्षा का दायित्व रावण पर था-

स पाण्डुराविद्धविमानमालिनीं, महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम्।

यशीस्विनीं रावणबाहुपालितां, क्षपाचरैर्भीमबलैः सुपालिताम्।। [२१]

अर्थात् परस्पर सटे हुए श्वेतवर्ण के सतमंजिले महलों की पक्तियाँ लङ्कापुरी की शोभा बढ़ा रही थीं। बहुमूल्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण की जालियों और वन्दनवारों से वहाँ के घरों को सजाया गया था। भयंकर बलशाली निशाचर उस पुरी की अच्छी तरह रक्षा करते थे। रावण के बाहुबल से भी वह सुरक्षित थी। उसके यश की ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी, ऐसी लङ्कापुरी में हनुमान् ने प्रवेश किया।

राजा को दिये जाने वाले कर के लिए ऋग्वेद में जहाँ बलि शब्द का प्रयोग हुआ है,[२२] वहीं रामायण के

---

१७. अयोध्या काण्ड १००/७१

१८. ऋ० १/६३/७

१९. अयोध्या काण्ड १००/४२

२०. अयोध्या काण्ड १००/४०

२१. सुन्दर काण्ड २/५६

अरण्यकाण्ड के छठे सर्ग के ११ वें श्लोक में भी राजा को दिये जाने वाले कर के लिये बलि शब्द का प्रयोग आया है-

यो हरेद् बलिषड्भागं न च रक्षति पुत्रवत्।[२३]

रामायण में चतुरंगिणी सेना का भी वर्णन है, जिसमें पारङ्गत रथी, घुड़सवार, हाथी सवार तथा पैदल आते हैं-

सेनापते यथा ते स्यु: कृतविद्याश्चतुर्विधा:।
योधा नगररक्षायां तथा व्यादेष्टुमर्हसि॥[२४]

अर्थात्-सेनापति तुम सैनिकों को आज्ञा दो जिससे तुम्हारे अस्त्रविद्या में पारङ्गत रथी, घुड़सवार, हाथी, सवार और पैदल योद्धा नगर की सुरक्षा में तत्पर रहें।

सम्पूर्ण अध्ययन के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि रामायण एक उच्च कोटि के सिद्धान्तों से ओत-प्रोत है, इसमें राजा के गुणदोषों से लेकर मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा, प्रजा के साथ व्यवहार तथा राज्य की सुरक्षा सभी का विस्तृत वर्णन आया है। राजनीति के सन्दर्भ में एक स्थल पर कहा गया है-

अर्थात्-इस प्रकार धर्म के अनुसार दण्ड धारण करने वाला विद्वान् राजा प्रजा का पालन करके समूची पृथ्वी को यथावत् रूप से अपने अधिकार में कर लेता है तथा देहत्याग के पश्चात् स्वर्ग को जाता है।[२५]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि रामायणकालीन राजनीतिक व्यवस्था वर्तमान राजनीतिज्ञों के लिये प्रेरणा का स्रोत है। धर्मानुसार नीतियों का पालन करते हुए कोई भी शसक स्वयं के साथ-साथ अपने राष्ट्र एवं प्रजा दोनों को उन्नति के शिखर तक पहुँचा सकता है।

---

२२. ऋग्वेद में ७/६/५ स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृत: सहोभि:।
२३. रामायण ११ (३/६/११
२४. युद्ध काण्ड १२/२
२५. अयोध्या काण्ड ७६/१००

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१५८-१६७)

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे शासन-व्यवस्था

डॉ० राम प्रकाश वर्णी डी. लिट्.

यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमहाकाव्ये 'राजा-अमात्य-कोष-बल-मित्र-राष्ट्र-पुरञ्चेत्येवंरूपस्य राज्यसम्बन्धिप्राच्यसप्ताङ्ग'सिद्धान्तस्य सुस्पष्टं विवरणं क्वापि नोपलभ्यते, तथापि-

इहैव त्वाभिषिञ्चन्तु सर्वाः प्रकृतयः सह।
ऋत्विजः स वसिष्ठाश्च मन्त्रविन्मन्त्रकोविदाः।।[१]

इत्यत्र प्रयुज्यमानेन 'प्रकृतयः' इति पदेनेदं सुव्यक्तं भवति रामायणकृदादिकविर्महर्षि वाल्मीकिरवश्यमेव कृत्स्नस्य तत्सिद्धान्तस्य सर्वाङ्गवेत्ताऽऽसीदिति। अवधेयन्तु केवलमिदमेव यदुपर्युक्तसप्ताङ्गसिद्धान्तस्य तत्र क्रमिकं विशकलितञ्च वर्णनं न विद्यते यत्र-तत्र प्रासङ्गिकं स्फुटकं च विवरणं प्रकीर्णमिव तत्र विद्योतते। महर्षिः यथाकालं वर्णयामास राज्यस्य विविधान्यङ्गानि। वयमत्र सर्वाण्येतानि विप्रकीर्णानि मणि-मौक्तिक्यानि समेत्यैकस्मिन् विचारसूत्रे च सुसंग्रथित्य मनोहारि हीरकं हारकं कर्तुं यतिष्यामहे।

तत्र खलु 'अयोध्याकाण्डस्थेन' अराजकराज्यदशावर्णनं नाम प्रसङ्गेनेदमति स्पष्टं भवति यत्तद्युगे शान्तिव्यवस्थायाः सुखसमृद्धेश्च प्रमुखं कारणं राज्ञो दार्ढ्यं सौस्थैर्यञ्चास्ताम् तथा चोक्तं तत्रैव-

इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद्राजा विधीयताम्।
अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात्।।
नाराजके जनपदे योगक्षेमः प्रवर्तते।
नाप्यराजके सेना शत्रून् विषहते युधि।।
नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जनाः नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्।।[२]

रामायणस्येदं वर्णनं सर्वथा परम्परागतमस्ति। यतो हि मनुरप्यत्रेत्थमेवाह-

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजनमसृजत्प्रभुः।।[३]

रामायणे यच्छाशनं तद्राजतन्त्रात्मकम्। मन्यामहे तदानीं तस्यान्याः विधाः विकासं नैव जग्मुः, यावता यजुर्वेदे तासां सङ्केतः स्पष्टं प्राप्यते। तद्यथा-

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो, नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च ....।[४]

---

१. अयोध्या काण्ड १०६-२६

२. अयोध्या काण्ड ६७/८, ३४,३१

३. मनु० ७/३/४

नमो सभाभ्य: सभापतिभ्यश्च।

गणानां त्वा गणपति ....।[५]

अत्र हीदं राजतन्त्रं तत् सर्वथा वैदिकमिति प्रतिपादयिष्याम:-

राज्ञ उद्भव:

राज्ञ उद्भवविषयेऽपि वाल्मीकि: नैवालेखीत् क्वापि सुस्पष्टं, परमुत्तरकाण्डेऽसौ लिलेख कृतयुगे कोऽपि राजा नहि समजनि, अनन्तरं यदेन्द्रो देवराजत्वमवाप तदा जना: ब्रह्माणमुपजग्मुरिदञ्च न्यवेदिषु:-यथा भवान्निन्द्रं राजानं चकार तथैवास्मभ्यमपि कञ्चिच्छ्रेष्ठं राजानं करोतु, येन वयं तत्सपर्ययाद्यमर्षिता भूयानुभूय यशच भुवि भूयोभूय: सुखिनो भवेम। श्रुत्वा चेमां जननिवेदनामसौ सकलान् लोकपालान् आकारयामासोवाच च यूयमेकैकश: स्वीयं तेजोभागं मह्यं प्रयच्छथ, ते च तथैव संव्यदधु:। तदानीं विधिश्च्छिक्कामाध्यमेनैके 'क्षुपं' नाम विशिष्टं जन्यं प्रजनयामास तञ्च सकल-लोकपालदत्ततेजोभागै: समन्वितमकार्षीत्। ततश्च तं भुवश्शासनार्थं प्राहिणोत्तथा चोक्तम्-

आसन् कृतयुगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे।
अपार्थिवा: प्रजा: सर्वा सुराणां तु शतक्रतु:।
ता: प्रजा देवदेवेशं राजार्थं समुपाद्रवन्।
सुराणां स्थापितो राजा त्वया देव शतक्रतु:।
प्रयच्छास्मासु लोकेश पार्थिवं नर पुंगवम्।
यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि।।[६]

ततो ब्रह्मा सुरश्रेष्ठो लोकपालान् सवासवान्। समाहूयाब्रवीत् सर्वांस्तेजो भागान् प्रयच्छत। ततो ददुर्लोकपाला सर्वे भागान् स्वतेजस:।

अक्षुपच्च ततो ब्रह्मा यतो जात: क्षुपो नृप:।
तं ब्रह्म लोकपालानां समांशै: समयोजयत।।[७]

इत्थं वाल्मीकिरामायणानुसारं 'क्षुप' एवं पृथिव्या: प्रथमो नृपो बभूव स च पूर्वोक्तलोकपालतेजोऽनृसृत्यैव चिरं भुवं शशास तथा चोक्तम्-

ततो ददौ नृपं तासां प्रजानामीश्वरं क्षुपम्।
तत्रेन्द्रेण च भागेन महीमाज्ञापयन्नृप:।।[८]

---

४. यजु० १६/२५, २४
५. यजु. २३/१९
६. वा.रा. उत्त०
७. उ०का० ७६/३७-४२

अवधेयमत्र न स्यात् कथानकोऽयमैतिह्यदृशा सुसम्यक् परमेतत्त्वादिस्पष्टमभिव्यनक्ति यद्रामायणकाले राज्ञ उद्भवविषये दैवीसिद्धान्तः प्रचलित आसीत्। परन्तु तस्य चयनं मन्त्रिमण्डलस्य परामर्शेण भवति स्म।

राज्ञः स्थितिर्महत्त्वञ्च

वाल्मीकीयरामायणे नृपस्य स्थानमति महत्त्वपूर्णमस्ति। तस्मिन् सत्येव राज्ये शान्तिरसति विनाशो ध्रुवं बोभवीति तथा चोक्तम् अयोध्याकाण्डे—

यथाह्यनुदका नद्यो यथावाप्य तृणं वनम्।
अगोपाला यथा गावस्तथा राष्ट्रमराजकम्।। [९]

तत्र हि राजा इन्द्रवरुणयमादि सर्वेभ्य उत्तरः प्रतिपादितस्तद्यथा-

यमो वैश्रवणः शको वरुणश्च महाबलः।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता ततः।। [१०]

नृपस्येदं महत्त्वं सर्वथा वेदेभ्य आदायैव वाल्मीकिः प्रत्यपादयत्तथाहि तत्र सुस्पष्टमेवोक्तम्-

सर्वास्तदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमया अभयङ्करः।।
वि न इन्द्र मृधो जहि नीच यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति।। [११]
सपत्नक्षयणो वृषभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च। [१२]
ता हि श्रेष्ठ वर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमा:।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जने जने।। [१३]

वाल्मीकिः राजानं राज्ये सत्यधर्मयोः प्रवर्तकं व्याहरति तथाहि तत्रैवायोध्याकाण्डे-

यथा दृष्टिः शरीरस्य नित्यमेव प्रवर्तते।
तथा नरेन्द्रो राष्ट्रस्य प्रभवः सत्यधर्मयोः।। [१४]

इदं वर्णनं ऋग्वेदमित्थमनुहरिति—

---

८. अ०का० ७६-४३
९. अयोध्या काण्ड ६७-२९
१०. अयोध्या का० तत्रैव ३५
११. अथर्व० १/२१/१,२
१२. तत्रैव १/२९/६
१३. ऋ० ५/६५/२
१४. ऋ०६७/३३

महिके ख ऊतये प्रियमेधा अहूषत।
राजन्तमध्वराणामग्निं शुक्रेण शोचिषा॥ [१५]
त्वं चित्रश्रवस्तमे हवन्ते विक्षु जन्तवः।
शोचिष्केशं पुरुप्रियाग्ने हव्याय वोढवे॥ [१६]

वाल्मीकिरिदमपि लिखति-राजा हि कुलवतां कुलं विशां पतिः पितराविव हितचिन्तकश्च तथा चाह तत्रैव अयोध्याकाण्डे-

राजा सत्यं च धर्मश्च राजा कुलवतां कुलम्।
राजा माता-पिता चैव राजा हितकरो नृणाम्॥ [१७]

इयमपि भावमादिकविरथर्ववेदेतो जहारेति स्पष्टम्

आ त्वा गन् राष्ट्रं सहे वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह॥ [१८]
त्वां विशो वृणवतां राज्याण त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्षमन् राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि॥ [१९]

नृपस्य मन्त्रिमण्डलम्

वाल्मीकिः बहुत्र रामायणे 'मन्त्रीपदं प्रयुनक्ति'। क्वचिदमात्यं क्वचित् सचिवमपि व्याहरति। तद्यथा-

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे॥ [२०]
सुमन्त्रश्चोदितो राज्ञा प्रोवाचेदं वचस्तदा।
यथर्ष्यशृङ्गस्त्वानीतो येनोपायेन मन्त्रिभिः॥
तन्मे निगदितं सर्वं शृणु मे मन्त्रिभिः सह॥ [२१]
रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहिताः।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः॥ [२२]

---

१५. ऋ०१/४५/४
१६. ऋ० तत्रैव ६
१७. अथर्व० ६७/३४
१८. अथर्व० ३/४/१
१९. अथर्व०३/४/२
२०. बालकाण्ड ७/४
२१. तत्रैव १० /१
२२. तत्रैव १०/२

एते सर्वे राजकर्मणि राजसहाया भवन्ति स्म। एषां समेषां द्वयोः वर्गयोर्विभाजनमासीत्। प्रथमे ते विशिष्ट विद्वांसो ये हि 'गुरवः' प्रोक्ताः। इमे राज्ञोऽभिमता गुरवो ह्यासन्। एतेषां परामृष्टिर्विशिष्टैवेत्यासीत् न तु सामान्यदशायामिति विभावनीयम्। तद्यथा-यज्ञानुष्ठाने, युवराजचयने, प्राक् युद्धोद्घोषणायाञ्चेति। एतेषु 'मार्कण्डेय-मौद्गल्य-वामदेव काश्यप कात्यायन-जाबालि-गौतम-नारदः विशेषेण स्मिर्यन्ते। तद्यथा-

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च काश्यपः।

कात्यायनोऽथ जाबालिर्गौतमो नारदस्तथा।। [२३]

द्वितीये वर्गे ते मन्त्रिणः परिगण्यन्तेः ये हि वाल्मीकिना 'सचिवसंज्ञयाऽमात्यं संज्ञया च व्याहृताः। एतेषां कर्तव्याधिकारविषये सुस्पष्टतया किमपि वक्तुं न शक्यते। सुमन्त्रहनुमन्तावेतादृशावेवास्ताम्। रामायणे सर्वेषामेषां नामानीत्थं विद्यन्ते।

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।

अकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्।। [२४]

आत्मानं परिचिचीषन् राममाह हनुमान्-

युवाभ्या स हि धर्मात्मा सुग्रीवः सख्यमिच्छति।

तस्य मां सचिवं वित्तं वानरं पवनात्मजम्।।

राज्ञः वानरमुख्यानां हनुमान् नाम वानरः।।

कुत्रचिद् हनुमत्सुमन्त्रौ मन्त्रिरूपेणापि समुल्लिखितौ स्तः। अनेनेदमनुमिनुमः यतो हि उपरिनिर्दिष्टैरेभिः रामायणे बहुत्र प्रशासनाधिकारिसभासद्-राजदूत-सेवकत्वं चोह्यते अस्मादिमे राज्ञोऽन्तरङ्गव्यक्तय आसन्। एतेषां सुनिश्चितानि कार्याणि नैव निर्धारितानि बभूवुः, परं यथाकालं सर्वे सर्वं सम्पादयन्ति स्म।

इत्थं तुं मन्त्रिमण्डलस्य निर्माणविषये सुस्पष्टं नैवालेखीद् वाल्मीकिः, परन्तु तदध्ययनेनेदं सुस्पष्टं-मन्त्रिमण्डलस्य निर्माणं राजाधीनमेवासीत्। अत्रास्य संरचनायां योग्यता परमं व्याप्रियते स्म। मन्यामहे येऽत्र प्रथमे वर्गे प्रदर्शिता मिन्त्रणस्तेऽथर्ववेद प्रचर्चिता आमन्त्रणस्य अर्थात् लोकसभायाः सदस्या स्युरन्ये प्रान्तीय समितेश्चेति। तद्यथा अथर्ववेदे कथितम्-

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्। [२५]

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति या एवं वेद।। [२६]

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत्। [२७]

---

२३. उ०का० ७४/४

२४. बा०का० ७/३

२५. अथर्व०८/१/८

२६. अथर्व०८/१/९

२७. अथर्व०८/१/१०

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत्।[२८]

यन्त्यस्यां मन्त्रणमान्त्रणीयो भवति य एवं वेद॥[२९]

रामायणे कुत्रापि मन्त्रिमण्डलस्य कार्यप्रणाली नैवातिस्फुटं निरूपिता परन्तु यतो हि नृपः 'मन्त्रिमण्डस्याध्यक्षो भवति स्म, अत एव तस्य कार्य विषय' रावणस्य मुखेन वाल्मीकिः 'उत्तम' पुरुषस्येत्थं वर्णनं चकार-

मन्त्रस्त्रिभिर्हि संयुक्तः समर्थैर्मन्त्रनिर्णये।
मित्रैर्वापि समानार्थैर्बान्धवैरपि वाधिकैः॥
सहितो मन्त्रयित्वा यः कर्मारम्भान् प्रवर्तयेत्।
दैवे च कुरुते यत्नं तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥[३०]
ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा।
मन्त्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मन्त्रमुत्तमम्॥[३१]

महर्षि वाल्मीकेरुपर्युक्तकथनस्यायमभिप्रायस एव राजा उत्तमो भवति यो हि मन्त्रिणां सत्परामृष्टिमनुसृत्य व्यवहरति। स्वेच्छाचारिनृपस्य निंन्दां कुर्वन्नाहासौ तत्रैव-

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि।
राजवृत्तिरसङ्कीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः॥[३२]

नृपस्य गुणवर्णनं कुर्वन्नब्रवीति तत्रैव वाली-

दमः शमः क्षमा धृति सत्यं पराक्रमः।
पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥[३३]

वालेरिदं कथनमथर्ववेदमनुहरति-

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधी वशी।
वृषेन्द्र पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः॥[३४]
ता हि श्रेष्ठवर्चसा राजाना दीर्घश्रुत्तमाः।
ता सत्पती ऋतावृध ऋतावाना जने जने॥[३५]

---

२८. अथर्व०८/१/१२
२९. अथर्व०८/१/१३
३०. यु०का० ६/७-८
३१. तत्रैव १२
३२. कि० का० ७/३२
३३. तत्रैव १९
३४. अथर्व०१/२१/१
३५. ऋ.० ५/६५/२

वाल्मीकिरिदमपि मन्त्रिभ्योऽपेक्षते यत्ते नृपस्य कृते निर्भीकतया सत्परामर्शं सम्प्रदद्युः। तद्यथा-

परस्य वीर्यं स्वबलं च बुद्ध्वा। स्थानं क्षयं चैव तथैव वृद्धिम्।।

तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या वदेत् क्षमं स्वामिहितं स मन्त्री।।[३६]

यद्यपि रामायणकाले सामान्यतो राजाभिमतं स्वीकार्यमेवाऽऽसीत् तदपि मन्त्री तमसत्कार्याद् वारयितुं समर्थ आसीत् तथा चोक्तम् रामायणस्यारण्यकाण्डे मारीचेन रावणं प्रति-

वध्या खलु न वध्यन्ते सचिवास्तव रावण:।

ये त्वामुत्पथमारूढं न निगृह्णन्ति सर्वश:।।[३७]

अमात्यै: कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रित:।

निग्राह्य: सर्वथा सद्भि: स निग्राह्यो न गृह्यसे।।[३८]

रामायणे सर्वसम्मतो निर्णय: प्रशस्यो मत:, तद्यथा-

ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा।

मन्त्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मन्त्रमुत्तमम्।।[३९]

बहुभाषी विरोधी च परामृशको दण्ड्य आसीत्। अनेनैवापराधेनासौ मन्त्रिमण्डलतो निष्कास्योप्यासीत् तथा चोक्तं युद्धकाण्डे रावणेन विभीषणं प्रति-

योऽन्यस्त्वेवंविधं ब्रूयाद् वाक्यमेतन्निशाचर।

अस्मिन् मुहूर्ते न भवेत् त्वां तु धिक् कुलपांसन।।[४०]

इत्थमिदन्त्वतिस्पष्टं कथयितुं शक्यते यत्तस्मिन् युगे सामूहिकोत्तरदायित्वरूपसिद्धान्तस्य न स्याद् विकास:, परं तदानीमपि मन्त्रिमण्डलस्यैक्यं प्रति नृप: सातिशयं सावहित आसीत्।

सभा, संघटनं, शक्तय: कार्याणि च

रामायणयुगे मन्त्रिपरिषदोऽतिरिक्तमेकातिमहत्त्वपूर्णा राजनीतिक संस्था 'सभा' नाम्न्यासीत्। यद्यप्यस्या: रामायणीय सभायास्तदेव रूपमासीत् यच्च वैदिकसभाया: समितेश्च अस्ति। परं तदप्येषा न तथा महत्त्वपूर्णासीत् यथा वैदिके काल आसीत्। वैदिकसाहित्ये सभापदस्य प्रयोगो विविधेष्वर्थेषु दृश्यते, तद्यथा-सभेति मन्त्रणास्थानं, सम्भाषणसदनं, द्यूतक्रीडास्थानं, राजसभास्थानञ्चेति। रामायणेऽपि सभापदेन सभाभवनं, न्यायालय: नागरिकावसथं, राजसभा चेति गृह्यन्ते, तद्यथा-

मन्त्रिभिर्व्यवहारज्ञैस्तथान्यैर्धर्मपाठकै:

---

३६. यु०का० १४/२२

३७. वा.रा. अरण्य का०४१/७

३८. वा.रा. अरण्य का०४१/७

३९. यु०का० ६/१२

४०. यु०का०१६/१६

नीतिज्ञैरथ सभ्यैश्च राजभिः सा सभा वृता।।[४१]

द्र० तत्रैव १८,१९, 'नाराजके जनपदे कारयन्ति' सभां नरः।।[४२]

अत एवेदं सुस्पष्टं रामायणकाले 'सभा' शासनस्यातिमहत्त्वपूर्णमङ्गमासीत्। अयोध्यायाः सभायां द्विविधाः सदस्या आसन्—राजकीयाः स्वतन्त्राश्च। आद्याः ब्राह्मण-मन्त्रि-सचिवामात्यागणाः। एते हि राज्यसेवार्थं राजनियुक्ता राजसभायाः पदेन सदस्याः भवन्ति स्म। अन्ये पौर-जानपद-नैगमातिरिक्तं क्षत्रियाः नृपा अभूवन्, तथाहि लिखितमस्ति-अयोध्याकाण्डे-

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।।
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्।।[४३]
उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः।।[४४]

इमे सर्वे निर्वाचनरीत्या कयाचिच्चान्यया वा रीत्या राजसभायां सम्प्रविश्य विविधवर्गाणां विविधहित-साधकत्वेन तत्रः प्रातिनिध्यं व्यदधुः। तदानीं समीपवर्त्तिनि लङ्काराज्ये राजसभायाः संघटनम् अयोध्याभिन्नमासीत् तत्र। हि राजसभायां मन्त्र्यमात्यव्यतिरिक्ता राज्ञो मित्राणि सम्बन्धिनश्च सदस्या बभूवुः तथा चोक्तं रामायणस्य युद्धकाण्डे-

अतीव कामसम्पन्नो वैदेहीमनुचिन्तयन्।
अतीतसमये काले तस्मिन् वै युधि रावणः।
अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च प्राप्तकालममन्यत।।[४५]
मन्त्रिणश्च यथामुख्या निश्चितार्थेषु पण्डिताः।
अमात्यैश्च गुणोपेताः सर्वज्ञा बुद्धिदर्शनाः।।[४६]
समीयुस्तत्र शतशः शूराश्च बहवस्तथा।
सभायां हेमवर्णायां सर्वार्थस्य सुखाय वै।।[४७]

तत्र राजसभाभवनमतिसुन्दरं कलापूर्णं दृढञ्च निर्मीयते स्म। तम्य सौन्दर्य-सम्वर्धनाय रजत-हेम-हीरक-

---

४१. उ०का० ५९/१/३
४२. अ०का० ६७/१२
४३. अयो०का० २/१९,२०
४४. अयो०का०१४/५४
४५. अयो०का०११/२
४६. अयो०का०११/२५
४७. अयो०का०११/२६

मणि-मौक्तिकप्रवालादीनामपि प्रचुरः प्रयोगोऽभूत्। तद्यथा-

आससाद महातेजाः सभां विरचितां तदा।
सुवर्णरजतास्तीर्णां विशुद्धस्फटिकान्तराम्॥[४८]

तत्र सभापतिः राजा भवति स्म। स एव सर्वतः प्राक् राजभवनं प्रविश्य स्वसिंहासनमलङ्करोति स्म, तदनन्तरम् अन्ये सदस्याः स्व-स्व स्थानेषूपविशन्ति स्म। तद्यथा-

ते समेत्य सभायां वै राक्षसा राजशासनात्।
यथार्हमुपतस्थुस्ते रावणं रक्षसाधिपम्॥[४९]

सभाया आरम्भे राजा स्वयमेव सर्वान् सभ्यान् सम्बोधयन् सभाया आयोजनस्य प्रयोजनानि प्रस्तौति स्म। तत्र च स्वमभिप्रायमपि प्रकटयति स्म। यदि कश्चिदसहमतस्तन्निर्णयेन तर्हि सः स्वयमेव सभां परित्यज्य बहिर्गच्छति स्म आहोस्वित् राजद्वारेव निष्कास्यो भवति स्म। सभायां ये विषयाः निर्णीताः तेषां कार्यान्वयनहेतवे नृप अमात्यान् आदिशति स्म। तद्यथा-

तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि।
तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः॥[५०]
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलिः॥[५१]

इत्थमनेनेदं सुस्पष्टं भवति यत् सभायां निर्णीत-निर्णयानां कार्यान्वयनहेतवे नृपस्यैवोत्तरदायित्वमासीत्।

स्थानीयशासनस्य तत्त्वानि

यद्यपि श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणेऽनेकस्थानीयसंस्थानां स्थाने-स्थाने वर्णनं विद्यते, तथापि तत्र तासां शक्तिसंघटनयोर्विषये सुस्पष्टं विवरणं क्वापि नैवोपलभ्यते, तथाप्यासु सर्वातिशायिमहत्त्वं पौरजानपदयोरासीत्। एतयोर्हि द्वौ पृथक्-पृथक् विभागावास्तां बाह्याभ्यन्तरभेदेन। आद्यस्तावद् राजधान्याः स्थानीयप्रबन्धनत्वात् पौरम् अपरश्च नगरबाह्यजनपदस्य प्रबन्धनत्वाज् ' जानपदम्' इत्यभिख्यां लेभे। तत्र हि नागरिकसंघामिव व्यापारिणां कलाकृताञ्चापि संघाः बभूवुः, ये हि 'श्रेणीवारा' 'नैगमां'श्चेत्येवं रूपेण प्रसिद्धा आसान्, तथाहि रामायणे-

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वशः।
प्रतपन्तमिवादित्यं राज्यस्थितमरिन्दमम्॥[५२]

श्रेणीप्रधानं 'श्रेणीमुख्यः' इति कथ्यते स्म। तद्यथा-

स त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।

---

४८ अयो०का०२१/१४
४९. अयो०का० ११/२४
५०. अयो०का० ३/७
५१ अयो०का०३.८
५२. अयो०का० १०५/११

अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा।।[५३]

व्यापारिणां संघाः 'नैगमाः' तन्मुख्यं : 'नैगममुख्यः' इति व्यवह्रियते स्म तथा हि अत्र प्रमाणम्-

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्।

पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः।।[५४]

इत्थमिदं त्वतिस्पष्टं यद् रामायणस्य काले ह्येतेषां महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत्। एषां न्यायालये महत्त्वपूर्ण-निर्णयप्रसङ्गे चोपस्थितिरनिवार्यैवासीत्। यदा दशरथोऽविमृश्यैव सर्वान् रामं वनं प्राहिणोत् तदैतेऽति दुःखिताः अभूवन् तथा चाह दशरथ--

न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः।

मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः।।[५५]

तदेवं रामायणकृता वाल्मीकिमुनिना विविधस्थानेषु विविधशासनसंस्थानां वर्णनं कुर्वताऽपि तासां कार्याणां स्फुटमुल्लेखो नैव व्यधायि तथापीदन्तु वक्तुं शक्यते यदेतासां स्थानं तदानीमतिमहत्त्वपूर्णमासीत्।

अत्र निष्कर्षरूपेणदं कथयामो यद् रामायणीया शासनव्यवस्था भूयस्यासीद् वैदिकीति।

समाने मन्त्रः समिति, समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रभिमन्त्रये वो समानेन वो हविषा जुहोमि।

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।[५६]

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।

ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।।[५७]

---

५३. अयो०का० २६/१४

५४. अयो०का० ४/५४

५५. अयो०का० ५९/१९

५६. ऋ० १०/१९१/३४

५७. अथर्व ७/१२/२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०९८-१०३)

रामायण के राजधर्म पर वैदिक प्रभाव

डॉ. आशारानी वर्मा

वेद भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के मूल हैं। वे तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक, परिस्थितियों का परिचय देते हैं। वैदिक मान्यताओं ने परवर्ती लौकिक साहित्य को भी प्रभावित किया है। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित 'रामायण' लौकिक संस्कृत-साहित्य का आदिकाव्य माना जाता है। महर्षि ने अपनी रचना के लिये ज्ञात एवं अज्ञात रूप से वैदिक साहित्य से प्रेरणा ग्रहण की है, यही कारण है कि रामायण के हर पक्ष पर वेदों का प्रभाव दिखायी देता है, चाहे पात्रचयन हो अथवा सामाजिक परम्पराएँ अथवा राजनीतिक सिद्धान्त।

रामायण महाकाव्य के रूप में एक राजनीतिक प्रस्तुति है। कवि ने रामकथा के माध्यम से अपने आदर्शों को अभिव्यक्त किया है। अयोध्या से लेकर लंका तक का कथा-अभियान यह व्यक्त करता है कि कवि भारत की एकता में विश्वास रखता है। रामकथा के माध्यम से वह तत्कालीन राजनीतिक स्थितियों का चित्रण करते हुए, इस क्षेत्र में आदर्श मापदंण्ड स्थापित करना चाहता है। वैदिक साहित्य और रामायण का अध्ययन करने से यह अनुभव होता है कि वाल्मीकि जिन राजनीतिक आदर्शों की स्थापना करना चाहते हैं, वे वेदानुगत हैं। दूसरे शब्दों में रामायण का राजधर्म वेद से प्रभावित है।

राज्य एवं राजा

जैसे-जैसे मानव समाज का विकास हुआ वैसे-वैसे राजकीय शासन का विकास हुआ। पहले परिवार बना, परिवार से कुल बने, उसके बाद ग्राम बने, ग्रामों के समूह से विश् बने, उनके बाद जनों का निर्माण हुआ और अन्त में इसी प्रक्रिया ने राष्ट्र की अवधारणा को जन्म दिया। उत्तर वैदिककाल तक राज्य अपने विकसित रूप में उपस्थित था, ऐसा ब्राह्मण-ग्रन्थों के अध्ययन से प्रतीत होता है। वाल्मीकि ने जब अपनी रचना को साकार रूप प्रदान किया, उस समय राज्य अस्तित्व में आ चुका था। अतः वाल्मीकि ने उसके होने या न होने पर विचार नहीं किया है।

वाल्मीकि के राजनीतिक चिन्तन की मुख्य बात यह है कि वाल्मीकि की दृष्टि में राजाविहीन समाज अभिशाप है। रामायण में राम के वन चले जाने के बाद, जब राजा दशरथ स्वर्गवासी हो जाते हैं, तब अयोध्या राजाविहीन हो जाती है। ऐसी स्थिति में मन्त्रिगण महर्षि वसिष्ठ से निवेदन करते हैं कि पुत्रशोक से राजा का स्वर्गवास हो गया है। राम और लक्ष्मण वन को तथा भरत और शत्रुघ्न नाना के यहाँ गये हुए हैं। ऐसी विषम परिस्थिति में अयोध्या के राजसिंहासन पर किसी को बैठाना चाहिये, नहीं तो बिना राजा के हमारा राष्ट्र छिन्न-भिन्न

हो जायेगा।[१] राजा के न रहने पर राज्य में किसी भी मनुष्य की कोई वस्तु अपनी नहीं रह जाती है, जैसे मत्स्य एक-दूसरे को खा जाते हैं, उसी प्रकार अराजक देश के लोग एक-दूसरे को लूटते-खसोटते रहते हैं।[२] वाल्मीकि की यह मान्यता वैदिक अनुभवों का परिणाम है, जिसमें यह माना गया है कि अव्यवस्था रूप अन्धकार से बचने के लिये सभी को कर्त्तव्य का मार्ग दिखाने के लिये राजा की आवश्यकता होती है।[३]

वाल्मीकि रामायण में राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का वर्णन है, जिसमें राजा ही सर्वोपरि होता है। रामायण में प्रत्यक्षत: राजा की नियुक्ति के विषय में तीन सिद्धान्त दिखायी देते हैं-**प्रथम**-ज्येष्ठता का अर्थात् राजा का जेष्ठ पुत्र राजा बनता है, इसे हम आनुवंशिक सिद्धान्त कह सकते हैं। **द्वितीय**-चारित्रिक गुणों का होना अर्थात् राजपद के लिये आवश्यक योग्यता। **तृतीय**-प्रजा अथवा उसके प्रतिनिधियों की अनुमति से राजा का चयन, इसे हम निर्वाचन-सिद्धान्त मान सकते हैं। राम के युवराज पद पर चयन के लिये उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तों का प्रयोग हुआ है। राजा दशरथ ने अपने उत्तराधिकारी के प्रश्न पर विचार करने के लिये सभा बुलायी थी। इस सभा में राम के गुणों का वर्णन करते हुए, दशरथ उनके राज्याभिषेक का प्रस्ताव रखा और अपने सभासदों से अनुमति माँगी। इस पर सामन्त राजाओं, ब्राह्मणों, सेनाध्यक्षों तथा गणमान्य नागरिकों ने सर्वसम्मति से निर्णय किया कि राम युवराज पद के योग्य हैं।[४] वाल्मीकि की युवराज-चयन की यह प्रक्रिया वेदानुगत है। ऋग्वेद में अनेकश: प्रजा द्वारा अपना राजा चुनने का उल्लेख है। अपने कल्याण के लिये प्रजा गुणों के आधार पर अपने राजा का चयन करती थी।[५] वंशानुक्रम से आता हुआ कोई विशेष व्यक्ति ही राजा बन सकता है, ऐसा उल्लेख वेद में नहीं मिलता है।

राजा के गुण

जिस व्यक्ति को सर्वसम्मति से राजा बनाया जाना है, उसमें किस प्रकार की योग्यताएँ होनी चाहिये? इस प्रश्न का समाधान भी वेदों में प्रतिपादित किया गया है। वेद राजा के वैयक्तिक गुणों का आदर्श हमारे सामने रखता है। व्यावहारिक क्षेत्र में जितना भी इन आदर्शों तक पहुँचा जा सके उतना ही अच्छा है। वेद के अनुसार राजा को सत्यवादी होना चाहिये,[६] रथ सञ्चालन में निपुण होना चाहिये,[७] उसमें सभी प्रकार के कार्यों को करने की सामर्थ्य होनी चाहिये,[८] उसमें सामान्य मनुष्यों की अपेक्षा अधिक गुण होने चाहिये,[९] मनुष्यों का नेतृत्व करने की क्षमता

---

१. वा. रा. अयो०का०६७.८ इक्ष्वाकूणामिहाद्यैव कश्चिद् राजा विधीयताम्। अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समाप्नुयात्॥
२. वा. रा. अयो०का०६७.३१ नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्। मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥
३. ऋ०१.५९.२ तं त्वा देवासो जनयन्त देवं वैश्वानर ज्योतिरिदार्याय॥
४. वा. रा. अयो०का० प्रथम एवं द्वितीय सर्ग
५. ऋ०१०.९१.८ मेधाकारं विदथस्य प्रसाधनमग्निं होतारं परिभूतमं मतिम्। तमिदर्भे हविष्या समानमित्तमिन्महे वृणते नान्यं त्वत्॥
६. ऋ०१.२१.६ तेन सत्येन जागृतम्।
७. ऋ०१.११.१ रथीतमं रथीनाम्।
८. ऋ०१.११.४ विश्वस्य कर्मणो धर्ता

होनी चाहिये,[१०] वह वीर होना चाहिये,[११] सदा जागरूक होना चाहिये,[१२] राष्ट्र के सौभाग्य को बढ़ाने वाला होना चाहिये,[१३] राष्ट्र की रक्षा करने में तत्पर होना चाहिये[१४] आदि।

वाल्मीकि ने अपनी रचना में इन्हीं गुणों की कल्पना की है। राजा दशरथ और राम के चरित्र में इन्हीं वेदसम्मत गुणों की स्थापना कर आदर्श राजा का शब्दचित्र रामायण में प्रस्तुत किया गया है। दशरथ के गुणों का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वे सत्यवादी, वेद और वेदार्थ के ज्ञाता, दूरदर्शी, प्रजाप्रिय, बलवान् और इन्द्र के समान अयोध्या का पालन करने वाले थे—

> तस्यां पुर्यामयोध्यायां वेदवित् सर्वसंग्रहः।
> दीर्घदर्शी महातेजाः पौरजानपदप्रियः॥
> इक्ष्वाकूणामतिरथो यज्वा धर्मपरो वशी।
> महर्षिकल्पो राजर्षिस्त्रिषु लोकेषु विश्रुतः॥
> बलवाहननिहतामित्रो मित्रवान् विजितेन्द्रियः।
> धनैश्च संचयैश्चान्यैः शक्रो वै श्रवणोपमः॥
> यथा मनुर्महातेजा लोकस्य परिरक्षिता।
> तथा दशरथो राजा लोकस्य परिरक्षिता॥
> तेन सत्याभिसन्धेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता।
> पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती॥[१५]

राजा के कर्त्तव्य

राजा की व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये राजा को विविध कर्त्तव्यों का सतर्कता से पालन करना पड़ता है। यजुर्वेद के बीसवें अध्याय का विषय राज्याभिषेक है। इसमें पुरोहित की ओर से राजा को यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह राष्ट्र को सुख देने के लिये अभिषिक्त किया जा रहा है और नियुक्त होने वाला व्यक्ति पुरोहित की बातों का समर्थन करता है। राष्ट्र को एक शरीर मानकर उसके प्रति राजा के कर्त्तव्यों को बताते हुए वह कहता है कि श्री अर्थात् राष्ट्र की शोभा या ऐश्वर्य को बढ़ाना मेरा सिर है। राष्ट्र की कीर्ति की वृद्धि करना मेरा मुख है, राष्ट्र के तेज और प्रताप की वृद्धि करना मेरे श्मश्रु हैं। राष्ट्र में मृत्यु का अभाव करना मेरे प्राण हैं, सम्यक् प्रकार से राज्य का

---

९. ऋ०१.७७.४ नृणां नृतमः।
१०. ऋ०३.६.५ नेता चर्षणीनाम्।
११. ऋ०३.५२.१ वीरतमाय नृणाम्।
१२. अथर्व०२.६.३ जागृह्यप्रयुच्छन्।
१३. ऋ०१.९४.१६ सौभगत्वाय विद्वान्।
१४. अथर्व०११.५.७७ ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।

१५. वा.रा. बा०का०६.१-५

सञ्चालन मेरे चक्षु हैं, जनता की बातें सुनना मेरे श्रोत्र हैं,[१६] राष्ट्र की भलाई करना मेरी जिह्वा है, राष्ट्र की महिमा को बढ़ाना मेरी वाणी है, प्रजा की भलाई के लिये किया गया सात्त्विक क्रोध मेरा मन है। राष्ट्र के मोद-प्रमोद को बढ़ाना मेरी अंगुलि आदि हैं। प्रजाजनों से मित्रता का व्यवहार मेरा बल है।[१७] राष्ट्र के लोगों का बल बढ़ाना और उनकी इन्द्रियशक्ति को बढ़ाना मेरी भुजाएँ हैं। राष्ट्र में विभिन्न कर्मों की वृद्धि करना और उसके पराक्रम को बढ़ाना मेरे हाथ हैं। प्रजाजनों को दु:ख से बचाना मेरा आत्मा और हृदय हैं।[१८] राष्ट्र मेरी पीठ और राष्ट्र की प्रजाएँ मेरे अंस, ग्रीवा, श्रोणी, उरू, जानु आदि अंग हैं।[१९] राष्ट्र में ज्ञान बढ़ाना मेरी नाभि है, प्रत्येक विषय के विशेष ज्ञान की वृद्धि करना मेरे अण्डकोष हैं। धर्म मेरी जंघाएँ और पैर हैं, जिनके सहारे मैं खड़ा हूँ। मैं राजा प्रजाओं में प्रतिष्ठित हूँ अर्थात् प्रजाओं के बल पर ही मैं राज्य कर सकता हूँ।[२०] राम के जीवनचरित के माध्यम से महर्षि ने स्थान-स्थान पर इन राजोचित कर्त्तव्यों का पालन दिखाया है। राम के रूप में एक ऐसे राजा की कल्पना साकार हुई है, जो वेदसम्मत आचरण करता है। इसके अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड में कुशलक्षेम पूछने के बहाने से राम भरत को राजा के कर्त्तव्यों की शिक्षा देते हैं। जिसका सार यह है कि राजाओं को पवित्र होना चाहिये, उन्हें विद्वानों और चरित्रवान् लोगों का आदर करना चाहिये। राजाओं को अनुशासित दैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिये और बुरी प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिये, उन्हें त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम का यथोचित पालन करना चाहिये। राजाओं को विद्वान्, बुद्धिमान् और पवित्र मनुष्यों से मित्रता करनी चाहिये। संक्षेप में, उन्हें अपनी प्रजा को सन्तुष्ट, सुदृढ़ और सुख बनाना चाहिये।[२१]

प्रशासन एवं मन्त्रणा

राज्य और शासन का उद्देश्य सदैव प्रजा का हित रहा है। जब राज्य संस्था अपनी शैशवावस्था में थी, उस समय शासक को शासन सञ्चालन के लिये सहयोगी तत्त्वों की आवश्यकता कम ही पड़ती होगी। जैसे-जैसे राज्य का विकास हुआ शासन सम्बन्धी जटिलताएँ बढ़ती गईं। राजा को शासन सञ्चालन के लिये सहायकों की आवश्यकता पड़ी, ऐसे में राजा के पथप्रदर्शक के रूप में पुरोहित की नियुक्ति होने लगी। ऋग्वेद में तृत्सुवंश के राजा सुदास के पुरोहित विश्वामित्र और वसिष्ठ और शान्तनु के पुरोहित देवापि के उदाहरण मिलते हैं। पुरोहित धार्मिक बातों में राजा का मार्गदर्शक था ही, राजनीति में भी वह राजा का नेतृत्व करता था। इसके अतिरिक्त रक्षा-व्यवस्था के लिये सेना रखी जाने लगी, जिसका नेता सेनानी होता था। ग्रामणी प्रशासनिक कार्यों के लिये ग्राम का

---

१६. यजु०२०.५ शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषि: केशाश्च श्मश्रूणि। राजा मे प्राणो अमृतं सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥

१७. यजु०२०.६ जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्यु: स्वराड् भाम:। मोदा: प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सह:॥

१८. यजु०२०.७ बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥

१९. यजु०२०.८ पृष्टीर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी। उरूऽअरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वत:॥

२०. यजु०२०.९ नाभिर्मे चित्तं विज्ञानं पायुर्मेऽपचितिर्भसत्। आनन्दनन्दावाण्डौ मे भग: सौभाग्यं पस:। जङ्घाभ्यां पद्भ्यां धर्मोऽस्मि विशि राजा प्रतिष्ठित:॥

२१. अयो०का०सर्ग-१००

मुख्य व्यक्ति होता था।

रामायण के शासन का रूप राजतन्त्रीय था तथा प्रशासन वैदिककाल की अपेक्षा अधिक व्यवस्थित और विकसित था। लेकिन वैदिक परम्परा के अनुरूप यहाँ भी राजा को परामर्श देने के लिये कुछ अधिकारी नियुक्त थे, जिनमें पुरोहित का स्थान सर्वोपरि था। राजा दशरथ के मार्गदर्शक महर्षि वसिष्ठ थे, वही राज्य के पुरोहित पद पर अभिषिक्त थे तो दूसरी ओर जनक के पुरोहित शतानन्द थे। शासन व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिये कई मन्त्री भी थे। यद्यपि दशरथ के मन्त्रियों में सुमन्त्र का नाम ही रामायण में बार-बार आया है।

वेदों में सुचारु रूप से शासन सञ्चालन के लिये सभा और समिति की व्यवस्था दी गयी है, जो राजा की निरंकुशता पर भी अंकुश लगाने का कार्य करती थी। वेदों में सभा और समिति को प्रजापति की पुत्रियाँ कहा गया है,[२२] जो राजा को सत्य और हितकारी बातों की शिक्षा देती हैं। इनके निर्णय का उल्लङ्घन राजा नहीं कर सकता था।[२३] सभा में सम्भवतः प्रजा के चुने हुए प्रतिनिधि होते थे और समिति सभा का वह विकसित रूप थी, जिसमें कुछ निश्चित लोग राज्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार करते थे। इस तरह सभा की तुलना वर्तमान संसद् और समिति की तुलना वर्तमान मन्त्रिपरिषद् से की जा सकती है, लेकिन वेद सभा और समिति के सदस्यों को समान मत वाला होने का निर्देश देता है।[२४]

उपर्युक्त सभा और समिति का विकसित रूप रामायण में परिषद् और समिति के रूप में मिलता है। अयोध्याकाण्ड एवं युद्धकाण्ड में इनका उल्लेख हुआ है। वाल्मीकि की सभा या परिषद् का प्रधान राजा है, जिसमें समाज के प्रतिष्ठित लोग, विद्वान् और नगरों की श्रेणियों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। राम का युवराज पद पर चयन करने के लिये दशरथ ने यही सभा बुलायी थी।[२५] युद्धकाण्ड में रावण अपने मन्त्रिमण्डल से परामर्श करता है और मन्त्रणा के स्वरूप को स्पष्ट करता हुआ कहता है कि जो विचार-विमर्श और निर्णय में समर्थ ऐक्यमत वाले तीन या तीन से अधिक बन्धुओं के साथ मिलकर की जाती है, वह उत्तम-मन्त्रणा कहलाती है। इस प्रकार की मन्त्रणा करके जो कार्य आरम्भ करता है, वह उत्तम-पुरुष[२६] कहलाता है। जिसमें सभी मन्त्री एकमत होते हैं, वही उत्तम-मन्त्रणा होती है[२७] अर्थात् मन्त्रणा देने वाली समिति का एकमत एवं एकसंकल्प होना यहाँ पर वेदसम्मत है। यह

---

२२. अथर्व०७.१२.१ सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥

२३. अथर्व०७.१२.२ विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि। ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥

२४. ऋ०१०.१९१.३ समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्। समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥

२५. वा.रा. अयो०का०२.४६ नाना नगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि च। समा निनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः॥

२६. वा.रा. यु०का०६.७-८ मन्त्रिभिर्हि संयुक्तः समर्थैर्मन्त्रनिर्णये। मित्रैर्वापि समानार्थैर्बान्धवैरपि वाधिकैः। सहितो मन्त्रयित्वा यः कर्मारम्भान् प्रवर्त्तयेत्। दैवे च कुरुते यत्नं तमाहुः पुरुषोत्तमम्॥

२७. वा.रा. यु०का०६.१२ ऐकमत्यमुपागम्य शास्त्रदृष्टेन चक्षुषा। मन्त्रिणो यत्र निरतास्तमाहुर्मन्त्रमुत्तमम्॥

बात दूसरी है कि ऐसे विचारों को व्यक्त करने वाला राक्षसराज रावण स्वयं स्वेच्छाचारी और निरंकुश है।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने अपनी रचना में वैदिक परम्पराओं को पालन किया है। यद्यपि रामायणकालीन परिस्थितियाँ वैदिककाल की अपेक्षा जटिल हैं, लेकिन राजधर्म के मूलभूत सिद्धान्त वेदसम्मत और वैदिक दिशा-निर्देश से प्रभावित हैं। महर्षि का यह काव्य वैदिक साहित्य और लौकिक साहित्य के बीच सेतु का कार्य करता है और वेदोल्लिखित सिद्धान्तों को सरलता से प्रस्तुत करता है। मानव जीवन और राजधर्म के आदर्शों को उपस्थित करने वाले कवि को हम सभी का नमस्कार है—**नमः तस्मै कृतार्थेन रम्या रामायणी कथा।**

गुरुकुल शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१७४-१७८)

वाल्मीकि-रामायण में दण्डनीति की अवधारणा एवं उसकी प्रासङ्गिकता

डॉ० रामविलास यादव

भारतीय लोक साहित्य के आदि निर्माता महर्षि वाल्मीकि ने समाधियोग से सब कुछ प्रत्यक्ष कर जिस महाकाव्य का निर्माण किया वह वाल्मीकि-रामायण के नाम से विश्व प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि काव्य समाज का दर्पण होता है। वही काव्य सत्काव्य कहलाता है। जिसमें तत्कालीन निःशेष सामाजिक स्थितियों का निर्मल प्रतिबिम्ब अंकित हो। महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित इस वाल्मीकीय रामायण महाकाव्य में वस्तुतः रामराज्य का निर्मल प्रतिबिम्ब उभरकर सामने आया है। महर्षि वाल्मीकि ने अपनी, इस अद्भुत कृति में जो रामराज्य का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत किया है, उससे तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक विषयों का सहज-स्वाभाविक ज्ञान हो जाता है। राजा राम की दण्डनीति जो वाल्मीकि के द्वारा रामायण में वर्णित है, उसे ही हम वाल्मीकि दण्डनीति के नाम से पुकारते हैं। यह दण्डनीति वेदमूलक, दण्डशास्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है। हम देखते हैं कि मनु, वेदव्यास, शुक्र, बृहस्पति आदि आचार्यों ने दण्डनीति के जिन सिद्धान्तों की स्थापना अपने ग्रन्थों में की है, उनका उपयोग यहाँ उचित ढंग से किया गया है। वाल्मीकि-रामायण में राज्य की रक्षा के लिये चतुरंगिणी सेना, नगर की रक्षा के लिए दुर्ग, परिखा, प्रकृतिमण्डल की रचना और उसमें राज्य कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्य सुयोग्य व्यक्तियों का नियोजन तथा समय-समय पर प्रजाओं के धर्मोपदेश हेतु निःस्पृह ऋषियों के नियोजन की व्यवस्था से तत्कालीन सुव्यवस्थित राजनीति की प्रतीत होती है।

वाल्मीकीय रामायण की रचना ईसा से पूर्व हो चुकी थी। रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई अर्थात् रामायण को ५०० ई० पूर्व से पहले ही रचना मानना न्यायसङ्गत है।[१] भारतीय राजनीतिशास्त्र में नीति का ज़ो लक्षण हमारे यहाँ किया गया है, वह पाश्चात्त्य नीति की तरह केवल भौतिक चक्षु से ही जांच पड़ताल कर नहीं किया गया है, अपितु यहाँ आध्यात्मिक चक्षु से भी उनका निरीक्षण किया गया है। कामन्दकीय नीतिसार की टीका में टीकाकार ने जो नीति का लक्षण किया है, वह इस प्रकार है—

प्रत्यक्षपरोक्षनुमानलक्षणं प्रमाणत्रयनिर्णीतायां फलसिद्धोः। देशकालानूकूले सति यथा साध्यमुपसाधनं विनियोगलक्षणा क्रियानीतिः।[२]

त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) साधन ही मनुष्य जन्म का लक्ष्य माना गया है। इन तीनों वर्गों में से धर्म ही अर्थ और काम के द्वारा व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और राज्य की स्थिति तथा उनके अभ्युदय का सम्पादन करता है। काम केवल फलमात्र है और धर्म एवं अर्थ साधन हैं। धर्म की स्थिति बनाने के लिए नीति की आवश्यकता पड़ती है। मानव सृष्टि के कुछ समय बाद ही नीतिशास्त्र का निर्माण हुआ। सृष्टि के आरम्भ में न राजा था और न राज्य ही था। उस समय अपने-अपने धर्म को आदर्श मानकर प्रजाओं का व्यवहार चलता था। क्रमशः धीरे-धीरे धर्म की

---

१. संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास पृ० १६ -१७

२. कामन्दकीय नीतिसार

अवनति के कारण मत्स्यन्याय से प्रबल लोगों ने दुर्बल लोगों पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। जिससे प्रजाओं में खलबली मची और उन्होंने इससे त्राण दिलाने हेतु प्रजापति की अभ्यर्थना की। तब प्रजापति ने राजा के रूप में मनु का सर्जन किया। राजा के सृजित होने पर महर्षियों ने उसके व्यवस्थापक और नियामक शास्त्र का भी निर्माण किया, जो राज्यशास्त्र के नाम से अभिहित हुआ है।

आज दण्डनीति, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और राजनीति आदि शब्द पृथक्-पृथक् अर्थों में व्यवहृत हो रहे हैं, किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य में ये एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते रहे हैं। उपर्युक्त शास्त्रों को हम एक दृष्टि से देखें अथवा अनेक दृष्टि से सभी नीतियों में दण्डनीति की प्राथमिकता सिद्ध होती है। कामन्दक के अनुसार दम् धातु से दण्ड शब्द की उत्पत्ति हुई है, अतः **'दमयति इति दण्डः'**[३] इस व्युत्पत्ति से यह शब्द निरोधार्थक है। दण्ड प्राधान्य ही दृष्टि से ही इस नीति को दण्डनीति अर्थात् **'दण्डेन नीतिः'** कहा जाता है। नीति को दण्डनीति कहने का दूसरा आधार यह है कि दण्ड शब्द उपाय विशेष वाचक होने के साथ-साथ उपाय सामान्य[४] का भी वाचक है। अतः नीति के साधन-सामादि को दण्ड कहा जा सकता है और उससे साध्य, नीति को दण्डनीति अर्थात् **दण्डेन नीतिः** कहा जा सकता है। अथवा अपाय उपेय नीति में अभेदोपचार के आधार पर भी नीति को दण्डनीति (दण्ड एवं नीति) कहा जा सकता है। चतुर्थ दृष्टि यह है कि दण्ड-प्रयोजक राजा भी[५] औपचारिक रूप से दण्ड पद वाच्य हो सकता है, इसलिए राजा की नीति को दण्डनीति (दण्डस्य राज्ञः नीतिः) कहा जाता है।

कुछ आचार्यों की दृष्टि में नीति शब्द का अर्थ सन्मार्ग प्रायण नहीं है, अपितु दण्डप्रायण है। अतः 'नीति' शब्द दण्डनीति का ही लुप्त पूर्वपद रूप है। इस मत में दण्डनीति शब्द में षष्ठी तत्पुरुष समास है। सम्भवतः आचार्य कौटिल्य[६] ने इसी का समर्थन किया है। यह दण्ड नीति हमारे दण्ड स्थान में ही आता है।[७] परन्तु दण्ड एक उपाय है। अतः यह सिद्ध होता है कि दण्ड अथवा दण्डनीति (दण्ड प्रामण) से नीतिः (सन्मार्ग-प्रामण) और नीति से अभ्युदय होता है। अतः अभ्युदय को दण्ड या दण्डनीति (दण्ड-प्रमाण) का भी फल कहा जा सकता है।

आचार्य बृहस्पति ने **दण्डनीतिरेव विद्या**[८] कहकर दण्डनीति को ही प्रधान विद्या के रूप में स्वीकार किया है। आचार्य कौटिल्य ने स्पष्ट किया है कि आन्वीक्षिकी विद्या के अन्तर्गत सांख्य, योग और नास्तिक दर्शन आते हैं। त्रयी से ऋक् यजुष् और साम रूप तीनों वेदों का ग्रहण होता है। कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि वार्ता के विषय हैं। आन्वीक्षीकी, त्रयी और वार्ता इन सभी विद्याओं की सुख-समृद्धि दण्ड पर निर्भर है। दण्ड को प्रतिपादित करने वाली नीति को ही दण्डनीति कहा जाता है। दण्डनीति ही अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराती है, प्राप्त वस्तुओं

---

३. कामन्दकीय नीतिसार की टीका-२/१५
४. येन सन्दम्यते जन्तुः उपायो दण्ड एव सः। शु० नी० सा० ४/४०
५. दमो दण्ड इत स्यात् तात्स्थ्याद्दण्डो महीपतिः तस्य नीतिर्दण्डनीतिः। का० नी० सार २/१२ स राजा पुरुषो दण्डः मनु० स्मृ० ७/१७, दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ मा० शा० पर्व अध्याय -१५ श्लोक-२
६. आन्वीक्षिकी -त्रयी -वार्तानां योगक्षेम-साधनो दण्डः, तस्य नीतिः दण्डनीतिः। अ.आ. पृ. १५
७. दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति। म. भा. शा. पर्व, अध्याय-६९, श्लोक-७६
८. बार्हस्पत्यसूत्रम् प्र.-१

की रक्षा करती है, रक्षित वस्तुओं की वृद्धि करती है, साथ ही संवर्द्धित वस्तुओं को समुचित कार्यों में लगाने का निर्देश भी करती हैं।[९] दण्ड के ऊपर ही संसार की सारी लोकयात्रा निर्भर है। नीतिशास्त्र के पुरातन आचार्यों ने यह स्वीकार किया है कि विश्व की समस्त प्राणियों को सहज ही वश में लाने का एकमात्र उपाय दण्डनीति ही है। बहुत से आचार्यों ने राजा को ही दण्ड के रूप में स्वीकार किया है और उसकी नीति को ही दण्डनीति कहा है।

वाल्मीकि-रामायण के अनुसार जो भारतीय शासन-व्यवस्था है, उसे ही हम रामराज्य के नाम से जानते हैं, जिसका निदर्शन वाल्मीकि-रामायण में सर्वसुलभ है। इस व्यवस्था में हम देखते हैं कि यहाँ धर्म से नियन्त्रित राजा शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाह्य चेष्टाओं से ही मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को मन्त्री बनाकर उनकी सहायता से सम्पूर्ण प्रजावर्ग को अपने नियन्त्रण में रखता है।[१०] वाल्मीकीय रामायण में हम देखते हैं कि जब रामराज्य स्थापित हुआ तो राजा-राम ने शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ रखने के लिए विभागों का बँटवारा करके विभाग में सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की और स्वयं उसके निरीक्षण का काम अपने ही पास रखा है। इस राज्य में बाह्य और आभ्यान्तर दोनों ही दृष्टि से सुरक्षा के कड़े प्रबन्ध किये गये थे। देशभक्त और चुने हुए योद्धाओं को ही सैन्यबल में नियुक्त किया गया था और उन्हें सारी आवश्यक सुविधायें प्राप्त करायी गयी थीं। उनका वेतन आदि का भुगतान निश्चित रूप से उचित समय पर कर दिया जाता था। सदा सन्तुष्ट रहने वाले शूर-वीर, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन राजा के प्रति अनुराग रखने वाले तथा रणकर्म में दक्ष व्यक्ति को ही सेनापतित्व का कार्यभार सौंपा जाता था। समस-समय पर राजा गुप्तरूप से उनकी परीक्षा लेते रहते थे। इतना ही नहीं राजा के द्वारा उन्हें उचित सम्मान भी प्राप्त होता था।[११] राज्य की रक्षा के लिये चतुरंगिणी सेना, नगर की रक्षा के लिए दुर्ग, परिखा, प्रकृतिमण्डल की रचना और उसमें भी राज्य कुटुम्ब के अतिरिक्त अन्य सुयोग्य व्यक्तियों का नियोजन तथा समय-समय पर प्रजाओं के धर्मोपदेश हेतु निःस्पृह ऋषियों के नियोजन की अपूर्व व्यवस्था रामायण में दृष्टिगोचर होती है।

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित उपयुक्त व्यवस्था मनु आदि स्मृतियों में भी लगभग समान है। राजा कहने से किसी शासक का बोध होता है। शासन की आवश्यकता रहने पर ही शासक की आवश्यकता होती है। यदि प्रजायें दूसरे को दुःख पहुँचाने वाले और उद्वेग पैदा करने वाले कार्य न करें तो दण्ड के अभाव में दण्डनीति व्यर्थ सिद्ध होगी। यदि लोभ, मोह आदि के वशीभूत प्रजा में यह भावना पैदा हो जाये कि यह संसार हमारे लिए है, यहाँ की सारी सम्पत्तियाँ और सारे सुख हमारे लिए है तो ऐसी अवस्था में दूसरे को दुःख पहुँचाने वाले कार्य तो होंगे ही, और ऐसा होने से प्रजावर्ग में विक्षोभ होना भी स्वाभाविक ही है। यदि प्रजावर्ग में ऐसी भावना रहे कि जो अपने लिए अहितकर कार्य है, वह दूसरों के लिए भी अहितकर है। अतः वैसा कार्य न करें, ज़ो दूसरों के लिए

---

९. आन्वीक्षिकी त्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः। तस्यनीतिर्दण्डनीतिः। अर्थशास्त्र पृ० -१५

१०. कच्चिदात्मसमाः शूरा श्रुतवन्तो जितेनिद्रयाः। कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः। वा. रा. अयो. सर्ग १०० श्लोक-१५

११. कच्चित् धृष्टश्च शूरश्च धृतिमान् मतिमाञ्छुचिः। कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिः कृतः। वा.रा. अयो. सर्ग १०० श्लोक-३० बलवन्तश्च कच्चित् ते मुख्या युद्धविशारदाः। .... सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे॥ वा. रा. अयो. सर्ग १००, श्लोक. ३२

कष्टदायक हो तो प्रजावर्ग में विक्षोभ नहीं होता और ऐसी स्थिति में दण्डनीति की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

वाल्मीकीय रामायण की दण्डनीति और उस पर आश्रित भारतीय शासन-व्यवस्था का सम्यक् अध्ययन किये विना कुछ आलोचकों के अनुसार रामराज्य अथवा भारतीय शासन-व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है। उनके अनुसार उक्त शासन-व्यवस्था में प्रजा परतन्त्र थी। इसमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों का वर्चस्व था और शूद्रों का शोषण होता था। इस प्रकार के लोग अपनी अल्पज्ञता के कारण यह समझ बैठे हैं कि रामराज्य की जनता परतन्त्र एवं शोषित थी, जबकि हम स्वतन्त्र और स्वच्छन्द हैं। किन्तु जब हम तात्त्विक दृष्टि से निष्पक्षतापूर्वक भारतीय शास्त्रों का मौलिक अध्ययन करते हैं तो पाते हैं कि रामराज्य कहने के लिए तो राजतन्त्र था। किन्तु वास्तविकता यह थी यह थी कि उस राज्य की प्रजा पराधीन नहीं थी, जबकि आज हम प्रजातन्त्र में होते हुए भी हर प्रकार से परतन्त्र हैं। यह बात अनुभव सिद्ध है कि आज हम अपने-अपने धर्म से च्युत होकर दुनीर्ति के ऐसे मायाजाल में फँस गये हैं कि हमें सुनीति ही दुर्नीति प्रतीत होने लगी है। शास्त्रीय संस्कार सज्जनों का समागम और धर्मनिष्ठा के विस्तार से प्राणी पोषक थे, पर वे ही सत्समागम में महर्षि एवं विश्वपोषक बन गये। अजामिल जो पहले साधु पुरुष थे, दुस्संग से शोषक हो गये और फिर कालान्तर में सत्समागम होने पर ठीक हो गये। रामराज्य के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी ईश्वर के अङ्ग हैं, अविनाशी हैं, चेतन हैं, अमल हैं और सहज सुखराशि हैं। जैसे निर्मल जल में मिट्टी सम्पर्क से मलिनता आ जाती हे, वैसे ही माया आदि के सम्पर्क से जीव में मलिनता आ जाती है। जैसे मलिन जल में निर्मली बूटी या फिटकरी डालने से जल में निर्मलता आ जाती है, वैसे ही स्वधर्मानुष्ठान एवं ईश्वरभक्ति से जीव की मलिनता, बुराइयाँ दूर हो जाती हैं, फिर वह शोषक नहीं रह जाता है, शुद्ध पोषक हो जाता है। वस्तुतः मत्स्यन्याय दूर करने के लिए शासन की स्थापना हुई है। धर्म, सदाचार का विस्तार, सत्य, अहिंसा की प्रतिष्ठा तथा दण्ड के द्वारा शोषण मिटाकर समन्वय सामञ्जस्य स्थापित करना ही शासन का मुख्य लक्ष्य है।

वाल्मीकीय रामायण की शासन-व्यवस्था अथवा भारतीय शसन व्यवस्था प्रजा के ऊपर मात्र शासन करने के लिये ही नहीं है, अपितु उन्हें नैतिक शिक्षा प्राप्त कराने और सुखः शान्ति के मार्ग पर ले जाने के लिए भी है। यहाँ की व्यवस्था में प्रजा को यह शिक्षा अनिवार्य रूप से दी गयी है कि ईश्वर ही जीवरूप से सभी प्राणियों में प्रविष्ट है, अतः दान, मान, आदि के द्वारा सभी जीवों का सम्मान करना चाहिए। किसी का भी अपमान नहीं करना चाहिए। आज के भौतिकवादी लोग वर्ण-व्यवस्था को लेकर कोलाहल मचाये हुये हैं। उनका कहना है कि भारतीय शासन-व्यवस्था में सवर्णों ने असवर्णों पर कुठाराघात किया है। किन्तु उनका यह सोचना उनकी अल्पज्ञता और अज्ञानता का ही सूचक है। भारतीय शासन-व्यवस्था में वर्ण-व्यवस्था प्रत्येक को सुख-शान्ति देने के लिए है, न कि किसी को दुःख पहुँचाने के लिए। हम देखते हैं कि आज से हजारों वर्ष पूर्व जो भारतीय शासन-व्यवस्था का जीवन्त रूप रामराज्य था। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चारों वर्ण परस्पर मिल-जुलकर एक-दूसरे को सहारा देते हुए अपने-अपने कार्य को भली-भाँति सम्पादन करते हुए बड़े सुख शान्ति का जीवन व्यतीत करते थे। सभी एक-दूसरे का सम्मान करते थे। महाराज दशरथ ने जब अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया तो उन्होंने वसिष्ठ से यज्ञ की तैयारी का अनुरोध किया। राजा के अनुरोध करने पर महर्षि वसिष्ठ ने राजसेवकों को कहा कि ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए, जिससे सभी वर्ण के लोग भली-भाँति सत्कृत होकर सम्मान प्राप्त करें। काम और

क्रोध के वशीभूत होकर भी किसी का अनादर नहीं करना चाहिए।[१२] यज्ञ की व्यवस्था के विषय में समझाने के बाद महर्षि वसिष्ठ ने सुमन्त्र को बुलाकर कहा कि पृथ्वी पर जो धार्मिक राजा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सहस्रों शूद्र हैं, उन सबको इस यज्ञ में आने के लिए निमन्त्रित करो।[१३]

जहाँ अश्वमेध यज्ञ में वसिष्ठ जैसे महर्षि के द्वारा सम्मानपूर्वक अन्य वर्णों के साथ शूद्रों को भी निमन्त्रित किया जाता हो, वैसी निष्पक्ष और निर्मल भारतीय शासन-व्यवस्था के ऊपर यह कहकर लांछन लगाना सरासर बेईमानी है कि उसमें शूद्रों के साथ अत्याचार होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि भारतीय चिन्तनधारा के अनुसार सभी प्राणी इस कर्मभूमि में एक जैसे कर्म नहीं करते, अतः सबों को एक जैसा फल प्राप्त होना भी असम्भव है। फिर प्रारब्धकर्म भी भिन्न-भिन्न हैं, अत एव कर्मों के भेद से फल में भेद होने के कारण सभी सर्वथा समान भी नहीं हो सकते। इस प्रकार अनुभव करते हैं कि भारतीय नीतिशास्त्रों में ऋषियों और महर्षियों के द्वारा निर्दोष एवं धर्ममूलक जिस दण्डनीति की रूपरेखा अंकित है, उसका सहज और सुगम प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध है।

वाल्मीकीय दण्डनीति धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, प्रज्ञा, सत्य तथा क्रोध की आधारशीला पर प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि सुधीजन वाल्मीकीय दण्डनीति को धर्ममूलक मानते हैं, क्योंकि मनु ने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, प्रज्ञा, विद्या, सत्य, तथा अक्रोध को ही धर्म कहा है।[१४] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मनु के द्वारा निर्दिष्ट उक्त धर्म का किसी जाति-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष अथवा देश-विदेश के साथ सम्बन्ध न होकर सम्पूर्ण विश्व के साथ सम्बन्ध है। इस सत्य सनातन धर्म में विश्व के समस्त चराचर प्राणियों का कल्याण निहित है।

वाल्मीकीय दण्डनीति के अनुसार जो भारतीय शासन-व्यवस्था है, उसका हमने यहाँ मात्र दिग्दर्शन ही कराया है, क्योंकि यह व्यवस्था इतनी प्राञ्जल और व्यापक है कि उस पर साङ्गोपाङ्ग प्रकाश डालना इस आलेख में कठिन ही नहीं असम्भव भी है। वाल्मीकीय रामायण एक अद्भुत एवं अमूल्य आर्ष महाकाव्य है, जहाँ स्वच्छ भारतीय शासन-व्यवस्था का प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उस व्यवस्था का थोड़े भी अंशों में यदि हमारे शासक निष्ठापूर्वक पालन करें तो जनता का बहुत बड़ा उपकार हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सत्य-सनातन धर्म पर अवलम्बित वाल्मीकीय दण्डनीति की आवश्यकता भारतीयों के लिये है। अत एव वाल्मीकीय दण्डनीति के अनुसार जो भारतीय शासन-व्यवस्था है, वह व्यवस्था न केवल भारतवर्ष के लिए अपितु सम्पूर्ण विश्व के लिये आदर्श एवं उपादेय है।

---

१२. सर्वे वर्णा यथा पूजां प्राप्नुवन्ति सुसत्कृताः। न चावज्ञा प्रयोक्तव्या कामक्रोधवशादपि। वा. रा. बाल. का सर्ग १३, श्लोक-१४

१३. ततः सुमन्त्रमाहूय वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्। निमन्त्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः। ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्याञ्शूद्रांश्चैव सहस्रशः।। वा.रा. बाल. काण्ड सर्ग-१३, श्लोक. २०

१४. धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्। मनुस्मृति अध्याय ६, श्लोक-९२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१७९-१८५)

रामायणकालीन दण्डव्यवस्था-वर्तमान संदर्भों में

डॉ० श्रीमती सरिता भार्गव

पुण्यसलिला तमसा के पावनतट पर सुखपूर्वक विहार करते हुए निरपराध क्रौञ्च के अकस्मात् वध से आर्तनाद करती क्रौञ्ची की करुणा से द्रवीभूत आदिकवि वाल्मीकि का करुणभाव 'यह अधर्म हुआ है'[१] यह जानकर अनायास ही अकारण वैरी निषाद के प्रति शापमयी वाणी में प्रस्फुटित हो उठा-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[२]

अपराधी निषाद के प्रति दण्डस्वरूपा यह शापमयी वाणी सृष्टि पर प्रथम काव्य बीजरूप में अवतरित हुई। मनुष्य अपनी अहंमन्यता, स्वार्थ एवं शैतानी प्रवृत्ति के वशीभूत होकर अपनी शक्ति का दुरुपयोग न करे, इस भावना से प्रेरित होकर समाज के प्रत्येक व्यक्ति के आचार को नियन्त्रित करने के लिए कुछ ऐसे नियम बनाए जाते हैं, जो समाज में शान्ति, एकता, भाई-चारा और सामाजिक सहयोग को प्रोत्साहन देते हैं तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता, जीवन एवं अस्तित्व की सुरक्षा प्रदान करते हैं।

रामायण में ऐसे नियमों, कानूनों, विधियों को धर्म द्वारा परिभाषित किया गया है। यहाँ धर्म से तात्पर्य किसी सम्प्रदाय, जाति अथवा वर्ग विशेष से न होकर सदाचार, लोकाचार, लोकवृत्त, कुलधर्म, जातिधर्म, वेद, शास्त्र, आर्षवाक्य, परम्परा, मर्यादा से हैं।

शतपथ-ब्राह्मण में दण्ड का प्रयोग शक्ति से है।[३] उसमें दण्ड को अपराध की निवृत्ति, धर्म की रक्षा और उसके क्रियान्वयन के लिए आवश्यक कहा गया है। उसे राजा से सम्बन्धित भी कहा गया है। रामायण में स्पष्ट कहा है कि जो भी लोकाचार से भ्रष्ट होकर लोकविरूद्ध आचरण करेगा। उसे रोकने एवं राह पर लाने के लिये दण्ड के अतिरिक्त और कोई साधन नहीं है-

न हि लोकविरूद्धस्य लोकवृत्तादुपेयुषः।
दण्डादन्यत्र न पश्यामि निग्रहं हरियूथप।।[४]

रामायण में राज्य, जीवन, धर्म, जाति, शास्त्र, सम्पत्ति की रक्षा के लिय दण्ड की आवश्यकता बताई गई है।[५] हिन्दू दर्शन के अनुसार दण्ड एक तरह से कर्मों का फल है, मानवशुद्धि का उपाय है। साम-दान-दण्ड-भेद-

---

१. वाल्मीकि-रामायण १/२/१४
२. वा.रा. १/२/१५
३. शतपथ ब्राह्मण ५/४/४६
४. वा.रा. ४/१८/२१, ४/ १८/२५, ४/१८/२०
५. वा.रा. २/३७/३२, ३५

इन चारो में से रामायण में दण्ड को ही सर्वश्रेष्ठ उपाय स्वीकारा है।[६]

दण्ड एव वरो लोके पुरुषस्येति मे मतिः।

धिक् क्षमामकृतज्ञेषु सान्त्वनादानमथापि।।

निष्कर्षतः, समाज में दुष्प्रवृत्तियों को रोकने के लिए अपराधों पर नियन्त्रण के लिए, सुव्यवस्थित प्रशासन के लिए, प्रजा की रक्षा के लिए दण्ड को आवश्यक माना गया है। रामायणकालीन में राजा ही प्रमुख दण्डधर, धर्मपाल[७], धर्मपिता, कहलाता था एवं अपराधियों को दण्डित करना उसका एक प्रमुख गुण था।[८]

पार्थिवानां गुणा राजन् दण्डश्चापकारिषु।

राम के सदा धार्मिक, एवं लोक मर्यादा, के रक्षक के रूप में दर्शाया है।

रामो भामिनि लोकस्य चातुर्वर्ण्यस्य रक्षिता।

मर्यादानां च लोकस्य कर्ता कारयिता च सः।।[९]

राजा प्रमुखतः प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रीति से अपराध की जाँच-पड़ताल कर दण्ड का निर्धारण करता था-

परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा।।[१०]

दण्डित करते समय पक्षपात नहीं होता था। अपराध करने पर राजा, मन्त्री अपने पुत्रो[११] को भी दण्डित करता है। पुत्र के द्वारा पिता को[१२] भाई के द्वारा भाई[१३] को दण्डित करने का उल्लेख रामायण में प्राप्त होता है। रामयाणकाल में सभी के लिए समान दण्ड की व्यवस्था न थी। दण्ड अपराधी के बलाबल पर आधारित था।

सुतीक्ष्णदण्डाः, सम्प्रेक्ष्य पुरुषस्य बलाबलम्।[१४]

वर्तमान दण्डव्यवस्था में भी दण्ड की मात्रा निर्धारित करते समय अपराधी की मनोवृत्ति, पृष्ठभूमि एवं उन परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाता है, जिनके कारण वह अपराध करने को विवश हुआ है। रामायण में जहाँ अपराधी के लिए दण्ड को आवश्यक माना है। वहीं **'मा च दण्डमकारणे'**[१५] लिखकर निरपराध को दण्डित करने पर प्रायश्चित्त कर विधान किया गया है। निरपराध के आँसू राजा को पुत्र एवं पशु सहित नष्ट कर देते हैं-

---

६. दण्डेन च प्रजा रक्ष वा.रा. ७/७९/८,१०

७. धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यश्च महायशाः। पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरु।। वा.रा. ३/१/ १८/१/२-१९

८. वा.रा ४/१७/१९

९. वा.रा ५/३५/११

१०. वा.रा २/३/४३

११. वा.रा १/७/१०

१२. वा.रा २/२१/१९, ९२

१३. वा.रा २/३२/२०, २१

१४. वा.रा १/७/१३

१५. वा.रा ७/७९/८,१०

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव।
तानि पुत्र पशून् ध्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः॥[१६]

निरपराध शत्रु भी अहिंस्य माना गया है।[१७] रामायण में मनुप्रतिपादित दो श्लोको[१८] में राजा को प्रमादरहित होकर दण्ड देने का विधान विहित है। राजा यदि दण्ड देने में प्रमाद करे तो दूसरो के किये हुए पाप भी भोगने पड़ते हैं, प्रायश्चित्त से ही उनके दोष शान्त होते हैं।

इस प्रकार वर्तमान युग में प्रचलित न्याय-व्यवस्था में चाहे सौ अपराधी छूट जायें, लेकिन एक भी अपराधी को फाँसी नहीं होनी चाहिए। सम्भवतः रामायणकालीन न्याय-व्यवस्था निरपराधी को सजा नहीं होनी चाहिए, पर ही आधारित है।

अपराध करने पर दण्ड भोगने के उपरान्त ही व्यक्ति का अन्तःकरण निर्मल एवं शुद्ध होता है और वह पुण्यात्मा साधु होकर स्वर्गगामी होता है।[१९] अपराधी को राजा के पास स्वयं जाकर अपराध का दण्ड भोगकर निर्मल चित्त वाला हो जाना चाहिए।

वर्तमान में दण्ड के निम्न सिद्धान्तों को स्वीकारा गया है—१-प्रायश्चित्त सिद्धान्त, २-प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त, ३-प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त, ४-निरोधात्मक सिद्धान्त, ५-सुधारात्मक सिद्धान्त।

१-प्रायश्चित्त सिद्धान्त

धार्मिक दृष्टि से आपराध पाप है, इसका प्रायश्चित्त करना पड़ता है। पाप करने से आत्मा कलुषित हो जाती है, जिसकी शुद्धि का प्रायश्चित्त ही एकमात्र उपाय है। वर्तमान न्याय-व्यवस्था में इसका प्रयोग नहीं हो रहा है, जबकि रामायणकाल में कई स्थलों पर प्रायश्चित्त द्वारा पाप से मुक्ति की बात कही गई है। राजा रोमपाद[२०] धर्म के उल्लङ्घन से प्राप्त दण्ड का प्रायश्चित्त[२१] द्वारा प्रतिकार करना चाहता है। राजा यदि निरपराधी को दण्ड दे तो प्रायश्चित्त द्वारा ही उसके दोष शान्त होते हैं। रामायण में ब्रह्मा के मुख से कहलाया है कि सज्जन पुरुषों ने गोहत्यारे, शराबी, चोर, और व्रतभङ्ग करने वाले के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, कृतघ्न के लिए नहीं।

अल्पैरपि कृतं पापं प्रयुक्तैर्वसुधाधिपैः।
प्रायश्चित्तं च कुर्वन्ति तेन तच्छाम्यति राजाः॥[२२]

---

१६. वा.रा २/१००/५९
१७. वा.रा १/७/११
१८. वा.रा ४/१८/३४
१९. वा.रा ४/१८/३१, ४/ १८/६१
२०. वा.रा १/९/८-११
२१. वा.रा ४/१८/३४
२२. वा.रा ४/३४/१२

प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त

यह सिद्धान्त पूर्णत: प्रतिशोध की भावना जैसे को तैसा पर आधारित है। पर्शिया के महाराज हम्मूरावी ने इसी सिद्धान्त पर आधारित होकर आँख के बदले आँख एवं दाँत के बदले दाँत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। रामायण में भी इस प्रकार के दण्ड के कई उदाहरण देखे जा सकते हैं।

गौतमी के साथ इन्द्र द्वारा बलात्कार किये जाने के दण्ड स्वरूप गौतम ने इन्द्र को विफल (अण्डकोष रहित) होने का दण्ड दिया।[२३]

अपने कृत्रिम सौन्दर्य से लक्ष्मण को वशीभूत करने की इच्छा से युक्त कामासक्ता शूर्पणखा एवं अयोमुखी के नाक, कान, एवं स्तन काटकर लक्ष्मण द्वारा उन्हें कुरूप कर दिया गया।[२४]

अत्यन्त भयंकर राक्षस की आकृति को धारण कर स्थूल शिरा नामक ऋषि को सन्त्रासित करने वाला कबन्ध ऋषि के शाप से सदा के लिए भयंकर राक्षस की आकृति को प्राप्त हो गया था।[२५]

पुत्र प्राप्ति की कामना से शिव के साथ समागमरत पार्वती एवं शिव के समागम को रोक दिये जाने के दण्ड स्वरूप देवता पार्वती के शाप से नि:सन्तान हुए।[२६]

रावण द्वारा पुंजिक स्थला[२७] एवं रम्भा[२८] के साथ बलात्कार का अपराध किये जाने पर ब्रह्मा एवं नलकूवर द्वारा दण्ड स्वरूप भविष्य में बलात्कार करने पर रावण ने मस्तिष्क के सौ एवं सात टुकड़े हो जाने का दण्ड प्राप्त किया।

प्रतिरोधात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का उद्देश्य समाज के द्वारा उन व्यक्तियों पर रोक लगा देना था, जो गलत रास्ते पर चलकर समाज को हानि पहुँचाते हैं। यह सिद्धान्त कठोर दण्ड पर आधारित है। दण्ड की कठोरता के कारण अपराधी पुन: इस अपराध को नहीं करेगा। साथ ही अपराधी को प्राप्त दण्ड की कठोरता को देखकर समाज के अन्य लोग भी भय के कारण अपराध मे प्रवृत्त नहीं होगे।

रामायण में यह सिद्धान्त शाप द्वारा दिए गए दण्ड के रूप में प्रमुख रूप से परिलक्षित होता है। जब-जब देव, दानव, यक्ष, राक्षस, मुनि, ऋषियों ने अहंकारयुक्त हो कर मर्यादाओं का उल्लेख किया है, तब-तब उन्हें शाप द्वारा दण्डित किया गया है। अहंकारी गङ्गा को जटाजूट में समाहति कर लेना,[२९] जहु द्वारा गङ्गा जल को पी लेना

---

२३. वा.रा १/४८/२७

२४. वा.रा २/४८/२१

२५. वा.रा ३/७१/३-५

२६. वा.रा १/३६/२१-२२

२७. वा.रा ६/१३/१४

२८. वा.रा ७/२६/५५-५६

२९. वा.रा १/४३/४-८

अहंकारी एवं अपराधी को दण्डित करने के उदाहरण हैं।[३०]

गुप्तचरों एवं अन्य अपराधियों को दण्डित करने का जो विधान है, वह भी यही सिद्धान्त है। गुप्तचरों को अवध्य माना गया है। लेकिन उन्हें चौराहों पर चार खम्भ वाले मण्डपों तथा सड़कों पर घुमाने एवं गुप्तचर कहकर परिचय देने का विधान है।[३१]

निरोधात्मक सिद्धान्त

इस सिद्धान्त का उद्देश्य है, कि अपराधियों को समाज से अलग रखना ताकि उनके अनुकरण से अन्य लोग अपराध न कर सकें। इसके इसके तीन उपाय हैं—

१. कारावास, २. निर्वासन, ३. मृत्युदण्ड।

आधुनिक मान्यता के अनुसार व्यक्ति को आपराधिक प्रवृत्ति वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। अतः इसे तो रोका नहीं जा सकता है, लेकिन उसे समाज से पृथक् रखकर अथवा मृत्युदण्ड देकर अपराध अवश्य रोके जा सकते हैं। वर्तमान में अपराध की गम्भीरता के आधार पर बलात् सेवानिवृत्त करना, पद से हटा देना, लाइसेंस जब्त करना, मृत्यु दण्ड देना इत्यादि प्रमुख हैं।

रामायण में राजा सगर ने नगरवासियों के कहने पर अपने पुत्र असमंज को निर्वासित करना,[३२] मतङ्ग ऋषि द्वारा वालि के अधर्माचरण से क्षुब्ध होकर मतङ्गवन में उसके प्रवेश पर रोक लगा देना[३३] इत्यादि उदाहरण देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त वालि द्वारा सुग्रीव का निर्वासन, कैकेयी द्वारा राम का दण्डकारण्य में निर्वासन, राम द्वारा सीता का वन में निर्वासन भी इसके उहाहरण हैं, किन्तु ये निरपराधियों के निर्वासन दण्ड के कारण नहीं हैं।

यद्यपि दशरथ के एवं राम के राज्य में प्रजा सदाचारी, शास्त्रज्ञ, नीतिनिपुण, धन-धान्य से समृद्ध, निर्लोभी, उदार, शूरवीर, कृतज्ञ थी, किन्तु फिर भी बन्दीजन की स्तुति[३४] द्वारा राजा दशरथ का प्रातःकाल उठना यह दर्शाता है कि उस समय भी अपराधियों को दण्डस्वरूप कारावास में डाला जाता था।

सुधारात्मक सिद्धान्त

वर्तमान युग सुधार का युग है। यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि समाज का वातावरण ही अपराध के लिए उत्तरदायी है। गलती मनुष्य से ही होती है। उसे सुधार का अवसर दिया जाना चाहिए।

राजाभिर्धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः।

---

३०. वा.रा १/४३/३४-३५

३१. चत्वरेषु चतुष्केषु राजमार्गे तथैव च। घोषयन्ति कपि सर्वे चार इत्येव राक्षसा॥ वा. रा. ५/५३/२१-२२

३२. वा.रा २/३६/२३

३३. वा.रा ४/११/५४

३४. वा.रा २/६५/११

निर्मला: स्वर्गमायान्ति शान्तः सुकृतिनो यथा।[35]

यही श्रेयस्करी भावना व्यक्ति को पाप करने से बचाती है। रामायणकालीन समाज में पाप का निवारण दण्ड द्वारा ही कहा है। दण्ड के नानाविध रूपों में मृत्युदण्ड अथवा प्राणान्तिक दण्ड प्रमुख है। आततायी राक्षसों के संहार हेतु ही नारायण ने रामरूप में अवतार लिया। धर्म क्रिया में विघ्नकर्ता राक्षसों का राम ने संहार किया।

पापमाचरं घोरं लोकायाप्रियमिच्छताम्।
अहमासादितो राज्ञा प्राणान् हन्तुं निशाचर।।[36]

ताटकावध, वालीवध, रावणवध, खर-दूषणवध, त्रिशिरावध इत्यादि धर्ममर्यादा के उल्लङ्घनकर्ताओं के दण्ड के उदाहरण हैं। राजाज्ञा का उल्लङ्घन करने वाले[37] एवं कृतघ्नों के लिए भी[38] मृत्यु दण्ड का विधान रामायण में प्राप्त होता है।

रामायणकालीन राज्य धर्मानुप्राणित था। राजा को स्वधर्म का रक्षक एवं प्रजा के धर्मपिता के रूप में स्वीकार किया गया है। कुलधर्म, जातिधर्म, मर्यादा, परम्परा आर्षवाक्यों, रीति-रिवाजों को विधि के रूप में मान्यता दी गई है। इन धर्ममर्यादाओं के उल्लङ्घन करने वाले के प्रति कठोर दण्ड का विधान किया गया है। दण्ड अपराधी के बलावल पर आधारित था, अकारण दण्ड विधान न था। निरपराध को दण्डित नहीं किया जाता था, लेकिन अपराधी के लिए दण्ड आवश्यक था।

रामायण में दो स्थलों पर क्षमादान का भी उल्लेख प्राप्त होता है। वायुदेव की प्रणय याचना को अस्वीकार करने वाली निरपराध कुशनाभ की सौ कन्याओं को वायुदेव ने कुपित होकर कुब्जा कर दिया था, किन्तु फिर भी उन्होंने संयम धैर्य का आश्रय ग्रहण कर वायुदेव को क्षमा कर दिया।

सुग्रीव के मधुवन का अङ्गदादि वानरों ने विध्वंस कर दिया था, किन्तु वे विदेहनन्दिनी सीता का पता लगा लाए थे, अतः दण्डभागी होने पर भी उनके अपराध को सुग्रीव द्वारा क्षमा कर दिया गया था।

प्रीतोऽस्मि सोऽहं यद्भक्तं वनं तैः कृतकर्मभिः।
घर्षितं मर्षणीयं च चेष्टितं कृतकर्मणाम्।।[39]

दण्ड की महत्ता रामायण में सर्वत्र परिलक्षित होती है। जो दण्डनीय पुरुष को दण्ड देता है तथा जो दण्ड का अधिकारी होकर दण्ड भोगता है, उसमें से दण्डनीय व्यक्ति अपराध के फलरूप में शासक का दिया हुआ दण्ड भोगकर तथा दण्ड देने वाला शासक उस फलभोग में कारण बनकर कृतार्थ हो जाते हैं, दुःखी नहीं होते हैं।

क्षान्तं क्षमावतां पुत्र्यः कर्तव्यं सुमहत् कृतम्।।

---

३५. वा. रा.
३६. वा .रा. २/२९/१०
३७. वा.रा ४/५३/२२
३८. वा.रा ३/३४/१७
३९. वा.रा ५/६३/३०-३१

ऐकमत्यमुपागम्य कुलं चावेक्षितं मम॥
अलङ्कारो हि नारीणां क्षमा तु पुरुषस्य वा।
दुष्करं तच्च वै क्षान्तं त्रिदशेषु विशेषत:॥[४०]

वाल्मीकि, कबन्ध, रावण, ताटका, खर, दूषण त्रिशिरा, मारीच, सिद्धार्थक नामक भिक्षुक राक्षस ये सभी शास्त्रानुकूल दण्ड, भोगकर धर्मानूकूल शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हुए।

दण्ड के प्रकारों में अङ्ग, भङ्ग, करना, अङ्ग, विकृति, शापित करना, प्राणान्तिक दण्ड, उपांशु दण्ड, निर्वासन इत्यादि प्रमुख थे।

वर्तमान भौतिकता प्रधान युग में जहाँ नैतिक मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है, पारिवारिक, सामाजिक और नैतिकमूल्य पतन की ओर उन्मुख हैं, वहीं रामायणकालीन सामाजिक, पारिवारिक, राजनीतिक, धार्मिक सांस्कृतिक उच्चादर्शों के माध्यम से परस्पर सौहार्द्र, सामञ्जस्य, बन्धुत्व, प्रेम, सद्भाव, संयम, धैर्य, सहिष्णुता, सह-अस्तित्व जैसे गुणों का विकास कर समाज में शान्ति एवं सुरक्षा की भावना को स्थापित किया जा सकता है।

४०. वा.रा १/३३/६-७

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१८६-१८९)

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणे न्यायव्यवस्था

डॉ० रुद्रेतपाल आर्यः

विदितमेवात्र भवतां यद् वाल्मीकीयरामायणे साम्प्रतं प्रचलितार्थेषु 'विधिः' शब्दस्य प्रयोगः क्वापि नैवासाद्यते, परं तत्र प्रयुक्तो धर्मशब्दः स्वस्मिन् विधिं, नैतिकतां, कर्त्तव्यकर्म चान्तर्दधाति। तदेवं राजाज्ञैव तदानीं विधिपदभाग्भवति स्म, किन्तु नृपस्य स्वेच्छाचारिता नैव प्रशस्या खलु। यतो हि नृपः प्रत्येकं न्यायकरणात्पूर्वं स्वसभायामुपस्थितान् ऋषिजनान् कोविदाँश्चावश्यं विमृशति स्म। तत्सम्मतिमनुसृत्यैवासौ धर्मशास्त्र-लोकाचार-राजधर्मानुकूलं सामयिकञ्च निर्णयं करोति स्म। वयमत्र समासतो रामायणीयन्यायव्यवस्थां प्रतिपादयामः।

न्यायस्यावधारणा

जगति सदैव न्यायः सर्वैरेव बहुमतोऽस्ति। ईसातः ३४० वर्षपूर्वं जातः प्लेटो नाम दार्शनिकोऽकथयत्-मानवस्य कृते न्याय्यमाचरणभत्यावश्यकम्, अन्यथा पशुमनुष्ययोर्नैव कश्चिद् भेदो भविष्यति।

That it is necessary to lay dawn lows for mankind and for them to live according to low, or for them to differ not at all from animals the most savage in every respect.[१]

रामायणस्य इदमेव हार्दं यन्मानवः स्वस्मिन् धर्मे दृढः स्यात्तदनुसारञ्च स्वकार्याणि कुर्यात्। नोचेदसौ समाजं प्रति नैतिकतां प्रति स्वराज्यं च प्रति स्वकर्त्तव्यपालनं नैव कर्तुं शक्नोति तथा चोक्तं किष्किन्धाकाण्डे-

न तेऽस्त्यपचितिर्धर्मे नार्थे बुद्धिरवस्थिता।
इन्द्रियैः कामवृत्तः सन् कृष्यसे मनुजेश्वर॥[२]

वस्तुतस्तु राजादेश एव 'राजाज्ञा' आसीत्तदानीम् परन्तु स्वैरत्वं नैवाद्रियते स्म। तदानीं समाजे सनातनधर्म परायणतोत्कटकोटिक्या आसीत्तथा चोक्तं अयोध्याकाण्डे—

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्म पथे स्थितः।
तथा वर्त्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः॥[३]

श्रेष्ठानामनुकरणं श्रेयसे कल्प्यते स्म। यदा रामेण रावणापहृता सीता स्वीकृता तदा प्रजास्पष्टतया विरोधं कुर्वती व्याहरति-एतत्वस्माभिरप्यनुकरणीयं भविष्यत्यतिखेदकरम् यतो हि-

यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्तते।[४]

---

१. Plato, Geoge bell & sons, 1890, P. 390.
२. वा.रा. किष्कि० १७/२३
३. अयो० ३०/३८
४. उ.का. ४३/१९

अन्यत्रापि—यत्र राजा स्वयं चौरः स अमात्याः स पुरोहिताः

तत्राहं किं करिष्यामि यथा राजा तथा प्रजा।।[५]

अत एव राजापि धार्मिको भवेदिदमनिवार्यमासीत्तथा चाह अथर्ववेदः-

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।[६]

अपराधा दण्डाश्च

वाल्मीकीयरामायणे धार्मिक-नैतिक-सामाजिक-राजनैतिक-सर्वविधापराधानां विवरणमुपलभ्यते। तत्र वैशिष्ट्यमिदमस्ति यत्तत्र पापापराधयोरभेदत्वेन व्यवहारोऽस्ति। तेनोभौ पर्यायत्वेन विराजेते। तत्र प्रमुखापराधा इमे सन्ति-'राजद्रोहः, अग्निकाण्डः, चौर्यं, हत्या विशेषतो ब्राह्मणस्य राज्ञो वा, गोहत्या, रणक्षेत्रतः पलायनं, सेवकानां वृत्तेरप्रदानम्, जलस्य मलिनीकरणम्, विषदानं, लोभो, नास्तिकता, विश्वासघातः, परस्त्रीगमनम्, बलात्कारः, परस्वत्वापहरणं चेति तथा चोक्तम्-

कच्चिन्न ब्राह्मणधनं हृतं रामेण कस्यचित्।
कच्चिन्नाढ्यो दरिद्रो वा तेनापापो विहिंसितः।।[७]
कच्चिन्न परदारान् वा राजपुत्रोऽभिमन्यते।
कस्मात् स दण्डकारण्ये भ्राता रामो विवासितः।।[८]

तदानीमेतेषामपराधानां कृते नैकप्रकारस्य दण्डस्य व्यवस्था आसीत्। चौर्यस्य कृते प्राणदण्डस्य व्यवस्थासीत्तथा हि सुन्दरकाण्डे-

दुःखं वतेदं ननु दुःखिताया मासौ चिरायाभिगमिष्यतो द्वौ।।
वद्धस्य वध्यस्य यथा निशान्ते। राजोपरोधादिव तस्करस्य।।[९]

येन पुरुषेणापराद्धं तस्मात्तत्प्रियवस्तु अपहृत्य तस्य हानिं वा विधाय अपराधी दण्ड्यते स्म। तद्यथा-हनुमतः पुच्छं दग्ध्वा लङ्कायाः राजमार्गेषु सञ्चालयित्वा प्रदर्शनम्। तथा चोक्तं सुन्दरकाण्डे-

लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्।

रामायणस्य अयोध्याकाण्डे रामो भरतं यद्राजनीतिकशिक्षामुपदिदेश तेनेदं सुस्पष्टं भवति तत्समये आर्थिकदण्डविधानमप्यासीत्। नृपाः न्यायाधीशा वा नैव स्वातन्त्र्यं भेजिरे। रामायणस्योत्तरकाण्डे रामस्य न्यायालयस्य वर्णनेनेदं सुव्यक्तं भवति, यदसौ समेषां सभासदां परामर्शेनैवादण्डयत्। तथा चोक्तं तत्रैव-

अथ रामेण सम्पृष्टाः सर्व एव सभासदः।

---

५. उ. का. ४३

६. अथर्व०११.५.१७

७. अयो. का.७२ /४४

८. अयो.का. ७२/४५

९. सुन्दर० २८/७

किं कार्यमस्य वै ब्रूते दण्डो वै कोऽस्य पात्यताम्।
सम्यक् प्रणिहिते दण्डे प्रजा भवति रक्षिता।।[१०]

रामराज्ये दण्डस्य प्रमुखोद्देश्यस्तदानीन्तन-सामाजिक-व्यवस्थाया अक्षुण्णतायाः संरक्षणमेवासीत् अपरश्च-सामाजिकनां समक्षे तथोदाहृतव्यमासीत् येन दण्डभीतोऽन्यः कश्चिद् तदपराधस्यावृत्तिहेतव नोत्सहेत। इदमेव कारणं रामस्य राज्ये सर्वे सर्वाश्च मर्यादिता। भूयः स्व-स्व कर्त्तव्यपालनमकार्षुरन्योऽन्यञ्च ररक्षुः। तथा चोक्तमुत्तरकाण्डे-

सम्यक् प्रणीतया नीत्या नाधर्मो विद्यते क्वाचित्।
तस्माद् राजभयात् सर्वे रक्षन्तीह परस्परम्।।[११]

यदि राजापराधिनं नैव दण्डयेत तर्हि सः स्वयमेवापराधी भवति स्म। यथापराधदण्डयिता च स्वर्गाधिकारी चेति तथाह वाल्मीकिः किष्किन्धाकाण्डे—

शासनाद्वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते।
राजात्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्।।[१२]

न्यायो न्यायाधीशश्च

रामायणकालिकव्यवस्थायां यथा यम ईश्वरीय-न्यायकर्त्तामतस्तथैव पृथिव्यां नृपः सर्वोच्चदण्डाधिकार-सम्पन्नो न्यायाधीशः स्वीकृतः। तद्दण्डमार्त्तत्राणाय भवति स्म न प्रहर्तुमनागसि तथा च रामायणस्योत्तरकाण्डे व्याजहार वाल्मीकिः-

षड्भागस्य च भोक्तासौ रक्षते न प्रजाः कथम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम्।
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।।[१३]

रामायणे लिखितमस्ति कार्यार्थिपुरुषाणामनिर्णीतो विवादो नृपस्योपरि महान्तं दोषं विनिपातयति। यथापराधदण्डकश्च राजा स्वर्गमधितिष्ठति। अत्रेदं विशेषतोऽवधेयं यद् रामायणीय दण्डव्यवस्थाया इदं लक्ष्यं यदनवधानतयाऽपि 'अपराधी' न स्याद् दण्डविनिर्मुक्तः, परं निरपराधो दण्डितो न भवेत्, नो चेत्तदश्रूणि नृपस्य पुत्रान् पशूँश्च निघ्नन्ति तथाऽऽह अयोध्याकाण्डे वाल्मीकिः-

यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव।
तान् पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः।।[१४]

---

१०. उ.का. ५९/२/३१,३२
११. उ०का० ५९/१/१२
१२. किष्क० का०१८/३२
१३. उ०का० ७४/३२
१४. अयो० का० १००/५९

रामायणे न्यायाधीशसंज्ञया ते सर्वेजनाः अभिधीयन्ते ये हि नृपाय न्यायकर्मणि साहाय्यमप्रयच्छन्। राजमन्त्रिणोऽस्मिन् एव वर्गे समायान्ति। एतेषां स्वेषु पदेषु नियुक्तिः राजनीतिकयोग्यतानुरोधेनैव भवति स्म। एतेभ्य इदमपेक्षितमासीत् यदेते निष्पक्षतया स्वकर्त्तव्यकार्याणि कर्त्तारः। मन्त्रिणो न्यायालयस्य सदस्या आसन्। सभा न्यायालयो नासीत् कश्चिद् भेदः। सभैव न्यायिककार्याणि करोति स्म। इदमेव कारणं मन्त्रिणो न्यायसम्बन्धि प्रकरणेषु परामर्शदातृत्वेन प्रदर्शितास्सन्तीति। मन्त्रिणां शुचिता परमावश्यक्यासीत्तथा चोक्तं रामेण भरतं प्रति-

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्।
श्रेष्ठाच्छ्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु।।[१५]

रामायणस्योत्तरकाण्डेनेदं विज्ञाप्यते राजा कस्मादपि निर्णयात्पूर्वं मन्त्रिभिः समं परामृशति स्म। इत्थं तेषां कर्त्तव्यानि भूयांसि साम्प्रतिकन्यायपालिकावदासन्। अत्र सर्वातिशायिमहत्त्वं धर्मशास्त्रवेत्तुरासीत् विदुषो ब्राह्मणस्य राजपुरोहितस्य वेति। राजपुरोहित एव राजगुरुरासीत्। यद्यपीमे न्यायाधीशासनं नैवालङ्कुर्वन्ति स्म, तथापि विधिवादेषु एतद् विहितव्यवस्थैवान्त्यासीत्। तद्यथा दशरथस्य निधनोत्तरं अयोध्यायाः सिंहासनाधिरूढो को भवेदिति विचिकित्सायां सर्वेमन्त्रिणो वसिष्ठं प्रत्यूचुः-

स नः समीक्ष्य द्विजवर्यवृत्तं, नृपं विना राष्ट्रमरण्यभूतम्।
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं, त्वमेव राजानमिहाभिषेचय।।[१६]

अत एवेदं सुव्यक्तं यद् रामायणस्यकाले नृपो निर्णयात्पूर्वं दोषस्य याथातथ्येनान्वेषणं कुर्यादित्येष नियम आसीत्। येनादण्ड्यो न दण्ड्यस्स्याद् दण्ड्यश्च च स्याद् न दण्डवञ्चितः। तथाहि कथितम्-

मानाद्वा यदि वा क्रोधाद्, लोभाद्वा यदि वा भयात्।
यो न्यायमन्यथा ब्रूते, स याति नरकं नरः।।

---

१५. अयो.का. १००/२६
१६. अयो. क. ६७/३८

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१९०-१९७)

वाल्मीकि-रामायण में राजनैतिक अवधारणाएँ

डॉ० रजनी शर्मा

यद्यपि रामायण में राज्य सम्बन्धी प्राचीन सप्ताङ्ग-सिद्धान्त का यथावत् वर्णन उपलब्ध नहीं होता है, तथापि वहाँ अयोध्याकाण्ड में प्रयुक्त 'प्रकृतय:' पद से यह अवश्य ध्वनित होता है कि रामायणकार को उक्त सप्ताङ्ग-सिद्धान्त का संज्ञान अवश्य था। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस सिद्धान्त का क्रमिक वर्णन वहाँ उपलब्ध नहीं है। यत्र-तत्र स्फुटक रूप से ही एतत् सम्बन्धी तत्त्व वहाँ बिखरे पड़े हैं। महर्षि वाल्मीकि ने राज्य के विभिन्न अङ्गों का समय-समय पर आवश्यकतानुसार वर्णन किया हैं। यहाँ हम उन्हीं विप्रकीर्ण मणि-मुक्ताओं को संग्रथित कर मनोहारी हीरक-हारक का निर्माण करेंगे।

वाल्मीकीय रामायण में वर्णित 'अराजक राज्य' की स्थिति से यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में शान्तिव्यवस्था एवं सुख-समृद्धि की आशा तभी की जा सकती थी, जबकि राज्य में कोई राजा हो। वहाँ केवल राजतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था का ही वर्णन प्राप्त होता है। जिससे यह अनुमति होती है कि उस काल में अन्य शासन पद्धितियाँ या तो विलुप्त हो चुकी थीं या उनका जन्म रामायणकाल के बाद हुआ है। अस्तु, रामायणीय राजनैतिक व्यवस्था के आधार पर हम यहाँ अपने विचार प्रस्तुत कर रहे हैं।

राजा का उद्भव

राजा या राजतन्त्र की उत्पत्ति के विषय में रामायण के काण्डों में कोई स्पष्ट रूप से विवरण प्राप्त नहीं होता है। उत्तरकाण्ड में बताया गया है कि सतयुग में सभी लोग विना राजा के थे, आगे चलकर जब इन्द्र देवताओं के राजा बनाये गए जैसा कि स्पष्ट है-

आसन् कृतयुगे राम ब्रह्मभूते पुरायुगे।
अपार्थिवा: प्रजा: सर्वा: सुराणां तु शतक्रतु:।।[1]

तो सभी लोग ब्रह्मा के पास गये और उनसे कहा कि जिस भाँति आपने इन्द्र को देवताओं का राजा बनाया है।

ता: प्रजा देवदेवेशं राजार्थं समुपाद्रवन्।
सुराणां स्थापितो राजा त्वया देव शतक्रतु:।।[2]

उसी तरह हमारे लिए भी किसी श्रेष्ठ पुरुष को राजा बना दीजिए, जिसकी पूजा करके हम सब पाप रहित होकर इस भूतल पर रहें।

प्रयच्छास्मासु लोकेश पार्थिवं नरपुङ्गवम्।

---

१. उ. का. ७६/३७

२. उ.का. ७६/३८

यस्मै पूजां प्रयुञ्जाना धूतपापाश्चरेमहि।।[३]

इस बात को सुनकर ब्रह्मा ने इन्द्र सहित समस्त लोकपालों को बुलाया और कहा कि आप सब लोग अपने तेज का एक-एक भाग दो। ब्रह्मा के कहने पर सभी लोकपालों ने अपने-अपने तेज का भाग उन्हें समर्पित कर दिया।

समाहूयाब्रवीत् सर्वांस्तेजोभागान् प्रयच्छत।
ततो ददुर्लोकपाला: सर्वे भागान् स्वतेजस:।।[४]

उसी समय ब्रह्मा को छींक आयी जिससे 'क्षुप' उत्पन्न हुए तथा ब्रह्मा ने उनको सभी लोकपालों द्वारा दिये हुए तेज भागों से संयुक्त कर दिया।

अक्षुपच्च ततो ब्रह्मा यतो जात: क्षुपो नृप:।
तं ब्रह्मा लोकपालनां समांशै: समयोजयत्।।[५]

तत्पश्चात् 'क्षुप' को राजा के रूप में शासन के लिए भूतल पर भेज दिया।

ततो ददौ नृपं तासां प्रजानामीश्वरं क्षुपम्।
तत्रैन्द्रेण च भागेन महीमाज्ञापयन्नृप:।।[६]

इस प्रकार रामायण के अनुसार 'क्षुप' पृथ्वी पर मनुष्यों के पहले राजा बने और उन्होंने इन्द्र, वरुण, कुबेर, तथा यम द्वारा दिये हुए तेज भागों से शासन किया।

वारुणेन तु भागेन वपु: पुष्यति पार्थिव:।
कौबेरेण तु भागेन वित्तपाभां ददौ तदा।
यस्तु याभ्योऽभवद् भागस्तेन शास्ति स प्रजा:।।[७]

राजा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यह कथा भले ही ऐतिहासिक कसौटी पर खरी न उतरे, किन्तु यह इतना अवश्य सिद्ध करती है कि रामायणकालीन विचार धारा में राजा को ईश्वर प्रदत्त माना जाता था।

यमो वैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल:।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत:।।[८]

राजा की स्थिति एवं महत्त्व

रामायण युग में राजा को अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। ऐसा माना जाता था कि राजविहीन राज्य

---

३. उ.का. ७६/३९
४. उ. का. ७६,४१
५. उ.का. ७६-४२
६. उत्तर का. ७६-४३
७. उत्तर. का. ७६/४४-४५
८. अयो.का. ६७-३५

में शान्ति-व्यवस्था नहीं रह सकती तथा राज्य का विनाश हो जाता था।

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥[९]

महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त विषद रूप से इस बात की विवेचना की है कि राजा के न होने पर राज्य एवं जनता की क्या स्थिति हो जाती है। जैसे कि दृष्टव्य है-

अहो तम इवेदं स्यात्र प्रज्ञायेत किंचन।
राजा चेन्न भवेल्लोके विभजन् साध्वसाधुनी॥[१०]

रामायण में राजा को इन्द्र, कुबेर वरुण तथा यम से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। क्योंकि जहाँ इन्द्र का कार्य केवल पालन करना, कुबेर का धन देना, वरुण का सदाचार को नियन्त्रित करना तथा यमराज का दण्ड देना है, वहीं एक श्रेष्ठ राजा में ये चारों गुण विद्यमान रहते हैं। वह अकेला ही इन चारों के कार्यों को सम्पादित करता है।

यमो वैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल:।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत:॥[११]

राजा को राज्य के अन्तर्गत सत्य एवं धर्म का प्रवर्तक माना गया है। राजा ही प्रजा का पालक है अर्थात् मनुष्यों का हित करने वाला है। रामायण के अनुसार राजा के न होने का प्रभाव, केवल राजविहीन देश की राजनैतिक ही नहीं, अपितु सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व्यवस्थायें भी भंग हो जाती थीं। वहाँ मत्स्य-न्याय जैसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। किसी भी मनुष्य की कोई वस्तु अपनी नहीं रह जाती तथा सभी एक-दूसरे को खा जाने को तैयार रहते हैं। यथा द्रष्टव्य है-

नाराजके जनपदे स्वकं भवति कस्यचित्।
मत्स्या इव जना नित्यं भक्षयन्ति परस्परम्॥[१२]

चोर एवं लुटेरों के कारण राज्य में धनी व्यक्ति सुरक्षित नहीं रह सकते। राजा के न होने पर भले-बुरे का भेद वाला कोई नहीं रह जाता, अत: राज्य में वादी एवं प्रतिवादी के विवाद का संतोषजनक निपटारा भी नहीं हो सकता है।

नाराजके जनपदे सिद्धार्था व्यवहारिण:।
कथाभिरभिरज्यन्ते कथाशीला: कथाप्रियै:॥[१३]

जिस प्रकार राजा के न होने पर देश में विभिन्न प्रकार के संकट मंडराने लगते हैं, उसी के ठीक विपरीत

---

९. अयो.का. ६७-३१
१०. अयो.का. ६७-३६
११. अयो.का. ६७-३५
१२. अयो.का. ६७-३१
१३. अयो.क. ६७-१६

एक योग्य राजा के शासन काल में देश उन्नति की ओर अग्रसर होता है, जनता सम्पन्न रहती है तथा कोई दुःखी नहीं रहता। जैसे कि श्रीराम के शासन में सारी प्रजा धर्म में तत्पर रहती थी।

आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः।
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः॥ [१४]

राजा दशरथ के राज्य में निवास करने वाली जनता, प्रजा धर्मात्मा, सत्यवादी, निर्लोभी प्रसन्न तथा अपने-अपने धन से सन्तुष्ट रहने वाली थी।

तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मानो बहुश्रुताः।
नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धाः सत्यवादिनः॥ [१५]

चारों वर्णों के लोग अपने अपने कार्यों में निरत थे। सब मनुष्य दीर्घायु तथा धर्म और सत्य का आश्रय लेने वाले थे।

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥ [१६]

राजा एवं मन्त्रिपरिषद्

भारतीय संस्कृति में राजा सम्बन्धी विवरण ऋग्वेद में प्राप्त होता है, पर राजा के सहायकों अथवा मन्त्रियों का विवरण यजुर्वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। यहाँ भी उनके कार्यों का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, किन्तु अनुमान लगाया जा सकता है कि उस युग में भी आज की भाँति राजा को परामर्श देने के लिए परामर्शदाता मण्डल होता था। जिसे 'रत्निम' कहकर पुकारा जाता था। ऋग्वेद में प्रयुक्त राजन्य शब्द से यही आभासित होता है कि राजकार्यों के सम्पादन का भार सामूहिक रूप से उस वर्ग के ऊपर था, जिसे राजन्य कहकर पुकारा जाता था। महर्षि वाल्मीकि ने अनेक स्थानों पर मन्त्री शब्द का प्रयोग किया है।

ऋत्विजौ द्वावभिमतौ तस्यास्तामृषिसत्तमौ।
वसिष्ठो वामदेवश्च मन्त्रिणश्च तथापरे॥ [१७]

यहाँ राजमन्त्रियों के गुण और नीतियों का भी उल्लेख है। वहीं पर इन्हें अमात्य अथवा सविच भी कहा गया है।

रोमपादमुवाचेदं सहामात्यः पुरोहितः।
उपायो निरपायोऽयमस्माभिरभिचिन्तितः॥ [१८]

---

१४. युद्ध. का. १२८,१०५
१५ बाल काण्ड ७/७
१६. बाल. का. ६-१९
१७. बाल.का. ७-४
१८. बाल का. १०,२

राजा के इन परामर्शदाताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है, प्रथम श्रेणी में मन्त्रिपरिषद् के वे सदस्य जिन्हें रामायणकार ने गुरवः शब्द से विभूषित किया है।

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सुमन्त्रं मन्त्रिसत्तम।
शीघ्रमानय मे सर्वान् गुरूंस्तान् सपुरोहितान्॥[१९]

ये लोग वे विशिष्ट व्यक्ति थे जिन्हें राजा भी गुरु की भाँति मानता था तथा जिनका कार्य किन्हीं विशेष परिस्थितियों में राजा को मन्त्रणा देने के लिए बुलाया जाता था। यद्यपि ये राजधानी में ही रहा करते थे। जैसे यज्ञ करना, युवराज का चयन, युद्ध की घोषणा करने से पूर्व आदि विषय में अपनी विद्वत्ता के कारण इन्हें 'गुरुवः' कहा जाता था। महाराज दशरथ एवं राम के दरबार में इसी श्रेणी में आने वाले मन्त्रियों में मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, काश्यप, कात्यायन, जाबालि, गौतम तथा नारद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसका उल्लेख उत्तरकाण्ड ७४-सर्ग ४ श्लोक में तथा अयोध्याकाण्ड में भी मिलता है।

मार्कण्डेयोऽथ मौद्गल्यो वामदेवश्च कश्यपः।
कात्यायनो गौतमश्च जाबालिश्च महायशाः॥[२०]

द्वितीय श्रेणी में उन मन्त्रियों को रखा जा सकता है जिन्हें रामायणकार ने सचिव अथवा अमात्य कहकर पुकारा है। जैसा कि बालकाण्ड के ७-१२ द्वारा स्पष्ट है।

तस्यामात्या गुणैरासन्निक्ष्वाको: सुमहात्मनः।
मन्त्रज्ञाश्चेङ्गितज्ञाश्च नित्यं प्रियहिते रताः॥
अष्टौ बभूवुर्वीरस्य तस्यामात्या यशस्विनः।
शुचयश्चानुरक्ताश्च राजकृत्येषु नित्यशः॥[२१]

महर्षि ने दशरथ के आठ अमात्यों धृष्टि, जयंत, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अकोप, धर्मपाल तथा सुमन्त्र, श्रीराम के अशोक, विजय एवं सिद्धार्थ के नामों का उल्लेख किया गया है।

धृष्टिर्जयन्तो विजयः सुराष्ट्रो राष्ट्रवर्धनः।
आकोपो धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चाष्टमोऽर्थवित्॥[२२]

मन्त्रिमण्डल के निर्माण के विषय में महर्षि ने स्पष्ट रूप से कुछ भी उल्लेख नहीं किया है, परन्तु इतना कहा जा सकता है कि मन्त्रियों की नियुक्ति राजा के द्वारा ही की जाती थी। तदनुसार राजा का कर्त्तव्य है कि कुशल नीतिज्ञ, बुद्धिमान्, गुणवान्, राजकीय मन्त्रणा को गुप्त रखने वाले मन्त्रियों को ही नियुक्त करे, जिससे सफल राज्य का सञ्चालन हो सके। बालकाण्ड में द्रष्टव्य है-

मन्त्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सुक्ष्मासु बुद्धिषु।

---

१९. बाल.का. ८/४ सर्ग
२०. अयो.का. ६७-३
२१. बाल का. ७ सर्ग
२२. बाल. का ७-३

नीतिशास्त्रविशेषज्ञा: सततं प्रियवादिन:।।[२३]

रामायण में स्वेच्छाचारी व्यक्ति एवं राजा की भर्त्सना की गई हैं

मन्त्रस्त्रिभिर्हि सुयुक्त: समर्थैर्मन्त्रनिर्णये।
दैवे च कुरुते यत्नं तमाहु: पुरुषोत्तमम्।।[२४]

साथ ही मन्त्रियों से भी यह आशा की जाती थी कि वे निष्पक्ष एवं निर्भय होकर राजा को परामर्श देंगे जैसा कि युद्धकाण्ड में द्रष्टव्य है।

परस्य वीर्यं स्वबलं च बुद्ध्वा, स्थानं क्षयं चैव तथैव वृद्धिम्।
तथा स्वपक्षेऽप्यनुमृश्य बुद्ध्या, वदेत क्षमं स्वामिहितं स मन्त्री।।[२५]

रामायण में उस निर्णय को उत्तम कहा गया है, जिसमें शास्त्रोक्त दृष्टि से सब एकमत होकर कार्य में प्रवृत्त हों। मन्त्री का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वह राजा को अनुचित कार्य करने से रोके, जिसका अरण्यकाण्ड के ४१ वें सर्ग में वर्णन है।

अमात्यै: कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रित:।
निग्राह्य: सर्वथा सद्भि: स निग्राह्यो न गृह्यसे।।[२६]

किन्तु अधिक बोलने वाले तथा विरोध करने वाले परामर्श दाता को दण्डनीय समझा जाता था। ऐसी स्थिति में उसे सभा अथवा परिषद् से निष्कासित कर दिया जाता था। जैसाकि-

इत्युक्त: परुषं वाक्यं न्यायवादी विभीषण:।
उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भि: सह राक्षसै:।।[२७]

इससे स्पष्ट है कि भले ही उस युग में आज की भाँति सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का विकास न हुआ हो फिर भी मन्त्रिमण्डल की एकता पर विशेष ध्यान दिया जाता था।

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नर: क्वच्चित्।।[२८]
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नर:।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्।।[२९]

---

२३ बाल. का (१९/७ सर्ग
२४. युद्ध काण्ड ६,७,८
२५. यु०का० १४/२२
२६. अरण्य का.४१,६-७
२७. युद्ध काण्ड १६-१७
२८. वा.का. ७-१४
२९. बाल.का.७.१५

सभा-संगठन, शक्तियाँ एवं कार्य

रामायण युग में मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त दूसरी महत्त्वपूर्ण राजनीतिक संस्था सभा थी। यद्यपि रामायणीय सभा, वैदिक सभा तथा समिति का एक ही रूप थी, तथापि रामायणकाल में सभा को उतना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं था,[३०] जितना कि उसे वैदिक युग में प्रदान किया जाता था। वैदिक साहित्य में सभा शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। मन्त्रणा भवन बातचीत करने का स्थान, जुआ खेलने का स्थान, राजसभा आदि अर्थ में किया है।

इससे सुतरां स्पष्ट है कि रामायणकाल में सभा, राजनीति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग थी। जिसके माध्यम से नागरिक राजकार्य में भाग लेते थे। सभा के सदस्यों को सभासद् कहकर पुकारा जाता है था।

तद्वाक्यं धर्मसंयुक्तं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।

हर्षान्मुमुचुरश्रूणि रामे निहितचेतसः।।[३१]

सभासदों के लिए आर्यः, भवन्तः, भवद्भिः' आदि सम्बोधनों का प्रयोग किया जाता था। जैसा कि अयोध्याकाण्ड में-

आसनानि यथान्यायमार्याणां विशतां तदा।।[३२]

सभा के संगठन के बारे में रामायणकार का कोई सुस्पष्ट विवरण प्राप्त नहीं होता है, परन्तु प्राप्त विवरण से इतना ज्ञात होता है कि अयोध्या की सभा में दो प्रकार के सदस्य होते थे। सरकारी तथा गैरसरकारी। प्रथम श्रेणी में ब्राह्मण, मन्त्री, अमात्यगण एवं सचिवों को रखा जाता था। ये राज्य की सेवा के लिए राजा द्वारा नियुक्त सभा के पदेन सदस्य होते थे। द्वितीय श्रेणी में-पौरजानपद तथा नैगमों के अतिरिक्त क्षत्रिय राजा लोगों को माना जा सकता है। जोकि अयोध्याकाण्ड में द्रष्टव्य हैं।

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः। ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह।।

समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः। ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम्।।[३३]२०

लङ्का राज्य में सभा के संगठन का आधार अयोध्या से भिन्न था। लङ्का की सभा में मन्त्री एवं अमात्यों के अतिरिक्त राजा, राजा के मित्र एवं सम्बन्धी भी हुआ करते थे। युद्धकाण्ड में जैसा कि स्पष्ट है। एकादश सर्ग के द्वितीय श्लोक में-

अतीव समये काले तस्मिन् वै युद्धि रावणः। अमात्यैश्च सुहृद्भिश्च प्राप्तकालममन्यत।।[३४]

अयोध्या तथा लङ्का दोनों ही स्थानों पर सभाभवन सोने-चाँदी, हीरे जवाहारात आदि से मण्डित हुआ करते थे। सभा का सभापति राजा होता था। सभा प्रारम्भ होने पर सर्वप्रथम राजा सभासदों को सम्बोधित करते हुए

---

३० उत्तरकाण्ड ५९/१३

३१. अयो. का. ५,२९

३२. अयो. का.८२-२

३३ अयो०का०(२.१९-२० सर्ग

३४ युद्धकाण्ड (११-२

सभा को बुलाये जाने का उद्देश्य बताते हुए अपनी इच्छा व्यक्त करता था। सभा द्वारा निर्णय लिए जाने के पश्चात् राजा अपने अमात्यों या सचिवों को उसे कार्यान्वित करने का आदेश देता था। अयोध्याकाण्ड के तीसरे सर्ग में स्पष्ट है।[३५] अत: स्पष्ट है कि सभा की स्थिति महत्त्वपूर्ण थी, पर सभा की सहमति से लिये गये निर्णयों-जैसे युवराज का चयन, युद्ध सम्बन्धी निर्णय, राजा द्वारा पदत्याग, राज्याभिषेकादि को क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर था।

स्थानीय शासन के तत्त्व

रामायण में यद्यपि अनेकों स्थानीय संस्थाओं का वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है। इन संस्थाओं में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान पौरजानपद को प्राप्त था। पौरजानपद के दो भाग माने जाते हैं-आन्तरिक, एवं बाह्य। इनमें से एक राजधानी का स्थानीय प्रबन्ध देखने के कारण पौर तथा दूसरा नगर से बाहर का प्रबन्ध देखने के कारण जानपद कहलाता है। नागरिकों की भाँति ही दस्तकारों तथा व्यापारियों के संघ भी हुआ करते थे। जिन्हें श्रेणीवार तथा नैगम कहकर पुकारा जाता था। जैसा कि अयोध्याकाण्ड के १०५ सर्ग में स्पष्ट है।

श्रेणयस्त्वां महाराज पश्यन्त्वग्र्याश्च सर्वश:।[३६]

न त्वं प्रकृतय: सर्वा: श्रेणीमुख्याश्च भूषिता:।[३७]

अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा॥[३८]

रामायणकाल में इन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था॥ इनकी न्यायालय तथा महत्त्वपूर्ण अवसरों पर उपस्थिति आवश्यक थी। राजा दशरथ ने जब राम को वन भेज दिया तो उन्हें इसका भी दु:ख था कि विना सुहृदों, मन्त्रियों एवं नैगमों से पूछे उन्होंने ऐसा कार्य कर दिया। अयोध्याकाण्ड में एकोनषष्टितम: सर्ग: में इसका बड़ा ही मनोरम वर्णन है।

न सुहृद्भिर्नचामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमै:। मयायमर्थ: सम्मोहात् स्त्रीहेतो: सहसा कृत:॥[३९]

यद्यपि रामायणकार ने अनेक स्थानीय संस्थाओं का वर्णन करते हुए भी उनके कार्यों का उल्लेख नहीं किया है, तथापि यह कहा जा सकता है कि जब इन संस्थाओं का इतना महत्त्व था कि राज्य भी इन्हें मान्यता प्रदान करते हुए भी सभी महत्त्वपूर्ण अवसरों पर इनकी उपस्थिति एवं सहयोग को आवश्यक समझा जाता था तो यह निश्चित है कि इनके कार्य भी महत्त्वपूर्ण ही रहे होंगे।

---

३५ अयो०का० ३,३-७

३६. अयो. का. १०५-११

३७. अयो. का.

३८. अयो. का.२६-१४

३९. अयो.का. ५९-१९

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०१९८-२०५)

प्राचीन भारत में अमात्य-व्यवस्था

(रामायण के विशेष संदर्भ में)

कुणाल मेहता

अमात्य

प्राचीन भारतीय राजशास्त्र में अमात्य को राज्य की सप्त प्रकृतियों (सप्ताङ्ग-सिद्धान्त) में द्वितीय स्थान प्रदान किया गया है। अमात्य शब्द मन्त्री (बुद्धि सुचिव) के साथ-साथ (कर्म सचिव) का भी द्योतक है। हमारे प्राचीन आचार्यों ने अमात्य के महत्त्व को अनेक प्रकार से स्थान-स्थान पर स्वीकार किया है। कौटिल्य ने 'अर्थशास्त्र' में राजा और मन्त्री (अमात्य) की तुलना रथ के दो पहियों से की है और कहा है कि राजतन्त्र सहायकों की सहायता पर ही आधारित है। जिस प्रकार एक पहिये से रथ नहीं चल सकता, उसी प्रकार अकेला राजा शासन का सञ्चालन नहीं कर सकता है।[१] मनु का भी यही कथन है कि राजकार्य अत्यन्त गुरुतर (महत्त्वपूर्ण) कार्य है, यह विना दूसरों की सहायता से सम्पन्न नहीं किया जा सकता।[२] शुक्र ने तो यहाँ तक कहा है कि राजा को विना मन्त्रियों (अमात्यों) की सहायता के शासन करना ही नहीं चाहिये, अन्यथा वह राज्य को विपत्ति में डालकर स्वयं भी विनाश कह ओर अग्रसरित होगा।[३] कामन्दक भी मन्त्रीहीन राजा की तुलना पंख-विहीन पक्षी से करते हैं।[४] मन्त्री अमात्य के महत्त्व को स्वीकारते हुए ही विद्वानों ने अमात्य को राजा के नेत्र, कर्ण तथा हृदय माना है।

'रामायण' में मन्त्री के महत्त्व को अनेक स्थानों पर व्यक्त किया गया है। श्रीराम के अनुसार एक मेधावी, शूरवीर अमात्य राजा को महती श्री की प्राप्ति करा सकता है।[५] रामायण में ही राम एक अन्य स्थान पर कहते हैं कि मन्त्री **'विजयमूलम् राज्ञो भवति राघव।'**[६] रावण ने भी एक स्थान पर कहा है कि अमात्य (मन्त्री) के महत्त्व के कारण ही राजा अपने मन्त्रियों का गुरुवत् आदर करते हैं।[७]

रामायण में सचिव, अमात्य, मन्त्री तीनों शब्दों (उपाधियों) का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है उस काल में ये शब्द पर्यायवाची माने जाते थे। बालकाण्ड में सप्तम सर्ग में 'सुमन्त्र' को अमात्य, लेकिन अष्टम

---

१. अर्थशास्त्र १/७

२. मनुस्मृति ७/५५

३. शुक्रनीति २/२/४

४. नीतिसार १४/२५

५. रामायण, अयोध्याकाण्ड ९४/१९ एकोऽप्यमात्योमेघा वीरशूरैदक्षोविचक्षण:। राजांन राजापुत्र वा प्रपयेन्महतीथियम्॥

६. रामायण अयोध्याकाण्ड १००/१६

७. रामायण अयोध्याकाण्ड ७/१७

वर्ग में 'सुमन्त्र' को मन्त्री कहा गया है।[८] रावण के मन्त्री को सचिव तथा मन्त्री दोनों सम्बोधन किये गए हैं। प्रतीत होता है कि यो दोनों शब्द भिन्न-भिन्न पदों के द्योतक थे, क्योंकि रामायण में ही ये दोनों शब्द एक साथ भी प्रयुक्त हुए हैं।[९]

मन्त्रियों की संख्या पर भी प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में मत-भिन्नता रही है। साधारणतः तीन मत पाये जाते हैं। मनु, बृहस्पति और उशना के अनुसार मन्त्रियों की संख्या अधिक १२ या १३ या २० होनी चाहिए।[१०] इसके विपरीत मध्यकालीन राजशास्त्रप्रणेता सोमदेव का मत है कि मन्त्री केवल १० होने चाहिए। तृतीय मत के अनुसार मन्त्रियों की संख्या आवश्यकता या राज्य की सामार्थ्य के अनुरूप होनी चाहिए। इस मत के प्रवर्तक कौटिल्य थे।[११] रामायण में मन्त्रियों की संख्या भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न मिलती है।

एक स्थान पर श्रीराम अपने भाई भरत से प्रश्न करते हैं कि क्या तुम नीतिशास्त्र के अनुसार तीन या चार मन्त्रियों से मन्त्रणा करते हो। रावण तथा विभीषण भी चार मन्त्रियों से विचार-विमर्श करते हुए ही दीखते हैं। एक अन्य स्थान पर दशरथ के आठ अमात्यों का भी उल्लेख मिलता है।[१२] संभवतः रामायण-काल में भी मन्त्रियों की नियुक्ति आवश्यकतानुसार की जाती थी।

गुण

प्राचीन भारत में भी आज की भाँति शासन-सूत्र का सफल सञ्चालन मन्त्रियों के अधीन था। इसलिए हमारे प्राचीन राजनीतिक चिन्तकों ने उनमें अपेक्षित गुणों का उल्लेख किया था। 'कौटिल्य' ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों की विवेचना भी की है। आचार्य भारद्वाज के अनुसार राजा को अपने सहपाठियों में से मन्त्रियों की नियुक्ति करनी चाहिये, क्योंकि राजा उनके गुणों से भली-भाँति परिचित रहते हैं। आचार्य विशालाक्ष का मत है कि राजा जिनके गुप्त रहस्य जानता हो, उनको मन्त्रीपद पर नियुक्त करे, क्योंकि रहस्य प्रकट होने के भय से वे राजा के विपरीत आचरण नहीं करेंगे। इसी प्रकार आचार्य पाराशर स्वामिभक्त, नीतिकुशल, योग्य, अभिजातकुल के, बुद्धिमान् तथा शासन कार्य में दक्ष व्यक्ति को ही मन्त्री पद पर नियुक्त करने का आदेश देते हैं। आचार्य कौटिल्य भी इन्हीं गुणों के समर्थक हैं।[१३] मनु, याज्ञवल्क्य, विष्णु, बृहस्पति आदि स्मृतियों ने भी मन्त्री में अपेक्षित गुणों की व्याख्या की है, लेकिन उनकी विवेचना कौटिल्य जैसी विस्तृत नहीं है।

रामायण से भी मन्त्रियों के गुणों पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। राजा दशरथ के मन्त्री उनके (राजा) के हित-साधन में संलग्न, विद्याविनीत, लज्जाशील, कार्यकुशल जितेन्द्रिय, दृढ़ विक्रम-सम्पन्न, कीर्तिमान्,

---

८. रामायण सुन्दरकाण्ड ७ अध्याय एवं ८ अध्याय
९. रामायण सुन्दरकाण्ड ४७/१३ एवं युद्धकाण्ड ११/२५
१०. मनुस्मृति ७/५४
११. नीतिवाक्यामृत-१०.६६ से ७४ तक
१२. रामायण, अयोध्याकाण्ड १००/७२, युद्ध.क. १२७/११, बाल.क. ७.१ से २ तक
१३. अर्थशास्त्र १.८ व ९

तेजस्वी, क्षमाशील थे। वे कभी भी काम-क्रोध के वशीभूत नहीं होते थे और न मिथ्या वचन ही बोलते थे। उन्हें शत्रुपक्ष की स्थिति का पूर्ण ज्ञान था। वे पक्षपात से दूर थे और अपने दण्डनीय पुत्र को भी दण्ड देने के लिए तत्पर रहते थे। उनके प्राक्रम की सर्वत्र ख्याति थी।[१४] रामायण में ही श्रीराम एक स्थान पर शूरवीर, जितेन्द्रिय और श्रेष्ठ अमात्यों की नियुक्ति का आदेश देते हैं।[१५]

मनु के अनुसार मन्त्रिपरिषद् पर ब्राह्मण को ही नियुक्त करना चाहिए।[१६] लेकिन बृहस्पति के अनुसार योग्य ब्राह्मण के अभाव में क्षत्रिय या वैश्य को भी मन्त्री पद पर नियुक्त किया जा सकता है।[१७] रामायण से यह ज्ञात नहीं होता है कि मन्त्री किस वर्ण का होना चाहिए। लेकिन रामायण के एक उदाहरण से प्रतीत होता है कि अभिजात कुल के मन्त्री ही श्रेष्ठ माने जाते थे। राजा दशरथ के मन्त्रियों को द्विज तथा ब्रह्मर्षि कहा गया है।[१८] मन्त्रियों की परीक्षा उपधा-प्रणाली द्वारा ली जाती थी। उपधा चार प्रकार की होती थी—धर्मोपधा, कामोपधा, अर्थोपधा, तथा भयोपधा। कौटिल्य चारों परीक्षाओं में उत्तीर्ण व्यक्ति को ही मन्त्री पद के योग्य मानते हैं।[१९] रामायण में भी एक स्थान पर श्रीराम भरत से उपधा द्वारा परीक्षित व्यक्ति को ही मन्त्री-पद पर नियुक्त करने को कहते हैं।[२०]

कार्य

वैदिक युग में मन्त्री राजा के निर्वाचन में भाग लेते थे। कालान्तर में मन्त्रियों का यह अधिकार समाप्त हो गया, लेकिन मन्त्रियों का मन्त्रणा का अधिकार अक्षुण्ण बना रहा। प्राय: प्राचीन भारतीय आचार्य इसी के समर्थक हैं कि राजा समस्त कार्य मन्त्रियों की सम्मति (मन्त्रणा) से ही करे। मनु के अनुसार मन्त्रियों की अवहेलना करने वाला शीघ्र ही अपने शत्रुओं से पराभूत होता है।[२१] वैसे तो मन्त्रियों का मुख्य कार्य राजा को मन्त्रणा देना था, परन्तु वे प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष भी होते थे। मन्त्रिपरिषद् में मन्त्रणा, कार्यों का आरम्भ और उनकी पूर्ति, आय व्यय का लेखा, सैनिकों की नियुक्ति, शत्रुओं का दमन, राष्ट्ररक्षा, युवराज-रक्षा एवं उनका अभिषेक आदि थे। कौटिल्य के अनुसार भी मन्त्री ही सब कार्यों का स्रोत है। राजा विदेशी 'दूत' और 'चरों' से मन्त्रियों की उपस्थिति में ही मिलता था। न्यायकार्य, सेना-नेतृत्व तथा कोषसंग्रह भी मन्त्रियों का ही कार्य था। राजा की मृत्यु के पश्चात् मन्त्रियों का उत्तरदायित्व और अधिक बढ़ जाता था। आवश्यकता पड़ने पर वे राज्य का शासनभार भी संभालते थे

---

१४. रामायण, बालकाण्ड-अध्याय-७ एवं बालकाण्ड -६७.१९
१५. रामायण, अयोध्याकाण्ड ९४-२१
१६. मनुस्मृति ७/७८
१७. बृहस्पति स्मृति-१.१/७५
१८. रामायण बालकाण्ड -७.३ व ४
१९. अर्थशास्त्र-१/१०
२०. रामायण, अयोध्याकाण्ड -९४/२१
२१. मनुस्मृति-७/५७ से ५९ तक

या योग्य व्यक्ति को शासन का अधिकारी भी बना सकते थे। रिक्त सिंहासन पर किसी को प्रतिष्ठित करना तथा उनके अल्पवयस्क होने की स्थिति में संरक्षक के रूप में शासन करना भी मन्त्रियों का ही कार्य था।[२२] रामायण से भी ज्ञात होता है कि मन्त्रियों ने राम का अभिषेक किया था।[२३] मन्त्रियों ने ही वाली को उसके पिता के सिंहासन पर अभिषिक्त किया था।[२४]

रावण के मन्त्री शुक्र और सारण ने छद्म रूप धारण कर के राम की सैनिक शक्ति का माप तोल किया था।[२५] अन्यत्र भी रावण अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा करते, सैन्यसञ्चालन करते तथा युद्ध करते हुए दीखते हैं।[२६] दशरथ के मन्त्री न्यायकार्य भी करते थे। वे अपराधी के बलाबल का विचार कर उसे तीक्ष्ण अथवा मृदु दण्ड देते थे।[२७] श्रीराम भी भरत से प्रश्न करते हैं कि 'क्या तुम्हारे बहुज्ञ मन्त्री धन आदि का लोभ त्यागकर प्रार्थी की प्रार्थना पर विचार करते हैं।'[२८] इन सभी से मन्त्रियों के कार्यों पर प्रकाश पड़ता है। इस प्रकार मन्त्रियों के कार्य असीमित थे। मन्त्री राजा के राजनीतिक, धार्मिक, तथा वैयक्तिक कार्यों के संपादन में सहयोग देते थे।[२९] मन्त्रियों के द्वारा दिया गया योगदान ही राजा की क्षमता और योग्यता है।

मन्त्रणा प्रणाली

मन्त्री का प्रधान कार्य राजा को मन्त्रणा देना था। इसी कारण हमारे राजनीतिक चिन्तकों ने मन्त्रणा-प्रणाली पर भी विचार-मन्थन किया है। उनके अनुसार राजा को मन्त्रियों के साथ पृथक्-पृथक् अथवा एक साथ मन्त्रणा करनी चाहिए। इस प्रकार अन्तिम निर्णय राजा का ही होता था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शासन के लिए राजा ही उत्तरदायी होता था। मनु इसी मत के समर्थक हैं।[३०] लेकिन कौटिल्य बहुमत के आधार पर निर्णय के समर्थक हैं।[३१] प्राचीन भारत में मन्त्रियों को अपना मत व्यक्त करने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी। कौटिल्य तो अनुपस्थित मन्त्री के मत को भी पत्र-व्यवहार द्वारा ज्ञात करना आवश्यक मानते हैं।[३२]

रामायण से मन्त्रणा-प्रणाली का बहुत कम ज्ञान प्राप्त होता है। रामायण में भी राजा का यह अधिकार

---

२२. अर्थशास्त्र ५/६
२३. रामायण बालकाण्ड ४१,११ व १२
२४. रामायण किष्किन्धाकाण्ड ९,२ तथा २१,२२
२५. रामायण युद्धकाण्ड २५/१३ से २१ तक
२६. रामायण उत्तरकाण्ड २१/३१
२७. रामायण बलाकाण्ड ७.१० से ११
२८. रामायण अयोध्या काण्ड १००/५८
२९. रामायण बालकाण्ड १२/१४
३०. मनुस्मृति ७.५७ से ६० तक
३१. अर्थशास्त्र १.१५
३२. अर्थशास्त्र १.१४/ से १८

स्वीकार किया गया है कि वह अपने मन्त्रियों के साथ पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से मन्त्रणा करे। श्रीराम ने एक स्थान पर भरत से प्रश्न किया है कि क्या तुम नीतिशास्त्र के अनुसार अपने मन्त्रियों के साथ पृथक्-पृथक् अथवा सम्मिलित रूप से एक साथ मन्त्रणा करते रहे हो।[३३] राम इस विचार के समर्थक नहीं है कि राजा किसी गूढ़ विषय पर अकेले ही विचार करे। राजा को अपने मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा अवश्य ही करनी चाहिये, लेकिन राम अपने मन्त्रियों से सम्मिलित रूप से या सभी से पृथक्-मन्त्रणा के विरुद्ध हैं। क्योंकि इससे भेद खुलने का (प्रकट होने का) भय रहता है।[३४]

रामायण में तीन प्रकार की मन्त्रणा का उल्लेख है-उत्तम, मध्यम तथा अधम। उत्तम मन्त्रणा वह होती है जिसमें सभी मन्त्री एकमत हों। मध्यम में प्रारम्भ में तो सबके बीच मतभेद होते हैं, लेकिन अन्त में सब मन्त्री एकमत हो जाते हैं। अधम मन्त्रणा में मतभिन्नता के बाद एकमत होने पर भी कल्याण-भावना का अभाव रहता है अर्थात् मतभेद मनों में बने रहते हैं।[३५] रामायण में राजा के लिये मन्त्र-कुशल होना नितान्त आवश्यक माना गया है। सुग्रीव मन्त्रज्ञानी और मन्त्रकुशल थे।[३६]

प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मन्त्र के गुप्त रहने व रखने पर भी अत्यधिक बल दिया है। मनु के अनुसार तो धनहीन राजा भी मन्त्रणा गुप्त रखकर दीर्घकाल तक समस्त पृथ्वी का उपभोग कर सकता है। कौटिल्य के अनुसार तो मन्त्रणा-गृह में पशु-पक्षी के प्रवेश का भी निषेध होना चाहिये।[३७] क्योंकि इससे मन्त्रणा के प्रकट होने का भय बना रहता है। कुछ आचार्यों के अनुसार तो राजा को गुप्त बातों पर स्वयं ही विचार करना चाहिये, क्योंकि मन्त्रियों के अपने विश्वसनीय होते हैं और उन विश्वसनीयों के भी अपने विश्वासपात्र होते हैं।

यह विश्वास की शृङ्खला गुप्त बात के लिये घातक हो सकती है। आचार्य पाराशर का मत है कि राजा मन्त्रियों से मन्त्रणा तो ले, परन्तु उन पर योजना प्रकट न करें।[३८] सारांश में यही कहा जा सकता है कि सभी आचार्य इस बात पर तो एकमत है कि राजा को प्रत्येक कार्य में मन्त्रियों से विचार विमर्श करना चाहिये, किन्तु प्रत्येक मन्त्री से नहीं वरना जो विश्वासपात्र हों उन्हीं से मन्त्रणा करे। मनु के अनुसार राजा को महत्त्वपूर्ण विषयों पर केवल मुख्यमन्त्री (प्रधानमन्त्री) से ही मन्त्रणा करनी चाहिए।[३९]

रामायण से मन्त्रगुप्त रखने का महत्त्व सिद्ध होता है। श्रीराम के अनुसार अच्छी मन्त्रणा ही राजा की

---

३३. रामायण अयोध्याकाण्ड ९४/१३ तथा १००-७१

३४. रामायण अयो. काण्ड ९४/१३ व १४

३५. रामायण युद्ध काण्ड. ११ से १४ तक

३६. रामायण कि. काण्ड. २

३७. अर्थशास्त्र. १५

३८. अर्थशास्त्र. १५ व १६

३९. मनुस्मति. ५८

विजय का मूल है वह तभी सफल होती है, जब नीतिशास्त्र-निपुण मन्त्री या अमात्य उसे गुप्त रखते हैं।[४०] श्रीराम भरत से प्रश्न करते हैं कि कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्तमन्त्रणा फूटकर शत्रु-राज्य तक फैल जाती हो अथवा तुम्हारे मन्त्रियों के प्रकट न करने पर भी दूसरे लोग तर्क और युक्ति द्वारा उसे जान लेते हों?[४१] वे तो यहाँ तक कहते हैं कि अपनी स्त्रियों का भी विश्वास नहीं करना चाहिये।[४२] रामायण में ही मन्त्र को गुप्त रखने के महत्त्व को दर्शाते हुए कहा गया है कि मन्त्रणा अधिक मन्त्रियों के साथ नहीं करनी चाहिये। इससे मन्त्रणा के प्रकट होने का भय रहता है।[४३] एक अन्य स्थान पर श्रीराम भरत से कहते हैं कि कोई भी कार्य पूर्ण होने पर अथवा पूर्ण होने के समीप पहुँच पर ही दूसरों को ज्ञात होना चाहिये।[४४]

मन्त्री-परिषद् और प्रधानमन्त्री

प्राचीन भारत में वर्तमान युग की भाँति मन्त्रियों का सम्मिलित उत्तरदायित्व था अथवा नहीं, यह अज्ञात है। किन्तु हमारे प्राचीन साहित्य तथा अभिलेखों से एक संस्था का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि मन्त्री संगठिन रूप से कार्य करते थे। संस्था मन्त्रिमंण्डल, मन्त्रि-परिषद्, पाली-साहित्य में 'परिसा' आदि के नामों से जानी जाती थी। रामायण में भी सचिव-मण्डल[४५] का उल्लेख मिलता है।

कौटिल्य के अनुसार भी सभी मन्त्री एक परिषद् के सदस्य होते थे।[४६] इसके अनुसार मन्त्रियों को दो वर्गों मे विभक्त किया जा सकता है। ज्येष्ठ और कनिष्ठ। कनिष्ठ मन्त्री परिषद् के सदस्य नहीं होते थे। प्राचीन अभिलेखों में भी यदा कदा मन्त्रियों की पदवी के साथ महा विभक्ति जुड़ी मिलती है, जैसे-महामन्त्री, महामात्य, महासचिव आदि रामायण में मन्त्रिपरिषद् के संगठन का कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। एक स्थान पर श्रीराम केवल चार मन्त्रियों के साथ मन्त्रणा करने का आदेश देते हैं।[४७]

प्रधानमन्त्री

प्रधानमन्त्री मन्त्रिपरिषद् का नेता (प्रमुख) होता था। उसे मुख्यमन्त्री अथवा महामन्त्री भी कहा जाता था। वह राजा की अनुपस्थिति में मन्त्रिपरिषद् का सञ्चालन करता था। वास्तव में वह राजा और मन्त्रिपरिषद् के मध्य की कड़ी था। रामायण में प्रधानमन्त्री का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है। उनके गुणों एवं कार्यों का काई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। रावण की सभा में भिन्न-भिन्न विषयों के लिय उचित सम्मति देन वाले मुख्यमन्त्री तथा कर्तव्य निश्चय

---

४०. रामायण अयो. काण्ड ९४-११
४१. रामायण अयो. काण्ड ९४-१२ व १३
४२. रामायण अयो. काण्ड १००-४६
४३. रामायण अयो. काण्ड १००-७१
४४. रामायण अयो. काण्ड १००-२०
४५. रामायण अयो. काण्ड १००-१८ से २२ तक
४६. अर्थशास्त्र. १५
४७. रामायण अयो. काण्ड १००-६७

में पाण्डित्य का परिचय देने वाले अमात्य उपस्थित रहते थे।[४८]

मन्त्री और राजा का सम्बन्ध

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तकों के अनुसार राजा और मन्त्री के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ और सौहार्द्रपूर्ण होने चाहिये। 'कौटिल्य' तथा 'शुक्र' राजा को यही आदेश देते हैं कि वह समस्त कार्य अपने मन्त्रियों के परामर्श से करे।[४९]

दूसरी ओर मन्त्री का भी कर्तव्य था कि वह राजा के हित का ध्यान रखकर उसको उचित परामर्श दे। 'शुक्र' ने ठीक ही कहा है कि मन्त्रियों की अवहेलना करने वाले राजा तथा राजा के प्रतिकूल चलने वाला मन्त्री दोनों ही चोर हैं।[५०] मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि राजा अपने प्रधनमन्त्री का विश्वास करके शासन का भार उसी को सौंप दें। कामान्दक का भी कथन है कि सर्वसम्मति से किया हुआ मन्त्रियों का निर्णय राजा को मान्य होना चाहिये। सोमदेव के अनुसार वह राजा, राजा नहीं, जो मन्त्रियों की अवहेलना करे।[५१]

रामायण से भी राजा और मन्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यदि राजा मन्त्री की योग्यता से विजयश्री प्राप्त करता है तो मन्त्री राजा की कृपा से धर्म, अर्थ काम और यश प्राप्त करते हैं।[५२] राजा और मन्त्री के सम्बन्ध वंशानुगत एवं घनिष्ठ होते थे। एक ओर मन्त्री की नियुक्ति राजा करता था, तो दूसरी ओर मन्त्री स्वेच्छाचारी राजा को कुमार्ग पर जाने से रोकते थे।[५३] ऐसा न करने वाला मन्त्री निन्दनीय ठहराया जाता था। मारीच रावण से कहता है कि तुम्हारे सचिव तुम्हें कुमार्ग पर जाने से नहीं रोकते, वध के योग्य हैं।[५४] यदि राजा अयोग्य मन्त्रयों को दण्ड देता था तो योग्य मन्त्रियों का राजा यथेष्ट आदर भी करता था। राजा दशरथ के मन्त्री गुरु तुल्य आदरणीय थे।[५५]

रामायण में अनेक स्थलों पर राजा को मन्त्रियों से विचार विमर्श करके ही कार्य करने का आदेश दिया गया है। कुम्भकर्ण के अनुसार जो राजा मन्त्रियों के साथ क्षय आदि के लिए उपयुक्त समय का विचार करके कार्य करता है। वही कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक कर सकता है और ऐसा ही राजा उत्तम नीति के मार्ग का अनुसरण करने वाला कहलाता है।[५६]

---

४८. रामायण युद्ध. काण्ड. १४ से २६
४९. अर्थशास्त्र. ६
५०. शुक्रनीति. २४७ से २४९ तक
५१. नीतिवाक्यामृत १०
५२. रामायण अरण्यकाण्ड. ४
५३. रामायण अरण्यकाण्ड. ६
५४. रामायण अरण्यकाण्ड. ६
५५. रामायण अरण्यकाण्ड. १४
५६. रामायण अरण्यकाण्ड. ७ व ८१

राजा को चाहिये कि व्यवहार द्वारा प्रथम तो मन्त्रियों को पहिचानने का प्रयत्न करे और उन्हीं मन्त्रियों से विचार-विमर्श करे, जो अर्थतत्त्वज्ञ एवं बुद्धिजीवी हों।[५७] हनुमान् के अनुसार मन्त्री का भी कर्तव्य है कि वह राजा को उसके हित की बात बतलाये। हनुमान् ने भोग में लिप्त सुग्रीव को परामर्श दिया था कि वह भोग को त्याग कर सीता की खोज के लिए प्रयत्नशील हो।[५८] इसी नीति का रावण के मन्त्री सुपार्श्व तथा माल्यवान् ने भी पालन किया था और रावण को राम से सन्धि करने के लिए बहुत समझाया था।[५९]

इस प्रकार प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था में अमात्य राज्यव्यवस्था में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करते थे। हम कह सकते हैं कि शासन-व्यवस्था तभी सफल कहलाती थी जब राजा और मन्त्री मिलकर परस्पर सहयोग से कार्य करते थे।

५७. रामायण बाल. काण्ड. १८

५८. रामायण बाल. काण्ड ९२/६३

५९. रामायण बाल. काण्ड. ६०

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२०६-२२२)

वेदों के आलोक में वाल्मीकि-रामायण तथा रामचरितमानस में राजा का स्वरूप

डॉ० मृदुला जोशी

वैदिक राज्य-व्यवस्था एक आदर्श व्यवस्था है। इस व्यवस्था के सञ्चालक राजा के स्वरूप का विस्तृत वर्णन हमें वेदों में प्राप्त है। इनमें राजा के अन्तर्बाह्य गुणों का वर्णन, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण, दिनचर्या, रण-कौशल आदि के यत्र-तत्र संकेत प्राप्त होते हैं। वेद के अनेक सूक्तों में 'अग्नि' और 'इन्द्र' शब्द राजा या सम्राट्परक अर्थों में लिये गये हैं। इनके विशेषण रूप में प्रयुक्त अनेक शब्द भी राजा के वैयक्तिक गुणों का आदर्श हमारे सम्मुख प्रस्तुत करते हैं।

अभिप्रेहि माप वेन उग्रश्चेता सपत्नहा।
आतिष्ठ मित्रवर्धनं तुभ्यं देवा अधिब्रुवन्॥ [१]

'राजा इन्द्र का अंश है, वह सोम का अंश है, मित्र का अंश है, यम का अंश है, पितरों का अंश है और सविता देव का अंश है।'[२]

वेदों में इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य को समर्पित मन्त्र 'राजा' के वाहक माने जा सकते हैं। वैदिक-संहिताओं में यत्र-तत्र विकीर्ण सामग्री के माध्यम से भी राजा की उत्पत्ति, स्वरूप, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्धारण करने में सहायता मिलती है। कतिपय उल्लेख यथा—सरमा-पाणि संवाद 'दूतव्यवस्था' का प्रकाशन करती है तथा युद्ध-वर्णनों में वैदिक सेना, सभा, समिति संस्थानों के भी संकेत मिलते हैं।

निस्सन्देह एक उत्तम राजा में इन्द्र (इदि ऐश्वर्ये) के समान ऐश्वर्य, वरुण (वृ-व्याप्त करना) के समान प्रजा में प्रभुत्व, अग्नि (अग्रणी) के समान नेतृत्व, वायु (वाति गच्छति) के समान गति, सूर्य के समान तपन, सविता के समान सत्कर्म-प्रेरणा, यम के समान दण्ड और पितरों के समान स्व-संतति अर्थात् प्रजा-पालन के गुण अनिवार्य माने गये हैं। वैदिक युग में राजा को 'द्युलोक का पुत्र' भी कहा है।[३] मैं कतिपय मन्त्र उद्धृत करना चाहूँगी-

महाँ असि महिष वृष्ण्येभिर्धनस्पृदुग्र सहमानो अन्यान्।
एको विश्वस्य भुवनस्य राजा स योधया च क्षयया च जनान्[४]

अर्थात् प्रजाजनों में अत्यन्त महान्, बलियों में सर्वाधिक बली, धन का दानी, शत्रुओं को पराजित करने

---

१. अथर्ववेद ४/८/२

२. अथर्व १०/५/७-१४, अथर्व १०/५/२५-३५

३. वा०सं० ६/६, सायणाचार्य ने यहाँ 'दिवः सूनुरसि द्युलोकस्य पुत्रोऽपि' अर्थ करते हुए इस पद को 'राजपरक' न मानकर 'यज्ञपरक' माना है, किन्तु वैदिक संस्थान मथुरा द्वारा प्रकाशित शुक्ल यजुर्वेद में इसका राजपरक अर्थ स्वीकार्य है।

४. ऋ० मं ३, सू० ४६, २ मन्त्र

वाला, एक छत्र राज्य कर सकने की सामर्थ्य वाला व्यक्ति ही राजा बनाया जाना श्रेयस्कर होता हैं। एक अन्य स्थल में ऋग्वेद में कहा गया हैं-

चर्षणीधृतं मघवानमुक्थ्य १ मिन्द्रं गिरो बृहतीरभ्यनूषत।
वावृधानं पुरुहूतं सुवृक्तिभिरमर्त्य जरमाणं दिवेदिवे।[५]

राजा मनुष्यों को धारण करने वाला, धन धान्य से सम्पन्न, प्रशंसनीय चरित्र व व्यवहार वाला, बहुतों से सम्मानित (पुरुहूतम्) और अमर जीवन वाला होना चाहिए।

अपनी रक्षण-क्रियाओं से सामान्य प्रजा का रक्षण, अत्यन्त सम्पन्न लोगों की भी रक्षा वाला, उचित न्याय करने वाला प्रजानुरञ्जक तथा शत्रु को दृढ़तापूर्वक नष्ट करने वाला व्यक्ति ही राजा बनने का अधिकारी होता है-

रक्षणो अग्ने तव रक्षणेभी रारक्षाण: सुमख प्रीणान:।
प्रति स्फुर वि रुज वीड्वंहो जहि रक्षो महि चिद्वावृधानम्।[६]

दयानन्द इस मन्त्र का भावार्थ करते हुए कहते हैं कि वे ही राजा यश के भागी होते हैं जो दुष्ट पुरुषों की दुष्टता को दूर कर और श्रेष्ठ पुरुष की श्रेष्ठता बढ़ाकर राज्य का निरन्तर पिता के समान पालन करते हैं। फिर इसी विषय को अगले मन्त्र मे कहते हैं-

एभिर्भव सुमना अग्ने अर्कैरिमान्त्स्पृश मन्मभि: शूर वाजान्।
उत ब्रह्माण्यशिरो जुषस्व सं ते शस्तिर्देववाता जरेत।[७]

उपर्युक्त मन्त्र का भावार्थ यही है कि राजा को यथार्थ वक्ता, विद्वानों का निरन्तर सत्सङ्ग हुए उनके उपदेशों के अनुकूल न्यायपूर्वक राज्य करते हुए प्रशंसा का पात्र बनना चाहिए।

नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन्।
नकिरेवा यथा त्वम्।[८]

ऋग्वेद के इस मन्त्र में इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए राजा को अद्वितीय गुणों से सम्पन्न सर्वश्रेष्ठ होना अनिवार्य माना है।

ऋग्वेद में इन्द्र को आर्यों का नेता कहा गया हैं।[९] नेतृत्व के गुण राजा में होना अनिवार्य समझा जाता था। यजुर्वेद में इन्द्र को **'पुरम्भेत्ता'**[१०] कहते हुए यह उल्लेख भी है-'हे इन्द्र! तुम्हें राक्षसों के वध के लिए राजा नियुक्त

---

५. ऋ० मं. ३.५१.१

६. ऋ० ४.३.१४

७. ऋ० मं ४.सू० ३, १५ मन्त्र

८. ऋग्वेद: मं. ४. सू० ३०.१ मन्त्र हे वृत्रहन्! मेघ को नाश करने वाले सूर्य के सदृश वर्तमान् इन्द्र राजन्! जैसे आप हो वैसे ही आप से पीछे बड़ा और उत्तम कोई नहीं हैं।

९. वा०सं. १७/४०

१०. वा०सं० ९/३८

करता हूँ'।[११] स्पष्टतः राजा में शत्रुदमन सामर्थ्य के साथ अपूर्व वीरता व शक्ति का होना अनिवार्य समझा जाता था।

ऋग्वेद में एक स्थल पर क्षत्रिय को और एक अन्य स्थान पर राजा वरुण को 'धृतव्रत' कहा गया है।[१२] इससे स्वतः अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा जनसमूह के समक्ष व्रतों अर्थात् कर्मों या नियमों (जो राजपद हेतु आवश्यक हों) को पालन करने की प्रतिज्ञा करता हो, अच्छा माना जाता होगा। अथर्ववेद के भूमिसूक्त में भूमि को धारण कर सकने वाले गुणों के रूप में बृहत् सत्य, उग्र, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ का नाम गिनाया गया है।[१३] अनुमानतः वेद में राज्य रूपी भूमि को धारण करने वाले राजा के लिए इन गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक माना जाता होगा। **'बृहत् सत्य'** से यह ध्वनित होता है कि संकीर्ण सत्य का राजा के लिए महत्त्व नहीं है, उसे सत्य को व्यापक रूप में धारण करना चाहिए। उग्र ऋत से तात्पर्य है कि सत्य-नियमों के परिपालन में दृढ़संकल्प वाला होना चाहिए। दीक्षा से तात्पर्य है कि उसे राजपद के कर्त्तव्यों में दीक्षित होना चाहिए। तप से अभिप्राय तपस्वी, ब्रह्म से विद्वान् व यज्ञ से अभिप्रायः है कि उसे यज्ञ अर्थात् श्रेष्ठतम कर्मों में युक्त होना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक श्रेष्ठ राजा से कुशल प्रशासक, कार्यपटु, स्तुत्य, वन्दनीय, अतुलित पराक्रमी, दुष्टहन्ता, दानी, रणकुशल, सुन्दर वाणी से युक्त, गुरुजनों का अभिवादन करने वाल, विनम्र आदि अनेक गुणों की अपेक्षा भी की जाती है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने अनेक संहिताओं के गहन अध्ययन के पश्चात् तीन खण्डों में प्रकाशित पुस्तक **'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त'** में वेदों में 'अग्नि' और 'इन्द्र' के राजा या सम्राट्परक अर्थों में प्रयुक्त होने पर उनके विशेषणों के आधार पर साठ अन्तः बाह्य गुण गिनाए हैं।[१४]

वाल्मीकि-रामायण में हमें दशरथ, राम, रावण, सुग्रीव, वालि इत्यादि राजाओं के वर्णन मिलते हैं। इन चरित्रों में वेदों द्वारा निर्धारित राजा के गुणों का सन्निवेश कहाँ तक है, उनके राज्य-सञ्चालन में वैदिक नीति-नियमों का कहाँ तक पालन है, इन सभी बिन्दुओं का यहाँ अन्वेषण करने की चेष्टा की गयी हैं।

कविवर वाल्मीकि ने अनेक स्थलों पर राजा की विशेषताएँ विभिन्न पात्रों के मुख से कहलायी हैं। वाल्मीकि-रामायण में कवि वाल्मीकि द्वारा बालकाण्ड में राम के गुण-वर्णन के व्याज से एक आदर्श राजा के गुणों का वर्णन है-

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी॥
बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमान्शत्रुनिबर्हणः।

---

११. वा० स० १७/३३, ऋ. १०/१०३/१, अथर्व १९/१३/२, साम० १८४९; तै० सं. ४/६/४/१ मैं. सं. २/१०/४, का० सं० १८/५

१२. ऋ० ८/३७/३, वा.सं. १०/२७

१३. अथर्ववेद ११/१/१ मै. सं. ४/१४/११,

१४. वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, राजा के वैयक्तिक गुण, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, मीनाक्षी प्रकाशन नई दिल्ली, संस्करण १९९३, पृ० १११-११३

विपुलांसो महाबाहु: कम्बुग्रीवो महाहनु:।[१५]

एक आदर्श राजा में संयत, वीरता, धैर्य, बुद्धि-चातुर्य, वाक्चातुर्य, शत्रु-नाश की क्षमता व प्रभावशाली व्यक्तित्व होना चाहिए। उसे धर्मज्ञ, सत्यवादी, प्रजा के हित साधन में अनुरक्त, यशस्वी, ज्ञान-सम्पन्न, स्वधर्म के रक्षणार्थ प्रस्तुत, वेद-वेदाङ्ग मर्मज्ञ, धनुर्वेद में पारङ्गत, साधु, प्रतिभासम्पन्न, विलक्षण मेधासम्पन्न, सर्वप्रिय तथा श्रेष्ठ होना चाहिए।[१६]

आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति द्वारा परिगणित राजा के अधिकांश गुणों का निर्वाह राम के स्वरूप-वर्णन में ही हो जाता है। स्थान-स्थान पर कविवर ने अनेक पात्रों के माध्यम से राजा के गुणों अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य पर प्रकाश डालने की व्यवस्था की है। अरण्यकाण्ड में तपस्वियों के माध्यम से राजा को वर्णाश्रमधर्म का पालक, शरणागतवत्सल, महायशस्वी, पूजनीय, मान्य, गुरु और दण्डधारी बताया है-

धर्मपालो जनस्यास्य शरण्यस्तव महायशा।
पूजनीयश्च मान्यश्च राजा दण्डधरो गुरुः।[१७]

अगस्त्य मुनि ने राजा को धर्मशील व महारथी बताया हैं-

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथ:।[१८]

राम स्वयं राजा की विशेषता वालि के सामने बताते हैं। नीति, नम्रता, स्थिरता, सत्य और पराक्रम जिसमें विद्यमान हों, जो देश-कालवित् हो वही राजा होने योग्य है-

नयश्च विनयश्चोभौ यस्मिन् सत्यं च सुस्थितम्।
विक्रमश्च यथा हृष्ट: स राजा देशकालवित्[१९]

आगे वह सत्य और दयालुता इन दो गुणों का भी एक श्रेष्ठ राजा के लिए आवश्यक मानते हैं-

सत्यमेवानृशंसं च राजवृत्तं सनातनम्।
तस्मात्सत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोक: प्रतिष्ठित:।[२०]

कैकेयी ने राम की प्रशंसा के साथ ही एक आदर्श राजा की आवश्यक विशेषताओं का संकेत भी दे दिया है-

---

१५. वा०रा०,कि० का० १३/६

१६. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रत:। यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान्। रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता। वेदवेदांगतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठित:। सर्वशास्त्रार्थसाधुरदीनात्मा विचक्षण:। सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभि:। आर्य: सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शन:। वा०रा० बालकाण्ड १/१२/१६

१७. वा०रा०, अरण्यकाण्ड १/१०

१८. वा०रा०, अरण्यकाण्ड, ९/१४

१९. वा०रा०, बालकाण्ड १/८-९

२०. वा.रा. अयो०का० ७७/१८

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाक्शुचिः।
रामो राज्ञः सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हसि।[२१]

इस आधार पर धर्मज्ञ, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी, पवित्र व ज्येष्ठपुत्र राजा बनने का अधिकारी है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान् के माध्यम से राम के गुण और रूप का उल्लेख एक आदर्श राजा के चरित्र का उद्घाटन ही है। हनुमान् का मत है कि सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार शुभलक्षणों से युक्त, विनम्र, वेद-वेदाङ्ग-तत्वज्ञ, ब्राह्मणों का पूजक, शीलवान्, विनीत, राजनीति में शिक्षित, क्षमाशील, बुद्धिमान्, यशस्वी, सदाचारी, चातुर्वर्ण्य का रक्षक, सुन्दर रूप से सम्पन्न, उदार व्यक्ति ही राजा होता है।[२२]

राजा वालि के अनुसार इन्द्रिय निग्रह, मनसंयम, क्षमा, धैर्य, सत्य, पराक्रम तथा अपराधियों को दण्डित करना इत्यादि राजा के कतिपय प्रधान गुणों में से कुछ हैं-

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।
पर्थिवानां गुणाः राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥[२३]

अयोध्याकाण्ड में प्रजा राजा के गुणों को परिगणित करती दृष्टिगत होती है। उनके अनुसार विद्वान्, सत्यवादी, सत्पुरुष, धर्मज्ञ, बुद्धिमान्, शीलवान्, शान्त, दीन-दुःखियों की पुकार पर ध्यान देने वाला, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय व्यक्ति राजा बनने के योग्य है।[२४]

राजा में गुणों का होना अत्यन्त आवश्यक है। गुणहीन राजा राष्ट्र को बचा भी नहीं पाता तथा उसके नाश का कारण भी बनता है, यही नहीं मृदुल स्वभाव वाला, स्थिर बुद्धियुक्त, कल्याणकारी, बहुश्रुत, यशस्वी, सङ्गीतज्ञ, अस्त्र-शस्त्र पारङ्गत व्यक्ति ही राजा होने का अधिकारी हैं।[२५]

लक्ष्मण ने भी एक स्थल पर धैर्यवान्, उत्तम कुल में उत्पन्न, दयालु, जितेन्द्रिय व सत्यवादी राजा को ही श्रेष्ठ राजा की श्रेणी में रखा है-

सत्त्वाभिजनसम्पन्नः सानुक्रोशो जितेन्द्रियः।
कृतज्ञः सत्यवादी च राजा लोके महीपते।[२६]

राजा में गुणों का होना आवश्यक है, क्योंकि एक गुणहीन राजा राष्ट्र को कभी बचा नहीं पाता और उसके नाश का कारण बनता है। क्योंकि-

यद्वृत्ताः सन्ति राजानस्तद्वृत्ताः सन्ति हि प्रजाः।[२७]

---

२१. वा.रा. अयो०का० ७/१०

२२. वा०रा०, ५/३५/११

२३. वा०रा०, कि०का० १७/१९

२४. धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः। क्षान्तः सान्त्वयिताश्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः॥ अयोध्याकाण्ड०/२/२२

२५. वा०रा० २/२/२८-४१

२६. वा० रा०/४/३४/७

इस प्रकार हम देखते हैं कि कविवर वाल्मीकि ने अपने ग्रन्थ में राजा के स्वरूप वर्णन में वेदोंक्त सभी गुणों का निर्वाह किया है। आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने 'एव ह्यस्य सूनृता'[२८], 'तेन सत्येन जागृतम्'[२९] 'सत्ययोनिः'[३०] इत्यादि विशेषणों के आधार पर राजा को सत्यवादी; 'अप्रतिधृष्ट शवसम्'[३१], 'वीरतमाय नृणाम्'[३२] (जो मनुष्यों में सबसे अधिकता हो),[३३] 'उग्रम्'[३४] 'व्याघ्र सिंह, द्वीपी'[३५], वृद्धवृष्णः[३६], शक्रम्[३७], सुवीरः[३८], असमं क्षत्रम्[३९], सहस्रो शृङ्गो वृषभः[४०] के आधार पर पराक्रमी; धीषु प्रथमं[४१], विश्ववित्[४२], तीक्ष्णे नागने चक्षुषा,[४३], 'असमा मनीषी'[४४], 'जातवेदाः'[४५] 'वेधाः'[४६], 'शतक्रतो'[४७], 'रथीतमं रथीनाम्'[४८], 'नृणां नृतमः'[४९], 'सतां ज्येष्ठतमाय'[५०], विद्वान्[५१], 'विप्रः'[५२], नृचक्षाः[५३], 'विपश्चितम्'[५४], 'विश्वस्य कर्मणो धर्त्ता'[५५],

---

२७. वा०रा० २/९/९
२८. ऋग्वेद १/८/८
२९. ऋ० १/२१/६
३०. ४.१९.२
३१. ऋ० १/८४/२
३२. ऋ० ३/५२/१
३३. ऋ० ४/२२/५
३४. ऋग्वेद १०/४४/३
३५. अथर्ववेद ४/८/९
३६. अथर्ववेद ७/६२/१
३७. अथर्ववेद ७/८६/१
३८. अथर्ववेद १३/१/१२
३९. ऋग्वेद १.५४.८२
४०. अथर्ववेद १३.१.१२
४१. ऋ० ८/७१/१२
४२. ऋग्वेद १०/९१/३
४३. मृ० १०/८७/९
४४. ऋग्वेद १.५४.८
४५. ऋग्वेद १.५९.५
४६. ऋग्वेद १.६०.२
४७. ऋग्वेद १.३०.६
४८. ऋग्वेद १.११.१
४९. ऋग्वेद १.७७.४
५०. ऋग्वेद २.१६.१
५१. ऋग्वेद ३.१४.२

आदि विशेषणों के आधार पर अद्वितीय गुण सम्पन्न; **'पुरुरूप'**[५६], **'तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुः'**[५७], **'वस्त्राण्यध पेशनानि वसानः'**[५८], **'हिरण्यवर्णः'**[५९], **'स्वोजा'**[६०], के आधार पर अत्यन्त रूपवान् व आकर्षक व्यक्तित्व का धनी; **'गृहपति'**[६१], के आधार पर गृहस्थी; **वाचस्पते**[६२], के आधार पर प्रभावशाली वक्ता; **ईड्यः वन्द्यः नमस्यः**[६३], **उपसद्यः**[६४], **यः कर्मभिर्महद्भिः सुश्रुतो भूत्**[६५], **अधा विश्वासु हव्यो ऽग्निर्विक्षु प्रशस्पते**[६६] के आधार पर पूजनीय, यशस्वी और प्रजाजनों में प्रशंसित माना है। वाल्मीकि-रामायण में ये सभी गुण एक आदर्श राजा के रूप में राम में दिखाई देते हैं।

रामायणकार के ही समान रामचरितमानस के रचयिता तुलसीदास भी राजा के स्वरूप वर्णन में वेदों से प्रभावित हैं। लङ्का काण्ड में राम ने एक श्रेष्ठ राजा के गुणों का वर्णन किया है। विजय को लेकर विभीषण के मन में उठी चिन्ता का निराकरण करते हुए राम ने जो आश्वासन दिया है, वह एक उत्तम राजा के आन्तरिक गुणों का प्राकट्यीकरण है। शौर्य, धैर्य, सत्य, शील, बल, विवेक, संयम, परोपकार, संतोष, शान्त व स्थिर मन, गुरुजनों का आदर, वैराग्य, बुद्धि, और विज्ञान का आश्रय एक विजयोच्छुक श्रेष्ठ राजा की अनूठी सम्पत्ति है।[६७]

---

५२. ऋग्वेद ३.१४.५
५३. ऋग्वेद २.१५.३
५४. ऋग्वेद १.१.४
५५. ऋ० १.११.४
५६. ऋग्वेद ५/८/२
५७. ऋ० ८/१७/८
५८. ऋ० ७०/१/६
५९. ऋ०१९.२४.८
६०. ऋ० १०.२९.८
६१. ऋ० १/६०/४
६२. अथर्ववेद १३/१/१७
६३. अथर्ववेद ६/९८/१
६४. अथर्व ६/९८/१
६५. ऋ० ३/३६/१
६६. ऋ० ५/१७/४
६७. सौरज धीरज तेहि रथ चाका, सत्य सील दृढ़ध्वजा पताका। बल विवेक दम परहित छोरे, छमा कृपा समता रजु जोरे। ईस भजनु सारथी सुजाना, बिरति चर्म संतोष कृपाना। दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा, बर ग्यािन कठिन कोदंडा, अमल अचल मन त्रोन समाना, सम जम नियम सिलीमुख नाना। कवच अभेद बिप्र गुर पूजा, एहि सम विजय उपाय न दूजा, सखा धर्ममय अस रथ जाके, जीतन कहं नं कतहुं रिपु ताके, महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर। जाकें अस रथ होई दृढ़सुनहु सखामति धीर। लङ्काकाण्ड, ८०क

रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहम्।
योगीन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिभजितं निर्गुणं निर्विकारम्।।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृन्दैकदेवम्।
वन्दे कन्दावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपम्।। '[६८]

लङ्काकाण्ड के प्रारम्भ में ही तुलसी राम की राजा के रूप में वन्दना के व्याज से राजा के आन्तर्बाह्य गुणों यथा सौन्दर्य, साहस, पराक्रम, दुष्ट-दमन सामर्थ्य आदि का उल्लेख करते हैं। वेद कहते हैं कि राजा को 'युवा'[६९] होना चाहिए। तुलसी इसका समर्थन करते प्रतीत होते हैं-

'संत कहहिं असि नीति दसानन। चौथेंपन जाइहि नृप कानन।'[७०]

लङ्काकाण्ड में ही तुलसी राम की अभिवंदना के व्याज से राजा के अत्यंत सुन्दर, पराक्रमी, बलशाली, दुष्टदलन कर्ता, प्रतापी, शस्त्रधारी, होने का वर्णन करते हैं।[७१]

'खल खंडन मंडन रम्य छमा'[७२] कहकर राजा को पृथ्वी का आभूषण बताया गया है तथा **'जन रंजन भंजन सोक भयं, गतिक्रोध सदा प्रभु वोधमयं। अवतार उदार अपार गुनं, महि भार विभंजन ग्यानधनं'**[७३] कहकर राजा को प्रजानुरञ्जक, शोकभय के नाश कर्त्ता, अक्रोधी, उदार, दिव्य गुणों से अलंकृत और ज्ञान का भण्डार माना है। यही नहीं, अन्यत्र भी राजा को प्रतापी, शस्त्रधारी आश्रयदाता, बलशाली और अनिन्द्य सौन्दर्य का स्वामी बताया है।[७४]

वेदों में उल्लेख है कि राजा को सौम्य, प्रजा को सुनने वाला, उसे दुष्कर्मों से बचाकर श्रेष्ठ कर्मों की ओर ले जाने वाला, प्रेम और स्नेह का वर्षण करने वाला, उसके दुःखों और कष्टों को जानने वाला होना चाहिए।[७५] यही नहीं, जो राष्ट्र को दुग्धादि, अन्नादि से अच्छी तरह से पोषित करता हुआ प्रजा की रक्षा एवं कल्याण में तत्पर हो वही राजा बनने योग्य है।[७६] वाल्मीकि के राम अपने श्रेष्ठ कार्यों से प्रजा के प्रीतिभाजन बने एक कुशल प्रशासक का

---

६८. रामचरित मानस, लङ्का का०, १ श्लोक, तुलसीदास

६९. ऋ. १/११/४, उद्धृत वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त, राजा के वैयक्तिक गुण, प्रियव्रत वेदवाचस्पति पृ० १११

७०. रामचरित मानस, लङ्काकाण्ड

७१. गुनग्यान निधान अमान अजं, नित राम नमामि बिभुं बिरजं, भुजदंड प्रचंड प्रताप बलं, खल बृंद निकंद महाकुसलं, सर चाप मनोहर त्रोन धरं, जलजारुन लोचन भूप बरं, सुख मंदिर सुंदर श्री रमनं लङ्काकाण्ड

७२. रामचरित मानस, लङ्का का०, तुलसीदास

७३. वही,

७४. जय राम सोभा धाम। दायक प्रनत विश्राम। घृत त्रोन बर सर चाप, भुजदंड प्रबल प्रताप। रामचरित मानस, लङ्का का०, तुलसीदास

७५. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येपु निधिषु प्रियेषु। त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वहि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्।। ऋ०-१०/१५/५; यजुर्वेद १९/३७; अथर्ववेद-१८/३/४५

७६. भृतो भृतिषु पय आ दधाति स भृतानामधिपतिर्बभूव। तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनुमन्यताम्। अथर्व०४.८.१

दायित्व निभा रहे हैं।[७७] इसीलिए तो ब्राह्मण, राजा और नगरप्रधान अपनी हार्दिक इच्छा इन शब्दों में प्रकट करते हैं-

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छात्रावृतांननम्॥[७८]

तुलसी के राम भी इतने कुशल प्रशासक हैं कि उनके सिंहासनरूढ़ होते ही प्रजा में शान्ति और सुख छा जाता है।[७९] तुलसी द्वारा एक आदर्श राज्य की कल्पना की गई है। राजा इतना न्यायप्रिय, धर्मात्मा और कुशल है कि प्रजा को किसी भी प्रकार के कष्ट या अभाव का सामना नहीं करना पड़ता।[८०] तुलसी के एक राजा की एक छत्र राज्य की परिकल्पना है-

भूमि सप्त सागर मेखला, एक भूप रघुपति कोसला।[८१]

आचार्य प्रियव्रत वेद वाचस्पति ने राजा के वेदों में जो ६० गुण गिनायें हैं, उनमें एक है-**'सौभागत्वस्य विद्वान्'**[८२] अर्थात् राजा राष्ट्र के सौभाग्य को बढ़ाने के उपायों को जानने वाला होना चाहिए। तुलसी के उत्तरकाण्ड में रामराज्य की परिकल्पना एक उत्तम, सुरुचिपूर्ण, संगठित शासन की पराकाष्ठा है। एक दृढ़, समृद्ध, खुशहाल राज्य का लेखा-जोखा है।[८३] एक न्यायप्रिय राजा के राज्य में प्रभुत्व, ऐश्वर्य की कमी नहीं।[८४] प्रजा के हितार्थ बावड़ी, कुएँ, तालाब, फल-फूल युक्त वाटिकाओं का निर्माण किया गया है, ताकि प्रजा भूखी-प्यासी न रहे। समूचे सुशासन का श्रेय राजा को दिया गया है।[८५]

नारद द्वारा राम की अभिवन्दना के माध्यम से भी भक्त तुलसी ने एक सुन्दर पराक्रमी, कुशल, न्यायनिष्ठ

---

७७. दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम्। गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः। वाल्मीकि रामा० अयो० २/२६

७८. अयो०का० १/१३

७९. राम राज बैठें त्रैलोका, हरषित भए गए सब सोका। बयरू न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई। बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग। चलहिं सदा पावहिं सुखहिं न हिं भय सोक न रोग रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा/२०

८०. दैहिक दैविक भौतिक तापा, राम राज नहिं काहुहिं व्यापा। सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीति। रामचरितमानस-उ० काण्ड

८१. रामचरितमानस उ० काण्ड

८२. ऋ० १/९४/९६

८३. बाजार रूचिरन बनइ बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए। जहं भूप रमानिवास तहं की संपदा किमि गाइए। बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनुहुं कुबेर ते। सब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसुजरठजे। रामचरितमानस-उ०

८४. रमानाथ जहं राजा सो पुर बरनि कि जाइ। अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाई। रामचरितमानस-उ०

८५. बापीं तडाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं। बहुरंग, कंज, अनेक, खग कूजहिं मधूप गुंजा रहीं। आराम्य रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं। रामचरितमानस उ०का०

राजा का ही वर्णन किया है।[८६]

अग्नि को सम्बोधित एक वैदिक मन्त्र में उसे राजा कहकर प्रजा की मङ्गलकामना की गई हैं-'हे अग्नि रूप राजन्! तू हम प्रजाओं के लिए मङ्गलकारी होकर इस राष्ट्र में रहने वाली प्रजा का कल्याण करके अपने राजासन पद पर आसीन हो और उसके पश्चात् राजधर्म में रत हो।'[८७] वैदिक राजा अपने अधीन प्रजा के शरीर और प्रिय मार्गों को उसके लिए प्रशस्त करने का यथासम्भव प्रयत्न करता रहता था।[८८]

वेद में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि प्रस्तावित राजन्! यह राष्ट्र तुझे दिया गया है। हम तुझे कृषि के लिए, सुख समृद्धि के लिए,....................पोषण हेतु और सार्वजनिक कल्याण के लिये राज्य में राजापद पर अभिषक्त कर रहे हैं।[८९] एक अन्य स्थान पर राजा से कहा गया-'हे अग्रनेता! तू विद्या और ज्ञान से प्रकाशमान मङ्गलकारी कार्यों द्वारा सत्कार के साधनों द्वारा, महान् तेज द्वारा प्रकाशित होकर सुखों का सम्पादन कर और पालन योग्य प्राणियों के हिंसा न कर।'[९०] ऋग्वेद में एक स्थल पर कथन है-'राजा वरुण लोगों के सत्य और असत्य को देखते हुए उनके मध्य घूमते हैं।'[९१] स्पष्ट है कि वैदिक राजा से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह स्वयं प्रजा के मध्य जाकर सत्य-असत्य सम्बन्धित भवनाओं के विषय में जानकारी प्राप्त करे। ऋग्वेद में ही यह भी कहा गया है-

देवो न यः पृथिवीं विश्वधाया उपक्षेति हितमित्रो न राजा।
पुरः सदः शर्मसदो न वीरा अनवद्या परिजुष्टेव नारी॥[९२]

स्पष्ट है कि वेदों में राजा से प्रजा के हित-चितन्न में लगे रहने की अपेक्षा की जाती थी। प्रजा को सम्पूर्ण न्याय मिले इसके लिए राजा में सतर्कता, विवेक व न्याय-निर्णय की क्षमता होनी चाहिए। वाल्मीकि-रामायण में भी राजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विस्तृत विवेचना हुई है।

राजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेचन

राजा को सन्तुलित जीवन जीते हुए समयानुकुल कार्य करने का विवेक और सामर्थ्य होना चाहिए।

---

८६. मामवलोक्य पंकजलोचन। कृपा बिलोकनि सोच बिमोचन। नील तामरस स्याम काम अरि। हृदयकंद मकरंद मधुप हरि। जातु धान बरूथ बल भंजन। मुनि सज्जन रंजन अध गंजन। भूसुर ससि नव बृंद बलाहक। असरन सरन दीन जन गाहक॥ भुज बल बिपुल भार महि खंडित। खर दूषन बिराध बंध पंडित। रावनारि सुखरूप भूपबर। जयदसरथ कुल कुमुद सुधाकर॥ सुजस पुरान बिदित निगमागम। गावत सुर मुनि संत समागम॥

८७. वासं० १२/१७ तै० सं० ४/१/९/३ २/१/५ मै सं० २/७/८ का० सं० १६/८

८८. वा०सं० ९/२२

८९. वहीं

९०. वा सं० ११/३२ तै० सं० ४/२/३/१ ५/२/२/२ मै० सं० २/७/१० ३/२/२ का०सं० १६/१० १९/१२

९१. ऋ० ७/९४/३

९२. ऋ० वेद १/७३/३

वाल्मीकि ने राम के मुख से सुग्रीव को यही शिक्षा दी है-

धर्मं अर्थं च कामं च काले यस्तु निषेचते।
विभाज्य सततं वीर सा राजा हरिसत्तम।[९३]

हे कपिश्रेष्ठ! जो राजा अपने समय का विभाग कर धर्म-अर्थ और काम सम्बन्धी कार्य करता है। वही राजा राज्य करने योग्य है।

हित्वा धर्मं तथार्थं च कामं यस्तु निषेवते।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्त: पतित: प्रतिबुध्यते।।[९४]

अर्थात् जो राजा धर्म और अर्थ का परित्याग कर केवल काम का ही सेवन करता है, वह वृक्ष की डाली पर सोने वाले उस पुरुष के समान है जो पतन के पश्चात् ही उसके कटु परिणाम को समझता है। कुम्भकर्ण द्वारा भी रावण के समक्ष राजा के कर्त्तव्याकर्त्तव्य की विस्तार से चर्चा की गई है-

य: पश्चात् पूर्णकार्याणि कुर्यादैश्वर्यमास्थित:।
पूर्वं चोत्तरकार्याणि न स वेद नयानयौ।'[९५]

सर्वप्रथम राजा को नीति और अनीति की स्पष्ट पहिचान होनी चाहिए। जो राजा राजपद पर आरुढ़ होकर प्रथम करने योग्य कार्यों को पीछे ओर पश्चात् करने योग्य कार्यों को पहले करता है-वह राजा नीति और अनीति को नहीं जानता। यही नहीं राजा को तीन प्रकार के कर्मों (उत्तम, मध्यम या अधम अथवा सन्धि, विग्रह या तटस्थता) को करने से पूर्व पाँच विषयों की (कार्य आरम्भ करने के उपाय, स्वकीय जन, बल और धनबल, देश और काल, आपत्ति का निवारण, कार्य की सफलता) भली-भाँति जानकारी ले लेनी चाहिए। मन्त्रियों से उपयुक्त परमर्श के पश्चात् ही जो सिद्धान्त निश्चित करता है, वही राजा श्रेष्ठ है।[९६] तुलसी के राम इस विवेक का परिचय देते हुए मन्त्रणा करते हुए बुद्धि, बल और गुणों की खान अङ्गद को प्रेषित करते हैं।[९७] एक श्रेष्ठ राजा अपने शत्रुबल को कभी भी कम कर नहीं आंकता। किसी भी पूर्वाग्रह से ग्रस्त हुए विना वह अपने शत्रु की ठीक-ठीक जानकारी ले लेना चाहता है।[९८] वाल्मीकि-रामायण में रावण के सहसा युद्ध-निर्णय से कुम्भकर्ण अप्रसन्न है। वह मानता है कि जो राजा पहले अपने मन्त्रियों के साथ विचार-विमर्श कर और उनके साथ एक मति होकर कार्य करता है, उसे

---

९३. वा०रा०, कि०का० ३०/१४
९४. वा०रा०, कि०का० ३०/१५
९५. यु०का० ३६/५
९६. त्रयाणां पंचधा योगं कर्मणां य प्रपश्यति सचिवै: समयं कृत्वा स सम्यग् वर्तते पथि। यु०का० ३६/७
९७. बलितनय बुधि बल गुन धामा। लंका जाहु तात मम कामा। काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई। रा०चरितमानस, लंका का० तुलसीदास
९८. तात सत्य कहु पूछउं तोही। रावनु जातु धान कुल टीका। भुज बल अतुल जासु जग लीका। रा०चरितमानस, लं०का० तुलसीदास

पीछे सन्ताप नहीं होता-

न्यायेन राजा कार्याणि यः करोति दशानन।

न स सन्तप्यते पश्चान्निश्चितार्थमतिर्नृपः॥[९९]

सचमुच एक श्रेष्ठ राजा मन्त्रियों से परामर्श कर एक सिद्धान्त निश्चित कर लेता है-

हितानुवन्धमालोच्य कार्याकार्यमहात्मनः।

राजा सहार्थतत्त्वज्ञैः सचिवैः स हि जीवति॥[१००]

वाल्मीकि का मानना है कि धर्म, अर्थ और काम-इन तीनों में जो श्रेष्ठ अर्थात् धर्म को जानकर भी धर्मानुसार आचरण नहीं करता, वह राजा हो अथवा राजा सदृश बड़ा आदमी-उसका बहुत-सा शास्त्र सुनना व्यर्थ है।[१०१]

राजा को समस्त प्रजा का पालन करते हुए यह अवधान रखना आवश्यक है कि उसमें यह बोध होना चाहिए कि किस-किस का सम्मान करे। राजमद या प्रमादवश कहीं किसी अपमान न हो जाये। भरत से पूछे गए राम के प्रश्नों एक श्रेष्ठ राजा की स्वाभाविक चिन्ता की झलक हैं-

कच्चिद्देवान् पितृन् भृत्यान् गुरुन् पितृसमानपि।

वृद्धांश्च तात वैद्यांश्च ब्राह्मणांश्चोभिमन्यसे।[१०२]

राजा को निरभिमानी तथा गुरुजनों का सत्कार करने वाला होना चाहिए। इसीलिए राम की चिन्ता है कि भरत देवता, विद्वान्, पितर, रक्षक, नौकर, गुरु, वृद्ध, वैद्य, ब्राह्मण वृन्द का सम्मान करते भी हैं या नहीं। इसके अतिरिक्त एक खुशहाल, निष्कंटक सम्राज्य को स्थापित करना चाहिए।[१०३]

वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाण्ड ९० वें अध्याय के ५४ श्लोकों में वस्तुतः एक कुशल, विचारवान्, योग्य एवं न्यायप्रिय शासक के गुणों को अभिव्यक्ति है। राम द्वारा उठायी गयी शंकाओं के माध्यम से और इस बहाने भरत को दिए गये उपदेश एक कुशल शासक की योग्यता की कसौटी हैं। इस अध्याय में परम राजनीतिज्ञ, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम ने भरत को वैदिक राजनीति एवं राजा द्वारा अनुष्ठेय आचरण का उपदेश अत्यन्त सुन्दर एवं मार्मिक रूप में दिया है। भारत की गौरवशाली राजनीति की परम्परा का यह एक अनूठा उदाहरण है।

एक विवेकी राजा को मन्त्रिमण्डल का चयन करते समय सुयोग्य, बुद्धिमान, श्रेष्ठ लोगों का चयन करना चाहिए।[१०४] वे स्पष्ट रूप से कहते हैं विश्वसनीय, वीर, नीतिशास्त्र, लोभ में न फँसने वाले, प्रामाणिक कुलोत्पन्न और

---

९९. वाल्मीकि रा०, यु०का० १/१६

१००. वाल्मीकि रा०, यु०का० ३८/१३

१०१. त्रिषु चैतेषु यच्छ्रेष्ठं श्रुत्वा तन्नाव बुध्यते। राजा वा राजमात्रो वा व्यर्थं तस्य बहुश्रुतम्। यु०का० ३६/१०

१०२. वा०रा०, अयो०का०, ९०/६

१०३. इष्टवस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्। सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे। वा०रा०, अयो०का०, ९०/७

१०४. वा०रा०, अयो०का०, ९०/१४

संकेत को समझने वाले, मन्त्रणा को गुप्त रखने वाले मन्त्री होने चाहिए।[१०५] वेदों में भी सभा के सदस्यों के लिये वर्चस्वी और ज्ञानवान् होने की प्रार्थना है।[१०६] यही नहीं उन्हें सत्य एवं न्यायपूर्ण वचन बोलने वाला होना चाहिए।[१०७] तुलसी दास भी इसी का समर्थन करते प्रतीत होते हैं-

सचिव वैद गुरु तीनि जौ प्रिय बोलहिं भय आस।
राज, धर्म, तन, तीन कर, होई बेगहिं नास।[१०८]

तुलसी ने भी खुशामदी, मूर्ख, अल्पज्ञ मन्त्रियों की मन्त्रणा को अस्वीकारा है।[१०९]

ऋग्वेद के अनुसार राजा के दूत को अग्नि के समान गृहपतियों एवं राष्ट्रवासियों में आनन्द की वृद्धि वाला होना चाहिए।[११०] दूत को तन्द्रारहित[१११] और श्रेष्ठ एवं बलवान् होना चाहिए। उसे निन्दारहित तथा श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होना चाहिए।[११२] वाल्मीकि भी एक सशक्त गुप्तचर-व्यवस्था का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।[११३] एक उत्कृष्ट गुप्तचर व्यवस्था सशक्त व सुदृढ़शासन का आधार है। इसके माध्यम से राजा दूसरे राज्यों तथा अपने ही राज्य के अन्तर्विरोधों, विरोधों या षडयन्त्र को जान सकता है। इसीलिए राम की महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा यह भी है-

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः।।[११४]

हे भरत! तुम परस्पर अनभिज्ञ तीन-तीन गुप्तचरों के द्वारा अपने राज्य के पन्द्रह तथा पर राज्य के अट्ठारह तीर्थों का हाल जानते हो?

---

१०५. कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः। कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः। मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव। । सुसंवृत्तो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः।। अयो०का०, ७०/८-९

१०६. अथर्ववेद ७/१३/३

१०७. अथर्ववेद १३/१/५६

१०८. रा०मा० सु०का० ३७, तुलसीदास

१०९. नीति विरोध न करिआ प्रभु, मंत्रिन्ह मति अति थोरि। राम०मा०, लं०का० ८ कहाहि सचिव सठ सोहाती, नाथ न पूर आव एहि भाँति। वही लं०का०

११०. ऋग्वेद १/३६/४

१११. ऋग्वेद १०/७/५

११२. ऋग्वेद १/१६१/१

११३. अयो० ११/१२

११४. अयो० ७०/२६ नीति शास्त्रों में अट्ठारह तीर्थों के नाम निम्न हैं-१. मन्त्री २. पुरोहित ३ युवराज ४. सेनापति ५. द्वारपाल ६. अन्तःपुराधिकारी ७. बन्धनगृहाधिकारी (दरोगा जेल) ८. धनाध्यक्ष ९. कार्यनिर्[illegible]जक राजा की आज्ञानुसार नौकरों को आज्ञा देने वाला १०. प्राड्विवाक (वकील) ११. धर्माध्यक्ष १२. नगरध्यक्ष (कोतवाल) १३. राष्ट्रान्तपाल (सीमान्त का अफसर) १४. दण्डपाल (मजिस्ट्रेट) १५. दुर्गपाल १६. वनाध्यक्ष १७. करग्र[illegible]ता १८. सभ्य, स्वपक्ष में मन्त्री, पुरोहित और युवराज को छोड़कर पन्द्रह पुरुष बचते हैं। इत्यादि

राजा के द्वारा अपने-अपने राज्य में अपने क्षेत्र के योग्य व गुणी व्यक्ति का आदर करना ही चाहिए, क्योंकि राज्य की कुशल व्यवस्था योग्य व्यक्ति के हाथों में ही कार्य-भार सौंपकर ही हो सकती है। इसीलिये तो राम जानना चाहते हैं कि भरत द्वारा योग्य लोगों की पहचान और फिर उनका यथास्थिति सम्मान होता है कि नहीं।

इष्टवस्त्रवरसम्पन्नमर्थशास्त्रविशारदम्।
सुधन्वानमुपाध्यायं कच्चित्त्वं तात मन्यसे।[११५]

एक कुशल शासक की सबसे बड़ी अर्हता एक कुशल प्रशासन है। इसकी सुदृढ़ नींव इस बात पर निर्भर करती है कि राजा को सामर्थ्य एवं योग्यता की सूक्ष्म पहचान होनी चाहिए। क्योंकि तदनुकूल कार्य आवंटित करने पर सफलता निश्चित मिलती हैं। राम इसीलिए जानना चाहते हैं-

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः।
जघन्यास्तु जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः।[११६]
अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्शुचीन्।
श्रेष्ठाञ्श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु।[११७]

उचित सैन्य-व्यवस्था के लिए व्यवहार कुशल, बुद्धिमान्, धीर, स्वामिभक्त सेनापतियों और निपुण सुपरीक्षित, पराक्रमी सैनिकों की भी आवश्यकता होती है। एक कुशल प्रशासक को उन्हें उचित वेतन, भोजन और समय-समय पर पुरस्कृत करते रहना चाहिए।[११८] दूत-व्यवस्था ठीक होनी चाहिए।[११९] तुलसीदास ने भी अनेक स्थलों पर रावण द्वारा दूत प्रेषित कर समाचार जानने की चेष्टा की है और राम द्वारा भी अङ्गद और हनुमान् के द्वारा रावण के बलाबल को जानने का प्रयास किया है।

वेदों में एक मन्त्र से ऐसा प्रतीत होता है कि राजा और प्रजा के मध्य मातृ-शिशुवत् व्यवहार होना चाहिए।[१२०] उसे प्रजा की बात ध्यानपूर्वक सुननी चाहिए।[१२१] एक स्थल पर राजा आश्वस्त करता हुआ कहता है-

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्र-प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु। प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥[१२२]

वाल्मीकि-रामायण में भी प्रजा के पालन हेतु ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी जाति और उनसे जुड़े व्यवसाय,

---

११५. वाल्मीकि रा०, अयो० ९०/७
११६. अयो० /७०/१५
११७. अयो० ७०/१६
११८. अयो० ७०/२१/२२
११९. अयो० ७०/२५
१२०. वा०स० १०/७३ तै० सं० १/८/१२/१३ मै० सं० २/६/८३ का०सं० १५/६
१२१. ऋग्वेद १/३/२
१२२. यजुर्वेद २०/१०

उनके दु:ख-सुख की चिन्ता एक योग्य प्रशासक के कर्त्तव्यों के अन्दर आती है।[१२३] दुर्ग, धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल-यन्त्र, देश की सुरक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण संस्थान इत्यादि की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुरक्षा व देख-रेख की जिम्मेदारी भी राजा की है।[१२४] एक कुशल शासक के शासन में न्याय-व्यवस्था उचित होनी चाहिए।[१२५] धर्म, अर्थ, काम का उचित विकास कर एतदर्थ अपने समय का उचित उपयोग राजा के लिए आवश्यक है।[१२६]

कर्त्तव्य

राजा के प्रमुख कर्त्तव्यों को इंगित करते हुए राम पूछ रहे हैं-

दशपंचचतुर्वर्गान् सप्तवर्ग च तत्त्वत:।
अष्टवर्गं त्रिवर्गं च विद्यास्तिस्रश्च राघव।
इन्द्रियणां जयं बुद्ध्वा षाड्गुण्यं दैवमानुषम्।
कृत्यं विंशतिवर्गं च तथा प्रकृतिमण्डलम्।
यात्रादण्डविधानं च द्वियोनी सन्धिविग्रहौ
कच्चिदेतान् महाप्राज्ञ यथावदनुमन्यसे।[१२७]

हे भरत! तुम दशवर्ग,[१२८] पंचवर्ग,[१२९] चतुवर्ग,[१३०] सप्तवर्ग,[१३१] अष्टवर्ग,[१३२] त्रिवर्ग,[१३३] तीनों विद्याओं,[१३४]

---

१२३. वा० रा०, अयो०का०, ७०/२९-३१

१२४. वा०रा०, अयो० ७०/३५

१२५. वा०रा०, अयो०क० ७०/३८-४१

१२६. वा० रा०, अयो०का० ७०/४३/४४

१२७. वा० रा०, अयो०का० ४८/५०

१२८. दशवर्ग:-मनुस्मृति ९/४७ शलोक में दशवर्ग की कामज दोषों के अन्तर्गत स्पष्ट व्याख्या की है-मृगयाऽक्षो दिवास्वप्न: परीवाद: स्त्रियो मद:। तौर्यत्रिकं वृथाट्यं कामजो दशको गण:॥ शिकार करना, जुआ खेलना, दिन में सोना, परनिन्दा, स्त्रियों में अत्यधिक आसक्ति, मद्यादि मादक पदार्थों का सेवन, नृत्य, गीत, वाद्य और व्यर्थ इधर-उधर घूमना ये दश कामज दोष हैं।

१२९. पंचवर्ग:-राजा को अपने दुर्ग कहाँ स्थापित करने चाहिए, इसका भी ज्ञान आवश्यक है-दुर्ग पाँच प्रकार के होते हैं-औदकं पार्वतं वार्क्षमैरिणं धान्वनं तथा। इति दुर्ग पंचविधं पंचवर्ग उदाहृत:। जल, पर्वत, वृक्ष उजाड़ और मरु प्रदेशों में स्थित पांच प्रकार के होते हैं-

१३०. चतुर्वर्ग:-सामदानं च भेदश्च दण्डश्चेति चतुर्गण:। साम, दान, भेद और दण्ड-चतुवर्ग कहलाता है।

१३१. सप्तवर्ग के अन्तर्गत-स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रं च दुर्गकोशौ बलं सुहृत्। परस्परोपकारीदं राज्यं सप्तांगमुच्यते। स्वामी, मन्त्री, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, सेना और मित्र ये राजा के सात अंग हैं।

१३२. अष्टवर्ग:-मनुस्मृति ९/४८ पैशुन्यं साहसं द्रोहं ईर्ष्यासूर्यार्थदूषणम्। वाग्दण्डजं च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गणोऽष्टक:॥ अष्टवर्ग के अन्तर्गत आठ प्रकार के दोष हैं। जिनका राजा को परित्याग करना चाहिए। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, निन्दा, बलात् परसम्पत्ति पर अधिकार, कठोरवचन और तीक्ष्णदण्ड ये आठ क्रोध से उत्पन्न होने वाले दोष हैं।

बुद्धि से इन्द्रयों पर विजय, षड्गुण,[१३५] देव-मनुष्य सम्बन्धी आपत्तियों,[१३६] राजकृत्य,[१३७] विंशतिवर्ग,[१३८] प्रकृति,[१३९] मण्डल,[१४०] यात्राविधान,[१४१] दण्डविधान और सन्धिविग्रह[१४२]-इन सबको हेय-उपादेय सब से जानते हो न? तुलसी के राम भी इसके समर्थन करते प्रतीत होते हैं। भेदनीति का परिचय देते हुए वह (असकहि राज तिलक तेहि सारा-सुन्दरकाण्ड) विभीषण को सन्तुष्ट करते हैं। (धन्य सो भूपु नीति जो करई--उत्तरकाण्ड) कहकर नीति की प्रशंसा और उचित स्थल पर दण्ड का प्रयोग भी करते हैं।[१४३]

अपनी सेना को प्रसन्न रखने के लिए वह उनके बल और त्याग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए भी नहीं चूकते।[१४४] वैसे तो तुलसी आदर्श राज्य की परिकल्पना करते हैं। इसलिए राजा के शासन में कहीं कोई दोष की कल्पना से भी उन्हें परहेज हैं-

दण्ड जतिन्ह कर भेद जहं नर्तक नृत्य समाज।

---

१३३. त्रिवर्ग:-के अन्तर्गत धर्म, अर्थ और काम आते हैं।

१३४. तीन विद्या:-तीन विद्याओं से तात्पर्य वेदत्रयी, कृष्णादिवार्ता और नीति।

१३५. षड्गुण:-मनुस्मृति ७/१६० में वर्णित हैं- सन्धिं च विग्रहं चैव यानमासनमेव च। द्वैधीभावं संश्रयं च षड्गुणांश्चिन्तयेत् सदा॥ सन्धि-मेल, विग्रह-युद्ध, यान--आक्रमण करना, आसन-स्थिर रहना, द्वैधीभाव-शत्रुओं में फूट डालना, संशय-किसी का सहारा लेना-ये छह गुण हैं।

१३६. देव-मनुष्य सम्बन्धी आपत्तियाँ:-- हुताशनो जलं व्याधिदुर्भिक्षं मरणं तथा। इति पंचविधं दैवं मानुषं व्यसनं परम्। अग्नि लगना, जल प्लावन, व्याधि, दुर्भिक्ष तथा महामारी ये पाँच देवी आपत्तियाँ हैं। आयुक्तकेभ्यश्चौरेभ्य: परेभ्यो राजवल्लभात्। पृथिवीपतिलोभाच्च व्यसनं पंचधा भवेत्। कामन्दकीय अधिकारी, चोर, शत्रु, राजा के कृपापात्र और राजा के लोभ से होने वाली आपत्तियाँ मानुष आपत्तियाँ कहलाती हैं।

१३७. राजकृत्य:-शत्रु के द्वारा अनुपलब्ध वेतन, निरादृत, कोपित तथा भयभीत व्यक्तियों को अपने पक्ष में कर लेना।

१३८. विंशतिवर्ग:-बालक, वृद्ध, दीर्घरोगी, जाति--बहिष्कृत, भीरु मन्त्री आदि वाला, लोभी, लोभजनों वाला, विरक्त, इन्द्रिय लोलुप, अस्थिर बुद्धि, देव-ब्राह्मण निन्दक, अभिशप्त, पुरुषार्थहीन, दुर्भिक्षपीड़ित, बहु-रिपु, प्रवासी, सेनाविहीन, यथासमय काम न करने वाला और सत्य धर्म पर दृढ़ न रहने वाला इन बीस पुरुषों से सन्धि न करे, कामन्दकीय

१३९. प्रकृति:-अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश और दण्ड

१४०. मण्डल-मध्य में विजय का इच्छुक राजा, उसके सामने पाँच, पीछे चार तथा पार्श्व में दो व्यक्ति इस प्रकार बीस मण्डल होते हैं।

१४१. यात्रा-विधान-विग्रह, सन्धि, सम्भूय, प्रसंग और उपेक्ष्य-यान पाँच प्रकार का होता है कामन्दकीय

१४२. सन्धि विग्रह:-षड्गुणोयुक्त द्वैधीमाय-संन्श्रय सन्धि के अन्तर्गत और यान--आसन विग्रह के अन्तर्गत आ जाते हैं।

१४३. विनय न मानत जलधि जड़ गए तीनि दिन बीति। बोले राम सकोप तब भय बिनुहोई न प्रीति। सु०का० ५७ सठसन विनय कुटिल सन प्रीति, सहज कृपन संन सुंदर नीति।................उसर बीज बें फल जथा। सु०का०

१४४. तुम्हरे बल में रावनु मारयो, तिलक विभीपन कहं पुनि सारयो। रा०मा०, लङ्का०का०

जीतहु मनहि सुनिअ अस राम इन्द्र के राज।[१४५]

राम ने भरत के समक्ष स्पष्ट चौदह राजा के दोष गिनों हैं-जो किसी भी राजा के लिए त्याज्य है।

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम्। अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पंचवृत्तिताम्।
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च मन्त्रणाम्। निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम्।
मङ्गलस्याप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वत:। कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुदर्श।'[१४६]

अर्थात् हे भरत! नस्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता (टालमटोल) सज्जनों से न मिलना, आलस्य, इन्द्रियों की परवशता, मन्त्रियों की अवहेलना कर अकेले ही राज्य सम्बन्धी बात पर विचार करना, अशुभ चिन्तकों अथवा उल्टी बात समझाने वाले मूर्खों से परामर्श करना, निश्चित मङ्गलकृत्यों का त्याग, नीच-ऊँच सबको देख उठ खड़े होना अथवा सब शत्रुओं का एक साथ आक्रमण— इन चौदह राजदोषों को तुमने त्याग दिया है ?

राम चरित मानस में यत्र-तत्र इन चौदह राज दोषों का वर्णन प्रत्यक्ष न होकर इनसे उत्पन्न भयावहता को संकेतित किया गया है। कलियुग-निन्दा व्याज से ऐसे राजाओं की निन्दा की है, जो विना कारण प्रजा को दण्ड दे और उनके नाश का कारण बनें।[१४७] यही नहीं **'धन्य सो भूपु नीति जो करई'**[१४८] कहकर तुलसी ने न्याय प्रिय राजा की प्रशंसा ही की है। हितकारी मन्त्री, मित्र या बान्धव की उपेक्षा या अपमान राजा के अविवेक व अदूरदर्शिता का परिचय है। विभीषण का पलायन व शत्रु-पक्ष से मिल जाना इसका प्रमाण है। क्योंकि अपने अपमान का बदला व राजा को विजय के अनेक गोपन रहस्य[१४९] बताकर करता है। यह राम की राजनीतिक कुशलता है कि वह विभीषण में छिपी क्षमता को पहचानकर स्थान-स्थान पर उनसे परामर्श लेते हैं।

वाल्मीकि-रामायण में एक अन्य स्थल पर आश्रम में आये विश्वामित्र के समक्ष वशिष्ठ चिन्ता प्रजा के प्रति न्याय को लेकर ही है।[१५०]

निष्कर्षत: हम यही कह सकते हैं वाल्मीकि और तुलसी दोनों ही महाकवियों ने एक आदर्श राजा के स्वरूप को अंकित किया है। राजा के समस्त कार्यकलाप, अन्त: बाह्य गुणों में वैदिक छाप स्पष्टत: दिखाई पड़ती है।

---

१४५. रा० मा०, उत्तरका० २२
१४६. वा०रा०, अयो०का० ७०/४५-४७
१४७. क भूप प्रजासन रा०मा० उत्तरकाण्ड ख नृप पाप परायण धर्म नही। करि दण्ड विडम्ब प्रजा नितहि। रा०मा०उ०का०
१४८. रा०मा० उ०का०
१४९. नाभिकुंड पियूष बसयाकें, नाथ जिअत रावनु बल ताकें। राम०मा० लं०का०, तुलसीदास
१५०. वा०रा० १/५२/८-९

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२२३-२३५)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित वैदिक अर्थव्यवस्था का स्वरूप

दीपाली सिंघल

किसी भी सभ्यता का मेरुदण्ड उसका आर्थिक ढाँचा होता है। इस दृष्टि से भारत प्राचीन काल में अत्यधिक सम्पन्न था। वास्तव में भारतीय समाज का आर्थिक विकास 'पुरुषार्थ' के जीवन-दर्शन के माध्यम से हुआ है, जिसमें अर्थ भी एक प्रधान तत्त्व माना गया है। प्राय: व्यक्ति की मन:काङ्क्षा अनेकानेक वस्तुयें प्राप्त करने की होती है, जो अर्थ के सहयोग से ही पूर्णता को प्राप्त करती है। साथ ही समाज का उत्कर्ष मनुष्य के आर्थिक जीवन की सम्पन्नता और समुन्नति पर ही निर्भर करता है। इसीलिए हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने पुरुषार्थ के अन्तर्गत अर्थ की नियोजना की। अत:, अर्थ मनुष्य का भौतिक और लौकिक सुख प्रदान करने वाला विशिष्ट तत्त्व एक सुशासित राज्यव्यवस्था का मूलाधार माना गया है।

प्राचीन भारत में अर्थ अथवा धन के उपार्जन से सम्बन्धित विषय के लिए 'वार्ता' शब्द का व्यवहार किया जाता था। 'वार्ता' शब्द 'वृत्ति' से निकलता है, जिसका अर्थ है—व्यवसाय।[१] वार्ता शब्द मनुष्य के आर्थिक जीवन के कार्य-कलापों से सम्बन्धित था। वार्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य का व्यवहार होता था। रामायणकाल में वार्ताशास्त्र का इतना महत्त्व बढ़ गया कि इसे 'तिस्त्र: विद्या:' के अन्तर्गत त्रयी (तीनों वेद) और दण्डनीति के समकक्ष गिना जाने लगा।[२] रामायण में इसे लोक सुख प्राप्ति का साधन माना गया है।[३] अत: स्पष्ट है कि तत्कालीन समय में अर्थ या धन का तात्पर्य सिक्के नहीं था, धान्य, गवादि पशु, घर-बार, खेत-खलिहान, हाथी, घोड़े, उनके वस्त्र, मृगचर्म आदि वे सभी वस्तुयें धन के अन्तर्गत आती थीं, जिनका समाज के लिए कोई आर्थिक महत्त्व होता था।[४] इस प्रकार तत्कालीन समाज में भी अर्थ से बहुत कुछ वही आशय लिया जाता था जो आधुनिक अर्थशास्त्रीय परिभाषा में लगाया जाता है-अर्थात् प्रत्येक विनिमय योग्य वस्तु अर्थ है। राष्ट्र या व्यक्ति के जीवन में अर्थ का महत्त्व भली-भाँति प्रकट था, जैसा की लक्ष्मण के भाषण से स्पष्ट है कि 'अर्थ ही धर्म का मूल है, जैसे पर्वत से नदियाँ निकलती हैं, वैसे ही अर्थ से सब क्रियायें।'[५]

तत्कालीन समाज में लोगों के आर्थिक जीवन का मूलाधार कृषि एवं पशुपालन था। सभ्यता के उत्तरोत्तर विकास, व्यावहारिक अनुभव एवं तकनीक के कारण रामायणकाल तक आते-आते कृषि को एक निश्चित रूप

---

१. वायुपुराण, ८/१२४,

२. रामायण, २/१००/६८,

३. वही, २/१००/४७, 'कच्चित्ते दयिता: सर्वे कृषिगोरक्षजीविन:। वार्तायां साम्प्रतं तात लोकोऽयं सुखमेधते॥'

४. वही, २/३३/१७-२१, २/७०/१९-२१,

५. वही, ६/८३/२१-३९,

प्रदान कर दिया गया था तथा कृषि लोगों की जीविका का साधन बन गया।[६] कृषि की महत्ता इसी से प्रकट होती है कि विशेष अवसरों पर राजाओं को भी हल चलाना पड़ता था। राजा जनक को हल चलाते समय खेत में सीता की प्राप्ति हुई थी।[७] साथ ही इससे यह भी स्पष्ट है कि क्षत्रियों के लिए कृषिवर्जित नहीं थी और राजसमारोहों में राजा का हल चलाना एक अतिशय शोभा एवं पुण्य का कार्य माना जाता था, क्योंकि प्रत्येक यज्ञ-शुभारम्भ के लिए यज्ञ भूमि का हल से शोधन करना आवश्यक था। अतः कृषि का सम्बन्ध यज्ञ-यज्ञादिक से स्थापित हो गया और उसके आर्थिक महत्त्व में धार्मिकता का भी पुट जुड़ गया। रामायण में कोशल, मत्स्य, वत्स तथा अयोध्या आदि देशों की उर्वरक भूमि की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई है।[८] उपयोगिता की दृष्टि से रामायण में चार प्रकार की भूमि का उल्लेख किया गया है— १. निवास भूमि-जिसमें ग्राम और नगर सम्मिलित थे। २. कृषि-भूमि क्षेत्र इन्हें केदार भी कहा गया है। ३. गोचरभूमि या चारागाह, ४. वनप्रदेश, इसमें बंजर भूमि भी सम्मिलित थी। भूमि का स्वामी राजा होता था।[९] प्रजा द्वारा राजा को 'बलि' या कर देना राजा के भू-स्वामित्व का सूचक है। खेत को 'क्षेत्र' या 'केदार' तथा हल से जुती हुई खेत की पङ्क्ति को 'सीता' कहा जाता था।[१०] तत्कालीन समय में फसलों के आधार पर खेतों के नामकरण का उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ, चावल के खेत को 'कलमक्षेत्र' कहा गया है।[११] चावल की दो फसलें होती थीं, एक तो शरद् ऋतु की व्रीही की फसल, जो लगभग कार्तिक मास में काटी जाती थी और दूसरी हेमन्त ऋतु की फसल जो लगभग फाल्गुन मास में काटी जाती थी। शरद् और शिशिर ऋतुओं के वर्णन में राम ने पके हुए धान के बालों और फसलों की पङ्क्ति से युक्त पृथ्वी की ओर संकेत किया है।[१२] रामायण में 'कृष्ट' नामक फसल का भी उल्लेख हुआ है। कृष्ट वह फसल थी जो श्रमपूर्वक पैदा की जाती थी, जैसे-यव (जौ), गोधूम (गेहूँ), शालि (शारिशाका), व्रीहि (चावल), षष्ठिक (साठी) तथा कई प्रकार के चावल आदि।

कृषि अनेक उपकरणों के माध्यम से की जातीं थी, जैसे-कठिनकाज (चमड़े का थैला), कलश (धातु का घड़ा), कुठार (कुल्हाड़ी), कुदाल (कुदाल), कुम्भ (मिट्टी का गागर), क्षुर (छूरा), खनित्र (फावड़ा), टंक (टांकी), दात्र (दराती), परशु (फरसा), पिटक (टोकरी), शूल, फाल (हल के नीचे लगा हुआ) आदि का उल्लेख मिलता है।[१३] खेत की जुताई के लिए हल का प्रयोग किया जाता था।[१४]

---

६. वही, ७/७४/१६-७,

७. वही, १/६६/१४-१५

८. वही, २/५०/८-११, २/१००/४४-४५, २/५२/१०१, २/३३/१७

९. वही, ४/१८/६, 'इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना।'

१०. वही, १३/१६/१४, 'ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते। सीतेव तात पश्यामः लक्ष्यते न च शोभते॥'

११. वही, ४/१४/१६, 'प्रसूतं कलमक्षेत्रं वर्षेणेव शतक्रतुः।

१२. वही. ४/३०/४७, 'विपक्वशालिप्रसवानि भुक्त्वा प्रहर्षिता सारसचारुपङ्क्तिः।'

१३. वही, २/५५/१७, २/६३/३८, २/८०/७, २/[illegible]२/२९, २/६४/१५, २/१२/१०, २/३१/२५, २/८०/७, २/३२/३२, २/३१/१५, १/३९/१९, २/[illegible]

१४. वही, १/६६/१४-१५,

जैसा कि वर्षा की प्रतीक्षा करते हुए किसानों से सम्बन्धित उपमाओं एवं उत्प्रेक्षाओं के प्रयोग से प्रकट होता है[१५] कि सामान्यता प्राकृतिक जलस्रोत वर्षा और नदियाँ सिंचाई के प्रमुख साधन थे, परन्तु अनावृष्टि और दुर्भिक्ष से बचने के लिए रामायणकाल तक सिंचाई के कृत्रिम साधनों का उपयोग किया जाने लगा। तत्कालीन समय में आज ही की तरह दो फसलें होती थी। एक खरीफ की फसल, जो वर्षा के जल पर निर्भर करती थी और दूसरी, रबी की फसल जो अन्य प्रकार की सिंचाई से बढ़ाई जाती थी। सिंचाई की दृष्टि से खेत दो भागों में विभाजित थे। जो खेत कृत्रिम साधनों से सींचे जाते थे, वे 'अदेवमातृक' या 'नदीमातृक' कहलाते थे। जबकि वर्षा पर निर्भर रहने वाले खेत 'देवमातृक' कहलाते थे। कोसल राजा के खेतों को 'अदेवमातृक' कहा गया है[१६] अर्थात् उनकी पैदावार वर्षा के जल पर निर्भर नहीं थी। इससे स्पष्ट सूचित होता है कि किसानों को सिंचाई के कृत्रिम साधन उपलब्ध थे। इन कृत्रिम साधनों में मुख्यत: नहरें, जलाशय, कुऐं, पुल, बाँध, तालाब तथा झील आदि थे। इनके निर्माता 'यन्त्रक' कहलाते थे। नहर या नाली को 'प्रणाली' तथा बाँध को 'रोधस' कहा जाता था।[१७] इनका निर्माण राज्य की ओर से किया जाता था।[१८]

कृषि के सहकारी धंधे के रूप में फलों के बगीचे लगाने का उद्योग भी बहुत प्रचलित था। अशोक वाटिका के वर्णन से तत्कालीन उद्यान-विद्या का पर्याप्त ज्ञान मिलता है। सुग्रीव का मधुवन एक समृद्ध फलोद्यान था, जिसकी बड़े ध्यान से देखभाल की जाती थी,[१९] क्योंकि उद्यान को ऐसे वृक्षों से युक्त बताया गया है, जिसमें सभी ऋतुओं के फल-फूल लदे रहते थे।[२०] अत: फलोद्योग की उन्नतावस्था सूचित होती है।

तत्कालीन समाज में सुरक्षा का वातावरण[२१] होने के कारण कृषकगण अपने-अपने जनपदों में स्थायी रूप से बसे हुए थे।[२२] अत: वे स्थान परिवर्तन करने के अनिच्छुक रहे होंगे। आधुनिक अर्थशास्त्र की भाषा में इसे 'इमोबिलिटी ऑफ एग्रीकल्चरल लेबर' (कृषि श्रमिक की अगतिशीलता) कह सकते हैं, परन्तु कुछ राज्यों में अराजकता के कारण किसान खेत की जुताई-बुवाई नहीं करते थे।[२३] राक्षसी ताड़का के आतंक के कारण बिहार के मलद और करूप प्रदेशों की सारी समृद्धि नष्ट हो गई और वे एक वीरान प्रदेश में परिणत हो गए।[२४] ऐसी स्थिति में

---

१५. वही, २/११२/१२, २/३२/१३, 'त्वामेव हि प्रतीक्षन्ते पर्जन्यमिव कर्षका:।'

१६. वही, २/१००/४५,

१७. वही, २/८०/११,

१८. वही, २/८०/१,

१९. वही, ५/६१-२,

२०. ६/२७/३६, 'सर्वकामफला वृक्षा: सर्वे फलसमन्विता।' ६/२७/३४, 'नित्यमूला नित्यफलास्ता अत: पुष्पिता।' ६/१२८/१०२,

२१. वही, ६/२८/९८-१००

२२. वही, २/१००/४३, 'सुनिविष्टं जनाकुल:।'

२३. वही, २/६७/१०, 'नाराजके जनपदे बीजमुष्टि: प्रकीर्यते।'

२४. वही, १/२४/२४-२५, 'एतौ जनपदौ स्फीतौ पूर्वमास्तां नरोत्तम। मलदाश्च करुषाश्च मुदिता धनधान्यत:॥'

राजा का यह कर्त्तव्य था कि वह कृषकों और गौ-पालकों के कष्टों का निवारण करे तथा उनकी सुख-समृद्धि के साधन जुटाए।[25] जैसे- राम की ओर से अन्न के सरकारी गोदाम बने रहते थे, जिन्हें 'धान्यकोश' कहा जाता था।[26]

रामायणकाल में यद्यपि लोगों की जीविका का मुख्य साधन कृषि एवं पशुपालन था, परन्तु शनैःशनैः उन्होंने विभिन्न प्रकार के उद्योगों एवं व्यवसायों को भी प्रारम्भ किया। जहाँ एक तरफ यह पशुओं का प्रयोग कृषि कार्य में करते थे, वहीं दूसरी तरफ पशुओं से प्राप्त होने वाले पदार्थों से अनेक कुटीर उद्योग भी चलाते थे, जैसे- पशुओं के दूध से अनेक प्रकार के दुग्धपदार्थ बनाये जाते थे। यह उद्योग मुख्यतः देहातों में प्रचलित था। हेमन्त ऋतु का वर्णन करते हुए लक्ष्मण ने देहातों को दुग्ध और दुग्धपदार्थों से भरपूर बताया था। इससे हमें इसका ज्ञान प्राप्त होता है कि इस समय शाकाहार का प्रचलन था। इसी कारण दूध और दूध से बने पदार्थों की बड़ी मांग थी। हाथीदाँत का उद्योग भी काफी उन्नत था, इस काम में लगे कारीगर 'दन्तकार' कहलाते थे। कैकेयी का महल हाथी दाँत की चौकियों तथा आसनों से सम्पन्न था।[27] लङ्का के प्रसादों में हाथी दाँत के खंभे और झरोखे थे, जिनपर सोने की जालियाँ पड़ी थीं।[28] इससे स्पष्ट है कि रथों, सिंहासनों, शयनासनों तथा राजमहलों में हाथी दाँत की पच्चीकारी की जाती थी। इसके अतिरिक्त व्याघ्रचर्म, सिंह तनु, मृगचर्म और आर्षभ चर्म का उद्योग भी उन्नतावस्था में था। ये शय्या, रथ और सिंहासन पर प्रायः बिछाये जाते थे। धार्मिक क्रियाओं में मृगचर्म का ही अधिकतर प्रयोग होता था। मृगचर्म में कभी-कभी सोने की कशीदाकारी की जाती थी।[29] कैकेय देश का मृगचर्म उच्चतम कोटि का माना जाता था। इसलिए यहीं से विभिन्न प्रदेशों में आयात किया जाता था। वहीं दूसरी तरफ बैल की खाल की ढालें राक्षस और विद्याधर जाति के लोग काम में लाते थे।[30] मृगचर्म के स्थान पर लङ्का के राक्षस तपस्वी, गोजिन (बैल का चर्म) धारण करते थे।[31] अतः इन तथ्यों से यह प्रमाणित होता है कि रामायणकालीन उद्यमियों को चमड़ा बनाने की कला का भी ज्ञान था।

तत्कालीन समय के व्यवसायों में वस्त्र-उद्योग का भी प्रमुख स्थान था। कुशल बुनकरों को 'सूत्रकर्मविशारद' कहा जाता था।[32] तन्तुवाय तथा कम्बलकार[33] सुन्दर सूती, ऊनी तथा रेशमी वस्त्रों का निर्माण

१/२५/१४,'देशमुत्सादयत्येनम्।'

२५. वही, २/१००/४८,'तेषां गुप्तिपरीहारः कच्चित्ते भरणं कृतम्।'

२६. वही, २/३६/७

२७. वही, २/१०/१४,'दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम्।' २/१०/१५,'दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः।'

२८. वही, ३/५५/८,दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फटिकैः राजतैस्तथा। ....स्तम्भैर्दृष्टिमनोरमैः, ३/५५/१०,'दान्तका राजताश्चैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः हेमजालावृताश्चासंस्तत्र प्रासादपंक्तयः।'

२९. वही, ७/१/१४-१५,'तेषु कांचन चित्रेषु............मृगचर्मयुतेषु च।'

३०. वही, ६/५४/३०, ५/१/२४,

३१. वही, ५/४/१५,

३२. वही, २/८०/१,

३३. वही, २/८३/१४,

करते थे। सीता स्वयंवर के अवसर पर राजा जनक ने अन्य उपहारों के साथ रेशमी वस्त्र भी दिये थे।[34] रेशमी वस्त्रों में ही दशरथ की रानियों ने सीता का स्वागत किया था।[35] राम और सीता घर पर रेशमी वस्त्र ही धारण करते थे।[36] यहाँ तक की उपचारिकाएँ भी रेशमी वस्त्रों का प्रयोग करती थीं।[37] इससे पता चलता है कि तत्कालीन समय में रेशमी वस्त्रों का प्रचलन प्रचुर मात्रा में था। ऊन के कपड़ों के लिए मेढ़े के रोओं से 'और्ण' नामक वस्त्र निर्मित किया जाता था।[38] वस्त्रों को सुन्दर एवं आकर्षक बनाने के लिए उन्हें रत्न जड़ित किया जाता था।[39] साथ ही वस्त्रों की रंगाई, धुलाई भी की जाती थी। इस काम में लगे कारीगरों को 'रजक' की संज्ञा दी जाती थी।

वस्त्र व्यवसाय के समान धातु और शिल्प उद्योग भी उन्नत दशा में था। धातुयें अनेक स्थानों से प्राप्त होती थीं। राम ने कोशल राज्य को खानों से सुशोभित बताया है।[40] खानों के अतिरिक्त धातुयें हिमालय तथा विंध्य पर्वत मालाओं से चित्रकूट, कैलाश, सह्य, मलय और उदय पर्वतों से प्राप्त होती थी। इन पर्वतों को 'धातु मण्डित' या 'धातुशतैश्चितम्' कहा गया है। जिस पर्वत से हनुमान् ने लङ्का की ओर उड़ान भरी थी, वह नीले, लाल, मजीठ और कमल के वर्ण तथा सफेद काले रंग के स्वभाव सिद्ध, विशुद्ध धातुओं से भूषित था।[41] उपर्युक्त स्थानों के अतिरिक्त नदी तल से भी धातुएँ निकाली जाती थीं। इस प्रकार प्राप्त होने वाला सोना 'जाम्बूनद' कहलाता था।[42] धातुओं के परिशोधन तथा मिश्रित धातुओं के उत्पादन की कला ज्ञात थी। सोने को तपाकर उसकी अशुद्धियाँ अलग कर दी जाती थीं।[43] धातुओं में अयस्[44] या कलायस[45]-फौलाद, पीतल,[46] कावर्णायस[47] या लोह[48] (लोहा), कांस्य[49] (कांसा), रजत[50] या हिरण्य[51] (चाँदी)-सुग्रीव ने कोशकारों की भूमि में चाँदी की खानों का वर्णन किया

---

३४. वही, १/७४,
३५. वही, १/७७,
३६. वही, २/३७, ७९,
३७. वही, २/७,
३८. वही, ६/७५/९,
३९. वही, ४/१५,
४०. वही, २/१२०/४७,'खनिभिश्चोपशोभितः।'
४१. वही, ५/१/५,'स्वभावसिद्धैर्विमलैर्धातुभिः समलंकृतम्।'
४२. वही, १/१४/५४,
४३. वही, ४/२४/१८,'अग्नौ विवर्णं परितप्यमानं किट्टं यथा राघव जातरूपम्।'
४४. वही, २/४०/२३,
४५. वही, ५/४१/१२,
४६. वही, ३/२९/२०,
४७. वही, १/३७/१७,
४८. वही, ३/४७/४६,
४९. वही, ४/५०/३४,

है।[५२] सुवर्ण[५३] (सोना), शीश[५४] (सीसा), ताम्र[५५] (तांबा) एवं त्रपु[५६] (टीन) का उल्लेख प्राप्त होता है।

धातुओं का उपयोग जहाँ अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य उपकरणों के निर्माण में किया जाता था, वहीं सोना-चाँदी सदृश बहुमूल्य धातुयें आभूषणों के लिए मणि, मुक्ता, वैदूर्य एवं रत्नों का भी प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त रामायण में शिल्पियों का भी उल्लेख मिलता था। जिन कारीगरों का काम कुछ विशेषता या कौशल लिये हुए होता था, उन्हें शिल्पी कहा जाता था। वाल्मीकि कहते हैं कि अयोध्या नगरी में सब तरह के शिल्पी निवास करते थे।[५७] राज्य इन्हें विशेष सुख-सुविधायें प्रदान करता था। ऊँचे दर्जे के कारीगरों का विशेषतया उनका जो यज्ञ-यागादिक में अपना शिल्प-कौशल दिखाने में निपुण थे, समाज में उनका सम्मान पूर्वक स्थान था, दशरथ ने उन्हें अपने अश्वमेधयज्ञ में आमन्त्रित किया था। यथोचित आदर-सत्कार, धन और भोजन द्वारा उन्हें प्रसन्न करने की समुचित व्यवस्था की थी।[५८] जनता के आर्थिक विकास एवं राजधानी की भी वृद्धि में शिल्पियों का उल्लेखनीय सहयोग था। रामायण में विभिन्न प्रकार के शिल्पियों का उल्लेख प्राप्त होता है। धूप या सुगन्धित पदार्थों का निर्माण करने वाले 'धूपक'[५९] कहलाते थे। रामायण से हमें ऐसे गाँवों का भी उल्लेख मिलता है, जो सुगन्धित वस्तुओं का निर्माण करते थे।[६०] हाथी दाँत का काम करने वाले 'दंतकार',[६१] चाक की सहायता से मिट्टी के अनेक प्रकार के बर्तन बनाने वाले 'कुम्भकार',[६२] बाँस का काम करने वाले 'वंशकृत'[६३] कहलाते थे। बेंत का प्रयोग मुख्यत: राजकीय आसनों को ढकने में किया जाता था।[६४] चमड़े के जूते बनाने वाले चर्मकृत[६५] वस्तुओं का निर्माण कर अपनी

---

५०. वही, २/३४/१४,
५१. वही, १/५३/२१,
५२. वही, १/५३/२१,
५३. वही, २/३४/४,
५४. वही, १/३७/२०,
५५. वही, ४/२३/२०,
५६. वही, १/३७/२०,
५७. वही, १/५/१०, 'उषितां सर्वशिल्पिभि:।'
५८. वही, १/१३/६-८,
५९. वही, २/८३/१४,
६०. वही, ३/५५/२१, 'निर्यासरसमूलानां चन्द्रनानां सहस्रश:।'
६१. वही, २/८३/१३,
६२. वही, २/८३/१२,
६३. वही, २/८०/३,
६४. वही, ७/१/१५, 'कुशान्तर्धनिदत्तेषु आसनेपु।'
६५. वही, २/८०/३०,

जीविका चलाते थे। इसी प्रकार कैवर्त्तक[६६] (मछुआ) कार्मातिक[६७] (दिन में काम करने वाले मजदूर), स्थपति[६८] (भवन निर्माता), वैद्य[६९] (चिकित्सक), नट[७०] (अभिनेता) सभी अपने चातुर्य का प्रदर्शन करते हुए रामायण में चित्रित किये गए हैं। रामायण में शिल्पकारों की निपुणता का भी परिचय मिलता है। रावण के राजप्रसाद की स्वर्णमय प्राचीर, हाथी दाँत और चाँदी के वातायन तथा मणि मुक्ताओं एवं स्फटिक के विविध प्रयोग देखकर हनुमान् को स्वर्ग का स्मरण हो आया था।[७१]

प्रारम्भिक मानव कृषक एवं पशुपालक था, परन्तु अर्थव्यवस्था का विकास होने से वह अनेक प्रकार के उद्योगों एवं व्यवसायों को करने लगा। धीरे-धीरे ये व्यवसाय वंशानुगत होने लगे। जब एक ही व्यवसाय में लगे लोग एक ही स्थान पर साथ-साथ रहने लगे तो अपने हितों की रक्षा के लिए वे संगठित होने लगे। परिणामस्वरूप आर्थिक संगठनों का आविर्भाव हुआ। इसी प्रकार व्यापारी वर्ग भी अपने हितों की रक्षा के लिए समूहों में बंध गये। प्राचीन समय में व्यापारियों को लम्बी-लम्बी व्यापारिक यात्रायें करनी पड़ती थीं, जिसका रास्ता जंगलों से होकर गुजरता था, जो चोर-डाकुओं एवं जंगली जानवरों से भरा रहता था। अत: अकेले यात्रा करना निरापद नहीं समझा जाता था। इसीलिए व्यापारी अपनी-अपनी सुरक्षा निमित्त बड़े-बड़े समूहों या सार्थों में यात्रा करने लगे।[७२] इस सम्बन्ध में बृहस्पति का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि व्यापार और वाणिज्य में असुरक्षा तथा अव्यवस्था की स्थितियों ने ही सबसे पहले व्यक्तिगत एवं सामूहिक हितों की रक्षा के लिए लोगों को समूहों में संगठित होने के लिए प्रेरित किया।[७३] ऐसे संगठित व्यापारिक समूह श्रेणी, निगम या निकाय कहलाते थे। वास्तव में प्राचीन भारत की अर्थव्यवस्था को समुन्नत और विकसित करने में इन संगठनों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। धीरे-धीरे ये संगठन इतने अधिक शक्तिशाली होते गये कि न केवल आर्थिक क्षेत्र में अपितु सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र से भी शिल्पियों की श्रेणियों तथा व्यापारिक निगमों के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। रामायण में अनेक स्थानों पर श्रेणीमुख्यों के साथ ही नैगमों तथा गणवल्लभों का उल्लेख मिलता है।[७४] राजकीय कार्यों तथा राज्याभिषेक के अवसर पर श्रेणी मुख्य उपस्थित रहते थे।[७५] अयोध्याकाण्ड में उन शिल्पियों एवं व्यापारियों की लम्बी सूची दी गई

---

६६. वही, २/८३/१५,

६७. वही, १/१३/७,

६८. वही, २/८०/२,

६९. वही, २/८३/१४,

७०. वही, २/६/१४,

७१. वही, ५/९,

७२. वही, ३/६०/३४, ४/६७/४८, 'मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै। सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षितं बहुबान्धवा:॥'

७३. बृहस्पतिस्मृति, १७/५,

७४. बृहत्कल्पभाष्य, ३/३७५७,

७५. रामायण, २/१४/८९, २/२६, २/८१.

है। जो भरत के साथ राम को वापस अयोध्या लाने के लिए चित्रकूट गये थे।[७६] इनमें मणिकार, हाथी दाँत का काम करने वाले, काष्ठ की खुदाई करने वाले आदि सभी श्रमिक वर्गों के लोग थे।[७७] श्रेणि-मुख्यों की भाँति ही नैगम भी राज्याभिषेक समारोह में भाग लेते थे,[७८] क्योंकि राम के प्रस्तावित राज्याभिषेक में सम्मिलित होने के लिए नैगमों के प्रतिनिधि आये थे[७९] तथा राज्यारोहण के समय नैगमों ने उनका राज्याभिषेक किया था।[८०] वस्तुतः श्रेणियों की भाँति ही नैगमों को भी कुछ न्यायिक अधिकार प्राप्त थे और राजा कुछ न्यायिक मामलों में नैगमों के प्रतिनिधि से परामर्श करता था।[८१] श्रेणी तथा नैगमों की भाँति रामायण में गण का भी उल्लेख मिलता है। रामायण में 'गण' शब्द आधुनिक ट्रेड यूनियन (व्यापार संगठन) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[८२] इन गणों के सभापति 'गणवल्लभ' कहलाते थे। भरत के साथ गणवल्लभ भी चित्रकूट गए थे।[८३]

सामान्यतः ये संगठन पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे और स्वच्छन्द होकर श्रेणी के हित को ध्यान में रखकर अपना कार्य करते थे। चूँकि ये श्रेणियाँ आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न रहती थीं। इसीलिए इनके द्वारा देश तथा समाज के हित में अनेक प्रकार के कार्य सम्पन्न कराये जाते थे। विपत्ति और संकट के समय ये राज्य की आर्थिक सहायता भी करते थे। इसीलिए समय के साथ-साथ श्रेणियों का प्रभाव और प्रतिष्ठा निरन्तर बढ़ती गयी। जिसके कारण समाज में इनका एक स्वतन्त्र अस्तित्व कायम हो गया। ये श्रेणियाँ अपने नियम स्वयं बनाती थीं, जिनका पालन करना श्रेणी के प्रत्येक सदस्य के लिए अनिवार्य माना जाता था। यदि ये नियम राज्य के लिए अहितकर या विरोधी नीति के नहीं होते थे तो राजा भी उन्हें मान्यता प्रदान करता था। रामायण के अनुसार श्रेणियाँ जो नियम अपने सदस्यों के लिए बनाती थीं उनके विरुद्ध राजा भी कोई कानून नहीं बनाता था।[८४] ये अपनी सुरक्षा के निमित्त सैनिक भी रखती थीं। रामायण में 'सयोध-श्रेणी' का उल्लेख मिलता है।[८५] अतः स्पष्ट है कि श्रेणियों की अपनी सैन्यव्यवस्था थी जिसके आधार पर वे अपनी सुरक्षा करती थीं और समय पड़ने पर राजा को भी सहायता करती थीं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन समाज में श्रेणियों की व्यापक और

---

७६. वही, २/८३/११,'ये च तत्रापरं सर्वे सम्मता ये च नैगमा। रामं प्रतिययुर्हृष्टाः सर्वाः प्रकृतयः शुभाः॥'

७७. वही, २/८३/१२-१५,

७८. वही, २/८८/१२/१९,

७९. वही, २/१४/४०-१,'पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह। अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः॥' 'यौधेश्चैवाभ्यषिचंस्ते सम्प्रहृष्टैः सनैगमैः।'

८०. वही, ६/१२८/६२,

८१. वही, ६/३७/२१,

८२. वही, २/१४/४०,

८३. वही, २/८१/४२,

८४. वही, ६/१११/१२,

८५. वही, २/१२३/५,

महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। जहाँ ये श्रेणियाँ आर्थिक उत्पादन तथा व्यवसाय एवं वाणिज्य की प्रगति हेतु सक्रिय थीं वहाँ ये राज्य के समग्र विकास में अपना प्रभावी योगदान देती थीं।

उद्योगों एवं व्यवसाय के विकास से किसी ऐसे निश्चित माध्यम की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके द्वारा क्रय-विक्रय अधिक सुगमता से हो सके। प्रारम्भ से ही पशुओं के अत्यधिक महत्त्व के कारण उसको विनिमय के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा। यही कारण है कि वैदिक साहित्य में गाय का विनिमय का माध्यम निरूपित किया गया है।[८६]

रामायणकाल में भी वस्तुओं का क्रय-विक्रय बहुधा विनिमय प्रणाली के द्वारा ही होता था। वस्तुओं का विनिमय व्यापार 'निष्क्रय' कहलाता था। गाय को विनिमय का माध्यम तथा मूल्य का मानदण्ड माना जाता था। किसी वस्तु विशेष का मूल्य गायों की संख्या से तय किया जाता था। शुनःशेप के माता-पिता एक लाख गाय लेकर अपने पुत्र को बेचने के लिए तैयार हो गए थे।[८७] किसी भी गाय का मूल्य उसकी श्रेष्ठता के आधार पर निश्चित किया जाता था। उदाहरणार्थ-विश्वामित्र ने वसिष्ठ से यह प्रस्ताव किया था कि एक लाख गाय लेकर यह मूल्यवान् कपिला (गाय) मुझे दे दीजिए।[८८] रामायण के अनेक स्थलों से यह सिद्ध होता है कि यद्यपि तत्कालीन युग में सोने और चाँदी जैसी धातुओं का भी प्रयोग होने लगा था और उपहार या पारिश्रमिक के रूप में उनका लेन-देन भी रहता था। फिर भी वे गायों का स्थान नहीं ले सके और किसी भी आदान-प्रदान की प्रक्रिया को पूर्णता प्रदान करने के लिये उसमें गायों का समावेश आवश्यक था। जैसे महाराज दशरथ ने अपने पुरोहितों को सोना और चाँदी तो दिया ही पर अपने दान को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए दस लाख गायें भी प्रदान कीं।[८९]

पारिश्रमिक देने या अन्य व्यापारक्रियाओं में सिक्कों का भी उपयोग किया जाता था, सिक्के को 'निष्क' की संज्ञा दी गयी। कैकेयराज ने भरत को दो हजार निष्क दिये थे।[९०] वनगमन के समय राम ने सुयज्ञ को एक हजार निष्क भेंट किये थे।[९१] निश्चय ही ये निष्क सिक्के रहे होंगे, भरत या सुयज्ञ ने उनका शायद ही आभूषणों के रूप में प्रयोग किया हो। यह सच है कि रामायण में गले में हार को भी निष्क कहा गया है, किन्तु इसका कारण यह था कि हार में भी निष्क सिक्के गूंथे जाते थे। सिक्कों का हार पहनने का रिवाज प्राचीनकाल की तरह आज भी देखने में आता है।

यह कहना कठिन है कि निष्क आधुनिक अर्थ में मुहर लगा सिक्का था, हालांकि रामायणकाल का कोई सिक्का कहीं खुदाई में नहीं मिला है, लेकिन विना मुहर लगे सोने और चाँदी के सिक्कों (धातुखण्ड) का उल्लेख

---

८६. ऋग्वेद, ४/२४/९-१०,

८७. रामायण, १/६१/१३,'गवां शतसहस्रेण विक्रीणीपे सुतं यदि।'

८८. वही, १/५३/७,'गवां शतसहस्रेण दीयतां शवला मम।'

८९. वही, १/१४/४८,

९०. वही, २/७०/२१, रुक्मनिष्कसहस्रे द्वे ... सत्कृत्य कैकयीपुत्रं केकयो धनमादिशत्।'

९१. वही, २/३२/१०, 'तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुंङ्गव।

मिलता है। सोने के सिक्के 'जाम्बूनद' य 'सौवर्ण' कहलाते थे, चाँदी के सिक्के 'रजत'। उत्तरकाण्ड में लव-कुश के अनुपम रामायण गान से प्रसन्न होकर राम ने उन्हें अट्ठारह हजार सोने के सिक्के देने चाहे थे।[९२] महाराज दशरथ ने ब्राह्मणों को एक करोड़ जाम्बूनद और चालीस करोड़ रजत बांटे थे।[९३] यह गणना योग्य संख्या नियत आकार-प्रकार, नियत तोल और नियत मूल्य के सिक्कों की ओर इंगित करती है।

माप-तोल के निश्चित परिमाण थे। द्रव्य पदार्थों के लिए 'द्रोण' (बत्तीस सेर) नामक माप प्रचलित था। राम को वन में द्रोण प्रमाण के छत्ते लटके दिखाई देते थे।[९४] धन का नियत भागों में विभाजन 'प्रविभाग' कहलाता था।[९५] दण्ड मापने का डंडा था। लंबाई धनुष से अथवा हाथ फैलाकर मापी जाती थी।[९६] 'व्यास' लम्बाई का ही एक माप होता था। दोनों भुजाओं को दोनों ओर फैलाने पर एक हाथ की अंगुलियों के सिरे से दूसरे हाथ की अंगुलियों के सिरे तक जितनी दूरी होती उसे 'व्यास' कहते थे।[९७] चौबीस अंगुल के माप को 'अरत्नि' कहते थे। दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में खंभे इक्कीस-इक्कीस अरत्नि ऊँचे थे।[९८] 'योजन' दूरी का माप था।[९९]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि रामायणकाल में दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति का एकमात्र माध्यम तो वस्तुविनिमय ही था और बहुमूल्य होने के कारण निष्क एवं अन्य धातुओं को विनिमय में अधिक प्रयुक्त नहीं किया जाता था। दूसरा- इनका उल्लेख केवल यज्ञ आदि अवसरों पर दान-दक्षिणा देने के प्रसङ्ग में हुआ है, क्रय-विक्रय के सन्दर्भ में नहीं। तीसरा- इनमें से किसी पर भी राजांक, अधिकार चिह्न तथा लेख का अंकन सिद्ध नहीं होता है। अतः जिस अर्थ में आज हम मुद्रा का प्रचलन पाते हैं, उस अर्थ में इन्हें मुद्रा नहीं माना जा सकता। इसीलिए इन्हें निश्चित तौल के धातुखण्ड मानना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

इस काल में आर्य कृषि एवं पशुपालन के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धे भी करते थे। चूँकि कृषिकर्म और विभिन्न उद्योगों से उत्पन्न वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए व्यापार ही एकमात्र माध्यम था। अतः इनमें तनिक भी संदेह नहीं है कि वैदिक आर्य विभिन्न वस्तुओं का व्यापार करते थे। वैदिक साहित्य में व्यापारियों के लिए पणि, वणिज एवं वाणिज आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[१००] जैसा कि ज्ञात है कि व्यापारियों ने अपने को श्रेणियों में संगठित कर लिया था, जिससे उनका सामाजिक एवं राजनैतिक महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था।

---

९२. वही, ७/९४/१७-१८,'अष्टादशसहस्राणि सुवर्णस्य महात्मनो:। प्रयच्छ शीघ्रं काकत्स्थ यदन्यदभिकांक्षितम्।

९३. वही, १/१४/५१-४४,

९४. वही, २/५६/८,'पश्य द्रोणप्रमाणानि लम्बमाननि लक्ष्मण। मधूनि मधुकारीभि: सम्भृतानि नगे नगे॥'

९५. वही, १/१४/५२,

९६ ९६. वही, ४/११/७२,'उद्यम्य प्रक्षिपेच्चापि तरसा द्वे धनुः शते।' वही, १/१४/२३,'द्वावेव तत्र विहितौ बाहुव्यस्तपरिग्रहौ।'

९७. वही, ६/६५/३८,

९८. वही, १/१४/२५,'एकाविंशत्यरत्नय:।'

९९. वही, ४/११/७१-७२,

१००. ऋग्वेद, १/३३/३, १/५६/२, १/११२/११, २/४८/३, ३/१०/६, ५/४५/६, वाजसनेयी संहिता, ३०/१७, तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/४/१४-१

रामायण में एक स्थल पर राम ने भरत को कृषि, गोरक्षा तथा वाणिज्य की हित की रक्षा करने की मन्त्रणा दी है।[१०१] अत: स्पष्ट है कि इन्हें राज्य का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था। ये व्यापारी राज्य में प्रवेश करते ही नियमानुसार चुंगी तथा अन्य कर देते थे। नियत स्थान पर पहुँचकर व्यापारी अपनी वस्तुओं का विक्रय करते थे अथवा उनके बदले में स्वयं वहाँ की उत्पादित वस्तुयें ले लेते थे।

अनेक स्थानीय वस्तुओं का भी विभिन्न प्रदेशों में आयात-निर्यात किया जाता था। सम्भवत: इस समय की प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं में कृषि उत्पाद, सूत, ऊन तथा इससे बने वस्त्र, समुद्री क्षेत्र से प्राप्त शङ्ख एवं मोती तथा शिल्पियों द्वारा तैयार की गई विभिन्न प्रकार की वस्तुयें रही होंगी। प्रत्येक प्रदेश अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध था जैसे-हिमालय तथा विन्ध्य पर्वतों की तराइयाँ अच्छी नस्ल के हाथियों के लिए प्रसिद्ध थी।[१०२] अयोध्या नगरी में ऐरावतकुल, महापथकुल, आंजनकुल और वामनकुल नस्लों के श्रेष्ठ हाथी विद्यमान थे।[१०३] ऐरावत और इन्द्रशिखर पर्वतों की गज-जातियों को 'प्रियदर्शन' कहा गया है।[१०४] उत्तम नस्ल के घोड़े मुख्यत: कम्बोज, वाह्लीक (बैक्ट्रिया) सिंध तथा वनायु (अरब) में पाये जाते थे।[१०५] सागर के द्वीपों से चन्दन, रत्न, मूंगे[१०६] तथा उत्तरी-पश्चिमी सीमा क्रमश: कपड़ों और अच्छे हाथियों के लिए मशहूर थे। राजकीय प्रासाद के शहर को जोड़ने वाले राजमार्ग पर विविध क्रय-विक्रय से भरी-पूरी दुकानें सजी थीं।[१०७] दुकानें 'आपण' के नाम से सम्बोधित की जाती थीं। बिक्री की चीजें 'विक्रय' या 'पण्य' उनका दान 'मूल्य' तथा व्यापार से होने वाला मुनाफा 'पण्यफल' कहलाता था।[१०८]

विदेशों से भी व्यापारिक सम्बन्ध होने के संकेत मिलते हैं। चूँकि रामायण में उन व्यापारियों का उल्लेख हुआ है, जो समुद्रपार देशों से व्यापार करते और अयोध्या के सम्राट् को रत्नों का उपहार लाकर प्रदान करते थे।[१०९] ऐसे बड़े व्यापारी जहाजों का पता चलता है कि जो माल से लदे बीच महासागर में आगमन करते थे। ऐसे जहाज 'महानौका' और मार्ग 'नौपथ' कहलाते थे। लङ्कावर्णन करते समय कहा गया है कि उसके चारों ओर कहीं नौपथ नहीं है।[११०] सीता की तुलना समुद्र में हवा के थपेड़ों से डगमगाते हुए, माल से भरे जहाज से की गई है।[१११] इन

---

१०१. रामायण, २/१०३,

१०२. वही, १/६/२३, 'विन्ध्यपर्वतजैर्मत्तैः पूर्णा हेमवर्तैरपि।'

१०३. वही, १/६/२४,

१०४. वही, २/७०/२३, 'ऐरावतानैन्द्रशिरान् नागान् वै प्रियदर्शनान्।'

१०५. वही, १/६/२२,

१०६. वही, २/८२,

१०७. वही, २/१७/३-५,

१०८. वही, २/५७/१५, १/६१/२१, २/६७/५५, १/१/१००, २/१७/३-४, २/७१/४१,

१०९. वही, २/८२/८, 'कोट्यापरान्ताः सामुद्रा रत्नान्युपहरन्तु ते।'

११०. वही, ६/३/२१, 'नौपथश्चापि नास्त्यत्र निरुद्देशश्च सर्वशः।'

१११. वही, ५/२४/१४, 'समुद्रमध्ये नौः पूर्णा वायुवेगैरिवाहता।'

आलङ्कारिक उक्तियों से अनुमान होता है कि महासागरों में बड़े-बड़े जहाजों का पर्याप्त आना-जाना था। समुद्री दुर्घटनाओं का वर्णन समुद्री यात्राओं का ही सूचक हो सकता है।

रामायण से तत्कालीन व्यापारिक मार्गों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। रामायण में गिरिव्रज (वर्तमान जलालपुर के निकट गिर्यक) से अयोध्या तथा अयोध्या से सिद्धाश्रम होते हुए मिथिला जाने वाले पथ का विस्तृत वर्णन मिलता है। दशरथ की मृत्यु के पश्चात् जब दूत भरत को बुलाने कैकय देश गये तो सबसे पहले उन्होंने अयोध्या से उत्तर-पश्चिम दिशा की ओर अग्रसर होते हुए पांचाल प्रदेश (रुहेलखण्ड), कुरुजांगल प्रदेश (गंगा और उत्तरी पांचाल के मध्य स्थित जंगली प्रदेश) में प्रवेश करते हुए शरदण्डा नदी (सरहिन्द) को पार किया। इसके बाद वे कुलिङ्गा (सहारनपुर एवं अम्बाला जिला) से होकर तेजोभिवन एवं अभिकल गाँवों से गुजरते हुए वाह्लीक (पंजाब) के मध्य स्थित सुदामा पर्वत (व्यास नदी के निकट स्थित कोई पर्वत) को पार कर विपाशा (व्यास) और उसके तटवर्ती शालवृक्षों को देखते हुए गिरीव्रज पहुँचे।[११२] इसी प्रकार बालकाण्ड के अनुसार विश्वामित्र के साथ सिद्धाश्रम जाने को तत्पर हुए राम और लक्ष्मण ने अयोध्या से दक्षिण-पूर्व में आगे बढ़ते हुए वर्तमान छपरा के निकट गाँव एवं सरयू (वर्तमान घाघरा) के संगम से गङ्गा नदी को पार किया। तत्पश्चात् भयानक दुर्गम प्रदेश से होते हुए दक्षिण की ओर ताटका वन (शाहाबाद जिला) को पार कर सिद्धाश्रम (बक्सर) पहुँचे। सिद्धाश्रम से मिथिला जाने के लिए वे उत्तर दिशा की ओर उन्मुख हो शोणभद्र (सोन) नदी के तट पर पहुँचे। शोणभद्र से उन्होंने घने वनों को पार करते हुए वर्तमान पटना के निकट गङ्गा नदी पार कर विशालपुरी (वैशाली) में प्रवेश किया और यहाँ से मिथिला की ओर प्रस्थान कर जनकपुर (नेपाल की सीमा पर स्थित) पहुँचे।[११३] इस प्रकार गिरिव्रज से अयोध्या तथा अयोध्या से मिथिला तक जाने वाले इन दोनों पथों के विवरण को एक साथ रख देने से रामायणकालीन उत्तरापथ का स्वरूप स्पष्ट होता है कि उस समय नगरों और राजधानियों को संयुक्त करने वाले अनेक मार्ग थे जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त उपयुक्त और उपयोगी समझे जाते थे।

आन्तरिक व्यापार में नदियों का भी बहुत अधिक योगदान था। इस काल में स्थलव्यापार मुख्य रूप से बैल गाड़ियों के माध्यम से होता था। बैलों के अतिरिक्त गाड़ियों में घोड़े एवं खच्चर आदि पशु जोते जाने का भी उल्लेख मिलता है।[११४] तत्कालीन समय में सड़कों की मरम्मत का कार्य भी विधिवत् होता था।

रामायण[११५] के अनुसार जब भरत राम से मिलने चित्रकूट गये तो उनके साथ सड़क बनाने वाले कारीगरों की संख्या बहुत अधिक थी। इनमें भूमि-प्रदेशज्ञ, नाप-जोख करने वाले, मजदूर, (स्थपति) इंजीनियर, बढ़ई,

---

११२. वही, ६/६२/२-१४,

११३. वही, १/२१/९, १/२२/५-१६, १/२३/१-१८, १/२८/१४-३६, १/३०/५०-१८, १/३४/१-६, १/४४/५-८, १/४७/९-१०,

११४. वही, २/८९/११,

११५. वही, २/४०/१३,

दांते-बरदार, पेड़ लगाने वाले, कूपकार, सराय बनाने वाले और बांस की झोपड़ियाँ बनाने वाले मुख्य थे।[११६] ये कारीगर जमीन को समतल बनाते थे, रास्ता रोकने वाले पेड़ काटते थे, पुरानी सड़कों की मरम्मत करते थे, नई सड़कें बनाते थे[११७] तथा रास्ते पर पड़ने वाली नदियों पर पुल बनाते थे।[११८] अतः स्पष्ट है कि आन्तरिक व्यापारिक मार्गों के रख-रखाव एवं उनको निरापद रखने का दायित्व राज्य पर था, जैसा कि दशरथ की मृत्यु के बाद इकट्ठे हुए 'राजकर्तार' के इस कथन से प्रकट है कि अराजक प्रदेश में वणिक् लोग दूर-दूर तक धन-धान्य लेकर यात्रा नहीं कर सकते।[११९] राजा ही देश की आन्तरिक सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध करता था, जिससे सम्पन्न लोग निःशंक होकर रह सकें तथा कृषक और ग्वाले दरवाजे खोलकर सो सकें।[१२०]

अतः रामायणकालीन व्यवस्था के सम्पूर्ण अध्ययन से हमें यह आभास मिलता है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था वर्तमान समय की भाँति कृषिप्रधान थी तथा अधिकांश उद्योग-धन्धे कृषि कार्य पर ही आधारित थे। साथ ही लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास से तत्कालीन समाज में कोई भी व्यक्ति बेरोजगार नहीं था। इसी प्रकार यदि वर्तमान समाज में पुनः लघु एवं कुटीर उद्योगों का विकास किया जाए तो कोई भी बेरोजगार नहीं होगा, साथ ही व्यक्ति कार्यकुशलता को प्राप्त कर देश के आर्थिक विकास में अपना प्रभावी योगदान देने में सहायक सिद्ध होगा।

---

११६. वही, २/९१/१-३,

११७. वही, २/९१/५-६,

११८. वही, २/९१/७-११,

११९. वही, २/६७/२२,

१२०. वही, २/६७/१८, 'नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः। शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्षजीविनः॥'

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२३५-२४२)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक अर्थव्यवस्था

रणजीत कुमार पाण्डेय

किसी भी राष्ट्र या समाज का जीवन जितना सुशासित एवं शान्ति पूर्ण होता है, वह उस राष्ट्र या समाज की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए अर्थ (धन) अनिवार्य है, साहित्य में विभिन्न प्रकार के अर्थोपार्जन की विधियाँ वर्णित हैं तथा अधिक धनसंग्रह के त्याग का उपदेश भी दिया गया है।

वेदों में मानव की भौतिक उन्नति की सर्वोच्चता दृष्टिगत होती है। वैदिक काल के मनुष्यों की अर्थव्यवस्था का सञ्चालन अर्थशास्त्र के नियमों पर आधारित था। उत्पादन-उपभोग, आदान-प्रदान के बहुत से साधन विद्यमान थे। श्रम विभाग के सिद्धान्तों के आधार पर समाज चार भागों में बंटा था (ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र), जिसमें आर्थिक विकास कार्य मुख्य रूप से वैश्यों का ही था। आर्थिक विकास का मुख्य आधार कृषि कर्म ही था। इसके साथ ही साथ वैश्य पशुपालन, वाणिज्य, व्यवसाय आदि कार्य करते थे, जो मानव जीवन के सच्चे उद्देश्यों पर आधारित था। भूमि से सम्पत्ति उत्पन्न करने का सबसे प्राचीन एवं सरल तरीका कृषि ही है। भारत की भौगोलिक परिस्थिति के कारण आर्थिक विकास में कृषि कर्म ही सबसे प्रमुख रहा है। वैदिक युग में कृषि कर्म अत्यन्त ही पवित्र माना जाता था। ऋग्वेद में अधिकांश स्थलों पर खेत जोतेने, हल चलाने तथा फसलों से हरे भरे खेतों का उल्लेख प्राप्त होता है। जुऐं में पराजित जुआरी को ऋषि ने उपदेश दिया कि जुआ खेलना छोड़ दो और खेती करने का अभ्यास करो **'अक्षैर्मादीव्य: कृषिमित् कृषस्व'**।[१]

ऋग्वेद की भाँति वाल्मीकि-रामायण में भी कृषि कर्म ही आय का प्रमुख स्रोत था। तत्कालीन सभी जनपद एवं प्रदेश शुभ शस्य से सम्पन्न रहते थे। मागधी नाम से प्रसिद्ध सोन नदी के दोनों तटों पर अत्यन्त उपजाऊ भूमि थी, जिससे वह सदैव शस्य सम्पन्ना रहती थी-**'सुक्षेत्रा शस्यमालिनी'**।[२] लवणासुर के वध के उपरान्त शत्रुघ्न ने पुनः मधुपुरी को बसाया और शीघ्र ही वहाँ के खेत धान्य से सम्पन्न हो गये-**'क्षेत्राणि शस्ययुक्तानि'**।[३] पंचवटी में रहते समय हेमन्त ऋतु के आगमन पर लक्ष्मण ने जिस प्रकार इस ऋतु की विशिष्टता का वर्णन किया है, उसमें तत्कालीन कृषि पर प्रकाश पड़ता है-

'वाष्पाच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च।
खर्जूरपुष्पाकृतिभि: शिरोभि: पूर्णतण्डुलै:॥
शोभन्ते किंचिदालम्बा: शालय: कनकप्रभा:॥'[४]

---

१. ऋग्वेद -१०/३४/७

२. वाल्मीकि-रामायण -१/३२/१०

३. वाल्मीकि-रामायण -७/१०/१०

४. वाल्मीकि-रामायण -३/१६/१६-१७

अर्थात् जौ और गेहूँ के खेतों से युक्त ये वन वाष्प से आच्छादित हैं, खजूर के फूल की सी आकृति वाली तथा सुनहरे रंग की शालिधान्य की ये बालियाँ चावलों के भर जाने से कुछ लटककर सुशोभित हो रही हैं। रामायणकाल की प्रमुख फसलें, धान्य यव, गेहूँ, जौ, माष, तिल आदि थीं, जिनका उल्लेख वैदिक काल में भी मिलता है।

वैदिककालीन लोग कृषि कर्म के लिए अधिकांशतः वर्षा पर निर्भर थे। वर्षा के देवता इन्द्र की अनेक सूक्तों में स्तुति की गयी है।[५] वर्षा के लिए नाना प्रकार के वार्षिक, त्रैमासिक यज्ञ किये जाते थे, जिससे वर्षा होती थी। वर्षा ही मुख्य रूप से रामायणकालीन कृषि का भी आधार था। वर्षा न होने से कृषिनाश के कारण प्रजाओं को घोर दुःख भोगना पड़ता था, अतः वे अनावृष्टि से भयभीत रहते थे-**'अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा'**।[६] कृषि के लिए वर्षा के इसी महत्त्व के कारण कृषकगण सदैव मेघ की प्रतीक्षा करते थे-**'पर्जन्यमिव कर्षकाः'**।[७] हवा और धूप से सूख जाने के कारण नष्टप्राय बीज भी वर्षा के जल से सिंचित होकर पुनः हरा भरा हो जाता था-**'वातातपक्लान्तमिव प्रणष्टं, वर्षेण बीजं प्रतिसंजहर्ष'**।[८]

रामायणकाल में कृषि प्रमुखतः वृष्टि पर निर्भर अवश्य थी, किन्तु अनावृष्टि की दशा में धरती को सींचने के लिए वैदिक काल की तरह नहरों, कुओं, बावड़ियों आदि का भी प्रबन्ध था। रामायणकाल में केवल वर्षा पर निर्भर रहने वाली भूमि को 'देवमातृक' तथा सिंचाई के अन्य साधनों से सम्पन्न भूमि 'अदेवमातृक' कही जाती थी। चित्रकूट में राम से मिलने आये भरत से राम ने स्पष्ट पूछा था कि हमारे पूर्वजों के द्वारा सुरक्षित कोसल जनपद धन-धान्य सम्पन्न तो है-

अदेवमातृको रम्यः श्वापदः परिवर्जितः।
परित्यक्तो भयैः सर्वः खनिभिश्चोपशोभितः॥[९]

रामायणकालीन जल इकट्ठा करने हेतु सेतु बाँधते थे-

ववन्धुर्वन्धनीयांश्च क्षोद्यान् सञ्चुक्षुदुस्तथा।[१०]
वारिवेगेन महता भिन्नः सेतुरिव क्षरन्॥[११]

वैदिक मनुष्यों की ही भाँति रामायणकालीन मानव भी कृषि के अतिरिक्त पशुपालन के द्वारा भी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करते थे। वैदिककालीन मानव गाय की महत्ता को समझकर उसे पूजनीया मानते थे, वैदिक ऋषियों ने

---

५. ऋग्वेद -१/३२, २/१२
६. वाल्मीकि-रामायण -१/९/९
७. वाल्मीकि-रामायण -२/११२/१३
८. वाल्मीकि-रामायण -५/२९-६
९. वाल्मीकि-रामायण -२/१००/४५
१०. वाल्मीकि-रामायण -२/८०/१०
११. वाल्मीकि-रामायण -६/१२८/४

उसे-'अघ्न्या: हि गौ:'[१२] कहा है। रामायण में उल्लिखित विभिन्न पशुओं में गौ सर्वाधिक पवित्र एवं मूल्यवान् पशुधन थी। गाय को रत्न रूप ही माना गया था-'**रत्नं हि भगवन्नेतद्**'।[१३] गाय के विना कोई दान या कोई निष्क्रय पूर्ण नहीं होता था। राजा नृग ने बछड़ों से युक्त स्वर्ण भूषित एक करोड़ गायें ब्राह्मणों को दान में दी थीं-'

स कदाचिद् गवां कोटी: सवत्सा: स्वर्णभूषिता:।
नृदेवो भूमिदेवेभ्य: पुष्करेषु ददौ नृप:।।[१४]

रामायण में स्थल पर गोरस, गोधन, गोकुल गोपाल आदि सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। गाय का दूध मनुष्यों में प्रिय खाद्य था। गाय की सम्पूर्ण देखभाल का भार गोपालकों पर होता था। गायों के विश्राम के लिए प्रत्यागार गोशालों बनवाई जाती थीं-

प्रत्यागारमिवायान्ती सवत्सा वत्सकारणात्।
वद्धवत्सा यथा धेनू राममाताभ्यधावत।।[१५]

रामायणकाल में गौ के अतिरिक्त अश्व भी प्रमुख था अश्व का प्रधानतम गुण था उसकी त्वरित गति दशरथ के रथ के घोड़े वायु के समान गति वाले थे-

वायुवेगसमौ वीरौ जवनौ तुरगोत्तमौ।।[१६]

गौ और अश्व के अतिरिक्त हाथी पालने का भी उल्लेख रामायण में मिलता है। राजकीय वैभव व समृद्धि प्रदर्शन के लिए हाथियों का अनिवार्य रूप से उपभोग होता था। हाथी का मूल्य उसके सुन्दर दाँतो के कारण भी बढ़ जाता था। भारत में हाथी दाँत के आभूषण, खिलौने, मूर्तियाँ, भवनों के गवाक्ष, तोरण, जालियाँ स्तम्भ आदि बनाये जाते थे। सीता को हर कर ले जाने के बाद रावण ने उन्हें लुब्ध करने के लिए सम्पूर्ण भवन दिखाया, जहाँ हाथीदाँत के स्तम्भ और गवाक्ष बने हुए थे-

दान्तकैस्तापनीयैश्च स्फटिकै राजतैस्तथा।[१७]

इन सबसे अतिरिक्त अयोध्या नगरी में विभिन्न प्रकार के पशु थे-'**वाजिवारणसम्पूर्णा: गोभिरुष्ट्रै: खरैस्तथा**'[१८] जिससे वह अत्यन्त सुशोभित होती थी।

देश की समृद्धि में वाणिज्य एवं व्यापार का प्रमुख स्थान होता था। राजकीय कोष में मुख्य योगदान वणिजों एवं व्यापारियों का होता है। वैदिक काल में विभिन्न उद्योग-धन्धों के द्वारा दैनिक आवश्यकता की वस्तुयें

---

१२. ऋग्वेद -१/१६४/२७
१३. वाल्मीकि-रामायण -१/५३/९
१४. वाल्मीकि-रामायण -७/५३/८
१५. वाल्मीकि-रामायण -२/४०/४३
१६. वाल्मीकि-रामायण -२/६७/२४
१७. वाल्मीकि-रामायण -३/५५/८-१०
१८. वाल्मीकि-रामायण -१/५/१३

उत्पन्न की जाती थी, जिससे हाथ के कौशल एवं कारीगरी की विशेष आवश्यकता पड़ती थी। इसमें तक्षन् (बढ़ई), कर्मार (लोहार), भिषक् (वैद्य), स्तोत्र बनाने वाले, कुम्हार, रथकार, मल्लाह तथा बुनकर आदि का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। अपनी स्वाभाविक रुचि तथा प्रवृत्ति के अनुसार वे लोग अपने लिये व्यवसाय चुन लिया करते थे। ऋग्वेद के एक सूक्त में विभिन्न व्यवसाय वालों की स्वाभाविक प्रवृत्ति का सुन्दर एवं नैसर्गिक वर्णन किया गया है। ऋषि कहता है कि-

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।[१९]

अर्थात् बढ़ई टूटी हुई वस्तु को चाहता है, वैद्य रोग को, ऋत्विक् यज्ञ में सोमरस निकालने वाले यजमान को, कर्मार धनाढ्य को मैं स्वयं कारु हूँ, मेरे पिता वैद्य हैं, मेरी माता नना है, हमारे विचार नाना प्रकार के हैं ओर हम अपनी अभीष्ट वस्तु की ओर उसी प्रकार दौड़ रहे हैं, जिस प्रकार बछड़े गायों की ओर।

वैदिक काल की तरह अनेक उद्योग-धन्धे रामायणकाल में भी प्रचलित थे। राम से मिलने के लिए जाते समय भरत के साथ अयोध्या के लगभग सभी नागरिक भी गये थे, उस वर्णन में तत्कालीन विविध उद्योगों एवं शिल्पों की एक विस्तृत सूची प्राप्त हो जाती है। तदनुसार-मणिकार, कुम्भकार, सूत्रकार, शस्त्रोपजीवी, मयूरक, क्राकचिक, लकड़ी चीरने वाला, वेधक, रोचक, दन्तकार, सुधाकर, गन्धकार, स्वर्णकार, कम्बलकार, स्नापक, वैद्य, धूपक, शौण्डिक, रजक, तुन्नवाय, ग्राम घोष महत्त्वक, नट-नटी, कैवर्तक आदि बैल गाड़ियों पर चढ़कर गये थे।

मणिकाराश्च ये केचित् कुम्भकाराश्च शोभनाः।
सूत्रकर्मविशेषज्ञा ये च शस्त्रोपजीविनः॥
मयूरकाः क्राकचिका वेधका रोचकास्तथा।
दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः'[२०]

इस प्रकार विभिन्न उद्योग-धन्धों से उत्पन्न वस्तुओं के उपभोग के लिए अयोध्या में व्यापारियों के पृथक्-पृथक् बाजार थे-**'सुविभक्तान्तरापणाम्'**।[२१] वहाँ विभिन्न दुकानों (आपण) में प्रचुर रत्न तथा अन्य विक्रय हेतु योग्य द्रव्य संचित रहते थे-**'प्रभूतरत्नं बहु पण्यसञ्चयम्'**।[२२] अयोध्या के राजमार्ग की दुकानें-चन्दन अगरू, उत्तम गन्ध द्रव्यों, क्षौम तथा कौशेय वस्त्रों, अनविधे मोतियों तथा उत्तमोत्तम स्फटिक रत्नों से सुशोभित होती थीं-

राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम्।
चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च सञ्चयैः॥

---

१९. ऋग्वेद -९/११२/३

२०. वाल्मीकि-रामायण -२/८३/१२ ८२

२१. वाल्मीकि-रामायण -१/५/१०

२२. वाल्मीकि-रामायण -२/१७/४७

उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फटिकैरपि।
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम्।।[२३]

रामायण के समय में व्यापार वाणिज्य की उन्नति, तत्कालीन सुन्दर एवं सुरक्षित मार्गों से भी ज्ञात होती थी। अयोध्या में सुविभक्त महापथों का उललेख मिलता है-'**सुविभक्तमहापथाम्**'।[२४] जो आवागवन को सरल बना देते हैं और व्यापार के लिए अच्छे मार्ग नितान्त अनिवार्य होते हैं। भरत ने सबसे पहले जब चित्रकूट जाने का निर्णय लिया तो सबसे पहले सम-विषम भूमि को बराबर पाटकर मार्ग बना देने वाले शिल्पियों को आगे भेजा था- '**क्रियन्तां शिल्पिभिः पन्था समानि विषमाणि च**'।[२५] व्यापारीगण दूर-दूर तक भिन्न-भिन्न प्रदेशों में पण्य सामग्री का विक्रय किया करते थे, जो वनों, पर्वतों आदि से होकर समूहों में जाते थे।

रामायणकाल में वैदिककाल की तरह दो प्रकार के व्यापार किये जाते थे १. आन्तरिक २. बाह्य। आन्तरिक व्यापार से तात्पर्य उस समय भारत के विभिन्न प्रदेशों का आपस में व्यापार से था, बाह्य का तात्पर्य जो विदेशों में नाव जहाज आदि के द्वारा किया जाता था। ऋग्वेद के मन्त्रों में साधारण नाव के अतिरिक्त सौ डाँड वाली बड़ी नाव का स्पष्ट उल्लेख है-'**शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्**।[२६] वरुणदेव की स्तुति में शुनःशेप ऋषि का कहना है कि वे आकाश से जाने वाले पक्षियों के मार्ग को ही नहीं जानते, अपितु समुद्र पर चलने वाली नावों से भी परिचित हैं।[२७] इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक काल में विदेशी व्यापार जहाजों द्वारा सामुद्रिक मार्ग से किया जाता था। रामायणकाल में विदेशों से व्यापार होने के सबल प्रमाण उपलब्ध नहीं होते, फिर भी कतिपय सन्दर्भों में इनके संकेत अवश्य मिलते हैं। अयोध्यापुरी का वर्णन करते हुए वाल्मीकि ने लिखा है कि विभिन्न देशों के निवासी उस नगरी की शोभा बढ़ाते थे-'**नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्**'।[२८] उत्तर, पश्चिम दक्षिण आदि देशों से समुद्र पार करके वणिक् अयोध्या के राजा को विभिन्न उपहार दिया करते थे-

उदीच्याश्च प्रतीच्याश्च दक्षिणात्याश्च केवलाः।
कोट्यापरान्ताः सामुद्राः रत्नान्युपहरन्तु ते।।[२९]

समुद्र में जाते समय यदि व्यापारी की नौका सामान से आधिक भरी हुई होती थी तो वह वायु की थपेड़ों

---

२३. वाल्मीकि-रामायण -२/१७/३-५
२४. वाल्मीकि-रामायण -२/८६/१९
२५. वाल्मीकि-रामायण -२/७९/१३
२६. ऋग्वेद -१/११६/५
२७. ऋग्वेद -१०/१५/७
२८. वाल्मीकि रामायण -१/५/१४
२९. वाल्मीकि रामायण -२/८२/८

से डूब जाया करती थी।[३०]

ये सारे प्रसङ्ग रामायणयुग में वैदेशिक व्यापार का संकेत अवश्य देते हैं। वैदिक काल में व्यापार के लिए विनिमय कार्य के निमित्त गाय की महती उपयोगिता थी, परन्तु किसी प्रकार के सिक्के का चलन अवश्य था। काक्षीवान् ऋषि ने किसी राजा से सौ 'निष्क' तथा सौ घोड़े पाने की बात लिखी है।[३१]

इस प्रकार स्पष्ट है कि वैदिक युग के सिक्के को निष्क कहते थे। रामायणकाल में भी मुद्रायें प्रचलित थीं और विनिमय अथवा निष्क्रय भी होता था, सिक्के के रूप में स्वर्ण और रजत की मुद्रायें प्रचलित थीं जिसे 'निष्क' की कहा जाता था। रामायणकाल में विनिमय के लिए गौ ही सर्वाधिक मूल्यवान् समझी जाती थी, फिर भी रत्न, वस्त्र, स्वर्ण एवं अन्य पशु भी विनिमय व्यापार के साधन थे।

रामायणकाल में वाणिज्य व्यापार को पर्याप्त राजकोष संरक्षण भी प्राप्त था। राम ने भरत से कहा था कि वार्ता, कृषि आदि में संलग्न होकर ही संसार समृद्ध होता है। अतः उन सबकी भली प्रकार रक्षा करना राजा का कर्तव्य है-

वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते।
तेषां गुप्तिपरीहारैः कच्चित् ते भरणं कृतम्।
रक्ष्या हि राज्ञा धर्मेण सर्वे विषयवासिनः।[३२]

राज्य के संरक्षण प्राप्त होने के कारण व्यापारीजन अपनी द्रव्य सामाग्री के साथ दूर-दूर तक यात्रा करते थे। कृषि, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार ये तीन किसी भी राष्ट्र के अर्थ-व्यवस्था के प्रमुख साधन हैं। साथ ही साथ वनों से प्राप्त होने वाली वनज सम्पत्ति तथा खानों से प्राप्त होने वाले खनिज भी अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाते हैं तथा व्यापार को विविधात्मक एवं उन्नत करते हैं। रामायणकाल में वनों से प्राप्त होने वाली सम्पत्ति के अन्तर्गत चन्दन, सामान्य लकड़ियाँ, शहद, गोंद, फल, फूल, मसाले, सौन्दर्यप्रसाधन सामग्री, वल्कल आदि का उल्लेख मिलता है। खनिजों में-कालायस, कार्ष्यायान, कांस्य, रजत, हिरण्य, सुवर्ण, ताम्र, रत्न, विद्रुम, स्फटिक आदि खनिज सम्पत्तियाँ थीं।

इस सम्पूर्ण विवेचन में रामायण के युग में भारत की समृद्धि एवं वैभव सम्पन्नता का एक समग्र चित्र उपस्थित होता है, जो वैदिककालीन अर्थ-व्यवस्था का सुदृढ़ रूप ही है। रामायणकाल में देश की आर्थिक स्थिति पर्याप्त उच्च थी अतः मनुष्य का सामान्य जीवनस्तर भी उच्च था। आहार, वस्त्र, आभूषण, भवन, उद्यान, आपण (बाजार) आदि से अर्थ-व्यवस्था दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य के प्राप्तव्य पुरुषार्थों में अर्थ में एक पुरुषार्थ है। वाल्मीकि ने अपने युग समय में अर्थ पुरुषार्थ का प्रतिपादन लक्ष्मण के मुख से भली प्रकार कराया है----

अर्थभ्योऽथ प्रवृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यस्ततस्ततः।

---

३०. वाल्मीकि रामायण -५/२५/१४ समुद्रमध्ये नौः पूर्णावायु वेगैरिवाहताः।

३१. ऋग्वेद -१/१२६/२ 'शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्त्सद्य आदम्।

३२. वाल्मीकि रामायण -२/१००/४८-४९

क्रिया सर्वा प्रवर्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः॥
अर्थेन हि विमुक्तस्य पुरुषस्याल्पचेतसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः
यस्यार्थाः स पुमांल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥ '[३३]

अर्थात् जैसे पर्वतों से नदियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार यत्र-तत्र से लाये गये धन से सारी क्रियायें सम्पन्न होती हैं। जो मूढ़ मानव अर्थ से रहित है, उनकी क्रियायें ग्रीष्म ऋतु के नदी के समान सूख जाती हैं, जिसके पास धन है, मित्र है मित्र भी उसी को मिलते हैं। बन्धु भाई उसी को मिलते हैं, वही इस संसार में श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है, वही विद्वान् समझा जाता है।

---

३३. वाल्मीकि रामायण -६/८३/३२,३३,३५/

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२४३-२५४)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित प्रशासन-व्यवस्था

मंजु चौहान

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ प्रशासन-व्यवस्था का विकास भी होता रहा है, क्योंकि सभ्यता और विकास अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। मानव समाज में रहकर स्वयं तथा समाज का विकास करता है। यह विकास सभ्य समाज में ही सम्भव है। प्राचीन काल से आज तक मानव-जाति ने जीवन के विविध क्षेत्रों में जो प्रगति की है, उसके मूल में उसकी सामाजिकता और सभ्यता की भावना रही है। प्राचीन काल में मनुष्य की इसी भावना ने उसे पारिवारिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया, उसकी इसी भावना ने समुदाय और राज्य की कल्पना को मूर्तरूप देने का प्रयास किया। प्रशासन भी मानव की उपर्युक्त भावना का ही साकार रूप है। भारतीय चिन्तकों ने पुरातन काल से ही कतिपय ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्रों के अन्तर्गत स्थान-स्थान पर राजनीतिक विषयक सिद्धान्तों की चर्चा की है। चाणक्यनीति, विदुरनीति, शुक्रनीति तथा कुछ चिन्तकों ने अपना अधिकांश लक्ष्य राजनीति विषयक सिद्धान्तों को स्पष्ट करना ही माना है। मनु ने राजधर्म के विषय में विस्तृत विवेचन किया है। याज्ञवल्क्य ने भी राजधर्म का विवेचन किया है, परन्तु राजनीतिशास्त्र में उल्लखित मान्य सिद्धान्त न तो भौतिक-विज्ञान के सिद्धान्तों के समान देशकाल समयानवच्छिन्न है और न इतिहास की आधारभूत घटनाओं के समान अपुनरावर्तीय। कुछ अंशों तक उनकी आवृत्ति की जा सकती है, जो एकरसता भौतिक वस्तुओं में है, जैसे अग्नि, वाष्प, वायु में वह राजनीतिशास्त्रोक्त विषयों में नहीं हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध मानव हृदय की विविध अन्तर्जात भावनाओं से है। समाज और संस्कृति से सम्बद्ध रहने के कारण और अपने सिद्धान्तों और वस्तुओं के एक देश से अन्य देशों में पुनरावर्तनीय होने के कारण राजनीति का एक गहरा कलात्मक और प्रयोगात्मक स्वरूप है। वस्तुतः राजनीति का प्रयोगात्मक स्वरूप इसी तथ्य से स्पष्ट हो जाता है कि एक अधिक सबल और अभ्युन्नत समाज में राजनीति के नियमों और आदर्शों का उपयोग हो सकता है।

भारत रामायणकाल में एकछत्र साम्राज्य नहीं था। यह अङ्ग, काशी, कोशल, कैकेय, मगध, मत्स्य, मिथिला, वङ्ग, विशाला, सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, सांकाश्य आदि स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित था।[१] राजा दशरथ ने स्वयं को समस्त पृथ्वी का स्वामी कैकेयी के सम्मुख बताया है।[२] इसी प्रकार राम ने भी वाली से विवाद के समय भरत को सम्पूर्ण भारत का अधिपति बताया है।[३] इससे स्पष्ट होता है कि समस्त भारत पर अयोध्या का एकछत्र शासन था। रामायणकालीन शासन का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था। इस काल में गणतन्त्र का उल्लेख नहीं मिलता है। राज्यतन्त्र में ही जनता का विश्वास था। तत्कालीन समाज में राजा का पद कुलक्रमागत था। वसिष्ठ ने सूर्यवंश का

---

१. वाल्मीकि-रामायण, १/१३/२३-२८, १/४७/१२, १/७०/७, २/१०/३७,

२. वही, २/१०/३६-३८,'यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा।'

३. वही, ४/९/२१,

परिचय देते हुए बताया है कि राम से कई पीढ़ियों पूर्व से राजपद आनुवंशिक चल रहा था। भरत भी राजपद की आनुवंशिकता स्पष्ट करते हैं।[४] राजा को लोकसभा की अनुमति अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी होती थी। भावी राजा का नाम वर्तमान राजा तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा प्रस्तावित तथा उसके उपरान्त सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता था। नया राजा बनाने में सामन्तों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।[५] राम को युवराज घोषित करने से पहले सभा की स्वीकृति दशरथ ने प्राप्त की थी।[६] उत्तरकाण्ड में ऐसा प्रसङ्ग मिलता है कि राजा नृग ने प्रजाजनों, नैगमों, मन्त्रियों तथा पुरोहितों की उपस्थिति में अपने पुत्र को उत्तराधिकारी बनाने का प्रयास किया था।[७] भरत ने भी चित्रकूट में राम से विनती की कि वह प्रजाजनों, ऋत्विज तथा पुरोहितों के समक्ष अपना अभिषेक करा लें।[८] इन प्रसङ्गों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन राज्य का स्वरूप राजतन्त्रात्मक था, परन्तु कहीं न कहीं लोकतन्त्र की झलक अप्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती है।

युवराज प्राय: ज्येष्ठपुत्र को बनाया जाता था। अयोध्याकाण्ड में मंथरा कैकेयी से राम को वनवास तथा भरत को राजा बनाने का आग्रह करती है, क्योंकि राम के बाद ही भरत को अयोध्या का राज्य प्राप्त हो सकता था।[९] चूँकि राम दशरथ के ज्येष्ठपुत्र थे, इस कारण मंथरा उन्हें वनवास भेजना चाहती थी, यह उद्धरण ज्येष्ठता को स्पष्ट करता है। पुन: इसी काण्ड में सुमन्त्र कैकेयी पर रोष व्यक्त करते हुए कहते हैं कि इस कुल में राजा का परलोक वास हो जाने पर उसका ज्येष्ठपुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है।[१०] भरत भी ज्येष्ठता का नियम स्वीकार करते हुए राम को राजा बनाने का समर्थन करते हैं।[११] इन उद्धरणों से स्पष्ट होता है कि ज्येष्ठपुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता है, परन्तु अयोग्य और अत्याचारी होने पर उसे इस अधिकार से वंचित किया जा सकता था। राजा सगर का प्रसङ्ग बालकाण्ड में मिलता है कि इनका ज्येष्ठपुत्र असमंज नगर के बालकों को सरयू नदी में फेंककर उनकी हंसी उड़ाता था। इसी कारण से सगर ने राज्य छीनकर अपने पुत्र असमंज को देश से निर्वासित कर दिया था।[१२] राजा ययाति ने भी यदु से अधिक गुणी होने के कारण अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को राजा बनाया।[१३] यदि किसी राजा के पुत्र न हो तो वह अपने भाई को युवराज बना सकता था, जैसे राम के राज्याभिषेक के समय भरत को युवराज बनाया गया था, क्योंकि उस समय राम के कोई पुत्र नहीं था। सम्भवत: ऐसा उत्तराधिकार-विषयक

---

४. वही, २/९३/१०,'यावन्न राज्ये राज्यार्ह: पितृपैत्रमाहे स्थित:। अभिषिक्तो जलक्लिन्नो न मे शान्तिर्भविष्यते॥'

५. वही, २/१/४६,

६. वही, २/२/१५,'यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्। भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम्॥'.

७. वही, ७/५४/५-८,

८. वहीं, २/१०६/२६,

९. वही, २/८/२२/२५,

१०. वही, २/३५/९,

११. वही, २/७९/७-९,

१२. वही, १/३८/२०-२१,

१३. वही, ७/४९/१२,

विवाद से बचे रहने के लिए किया जाता था। ज्येष्ठपुत्र अयोग्य और अपराधी न होने पर उत्तराधिकार से वंचित कर दिया गया हो तो कतिपय उपायों के आधार पर ज्येष्ठपुत्र राजा बन सकता था, यथा-लक्ष्मण ने राम को परामर्श दिया कि मोह-ममता छोड़कर हमें राजा दशरथ को मारकर या कारागार में डालकर राज्य पर अपना आधिपत्य कर लेना चहिए।[१४] स्वयं दशरथ ने भी राम को कहा कि तुम मुझे बन्दी बनाकर अयोध्या के राजा बन जाओ।[१५] अन्तिम उपाय प्रजा पर निर्भर करता था। राजा के मन्त्री, सेना और नागरिक राज्य छोड़कर अन्य स्थान पर राज्य बसाकर रहे। इन उपायों को अपनाकर ही वह राज्य प्राप्त कर सकता था।[१६]

यदि विना युवराज के नियुक्त किए ही राजा की मृत्यु हो जाती थी तो ऐसे अन्तर्वर्ती काल में राजा का निर्वाचन तथा नये राजा की नियुक्ति तक शासन का कार्य पुरोहित अथवा ब्राह्मण संभालता था। जब राजा दशरथ की मृत्यु हुई उस समय राज्य का उत्तराधिकारी अयोध्या में उपस्थित नहीं था तो उस समय अयोध्या का शासन ब्राह्मणों (मार्कण्डेय, मौद्गल्य, वामदेव, कश्यप, कात्यायन, गौतम, वसिष्ठ, जाबाल आदि) ने संभाला था।[१७] यदि किन्हीं कारणों से राजा की नियुक्ति नहीं हो पाती थी तो ऐसी स्थिति में शासन कार्य किसी प्रबन्धक को सौंप दिया जाता था। राजा के वनवास चले जाने पर भरत ने प्रबन्धक के रूप में अयोध्या का शासन संभाला था। वनवास की समाप्ति पर जब राम अयोध्या लौट आये तब भरत ने राज-काज का कार्य राम को सौंपते हुए कहा कि वह कोष, सेना, कोठार आदि का भली-भाँति निरीक्षण कर लें।[१८] इस प्रंसग का वर्णन युद्धकाण्ड में किया गया है। अत: रामायणकाल में ज्येष्ठपुत्र ही राज्य का उत्तराधिकारी होता था। यदि कोई नियम का उल्लङ्घन करता था तो समाज उसके प्रति अपेक्षापूर्ण व्यवहार करता था तथा उचित उत्तराधिकारी को शासनारूढ़ होने के लिए प्रार्थना करता था।

राजा के गुण

रामायणकालीन प्रशासन में राजा के गुणों का भी विशेष महत्त्व था। इस समय राजा में कुछ गुणों का होना अनिवार्य था अत: वही व्यक्ति राजा बन सकता था जिसमें यह गुण विद्यमान हों। रामायण के अनुसार आदर्श राजा में निम्नलिखित गुण होने चहिए, यथा-पराक्रमी, उपकार मानने वाला, सत्यवक्ता, दृढ़निश्चयी, सदाचारी, समस्त प्राणियों का हितैषी, विद्वान्, प्रियदर्शन, मन को वश में रखने वाला, क्रोधविजयी, अनिन्दक और युद्ध में अजेय गुणों से युक्त हो।[१९] रामायण के ही बालकाण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है कि आदर्श राजा का व्यक्तित्व आकर्षक तथा प्रभावशाली होना चाहिए। उसके कन्धे मोटे, भुजायें बड़ी-बड़ी, शङ्ख की भाँति ग्रीवा, भरी हुई ठोडी, छाती, गले की हड्डी मांस से छिपी हो, भुजायें घुटनों तक लम्बी, मस्तक सुन्दर ललाट भव्य, चाल मनोहर,

---

१४. वही, २/२१/१२-१३, 'प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या.............बध्यतामपि॥'
१५. वही, २/२१/४४,
१६. वही, २/३७/२५-२६,
१७. वही, २/६७/३-४,
१८. वही, ६/१२७/५४-५६, 'एतत्ते सकलं .... गृहं वलभ॥'
१९. वही, २/१/२-४,

शरीर मध्यम और सुडौल, देह का रंग स्निग्ध, भरा हुआ वक्षस्थल, आँखे बड़ी-बड़ी हों, साथ ही आदर्श राजा बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, ज्ञानी, धर्म का ज्ञाता एवं नैतिक दृष्टि से धैर्यवान्, जितेन्द्रिय, सत्यप्रतिज्ञ, यशस्वी, उच्च विचार और उदार हृदय वाला हो।[२०] कुछ इसी तरह के गुण हनुमान् सीता को लङ्का से वापस लाने के लिए राम के विषय में बताते हैं।[२१] राजा के गुणों का उल्लेख वाली तथा लक्ष्मण ने भी अपने-अपने दृष्टिकोण से व्यक्त किया है।[२२] गुणवान् राजा ही विपत्ति के समय प्रजा की रक्षा कर सकता है, वहीं गुणविहीन राजा स्वयं के साथ-साथ प्रजा को भी विपत्ति में डाल सकता है।

रामायण में न केवल राजा के गुणों का वर्णन है, बल्कि उसके अवगुणों का भी विस्तार वर्णन किया गया है। अयोध्याकाण्ड में राम, लक्ष्मण को राजा के अवगुणों के विषय में बता रहे हैं कि राजा को दशवर्ग, पंचवर्ग, चतुवर्ग, सप्तवर्ग, अष्टवर्ग, त्रिवर्ग आदि का त्याग करना चाहिए।[२३] दशवर्ग के अन्तर्गत काम से उत्पन्न होने वाले दोषों को सम्मिलत किया गया है, जो राजा के लिए त्याज्य माने गए हैं, यथा-आखेट, जुआ, दिन में सोना, दूसरों की निन्दा करना, स्त्री में आसक्त होना, मद्यपान, नाचना, गाना, बजाना तथा व्यर्थ में घूमना। चुगली, साहस, द्रोह, ईर्ष्या, दोष-दर्शन, अर्थदूषण, वाणी की कठोरता तथा दण्ड की कठोरता को क्रोध से उत्पन्न अष्टवर्ग में माना गया है।[२४] अतः राजा को अष्ट तथा दशवर्ग का त्याग करनां चाहिए। इनके अतिरिक्त भी रामायणकाल में राजा को अन्य चौदह दोषों से दूर रहने की मन्त्रणा दी गई है, ये निम्नवत् हैं-नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रमोद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्ययुक्त, विपरीतदर्शी, मूर्खों से मन्त्रणा लेना, निश्चित किये हुए कार्य को शीघ्र प्रारम्भ न करना, गुप्त मन्त्रणा को सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक आदि कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सभी शत्रुओं पर एक साथ चढ़ाई कर देना। राम भरत को अयोध्याकाण्ड में इन दोषों से दूर रहने का परामर्श देते हैं।[२५]

राजा के कर्त्तव्य

रामायण में राजा के गुणों और अवगुणों के साथ-साथ उनके कर्तव्यों का भी सविस्तार वर्णन किया गया है। तत्कालीन समाज में ऐसी मान्यता थी कि जो राजा अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन नहीं करता वह उपेक्षणीय होता है। अतः राजा को अपने कर्तव्यों के प्रति सजग और जागरूक रहना चाहिए।[२६] बालकाण्ड में ऐसा प्रसङ्ग मिलता है कि इक्ष्वाकुकुल के राजा दशरथ अयोध्या की रक्षा उसी प्रकार करते हैं, जिस प्रकार प्राचीन काल

---

२०. वही, १/१/८-१८,
२१. वही, ५/३५/११,
२२. वही, ७/१७/११, ४/३४/७,
२३. वही, २/१००/६८-७०,
२४. वाल्मीकीय, रामायण, गीता प्रेस गोरखपुर २/१००/६८ श्लोक की टिप्पणी में पृष्ठ ४४८,
२५. वही, २/१००/६५-६७,
२६. वही, ३/३३/१७,

में मनु ने की थी।[२७] इसी प्रकार राजा के कर्तव्यों का उल्लेख अयोध्याकाण्ड[२८] तथा बालकाण्ड[२९] में मिलता है। इन कर्तव्यों के अतिरिक्त राजा का यह भी परम कर्तव्य होता है कि वह प्रजा के समक्ष उचित राजसी वेष-भूषा में जाए तथा सामाजिक उत्सवों में भाग ले।[३०] रामायणकालीन समाज में यह मान्यता थी कि जैसे विना चरवाहों के पशु, विना सेनापति के सेना, विना चन्द्रमा के रात्रि तथा विना सांड के गायों की शोभा नहीं होती, वैसे ही विना राज्य के राष्ट्र नहीं होता।[३१] इस समय राजा अपनी प्रजा का पुत्र की भाँति पालन-पोषण करता था।[३२] अत एव इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि राजा में कुछ गुण अनिवार्य रूप से होना चाहिए, जिससे वह अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह कर सके।

राज्याभिषेक

राम, सुग्रीव, विभीषण, भरत, शत्रुघ्न के राज्याभिषेक का उल्लेख मिलता है, परन्तु राम और सुग्रीव के ही राज्याभिषेक का सविस्तार वर्णन मिलता है। रामायणकालीन राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन राम के यौवराज्याभिषेक की तैयारी, वनप्रस्थान से अनभिज्ञ सीता के उद्‌गार तथा राम के राज्याभिषेक के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है।[३३] राजपुरोहित ही समस्त राज्याभिषेक का प्रबन्ध करता था। राजपुरोहित राज्याभिषेक के लिए चारों समुद्रों, पवित्र नदियों, सरोवरों, तीर्थों का जल, सुवर्णरत्न, देवपूजन की सामग्री, सब प्रकार की औषधियाँ, श्वेत पुष्पों की मालायें, लावा, घी, मधु, नये वस्त्र, सुसज्जित रथ, शस्त्रास्त्र, चतुरंगिणी सेना, हाथी, दो चंवर, ध्वजा, सुवर्ण-भूषित श्वेत छत्र, सांड के सींग, अनुलेपन, अङ्गराग, चन्दन, अक्षत, प्रियंगु, मधु, घी, दही, बहुमूल्य जूते, अग्नि के समान देदिप्यमान सोने के सौ कलश, सोने से मढ़े हुए सींगों वाला एक सांड, व्याघ्रचर्म, भद्रपीठ आदि। ये सभी वस्तुयें अग्निशाला में एकत्र करके रख दी जाती थीं। ब्राह्मणों के लिए आसन, दक्षिणा आदि का प्रबन्ध रहता था। राज्याभिषेक से पूर्व कुमार तथा उनकी पत्नी को उपवास की दीक्षा दी जाती थी। राज्याभिषेक के दिन प्रातःकाल ही ब्राह्मणों को भोजनादि कराया जाता था नगर में पताका फहरायी जाती थी। राज्याभिषेक के समय समस्त मन्त्री, व्यापारी, सामंत, श्रमिक संघों के प्रधान, राज्य का सैन्य अधिकारी, राजकीय कर्मचारी तथा जनसामान्य उपस्थित होते थे। ब्राह्मण, ऋत्विज् मन्त्रोचारण कर जल से राजकुमार का राज्याभिषेक करते थे। इसके उपरान्त नवीन कौशेय वस्त्र धारण कराकर पुष्परथ पर बैठाकर राजकुमार को नगर में जुलूस के साथ घुमाया जाता था; इसमें समस्त जन सम्मिलित होते थे। इस प्रकार राज्याभिषेक सम्पन्न होते थे।

---

२७. वही, १/३/२०,

२८. वही, २/४६/२३, 'पौरा .... पुरवासिन॥'

२९. वही, १/१५/१८-१९,

३०. वही, २/१००/५१,

३१. वही, २/५७/१३,

३२. वही, २/२/४,

३३. वही, २/३/८-२०, २/१४/३४-४१, २/१५/१-१२, २/१६/१-१९,

शासन-प्रणाली

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ शासन प्रणाली का भी विकास हुआ। रामायणकालीन शासनतन्त्र के तीन प्रमुख अङ्ग थे जिनमें अङ्गसभा, मन्त्रिपरिषद् तथा तीर्थ प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। दशरथ और राम के शासनकाल में राज्यसभा, लोकसभा (धारासभा) 'परिषद्', 'समिति', 'संसद्' अथवा 'सभा' कहलाती थी।[३४] प्रकृति, सभासद, आर्यमिश्र आदि शब्द सभा के सदस्य के लिए प्रयुक्त हुआ है। इन्हें सामूहिक रूप से आर्यगण कहा जाता था। सभा का सदस्य कोई भी व्यक्ति बन सकता था, चाहे वह सरकारी हो या गैरसरकारी। अमात्यगण (क्षत्रिय), मन्त्रीगण (ब्राह्मण ऋषि-मुनि) और सेनापति को सरकारी सदस्यों के अन्तर्गत शामिल किया जा सकता है, जबकि अन्य सरकारी सदस्यों के अन्तर्गत सामन्त राजा और नगर ग्राम के प्रतिनिधियों को सम्मिलित किया जा सकता है। 'पौर' (राजधानी के प्रतिनिधि) तथा 'जानपद' (राष्ट्र के प्रतिनिधि) ही सभा के प्रभावशाली अङ्ग थे। नैगम, गणवल्लभ तथा ग्रामघोषमहत्तर (किसान, ग्वालों के प्रतिनिधि) को पौर-जानपदों में समाविष्ट किया गया था, जो वैश्य और व्यापारियों के प्रतिनिधि थे। इन प्रतिनिधियों का चुनाव होता था या इनकी नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी इसमें विवाद है, परन्तु उपर्युक्त वर्णित नामों से चुनाव का ही संकेत मिलता है। सभा के अधिवेशनों में बाहर के व्यक्तियों को भी सम्मिलित किया जाता था, जैसे दशरथ का उत्तराधिकारी चयनित करने के लिए युधाजित् (भरत के मामा) को आमन्त्रित किया गया था।[३५] इसके अतिरिक्त राजा और युवराज का निर्वाचन, युद्ध की घोषणा, राजा के राजत्याग आदि अवसरों पर सभा से परामर्श किया जाता था। सभा का अधिवेशन राजा बुलाता था। राजा की अनुपस्थिति में पुरोहित अथवा अमात्यगण भी सभा का अधिवेशन बुला सकते थे।[३६] संदेशवाहकों द्वारा सभासदों को सभा में आने की सूचना दी जाती थी।[३७] इस प्रकार सभा की एक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी जिसे अनदेखा नहीं किया जा सकता।

राजा सभा का अध्यक्ष होता था राजा की अनुपस्थिति में राजपुरोहित सभा की अध्यक्षता करता था। सभासद भी सभा को सम्बोधित करते थे।[३८] राजा प्रत्येक सभासद से यह अपेक्षा करता था कि वह लोभ, भय, पक्षपात आदि से प्रभावित हुए विना सभा को पूर्ण सहयोग प्रदान करे।[३९] रामायणकाल में संसद किस प्रकार कार्य करती थी, इसका विस्तृत विवरण दशरथ की सभा के वर्णन से ही मिल जाता है। दशरथ ने राम को उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव सभा के सम्मुख रखा,[४०] जिस पर अन्तिम निर्णय सभा का होता था। तत्पश्चात् दशरथ ने राम

---

३४. वही, २/६७/२, सभा और परिषद शब्द सामान्य जन-समूह के लिए प्रयुक्त है।

३५. वही, २/८१/१३,

३६. वही, २/८१/१२;

३७. वही, २/८१/११,

३८. वही, ७/४९ २/३१,

३९. वही, ७/४९ २/३३-३५,

४०. वही, २/२/१६,

को उत्तराधिकारी घोषित किया, परन्तु दुर्भाग्यवश राम को वन प्रस्थान करना पड़ा। कुछ इस प्रकार की रावण की भी सभा थी, जिससे संकट काल में रावण परामर्श लेता था। रावण द्वारा दो अवसरों पर सभा का अधिवेशन बुलाने का वर्णन रामायण में मिलता है। एक हनुमान् द्वारा लङ्कादहन करने पर[४१] तथा दूसरा राम द्वारा लङ्का पर आक्रमण के समय।[४२] यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि रावण ने राजाओं के परामर्श को तीन श्रेणियों में विभाजित किया था, प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत ऐसे राजाओं को शामिल किया गया था जो अपने हितैषियों से परामर्श करके कार्य करते थे इसे 'उत्तम' कहा जाता था, मध्यम श्रेणी के अन्तर्गत ऐसे राजाओं को शामिल किया गया था जो स्वयं अकेले ही विचार करता था और अन्तिम को 'अधम' कहा जाता था जो विना गुण-दोष का मूल्याङ्कन किये ही कार्य करता था। इस प्रकार सभासद उत्तम का ही चयन करते थे। यद्यपि लङ्का नरेश की सभा में कोई विरोधीदल नहीं था, परन्तु विभीषण और कुम्भकर्ण के विरोधी भाषण कुछ सीमा तक प्रजातान्त्रिक पद्धति का आभास अवश्य कराते हैं। सभाभवन की सुरक्षा के लिए कुशल सैनिक प्रबन्ध किया जाता था, जो आज भी देखा जा सकता है।

इन प्रसङ्गों से सभा की भूमिका स्पष्ट हो जाती है। सभा के साथ-साथ मन्त्रिपरिषद् की भी तत्कालीन प्रशासन में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। विना मन्त्रिपरिषद् के राजा शासन का सञ्चालन सुचारु रूप से नहीं कर सकता। अनेकों अवसरों पर राजा मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेता था, यथा-युवराज को कार्य हेतु बाहर भेजने के समय, योग्य वधू का चयन करते समय, कोई प्रस्ताव रखने से पूर्व आदि। मन्त्रिपरिषद् के सदस्य दो प्रकार के होते थे-एक परामर्शतन्त्र के रूप में कार्य करने वाले, जिनसे राजा समय-समय पर परामर्श लेता था इन्हें 'गुरुजन' कहा जाता था। दूसरा 'अमात्य' (सचिव) जिन्हें आज 'कैबिनेट' कहा जाता था। गुरुजनों और अमात्यों में स्पष्ट अन्तर राम के चित्रकूट में भरत से पूछे एक प्रश्न से प्रकट होता है। 'तुम अपने अमात्यों और मन्त्रियों से परामर्श करते हो?'[४३] मन्त्रियों से परामर्श का अभिप्राय यहाँ गुरुजन से ही है। मन्त्रिपरिषद् के ये दोनों विभाग वानर और राक्षसों में भी स्पष्ट प्रकट होते हैं। रामायण में सुग्रीव का सचिव हनुमान् को बताया गया है।[४४] साथ ही मन्त्री उन परामर्शदाताओं को कहा गया है,[४५] जिन्होंने वाली को मृत जानकर सुग्रीव के राज्याभिषेक करने का निवेदन किया था। ऐसे ही विभीषण अपने चार अमात्यों के साथ राम की छत्रच्छाया में आया। वस्तुतः तत्कालीन समाज में मन्त्री, अमात्य, सचिव आदि में सिद्धान्त रूप से भेद था, परन्तु व्यावहारिक तौर पर सभी का कार्य अपने नीतिपूर्ण कार्यों द्वारा राजा का क्षेम ही करना था। हाँ, यह अवश्य ही हो सकता है कि अमात्य सदैव राजा के सन्निकट थे, परन्तु गुरुजन आवश्यकतानुसार परामर्श के लिए बुलाये जाते हों। रामायण में गुरुजन की संख्या आठ बतायी गयी है, जिसमें सुयज्ञ, जाबालि, कश्यप, गौतम, मार्कंडेय, कात्यायन, वसिष्ठ और वामदेव थे। ये सभी राजा के

४१. वही, ६/६/५,

४२. वही, ६/१२/५,

४३. वही, २/११/१७,

४४. वही, ४/३/२२,

४५. वही, ४/९/२०-२१,

परामर्शदाता थे। इन्हें विविध अवसरों पर परामर्श के लिए बुलाया जाता था।

रामायण में दशरथ के आठ अमात्यों (सचिवों) का वर्णन मिलता है,[४६] इनमें धृष्टि, जयन्त, विजय, सिद्धार्थ, अर्थसाधक, अशोक, मन्त्रपाल और सुमन्त्र शामिल थे। ये सभी अमात्य सदा राजा के हित और कार्यों में लगे रहते थे। यद्यपि रामायण में विभागों को विभाजित करनें का वर्णन नहीं मिलता, परन्तु राजा दशरथ के आठों अमात्यों में से तीन अमात्य सैन्य-व्यवस्था, दो अमात्य अर्थ एवं वित्त तथा दो अमात्य कानून और सुरक्षा विभाग की देख-रेख करते थे, साथ ही आठवाँ अमात्य रथ आदि वाहनों का विभाग देखता था। दशरथ के अमात्यों के नाम व्यक्तिगत नाम नहीं हैं, बल्कि उनके कार्यों के सूचक हैं, जैसे-धृष्टि, जयन्त तथा विजय इन तीनों के नामों का अर्थ क्रमशः साहस, इन्द्र का विजयी पुत्र तथा युद्ध में सफल। इस कारण इन तीनों को सैन्य विभाग का सचिव कहा जा सकता है। ऐसे ही अन्य अमात्यों के नामों के अर्थानुसार विभाग सौंपे गये हैं।[४७] तत्कालीन समाज में यह मान्यता थी कि शासन की सफलता मूलतः मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही निर्भर थी तथा यह मन्त्रणा तब ही सफल मानी जाती थी, जब अमात्य उसे गुप्त रखें।[४८] अतः समय-समय पर राजा अपने अमात्यों से परामर्श लेता था। युद्धकाण्ड में ऐसा उल्लेख मिलता है कि रावण भी राम से युद्ध करने के पूर्व अपने मन्त्रियों से मन्त्रणा करता है।[४९] मन्त्रियों द्वारा दी गई मन्त्रणा को उत्तम, मध्यम तथा अधम नाम से तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था। उत्तम कोटि के अन्तर्गत जिस विषय पर मतभेद होने पर भी सभी मन्त्रियों का एक ही मत हो उसे शामिल किया जाता था। मध्यम कोटि में उस मत को स्वीकार किया जाता था जिसमें प्रारम्भ में तो मतभेद हो, परन्तु बाद में सबका एक ही मत हो। अधम कोटि के अन्तर्गत स्पर्धात्मक तथा कल्याण की सम्भावना न होने वाले मत को शामिल किया जाता था।[५०]

मन्त्री के गुण

इन सब तथ्यों के अलावा रामायण में मन्त्रियों के गुणों का भी उल्लेख किया गया है। एक कुशल मन्त्री में किन-किन गुणों का होना अनिवार्य है? रामायण में मन्त्रियों के विषय में कहा गया है कि उन्हें विद्वान्, विनयशील, सलज्ज, कार्यकुशल, जितेन्द्रिय, श्रीसम्पन्न, शस्त्रविद्या का ज्ञाता, सुदृढ़, पराक्रमी, यशस्वी, समस्त कार्यों में सावधान, राजा की आज्ञानुसार कार्य करने वाला, तेजस्वी, क्षमाशील, कीर्तिमान्, मधुरता से बात करने वाला तथा काम, क्रोध, स्वार्थ आदि के वशीभूत होकर झूठ बोलने वाला नहीं होना चाहिए।[५१] रामायण के अयोध्याकाण्ड में मन्त्रियों के गुणों का उल्लेख किया गया है। इस काण्ड में एक प्रसङ्ग मिलता है, जिसमें राम,

---

४६. वही, १/७/३,

४७. पी०सी० धर्मा, द रामायण पौलिटी, पृष्ठ. ५२,

४८. वाल्मिकि रामायण, २/१००/१६, 'मन्त्रो विजयमूलं ....शास्त्रकोविदौ॥'

४९. वही, ६/६/५, 'मन्त्रमूलं .... बलाः॥'

५०. वही, ६/६/१३-१५,

५१. वही, १/७/६-८,

लक्ष्मण से राज्य की कुशलता पूछते हुए कहते हैं कि भरत क्या तुमने अपने समान ही शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा बाह्य चेष्टा से बात को समझने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही मन्त्री बनाया है?[५२] न केवल परामर्श बल्कि मन्त्रियों के कर्तव्यों के संदर्भ में भी रामायण में विस्तृत वर्णन मिलता है। तत्कालीन शासन-प्रणाली में मन्त्री का यह परम कर्तव्य था कि वह कुमार्ग पर चलने वाले राजा को रोके।[५३] मन्त्रियों को चाहिए कि वह हमेशा राजा के साथ सम्मानपूर्ण भाषा में ही बात करें, क्योंकि अनुचित भाषा-शैली में कही गई उचित बात भी अनुचित प्रतीत होती है।[५४] इसके अतिरिक्त रामायण में मन्त्रियों की वेशभूषा पर भी पर्याप्त चर्चा की गई है। तत्कालीन प्रशासन में मन्त्रियों को जिस प्रकार की वेश-भूषा पहननी चाहिए, इसका उल्लेख भी रामायण में मिलता है।[५५] प्रायः अमात्यों की बैठकें राजप्रसाद में हुआ करती थीं। अमात्यों को दैनिक कार्य सम्पन्न करने होते थे, इसलिए उन्हें राजधानी छोड़ने का अधिकार नहीं था। ऐसा ही एक उदाहरण उस समय का मिलता है, जब राम के विवाह में संम्मिलित होने के लिए दशरथ गये थे तब वह पुरोहित और गुरुजन को साथ लेकर मिथिला गए थे। उस समय अमात्यों ने ही शासन का कार्यभार उठाया।[५६] इस विवेचन से तत्कालीन प्रशासन में मन्त्रियों का महत्त्व स्पष्ट होता है। वर्तमान प्रशासन में भी मन्त्रियों की भूमिका कुछ सीमा तक इस प्रकार की है। अतः इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि मन्त्रिमण्डल प्रशासन का आधार-स्तम्भ है।

न्याय एवं दण्ड

मानव सभ्यता के विकास के साथ-साथ तत्कालीन समाज में न्याय एवं दण्ड का भी विकास होता गया। यदि समाज को दण्ड का भय न हो तो वह निश्चय ही विशृङ्खलित हो जायेगा। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था सरल और सस्ती थी। न्यायप्रणाली में किसी प्रकार की जटिलता नहीं थी। राजा ही तत्कालीन समाज में सर्वोच्च न्यायालय था, वही न्याय एवं दण्ड का समुचित प्रयोग करता था। उस समय ऐसी मान्यता थी जो राजा प्रतिदिन नागरिकों के न्याय सम्बन्धी कार्यों को नहीं करता वह नरक का भागी है।[५७] राजा न्यायाधीशों की सहायता से न्याय करता था। तत्कालीन न्याय-व्यवस्था में यह प्रयास किया जाता था कि किसी भी निर्दोष व्यक्ति को दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि उस समय ऐसी मान्यता थी कि निरपराधी के आंसुओं से राजा के पुत्र और राज्य आदि नष्ट हो जाते हैं।[५८] इसके अलावा राजा यह भी कोशिश करता था कि भ्रष्ट न्यायाधीशों या अन्य किसी कारण से अपराधी दण्ड से बच न जाये। न्याय के विषय में यह मान्यता चित्रकूट में राम द्वारा पूछे प्रश्नों से भी स्पष्ट हो जाती

---

५२. वही, २/१००/१५, 'काच्चिदात्मसमाः .... मन्त्रिणः॥'
५३. वही, २/४१/७०, 'अमात्यैः ...,...... न गृह्यसे॥'
५४. वही, ३/४०/९-११,
५५. वही, १/७/१६, 'सुवाससः सुवेषाश्च॥'
५६. वही, १/६९/४-६,
५७. वही, ७/५३/६, 'पौरकार्याणि .... संशयः॥'
५८. वही, २/१००/५९, 'यानि मिथ्याभिशस्तानां ...... मनुशासतः॥'

है।[५९] रामायण के उत्तरकाण्ड में न्यायाधीशों के लिए 'धर्मपालक' प्रयुक्त किया गया है। इन्हें विधि का विशिष्ट ज्ञान होने के कारण ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। इनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि यह पक्षपात और रिश्वत से बचे रहें। रामायण में भरत माता कौशल्या से कहते हैं कि राम को वन भेजने वालों को वही पाप लगे जो पक्षपात करने वालों को लगता है।[६०] तत्कालीन सर्वोच्च न्यायालय का वर्णन उत्तरकाण्ड में मिलता है। न्यायालय की बैठक प्रात:काल होती थी। जहाँ जनता अपनी शिकायतें कर सकती थी। राजा जिस आसन पर बैठकर निर्णय देता था वह धर्मासन कहलाता था। इस प्रकार तत्कालीन समाज में न्याय होता था।

राजा का यह कर्तव्य था कि वह इस प्रकार की व्यवस्था करे जिससे शिकायत करने वाला व्यक्ति (कार्यार्थी) तत्काल ही न्यायालय में जा सके। इस समय कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिससे राजा को श्राप का भागी बनना पड़ा, यथा-राजा नृग द्वारा दो ब्राह्मण कार्यार्थियों को बहुत देर तक प्रतीक्षा करायी, जिससे उन्हें श्राप का भागी बनना पड़ा।[६१] राजा निमी (राम के पूर्वज) के साथ भी कुछ इसी प्रकार की घटना घटी।[६२] राम के समय न्याय की इस प्रकार सुव्यवस्था थी कि जिससे जनता तत्काल निष्पक्ष न्याय प्राप्त कर सके। राजा का कठोर तथा त्वरित न्याय लोगों को एक-दूसरे के प्रति सम्मान भाव रखने को प्रेरित करता था।[६३] इसके कारण ही जनता अदालती कार्यवाही से मुक्त रहती थी, इन्हीं के परिणाम स्वरूप रामराज्य में अदालतों में अधिक कार्य नहीं होता था।[६४] वाल्मीकि निम्नलिखित कार्यों को अपराध की श्रेणी में गिनते हैं, यथा-राजद्रोह, झूठी गवाही, कुमारिकाओं का बलात्कार, पराई स्त्रियों का अपराध, न्यास, संपत्ति का दुरुपयोग, चोरी, डकैती, ब्रह्महत्या, सैनिकों को निर्धारित वेतन न देना, युद्ध में पीठ दिखाना, बालकों, स्त्रियों, वृद्धों और राजाओं की हत्या, आग लगाना, जलाशय में विष डालना, गुरु-स्त्री-गमन आदि। इन अपराधों के लिए दण्ड शारीरिक यातना से लेकर मृत्युदण्ड तक हो सकता था।[६५] दण्ड देने के लिए समय निश्चित होता था। फाँसी प्राय: प्रात:काल में दी जाती थी। सुन्दरकाण्ड में सीता ने लङ्का में विलाप करते हुए कहा कि दो मास बाद रावण मुझे वैसे ही मौत के घाट उतार देगा, जैसे रात्रि के अन्त में चोर का वध कर दिया जाता है।[६६] इस प्रकार प्राय: दण्ड देने का समय निश्चित था।

सुरक्षाकर्मियों की नियुक्ति

रामायण में पुलिसकर्मियों की नियुक्ति का भी संकेत मिलता है, जो राजमार्गों पर व्यवस्था बनाए रखते

---

५९. वही, २/१००/५६-५८,

६०. वही, २/७५/५८, 'भवन्या विवदमानेपु .... यस्यार्योऽनुमते गत:॥'

६१. वही, ७/५३/१६-१८,

६२. वही, ७/५५/१५-१७,

६३. वही, ६/१२५/१००

६४. वही, ७/४९/१/१००, 'दृश्यते न च .... न्यवेदयत्॥'

६५. शान्तिकुमार नानूराम व्यास, रामायण कालीन समाज, पृष्ठ २८४,

६६. वाल्मीकि-रामायण, २/२८/७,

थे। पुलिस सिपाही लाठी से लैस होते थे इन्हें 'दण्डायुधधरः' कहा जाता था। हनुमान् ने इसी तरह के सैनिक लङ्का के मार्गों पर देखे थे। रावण-वध के बाद भी जब विभीषण जानकी को लाए तब अङ्गा और पगड़ी पहने इन्हीं पुलिस सिपाहियों ने ही वानर तथा राक्षसों की भीड़ को हटाया।[६७] न केवल पुलिस का बल्कि कारागृहों का भी उल्लेख तत्कालीन समाज में मिलता है। इसके लिए रामायण में 'बन्धन'[६८] और 'बद्ध'[६९] का उल्लेख किया गया है। सीता की खोज करते हुए भयभीत अङ्गद ने एक स्थल पर कहा है कि मेरे चाचा सुग्रीव क्रूर तथा निर्दयी हैं; अवधि समाप्त होने के बाद सीता को विना ढूंढे किष्किंधा लौटा तो वह मुझे यातना देंगे या कैद में डाल देंगे।[७०] अतः अङ्गद जैसा वीर युवराज भी यातना के आंतक से भयभीत था। सीता भी अशोक वाटिका में विलाप करते हुए यातना देने की पद्धतियों का उल्लेख करती है।[७१] इन उद्धरणों से न्याय एवं दण्डव्यवस्था की स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। वर्तमान समय में रामायणकालीन दण्ड विधान तो नहीं मिलता, परन्तु दण्ड देने का आधार प्राचीन काल से ग्रहण किया गया है।

गुप्तचर-व्यवस्था

तत्कालीन प्रशासन में गुप्तचर प्रणाली का भी उल्लेख मिलता है। इस काल में गुप्तचरों को 'चर', 'चार', 'प्रणिधि', 'चारक' अथवा 'चारण' कहा जाता था। अयोध्या में एक गुप्तचर-विभाग था, जो आधुनिक सी०आई०डी० विभाग की भाँति कार्य करता था। दशरथ के मन्त्रीगण चारों द्वारा शत्रुओं की गतिविधियों से स्वयं को परिचित रखते थे।[७२] कुछ इसी प्रकार का उदाहरण राम द्वारा भरत से चित्रकूट में पूछे प्रश्न से स्पष्ट होता है।[७३] तत्कालीन प्रशासन में दो प्रकार के गुप्तचर थे, एक नागरिक तथा दूसरा सैनिक गुप्तचर। उत्तरकाण्ड में ऐसा वर्णन मिलता है कि नागरिक गुप्तचरों के द्वारा ही राम को सीता-विषयक लोकापवाद की सूचना मिली थी। हनुमान् को नागरिक गुप्तचर बनाकर ही सुग्रीव ने राम-लक्ष्मण का मनोभाव जानने के लिए भेजा था। सैनिक गुप्तचरों का उत्तरदायित्व अधिक महत्त्वपूर्ण था। उन्हें सदैव राजभक्त, वीर तथा निर्भय रहना पड़ता था।[७४] शत्रुओं की गतिविधियों को जानने के लिए राजा सैनिक गुप्तचरों पर ही निर्भर रहता है। राम ने लङ्का के सुरक्षातन्त्र के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए विभीषण के अमात्यों से जासूसी करायी। इस प्रकार तत्कालीन समय में विकसित गुप्तचर प्रणाली थी।

---

६७. वही, ६/११४/२१,
६८. वही, ४/५५/१०,
६९. वही, ५/२८/७,
७०. वही, ५/५५/१०-११, 'उपांशु दण्डेन .... बन्धनेनोपपाद्येत॥'
७१. वही, ५/२६/१०,
७२. वही, १/७/९,
७३. वही, २/१००/३६,

७४. वही, ६/२९/१८,

प्रशासनतन्त्र

प्राचीन काल से ही सभ्यता के विकास के साथ-साथ ही प्रशासन का विकास हुआ क्योंकि किसी भी समाज में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रशासन की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। रामायणकालीन प्रशासन तन्त्र वर्तमान में भी स्वीकार्य है। यह काफी कुछ वर्तमान से मिलता जुलता है। रामायणकालीन शासन-व्यवस्था में राजा का चयन वंश-परम्परा पर आधारित था। अत: इस काल में राजा का पद आनुवंशिक था। प्राय: राज का ज्येष्ठपुत्र ही राजा बनता था परन्तु इस प्रणाली को वर्तमान में पूरी तरह से नहीं अपनाया जा सकता, क्योंकि वर्तमान में लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणाली है, जहाँ राजा (प्रधानमन्त्री) जनता द्वारा चुना जाता है। परम्परागत नियम में यह आवश्यक नहीं कि योग्य व्यक्ति ही पदासीन हो, क्योंकि राजा का ज्येष्ठपुत्र ही राजा बनता था, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि वह योग्य हो। रामायणकाल में राज्याभिषेक की भी परम्परा थी। यह एक धार्मिक अनुष्ठान की भाँति होता था, परन्तु वर्तमान में प्रत्यक्ष तौर पर इस प्रकार की कोई परम्परा नहीं है। हालांकि विभिन्न राजनीतिक दल अपने-अपने तरीके से नामांकन से पूर्व कुछ इसी तरह के अनुष्ठान अप्रत्यक्ष रूप से सम्पन्न कराते हैं। अत: वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इस परम्परा को नहीं अपनाया जा सकत, क्योंकि अब अनेक राजनैतिक जटिलतायें हैं, जिन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता।

जहाँ तक राजा के गुणों एवं कर्तव्यों का प्रश्न है तो इसे पूरी तरह से वर्तमान समय में अपनाया जा सकता है। रामायणकाल की भाँति आज भी राजा में कुछ गुणों का होना अनिवार्य है, चाहे वह गुण जन्मजात हो या प्रशिक्षण, अनुभव आदि द्वारा उनका विकास किया गया हो। प्राचीनकाल की भाँति आज भी शासक के कर्तव्य में कोई अधिक बदलाव नहीं आया है। आज भी जनता की रक्षा और कानून व्यवस्था जैसे मुद्दे शासक की देख-रेख के अन्तर्गत ही हैं। मन्त्रिमण्डल में आज भी सचिवों (अमात्यों) की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान में भी विभागों का बंटवारा रामायणकाल की भाँति ही मन्त्रियों में किया जाता है। यद्यपि वर्तमान में गुरुजन जैसा कोई पद नहीं हैं, परन्तु मीडिया, जनता और गैरसरकारी सामाजिक संगठनों से समय-समय पर सरकार लोकहित के मुद्दों पर सुझाव अवश्य ही मांगती है। रामायणकाल की भाँति न्याय एवं दण्डव्यवस्था वर्तमान में पूरी तरह उस प्रकार की नहीं है, परन्तु अधिकांशत: मिलती-जुलती है, जैसे आज भी न्यायाधीशों को निष्पक्ष न्याय करने के लिए कठोर आदेश दिए जाते हैं। बल्कि आजकल भ्रष्टाचार पर अंकुश लगाने के लिए लोकपाल और लोकायुक्त जैसे पदों का भी सृजन किया गया है। वर्तमान समय में ऐसी मान्यता है कि सौ अपराधी छूट जायें, किन्तु एक भी निर्दोष व्यक्ति को सजा न मिले। रामायणकालीन गुप्तचर-व्यवस्था भी काफी हद तक वर्तमान से मिलती-जुलती है। आज भी राष्ट्रिय (सी०बी०आई०) और अन्तर्राष्ट्रीय (रॉ) एजेंसियाँ इस कार्य की भली प्रकार देख-रेख कर रही हैं। इस प्रकार रामायणकालीन प्रशासन पूरी तरह तो नहीं, परन्तु कुछ हद तक वर्तमान प्रशासन में अपनाया जा सकता है।

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२५५-२५९)

वाल्मीकि-रामायण: न्याय एवं दण्ड-व्यवस्था

रविन्द्र कुमार

राज्य के सम्यक् सञ्चालन के लिए आवश्यक है कि सज्जनों पीड़ितों को न्याय और अपराधियों एवं दुष्टों को दण्ड का विधान हो। न्याय एवं दण्ड से राज्य में सुख एवं शान्ति का विस्तार होता है। चोर, अधर्मी, उद्दण्डी आदि तुच्छ प्रवृत्ति के लोग दण्ड के भय से शान्त हो जाते हैं या शुद्ध चित्त को धारण किये रहते हैं। वाल्मीकि-रामायण में भी न्याय एवं दण्डव्यवस्था का महत्त्व है। राज्य का सर्वोपरि मुखिया राजा होता था। वह ही न्यायविद् एवं दण्डाधिकारी होता था, परन्तु न्याय एवं दण्ड देते समय मन्त्रियों से परामर्श किया जाता था। राजा के अन्याय एवं अधर्म के प्रति विरोध व्यक्त कर शास्त्र-सम्मत उचित मार्गदर्शन किया जाता था। श्रीराम न्याय, कुलोचित आचार, दया, धर्म आदि गुणों का साक्षात् रूप थे। प्रमाद शून्य राम पराये मनुष्यों को अच्छी प्रकार जानने वाले थे। यथायोग्य निग्रह एवं विनिग्रह में पूर्ण चतुर थे। राम के इन गुणों को देखकर राजा दशरथ उनका राज्याभिषेक करना चाहते थे, क्योंकि राजा का न्याय जितना प्रसिद्ध होगा वह राज्य भी अपनी समृद्धि से उतनी ही ख्याति अर्जित करेगा। दण्ड के चार भेद-साम, दान, भेद व दण्ड का प्रयोग किया जाता था। अपराधी को उसके अपराध के अनुकूल दण्ड दिया जाता था।

न्याय-व्यवस्था

वाल्मीकि-रामायण में विभीषण रावण को न्यायपूर्वक समझाते हुए कहता है कि परायी स्त्री का अपहरण करना अन्यायपूर्ण एवं लोक निन्दनीय है, इसलिए विभीषण राम को अजेय बताकर रावण के लिए सीता को लौटा देने की सम्मति देता है। विभीषण कहता है कि मैं तो राक्षसों सहित इस सारे नगर के और सुहृदयों सहित स्वयं महाराज के लिए यही सम्मति देता हूँ कि यह राजकुमार श्रीराम के हाथों में मिथलेश कुमारी सीता को सौंप दें।[1]

जब विभीषण रावण को न्यायपूर्वक समझा रहा था तब रावण ने विभीषण को फटकारते हुए कहा कि कुलकलङ्क निशाचर तुझे धिक्कार है, तेरे सिवा दूसरा कोई ऐसी बातें कहता तो इसी मुहूर्त उसे अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता। इसके अतिरिक्त भी रावण ने जब विभीषण को कठोर वचन कहे तब रावण गदा हाथ में लेकर अन्य चार राक्षसों के साथ उसी समय उछल कर अचानक वहाँ से चला गया।[2]

तब विभीषण ने रावण को न्यायपूर्वक फटकारते हुए कहा हे राजन्! तुम्हारी बुद्धि भ्रम में पड़ी हुई है। तुम न्याय के मार्ग पर नहीं हो। यूं तो मेरे बड़े भाई होने के कारण तुम पिता के समान आदरणीय हो, इसलिए मुझे

---

१. इदं पुरस्यास्य सराक्षसस्य, राज्ञश्च पथ्यं ससुहृज्जनस्य। सम्यगधि वाक्यं स्वमतं व्रवीमि, नरेन्द्र पुत्राय ददातु मैथिलीम्।। वा०रा० युद्धकाण्ड १४/२१

२. इत्युक्त: परुषं वाक्यं न्यायवादी विभीषण:। उत्पपात गदापाणिश्चतुर्भि: सह राक्षसै:॥ वा०रा० युद्धकाण्ड १६/१७

जो चाहो कह लो, परन्तु अग्रज होने पर भी तुम्हारे इस कठोर वचन को कदापि नहीं सह सकता।[३]

अन्त में विभीषण ने दशानन से कहा मैं तुम्हारा हितैषी हूँ, इसलिए मैंने तुम्हें बार-बार अनुचित मार्ग पर चलने से रोका है, किन्तु तुम्हें मेरी बात अच्छी नहीं लगती है। वास्तव में जिन लोगों की आयु समाप्त हो जाती है वे जीवन के अन्तकाल में अपने सुहृदयों की कही हुई हितकर बात भी नहीं मानते हैं।

निवार्यमाणस्य मया हितैषिणा: न रोचते ते वचनं निशाचर!
परान्तकाले हि गतायुषो नरा हितं न गृह्णन्ति सुहृद्भिरीरितम्।।[४]

इसलिए तुम अपनी तथा राक्षसों सहित इस लङ्कापुरी की सब प्रकार से रक्षा करो तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं यहाँ से जा रहा हूँ। तुम मेरे विना सुखी हो जाओ।[५]

पशु-पक्षी भी न्याय का आचरण एवं व्यवहार करना जानते हैं। जब राक्षसराज रावण सीता का हरण करके वायु मार्ग से ले जा रहा था, तब जटायु रावण को इस दुष्कर्म से निवृत्त होने के लिए समझाने का प्रयास करता है और अन्त में न मानने पर रावण को युद्ध के लिए ललकारता है, वह कहता है कि अपने धर्म में न्यायपूर्वक स्थित रहने वाला राजा भला परस्त्री का स्पर्श कैसे कर सकता है? हे महाबली रावण! राजाओं को स्त्रियों की विशेष रूप से रक्षा करनी चाहिए, परस्त्री के स्पर्श से जो नीच गति प्राप्त होने वाली है, उसे अपने आप से दूर हटा दो। हे दशमुख रावण! ठहरो। केवल दो घड़ी रुक जाओ फिर देखो जैसे डंठल से फल गिरता है, उसी प्रकार इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ। हे निशाचर! अपनी शक्ति के अनुसार मैं तुम्हारा आतिथ्य करूँगा। तुम्हें भली-भाँति भेंट पूजा करूँगा।[६]

दण्ड-व्यवस्था

रामायणकालीन समाज में दण्ड-व्यवस्था पूर्ण रूप से न्यायपूर्वक एवं उचित थी। राजा स्वयं अदण्ड्य होकर राजदण्ड धारण करता है। श्रीराम ने तो अपनी धर्मपत्नी सीता को राजसुखों से वंचित करके जंगल में जाने का दण्ड दिया तथा अपने कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मण को भी आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर प्राण दण्ड दिया। इस प्रकार रामायणकालीन समाज को एक प्रकार से शान्त एवं सभ्य समाज कहा जा सकता था। जब ऋषि विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को राजा दशरथ से माँगकर अपने साथ राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने के लिए वन लाये तो उन्होंने जो उद्दण्डी और क्रूर प्रवृत्ति के राक्षस थे और यज्ञ में विघ्न डालते थे। उनमें ताटका नाम की एक यक्ष पुत्री थी जो

---

३. स त्वं भ्रान्तोऽसि मे राजन् ब्रूहि मां यद् यदिच्छसि। ज्येष्ठो मान्य: पितृसमो न च धर्मपथे स्थित:। इदं हि परुषं वाक्यं न क्षमाम्यग्रजस्य ते।। वा०रा० युद्धकाण्ड १६/१९

४. युद्धकाण्ड १६/२६

५. आत्मानं सर्वथा रक्ष चेमां सराक्षसाम्। स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सुखी भव मया विना। वा०रा० युद्धकाण्ड १६/२५

६. कथं राजा स्थितो धर्मो परदारान् परामृशेत्। रक्षणीया विशेषेण राजदारा महाबला:। निवर्तय गतिं नीचां परदाराभिमर्शनात्।। वा०रा० अरण्यकाण्ड ५०.६-७; तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण। वृन्तादिव फलं त्वां तु पातयेयं रथोत्तमात्। युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथा प्राणं निशाचर।। वा०रा० अरण्यकाण्ड ५०.२८

शाप के कारण राक्षस बन गयी थी। स्त्रीवध को उचित बताकर विश्वामित्र राम को उसका वध कर देने के लिए प्रेरित करते हैं और कहते हैं कि हे रघुकुल श्रेष्ठ! राम तुम स्त्रीहत्या का विचार करके इसके प्रति दया न दिखाना। एक राजपुत्र को चारों वर्णों के हित के लिए स्त्री की हत्या भी करनी पड़े तो उससे मुख नहीं मोड़ना चाहिए। प्रजापालक नरेश की प्रजा जनों की रक्षा के लिए क्रूरतापूर्ण या क्रूरता रहित, पातकयुक्त अथवा सदोष कर्म भी करना पड़े तो कर लेना चाहिए। इसलिए तुम मेरी आज्ञा से दया अथवा घृणा को त्याग कर इस राक्षसी को मार डालो। इसके बाद राम ने एक बाण मारकर उसकी छाती चीर डाली तब ताटका पृथ्वी पर गिर पड़ी और मर गयी।[७]

तदन्तर मुनि विश्वामित्र से उन दोनों राजकुमारों ने कहा हे गुरुदेव! किस समय उन दोनों निशाचरों का आक्रमण होता है? जबकि हम दोनों को उन राक्षसों को यज्ञभूमि में आने से रोकना है। कहीं ऐसा न हो कि असावधानी में वह समय हाथ से निकल जाये, अत: वह समय बता दीजिए।[८] फिर जैसे ही शास्त्रीय विधि के अनुसार वेद मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक उस यज्ञ का प्रारम्भ हुआ उसी समय मारीच और सुबाहु नामक भयंकर राक्षसों ने वहाँ आकर रक्त की धारा बरसाना प्रारम्भ कर दी, तब राम ने बड़े रोष में भरकर मारीच की छाती में बाण का प्रहार किया, जिससे वह राक्षस चार सहस्र योजन दूर जाकर गिरा। फिर लक्ष्मण ने आग्नेय अस्त्र का प्रहार सुबाहु की छाती पर किया, जिससे वह राक्षस मृत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बाद में महायशस्वी परम उदार रघुवीर ने वायव्य अस्त्र लेकर शेष निशाचरों का भी संहार कर डाला और मुनियों को परम आनन्द प्राप्त कराया। इसके बाद राम के द्वारा खरदूषण सहित १४ राक्षसों त्रिशिरा आदि का वध किया। इस प्रकार मुनि विश्वामित्र के आदेशानुसार न्यायपूर्वक राज-व्यवस्था चलाने व निर्विघ्न राज-व्यवस्था चलाने के लिए दुष्प्रवृत्ति के राक्षसों का वध किया।[९]

राम ने जब बाण मारकर वालि को गिरा दिया तब वालि राम से रोष प्रकट करते हुए कहता है कि इन्द्रिय निग्रह, मन का संयम, धर्म, क्षमा, धैर्य, पराक्रम तथा अपराधियों को दण्ड देना यह राजा के गुण हैं, परन्तु आपने साधुवेश धारण करके भी असत्य एवं अधर्म से छिपकर मेरा वध किया है और राजधर्म की मर्यादाओं का उल्लङ्घन किया है। पृथ्वी, सोना, चाँदी इन्हीं वस्तुओं के लिए राजाओं में परस्पर युद्ध होता है, ये तीन ही कलह के कारण हैं, परन्तु मेरे पास इनमें से एक भी नहीं है अत: आपके द्वारा मुझे मारने का क्या लोभ हो सकता है? वालि के प्रश्नों का उत्तर देते हुए राम कहते हैं कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को स्वयं आप नहीं जानते हैं। राम कहते हैं कि जिसमें नीति, विनय, सत्य और पराक्रम आदि भी राज्योचित गुण यथावत् रूप से देखे जायें वही देश काल तत्त्व को जानने वाला राजा होता है।[१०]

---

७. नहि ते स्त्रीवधकृते घृणा कार्या नरोत्तम। चातुर्वण्यहितार्थे हि कर्तव्यं राजसूनुना॥ वा०रा० बालकाण्ड-२५.१७-१९

८. बाल०का०३०.२

९. बाल०का०३०.१२-२३

१०. किष्कि०का०१७.२२-५४

बड़ा भाई, पिता तथा जो विद्या देता है वह गुरु ये तीनों पिता-तुल्य माननीय हैं और छोटा भाई, पुत्र तथा गुणवान् शिष्य ये तीनों पुत्र के समान समझे जाने योग्य हैं।[११]

जो पुरुष अपनी कन्या, बहिन और छोटे भाई की स्त्री के पास काम बुद्धि से जाता है उसका वध करना ही उसके लिए उपयुक्त दण्ड माना गया है। धर्म पर दृष्टि रखने वाले मनुष्य के लिए मित्र का उपकार करना ही धर्म माना गया है। अत: तुम्हें धर्मानुकूल दण्ड दिया गया है।[१२]

पापी पुरुष राजा द्वारा दिये गए दण्ड को भोगकर शुद्ध चित्त होकर स्वर्ग को जाते हैं परन्तु यदि राजा उचित दण्ड नहीं देता है तो स्वयं उस अपराधी के पाप का फल भोगना पड़ता है।[१३]

जब सुग्रीव राज सिंहासन पर बैठ कर राज का भोग करता हुआ सुध-बुध खोकर राजकार्य में रत रहता है तो लक्ष्मण राम की आज्ञा से किष्किन्धा जाकर कहते हैं कि जो पहले मित्रों के द्वारा अपना कार्य सिद्ध करके बदले में मित्रों का कोई उपकार नहीं करता है, वह कृतघ्न सब प्राणियों के लिए वध्य है। किसी कृतघ्न को देखकर कुपित हुए ब्रह्मा ने सब लोगों के लिए एक ही श्लोक कहा है कि गौ हत्यारे, शराबी, चोर और व्रत भङ्ग करने वाले पुरुष के लिए सत्पुरुषों ने प्रायश्चित्त का विधान किया है, किन्तु कृतघ्न के उद्धार का कोई उपाय नहीं है।[१४] इस प्रकार लक्ष्मण के द्वारा सुग्रीव को दण्ड देने के लिए उद्यत होना न्यायसङ्गत एवं उचित ही है।

राजा सुग्रीव ने जब अङ्गद आदि वानरों को सीता की खोज करने के लिए एक माह का समय दिया। जब एक मास में सीता का पता नहीं चला तो सभी वानरों में भय व्याप्त हो गया, क्योंकि सुग्रीव का स्वभाव अत्यन्त कठोर है। सीता की खोज का समाचार न पाने पर वह हम सबका वध कर देंगें।[१५]

अङ्गद आदि वानर जब भयभीत होते हैं कि सुग्रीव मुझे दण्ड दे देंगे तो अङ्गद ने कहा कि हम लोगों को स्वयंप्रभा उस गुफा में निवास करना चाहिए, जो निर्मित होने के कारण दुर्गम है और निवास हेतु समस्त सुविधायें हैं, वहाँ राम और सुग्रीव का भय नहीं है।[१६] इस प्रकार रामायण में राजाज्ञा का पालन करने में असमर्थ रहने पर राजदण्ड का भय रहता था।

इसके बाद भगवान् श्रीराम ने अपने सभी भाइयों के समक्ष सीता के सम्बन्ध में फैले लोकापवाद की बात बतायी और लक्ष्मण के द्वारा सीता को वन में भेज दिया।[१७] तब लक्ष्मण ने सुमन्त्र से एक उत्तम रथ लाने को कहा

---

११. किष्कि०का०१८.१३

१२. किष्कि०का०१८.१४-१८

१३. राजभिः धृतदण्डाश्च कृत्वा पापानि मानवाः। निर्मला स्वर्गमायन्ति सन्तः सुकृतिनो यथा॥ वा०रा० किष्किन्धा काण्ड-

१४. गोवधे चैव सुरापे च चौरे भग्नव्रते यथा। निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥ वा०रा० किष्किन्धा काण्ड-३१ वाँ अध्याय

१५. किष्किन्धा काण्ड-५५.१०

१६. किष्किन्धा काण्ड-५५.११-१२

१७. श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम्। आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज॥ वा०रा० उत्तर काण्ड ४५/१६

तब लक्ष्मण उत्तम घोड़ो से जुते हुए रथ पर बैठाकर देवी सीता को जंगल में ले गये और बोले हे देवि! आप मेरे सामने निर्दोष सिद्ध हो चुकी हैं तो भी महाराज ने लोकापाद से डरकर आपको त्याग दिया है। आप कोई और बात न समझें। आप महाराज की आज्ञा मानकर तथा आपकी भी ऐसी इच्छा समझकर मैं आश्रमों के पास ले जाकर आपको वहीं छोड़ दूंगा।[१८] इस प्रकार श्रीराम ने लोकापवाद के कारण अपनी धर्मपत्नी सीता को भी दण्ड दिया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वाल्मीकि-रामायण के अनुसार जटायु द्वारा रावण को समझाना तथा विभीषण द्वारा रावण को न्यायपूर्वक समझाते हुए सीता लौटाने को कहता है। बाद में दण्डव्यवस्था के अन्तर्गत राम द्वारा राक्षसों को दण्ड, अन्यायी वालि का वध, लोकापवाद के कारण सीता का त्याग और प्रतिज्ञाभङ्ग करने पर लक्ष्मण का भी परित्याग कर देते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण में न्याय एवं दण्डव्यवस्था स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है।

---

१८. सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम संनिधौ। पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा। आश्रमान्तेषु च मया त्यक्तव्या त्वं भविष्यसि। राज्ञः शासनमादाय तथैव किल दौहृदम्। वा०रा० उत्तर काण्ड ४८/१३-१४

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२६०-२६३)

वाल्मीकि-रामायण में वैदिक दण्ड-व्यवस्था

श्वेता गुप्ता

दण्ड न्याय-व्यवस्था का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। दण्ड शब्द दानार्थक 'दम्' धातु से 'ड' प्रत्यय द्वारा व्युत्पन्न है। जिसके द्वारा उद्धत व्यक्ति का दमन किया जाये वह दण्ड है। जो व्यक्ति दूसरे को पीडित करे, नियमों का उल्लङ्घन करे, वह दण्ड का अधिकारी होता है। ऐसे व्यक्तियों को दण्डित करना ही दण्डव्यवस्था है। दण्ड-व्यवस्था के लक्ष्य की सिद्धि उसी स्थिति में हो सकती है, जबकि दण्ड देने का कार्य उचित रूप में सम्पादित हो।

वैदिक काल से ही राजा धर्म का संरक्षक माना जाता है तथा उसे दण्ड का अधिकार दिया गया है। मनु के अनुसार प्रजापति ने रक्षा के लिए राजा की सृष्टि की तथा उसकी सहायता के लिए दण्ड की।[१] वैदिक दण्डव्यवस्था का क्रियान्वित स्वरूप वाल्मीकीय रामायण में दृष्टिगोचर होता है।

धार्मिक ग्रन्थ होने पर वाल्मीकि ने प्रसङ्गानुसार अनेकत्र अपराधों व दण्डों का विवरण दिया है। वर्तमानकालीन सुनिश्चित संविधान की व्यवस्था के अभाव में भी वैदिक दण्डव्यवस्था की उत्कृष्टता द्रष्टव्य है। राजद्रोह, आग लगाना, चोरी, हत्या, गुरुपत्नी गमन, गोहत्या, युद्ध के मैदान से पीठ दिखाकर भागना, नास्तिकता, विश्वासघात आदि अपराधों के लिए दण्ड का विधान है। इन अपराधों के लिए दण्ड के रूप में मृत्युदण्ड तथा शरीर को छेदना, चीरना, टुकड़े-टुकड़े करना, आग में जलाना[२] तथा कारावास[३], आर्थिक दण्ड, देशनिष्कासन[४] आदि प्रमुख हैं।

रामायण में विशिष्ट अपराध के लिए विशिष्ट दण्ड के सिद्धान्तों का अभाव मिलता है, परन्तु दण्ड देते समय कुछ सुनिश्चित उद्देश्यों के आधार पर दण्ड की व्यवस्था की जाती थी।

दण्ड का सर्वप्रधान उद्देश्य वर्णाश्रम धर्म का पालन था। उत्तरकाण्ड में शम्बूक को इसीलिए दण्ड का भागी होना पड़ा, क्योंकि उसने वर्ण-व्यवस्था की मर्यादा का उल्लङ्घन किया। वर्णाश्रमधर्म के साथ-साथ सामाजिक व नैतिक परम्पराओं को बनाये रखना भी राजा का कर्त्तव्य था तथा परम्पराओं का उल्लङ्घन करने वालों को दण्डित किया जाता था। यदि श्रेष्ठजन भी सामाजिक व नैतिक परम्पराओं का उल्लङ्घन करते थे तो वे भी क्षम्य नहीं थे। इसका स्पष्ट संकेत लक्ष्मण की इस उक्ति से होता है कि यदि कैकेयी के उकसाने पर हमारे दुष्ट पिता हमारे शत्रु बन जायें तो अवध्य होने पर भी निःसंकोच उन्हें मृत्युदण्ड दिया जाना चाहिए।[५] यहाँ पिता होने पर भी उनके

---

१. मनुस्मृति ७/२

२. वा० रा० ५/२६/१०,३५

३. वा० रा० ४/९/२३

४. वा० रा० २/१८/१२

५. प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या स दुष्टो यदि नः पिता। अमित्रभूतो निःसङ्ग वध्यतां वध्यतामपि॥ वा०रा०/२/१८/११

लिए नैतिक दृष्टि से प्राणदण्ड का विधान किया गया है। शत्रुघ्न भी इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।[६] यदि गुरु भी अभिमान में आकर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान खो बैठे और विपरीत मार्ग का अनुगामी हो जाये, तो उसके लिए भी दण्ड का विधान है।[७] पिता-पुत्र जैसे घनिष्ठ सम्बन्धों की भी उपेक्षा कर सामाजिक मर्यादा के पालनार्थ दण्ड देने के कई उदाहरण प्राप्त होते हैं। जैसे- राजा सगर ने अपने ज्येष्ठपुत्र असमञ्ज को देश-निष्कासन रूपी दण्ड दिया था, क्योंकि वह बालकों को सरयू नदी में फेंक दिया करता था।[८] युवराज होने पर भी अङ्गद को सीतान्वेषण में असफल होने पर राजा सुग्रीव के द्वारा दण्डित होने का भय है। उसका विचार है कि राजा सुग्रीव उसे बन्धन में डाल सकता है। अत: बन्धनजनित कष्ट भोगने की अपेक्षा उपवास करके प्राण दे देना ही श्रेयस्कर है।[९]

दण्ड का अन्य उद्देश्य राज्य में शान्ति व सुरक्षा बनाये रखना था। राम के द्वारा अनेकों राक्षसों के वध का यही औचित्य है। यज्ञीय परम्परा तथा राज्य की शान्ति व सुरक्षा के लिए ही राजा दशरथ राम व लक्ष्मण को महर्षि विश्वामित्र के साथ भेजते हैं तथा वहाँ वे दोनों भाई अनेकों राक्षसों को प्राणदण्ड देते हैं। वनवास काल में राक्षसों के वध के उद्देश्य का संकेत देते हुए राम राक्षस खर से कहते हैं कि घोर पापकर्म करने वाले, लोक का अमगंल करने वाले पापाचारियों के वध के लिए ही मुझे महाराज दशरथ ने वन में भेजा है।[१०]

मानवीय परम्परागत धर्म की रक्षा भी दण्डव्यवस्था का उद्देश्य रहा है। वाली तथा रावण को मानवीय धर्म का उल्लङ्घन करने के लिए ही प्राणदण्ड दिया गया। रावण को दण्डित करने के औचित्य को बताते हुए राम कहते हैं कि मैं अपराधियों को ही दण्ड देने वाला शासक हूँ। तुमने मेरी भार्या का अपहरण किया है। इसी का दण्ड देने के लिए मैं लङ्का के द्वार पर आ खड़ा हुआ हूँ।[११] राम वाली को भी प्राणदण्ड देते हैं, क्योंकि वह भी मानवीय परम्परागत धर्म का त्यागकर अपने छोटे भाई सुग्रीव की पत्नी का पत्नीवत् उपभोग करता है।[१२] राम स्वयं वाली से कहते हैं कि उसे जो प्राणदण्ड दिया गया है, वह धर्म की रक्षा के लिए ही दिया गया है। इस विषय में हम लोग स्वतन्त्र नहीं हैं, अपितु धर्मशास्त्र के अधीन हैं।[१३]

दण्ड देने का अधिकार राजा को दिया गया है, परन्तु वह स्वेच्छाचारी नहीं है। वह भी धर्मशास्त्रों के अधीन है। दण्ड देते समय राजा पूर्ण विवेक से कार्य करता है तथा दण्ड सम्यक्, न्यायोचित तथा पक्षपातरहित होता था। राजा भरत भी धर्मभ्रष्ट पुरुषों को दण्ड देते थे तथा धर्मात्मा पुरुष का धर्मपूर्वक पालन करते हुए

---

६. बलवान् वीर्यसम्पन्नो लक्ष्मणो नाम योऽप्यसौ। किं न मोचयते रामं कृत्वापि पितृनिग्रहम्॥ पूर्वमेव तु विग्राह्यः समवेक्ष्य नयानयौ। उत्पथं य: समारूढो नार्या राजा वशं गत:॥ वा०रा० २/७८/३,४

७. वा० रा० २/१८/१२

८. वा० रा० २/३०/९-१०

९. वा० रा० ४/५५/१०-११

१०. पापमाचरतां घोरं लोकस्यप्रियमिच्छताम्। अहमासरितो राज्ञा प्राणान् हन्तुं निशाचर॥-वा० रा० ३/१९/१०

११. यस्य दण्डधरस्तेहं दाराहरणकर्शित:। दण्डं धारयमाणस्तु लङ्काद्वारे व्यवस्थित:॥ वा० रा० ६/४१/६४

१२. तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हत:। भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम्॥ वा० रा० ४/१८/१८

१३. तदलं परितापेन धर्मत: परिकल्पित:। वधो वानरशार्दूल न वयं स्ववशे स्थिता:॥ वा० रा० ४/१८/३५

कामासक्त स्वेच्छाचारी पुरुषों के निग्रह में तत्पर रहते थे।[१४] राम भी पथभ्रष्ट जनों को दण्डित करना अपना कर्तव्य मानते हैं। सीता भी विलाप करती हुए कहती है कि शत्रुओं को सन्ताप देने वाले आर्यपुत्र! आप तो कुमार्ग पर चलने वाले उद्दण्ड पुरुषों को दण्ड देकर उन्हें सही राह पर लाने वाले हैं। फिर भी ऐसे पापी रावण को क्यों नहीं दण्ड देते हो?[१५] राजागण पथभ्रष्टों को दण्ड अवश्य देते थे, परन्तु वे अपराध के अनुसार ही उचित दण्ड देने वाले, कोमल स्वभाव वाले तथा शान्त होते थे।[१६]

श्राप भी दण्ड का ही एक रूप था। पापकर्म करने वाले को श्राप के द्वारा भी दण्डित किया जा सकता था। ऋषि-मुनि तथा तेजस्वी प्रायः अपने तेजपुञ्ज के बल पर दोषी को श्राप देकर भी दण्डित कर सकते थे। ऋषि गौतम ने भी जब अपनी पत्नी अहल्या वा देवराज इन्द्र को दोषी पाया, तो अहल्या को कठोर तप करने तथा भूमि पर शयन करने का तथा इन्द्र को नपुंसक हो जाने का श्राप दिया।[१७] राजा दशरथ को भी श्रवणवध के रूप में प्राणप्रिय पुत्र के वियोग में प्राण त्यागने का श्राप मिला था[१८]

राजा के द्वारा सम्पूर्ण राज्य के विवादों को सुलझाना न सम्भव ही होता है और न ही व्यावहारिक। अतः राजा न्यायाधीशों रूपी सहायकों को नियुक्त करता है। इससे कार्यभार तो कम हो जाता है, परन्तु साथ ही एक अन्य दायित्व भी बढ़ जाता है-न्यायधीशों के क्रियाकलापों का निरीक्षण। राम के द्वारा भरत को दिये गए राजनैतिक उपदेश में दण्डव्यवस्था के सम्यक् क्रियान्वयन का बड़ा ही सूक्ष्म चिन्तन किया गया है। राम भरत से पूछते हैं कि कहीं तुम्हारे राज्य में उग्रदण्ड तो नहीं दिया जाता? उग्रदण्ड से प्रजा राज्य-व्यवस्था के प्रति समर्पित नहीं रहती है तथा राजा व मन्त्रियों का अपमान भी कर सकती है।[१९] अन्य महत्त्वपूर्ण प्रश्न राम पूछते हैं कि कहीं तुम्हारे राज्य में निर्दोष को दण्डित तथा दोषी को मुक्त तो नहीं किया जाता है? कभी-कभी विशुद्धात्मा श्रेष्ठजन भी मिथ्या अपवाद से दूषित हो जाते हैं, ऐसे सज्जनों को लोभ-लालच में फँसकर तुम्हारे न्यायाधीशों द्वारा दण्डित तो नहीं किया जाता।[२०] अथवा दोषी व्यक्ति को धन के लाभ से न्यायाधीशों द्वारा विना दण्ड के छोड़ तो नहीं दिया जाता?[२१] राम का यह भी मानना है कि निर्दोष व्यक्ति के दण्डित होने का परिणाम बड़ा अनर्थकारी होता है। उसकी आँखों के आँसू राजा के पुत्र व पशु आदि का नाश कर डालते हैं।[२२] इन प्रश्नों में राम ने नियमों के निर्माण से अधिक उनके

---

१४. गुरुधर्मव्यतिक्रान्तं प्राज्ञो धर्मेण पालयन्। भरतः कामयुक्तानां निग्रहे पर्यवस्थितः॥ वा० रा० ४/१८/२४

१५. ननु नामाविनीतानां विनेतासि परंतप। कथमेवंविधं पापं न त्वं शाधि हि रावणम्॥ वा० रा० ३/४९/२६

१६. युक्तदण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः। सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः॥ वा० रा० ३/६५/१०

१७. तथा शप्त्या स वै शक्रमहल्यामपि शप्तवान्। वस वर्षसहस्राणि तपयन्ती भस्मशायिनी॥ वा० रा० १/२४/१३; मम रूपं समास्थाय कृतवानसि दुर्मते। अकर्तव्यमिदं तस्माद्विफलस्त्वं भविष्यसि॥ वा० रा० १/२४/१२

१८. पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम साम्प्रतम्। एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं गमिष्यसि॥ वा० रा० २/५०/१९

१९. कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्वेजिता प्रजाः। राष्ट्रे तवावजानन्ति मन्त्रिणः कैकेयीसुत॥ वा.रा. अयो०१००/२७

२०. कच्चिदार्योऽपि शुद्धात्मा क्षारितश्चापकर्मणा। अदृष्टः शास्त्रकुशलैर्न लोभाद् बध्यते शुचिः॥ वा.रा. अयो०१००/५६

२१. गृहीतश्चैव पृष्टश्च काले दृष्टः सकारणः। कच्चिन्न मुच्यते चोरो धनलोभान्नरर्षभः॥ वा० रा० २/१००/५७

२२. यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि राघव। तानि पुत्रपशून् घ्नन्ति प्रीत्यर्थमनुशासतः॥ वा० रा० २/१००/५९

क्रियान्वयन पर अधिक बल दिया है।

दण्ड के विषय में यह मान्यता थी कि दण्डव्यवस्था दोषी तथा राजा दोनों के लिए श्रेयस्कर है। दण्ड भोग लेने के बाद दोषी भी शुद्ध हो जाता है। उसे नरक में जाने का भय नहीं रहता। इस प्रकार दण्ड का उद्देश्य व्यक्ति का इहलौकिक के साथ-साथ पारलौकिक सुधार करना भी था।[२३] राजा भी उचित दण्ड देकर स्वर्ग का अधिकारी हो जाता था।[२४] परन्तु यदि वह ऐसा नहीं करता था, तो वह स्वयं उस अपराध का भागी हो जाता था।[२५] इस प्रकार दोषी दण्ड भोगकर पापकर्म से मुक्त होकर तथा राजा भी उचित दण्ड देकर अपने कर्तव्यकर्म से मुक्त होकर श्रेय को प्राप्त करते हैं।

इन उद्देश्यों एवं मान्यताओं पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि दण्डव्यवस्था निरोधात्मक तथा सुधारात्मक सिद्धान्तों पर आधारित थी। आपराधिक प्रवृत्तियों के विरोध के लिए तथा सुधार के लिए दण्ड का विधान था। कहीं भी दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध नहीं था। उस युग की सभ्यता एवं संस्कृति की महत्ता का दिग्दर्शन इसी बात से हो जाता है कि दण्ड के मूल में सुधार की भावना विद्यमान थी। वास्तव में दण्ड के द्वारा सभी के सुधार की आशा की जाती थी। समाज एवं अन्य व्यक्तियों का भौतिक सुधार तथा अपराधी का मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सुधार। साथ ही दण्ड देने वालों का भी लैकिक एवं पारलौकिक सुधार होता था।

वस्तुतः वैदिक ऋषियों की दण्ड-विषयक जो मान्यता रही है, वही महर्षि वाल्मीकि के आदर्शों की आधारशिला है।

२३. वा० रा० २/१८/३१

२४. अपराधिषु यो दण्डः पात्यते मानवेषु वै। स दण्डो विधिवन्मुक्तः स्वर्गं नयति पार्थिवम्॥ वा० रा० ७/७९/९

२५. शासनाद् वापि मोक्षाद् वा स्तेनः पापात् प्रमुच्यते। राजात्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्विषम्॥ वा० रा० ४/१८/३२

गुरुकुल-शोध-भारती अक्टूबर २००६ अङ्क ६ (पृ०२६४-२६९)

वाल्मीकि-रामायण में वर्णित वैदिककालीन राज्य-व्यवस्था

विजय प्रताप सिंह

वाल्मीकि-रामायण में तत्कालीन संस्कृति के सुन्दर एवं आदर्श शासन प्रबन्ध, योग्य तथा प्रजाहित में संलग्न आदर्श राजा एवं एक आदर्श राज्य का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकि का चित्रण युग-युगान्तर तक के लिए आदर्श बना, इसीलिए आज तक 'रामराज्य' शब्द से सर्वोत्तम शासन प्रणाली का चित्र खींचने का प्रयास किया जाता है। रामायण में राज्य का स्वरूप राजतन्त्र था, परन्तु उस राजतन्त्र में भी प्रजा की रुचि एवं विचारों का जितना ध्यान एवं आदर था, वह प्रजातन्त्र में किसी भी आधुनिक राज्य में प्राप्त नहीं होता है। रामायणकालीन राज्य का अध्यक्ष राजा था, परन्तु राजा का स्थान प्रजा के समकक्ष ही था, अर्थात् प्रजा को शासन की इकाई माना जाता था। मन्त्रियों की मन्त्रणा से राम को युवराज बनाने का निश्चय करके राजा दशरथ ने उन्हें बुलाकर कहा कि 'हे पुत्र! विजयी और जितेन्द्रिय रहना; काम, क्रोध से उत्पन्न दुर्व्यसनों को त्यागना; गुप्तचरों से परामर्श करके तथा प्रत्यक्षतया देखकर न्याय में सदा तत्पर रहना; राज्याधिकारी और प्रजाजनों को प्रसन्न रखते हुए कोष तथा शास्त्रागार को सदैव भरे रखना; तभी प्रजायें अनुरक्त रहेंगी'। ये सारे हित-वचन राजा के गुणों को ही प्रदर्शित करते हैं।

किष्किन्धाकाण्ड में आहत वाली ने राम को उपालम्भ देते हुए राजा के गुणों को बताया—

दमः शमः क्षमा धर्मो धृतिः सत्यं पराक्रमः।

पार्थिवानां गुणाः राजन् दण्डश्चाप्यपकारिषु॥[१६११]

वाल्मीकि ने रामायण में लिखा है कि नीति और विनय, दण्ड और अनुग्रह ये राजधर्म है, परन्तु राजा को स्वेच्छाचारी कदापि नहीं होना चाहिए-

नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि।

राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः॥[१६१२]

धर्म, अर्थ तथा काम का समुचित विभाजन करके जो राजा उनका समयानुकूल पालन करता है, वह श्रेष्ठ है। इन तीनों पुरुषार्थों में धर्म ही श्रेष्ठ है, यह जानकर भी जो राजा धर्मपालन नहीं करता, उसका शास्त्राध्ययन व्यर्थ है।

संसार में गुणवान्, सदाचारी, पराक्रमी, चौदह विद्याओं से सुशिक्षित तथा नीति अनुगामी राजा ही चिरकाल तक शासन कर पाता है। जिस प्रकार विभिन्न लोकपाल इस लोक का पालन करते हैं, उसी प्रकार विभिन्न लोकपालों के चतुर्थांशों से युक्त राजा इस पृथ्वी का पालन करता है। राजा में गुण के रूप में पाँच देवों का स्वरूप समाहित होता है-अग्नि की उष्णता (प्रताप), इन्द्र का पराक्रम, सोम की सौम्यता, यम का दण्ड तथा वरुण की

१६११. वाल्मीकि-रामायण ४.१७.१९

१६१२. वाल्मीकि-रामायण २.२.३२

प्रसन्नता प्रत्येक लोकपाल में उसका एक ही गुण निहित था, किन्तु श्रेष्ठ राजा में सारे ही गुण होने के कारण वह लोकपालों से भी श्रेष्ठ होता है

यमो वैश्रवण: शक्रो वरुणश्च महाबल:।
विशिष्यन्ते नरेन्द्रेण वृत्तेन महता तत:॥ [१६१३]

राजा का चरम और परम कर्त्तव्य प्रजा की रक्षा और पालन करना है। वर्णाश्रम की मर्यादा बनाए रखकर, दुष्टों का दमन तथा न्याय करके राजा प्रजापालक कहलाता है। सदैव जागरूक रहकर प्रजा का पुत्रवत् रक्षण करने वाले राजा ही यशस्वी हुए।

अरण्यकाण्ड में विभिन्न मुनिगण समवेत होकर राम से प्रार्थना करते हैं कि वे राक्षसों से उनकी रक्षा करें, क्योंकि जो राजा प्रजा की पुत्रवत् रक्षा करता है, वह शाश्वत यश को प्राप्त करता है, और अन्त में ब्रह्मलोक जाकर वहाँ भी विशेष सम्मान का भागी बनता है। राम ने प्रजापालन अथवा प्रजानुरञ्जन के इसी कठोर व्रत का परिपालन करने के लिए गर्भवती सीता को निष्पाप मानते हुए भी निर्वासित कर दिया था।

इन सबके अतिरिक्त राजा के कर्त्तव्यों में यह भी परिगणित था कि राजा अथवा उसका प्रतिनिधि दान, यज्ञ, विवाह अथवा बृहद् सामाजिक उत्सवों में अवश्य उपस्थित होकर प्रजा का सम्मान बढ़ाए। राम ने चित्रकूट में भरत से पूछा था कि प्रतिदिन पूर्वाह्न में वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर तुम प्रजाजनों को दर्शन देते हो या नहीं? इससे राम का यही अभिप्राय था कि भरत राजा के रूप में अपना कर्त्तव्य पालन तो ठीक कर रहे हैं।

राज्य की रक्षा एवं पालन करने के लिए राजा संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव तथा समाश्रय इन छ: युक्तियों का आश्रय लिया करता था।

साम-दाम, दण्ड, भेद इन चारों उपायों का पालन करते हुए ही राजा उन्नतिशील होता था। हनुमान् ने सुग्रीव को सचेत किया था कि कोश, दण्ड (सेना), मित्र तथा स्वशरीर का समान रूप से अपने वश में रखने वाला राजा ही राज्य का पालन और उपभोग कर पाता है।

राजा को दण्ड में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए, राजा के द्वारा अपराधी को जो दण्ड दिया जाता है, विधिवत् दिया गया वही दण्ड राजा को स्वर्ग लोक पहुँचा देता है-

अपराधिषु यो दण्ड: पात्यते मानवेषु वै।
स दण्डो विधिवन्मुक्त: स्वर्गं नयति पार्थिवम्॥ [१६१४]

किन्तु यदि राजा अपराधी को उचित रूप से दण्ड नहीं देता है, तो वह राजा अपराध के बल का भागी होता है-**'राजा त्वशासन् पापस्य तदवाप्नोति किल्बिषम्'।**[१६१५] इससे स्पष्ट होता है कि राज्य में शान्ति बनाए रखने के लिए दण्ड का प्रयोग अनिवार्य था।

१६१३. वाल्मीकि-रामायण २.६७.३५

१६१४. वाल्मीकि-रामायण ७.७९.९

१६१५. वाल्मीकि-रामायण ४.१८.३२

रामायण में राजा के गुणों के साथ-साथ अवगुणों की भी चर्चा हुई है। रामायण के द्वितीय काण्ड में १४ दोषों की एक सूची प्राप्त हो जाती है। भोगासक्त, लोभी, स्वेच्छाचारी तथा समयानुकूल कार्य न सम्पादन करने वाला राजा कदापि सम्मान का पात्र नहीं होता और राज्य के साथ-साथ नष्ट हो जाता है। चञ्चल बुद्धि तथा स्वरक्षा में असमर्थ राजा अनर्थभागी होता है और आत्मीय जनों के द्वारा ही राज्यच्युत कर दिया जाता है।

प्रजापालक राजा को मन्त्रणा देकर राज्य की सुचारु व्यवस्था में सहायता करने वाले व्यक्ति के लिए मन्त्री, अमात्य तथा सचिव-ये तीनों पर्याय रामायण में प्रयुक्त हुए हैं। श्रेष्ठ मन्त्री वही होता है जो शास्त्रवित्, विनयी, राज्यकार्य में सदैव सावधान, व्यवहारकुशल, गुप्तचरों की व्यवस्था में निपुण, कोशसञ्चय तथा सेना-संग्रहण में सदैव निपुण एवं तत्पर तथा राजा का हिताकांक्षी हो। उत्तममन्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह स्वामिहित तथा राज्यहित का ध्यान करके राजा को कुमार्गगामी होने से रोके। राजा की विजय का मूल कारण उत्तम मन्त्रणा होती है और वह तभी सफल होती है, जब शास्त्र में निपुणमन्त्री उसे सर्वथा गुप्त रखे-

मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव।
सुसंवृतो मन्त्रिधुरैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः॥[१६१६]

राज्य में उत्तममन्त्री के इसी महत्त्व के कारण चित्रकूट में राम ने भरत से यह प्रश्न किया था कि क्या भरत ने अपने सदृश पराक्रमी, शास्त्रवेत्ता, जितेन्द्रिय, कुलीन तथा इंगित को समझने वाले व्यक्तियों को ही मन्त्री नियुक्त किया है-

कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः।
कुलीनाश्चेङ्गितज्ञाश्च कृतास्ते तात मन्त्रिणः॥[१६१७]

रामायण में गुप्तचर को विशेष महत्त्व दिया जाता था, जिसके लिए प्रणिधि, चार, चर चारक, चारण आदि विभिन्न नाम प्रयुक्त होते थे। दशरथ एवं रावण दोनों के ही राज्य में नियमित गुप्तचर विभाग था।

दशरथ के मन्त्री गुप्तचरों के द्वारा ही स्वपक्ष और परपक्ष के समस्तकृत और क्रियमाण कार्यों के बारे में जान लिया करते थे-

तेषामविदितं किंचित् स्वेषु नास्ति परेषु वा।
क्रियमाणं कृतं वापि चारेणापि चिकार्षितम्॥[१६१८]

राजा के कहे प्रत्येक कार्य को सम्पंन्न करना गुप्तचर का कर्त्तव्य था। अपने कर्त्तव्य पालन के लिए तत्पर गुप्तचर में कतिपय गुण होना अनिवार्य था। गुप्तचर को विश्वस्त, शूर, धीर तथा भयरहित होना चाहिए।

'चारान्प्रत्यायिकान् शूरान् धीरान् विगतसाध्वसान्।[१६१९]

१६१६. वाल्मीकि-रामायण २.१००.१६

१६१७. वाल्मीकि-रामायण २.१००.१५

१६१८. वाल्मीकि-रामायण १.७.९

१६१९. वाल्मीकि-रामायण ६.२९.१८

यदि गुप्तचर विश्वस्त नहीं है तो राजा को सही सूचनें नहीं मिलेंगी; पराक्रमी होने पर गुप्तचर अपनी रक्षा में समर्थ नहीं होगा; धैर्यशील होने पर ही वह कठिन से कठिन परिस्थितियों को पार कर सकेगा और भयरहित होने पर ही अपना कठिन कार्य पूर्ण कर पाएगा।

गुप्तचर के क्या-क्या कर्त्तव्य थे- यह भी वाल्मीकि-रामायण में स्थान-स्थान पर खोजा जा सकता है। देश में शान्ति रहने पर तो गुप्तचर का काम राजा के सम्बन्ध में प्रजा के विचार जानना ही था, जिससे राज्य सुरक्षित रह सके। किन्तु युद्ध और आक्रमण की स्थिति में गुप्तचर के कार्य गुरुतर हो जाते थे। शत्रु के सम्बन्ध में गुप्तचर ही सारी जानकारियाँ एकत्रित करके राजा को विजय का अधिकारी बनाते थे। शत्रु का बलाबल जानना गुप्तचर के लिए ही सम्भव हो पाता था। अपने वास्तविक रूप को प्रकट न होने देने के कारण गुप्तचर रूप बदल दिया करते थे। सुग्रीव की आज्ञा से राम, लक्ष्मण के सम्बन्ध में वास्तविकता जानने हेतु हनुमान् ने वानररूप त्यागकर भिक्षुरूप धारण कर लिया था। शुक और सारण राक्षसों ने वानरसेना में घुसते समय वानर रूप धारण कर लिया था। विभीषण के चारों मन्त्री रावण की सैन्य-व्यवस्था का पता लगाने के लिए पक्षी का रूप धारण करके गए थे।

'भूत्वा शकुनय: सर्वे प्रविष्टाश्च रिपोर्वलम्'[१६२०]

रामायण में वर्णित प्रत्येक युद्ध के मूल में कोई न कोई कारण या प्रयोजन रहा है। विना किसी प्रयोजन के युद्ध करना अनुचित था। किसी तटस्थ व्यक्ति के साथ अकारण ही युद्ध छेड़ना नितान्त असम्मानजनक समझा जाता था। परस्पर वैर रखने वाले तथा विजयाकांक्षी राजा ही युद्धोद्योग किया करते थे-

अन्योन्यवद्धवैराणां जिगूषीणां नृपात्मज! उद्योगसमय:[१६२१]

सीताहरण की योजना बनाकर रावण जब सहायता हेतु मारीच के पास जाता है तो राम के विषय में यही कहता है-'उस राम ने विना किसी वैर विरोध के ही केवल बल का आश्रय लेकर मेरी बहन को विरूपित किया है। अत: मैं बदला लेने के लिए राम की पत्नी को हर लाऊँगा'-

.......येन वैरं विनारण्ये सत्वमास्थाय केवलम्।

कर्णनासापहारेण भगिनी मे विरूपिता॥

अस्य भार्यां....................आनयिष्यामि विक्रम्य॥[१६२२]

इस दृष्टि से रामायण का अनुशीलन करने पर उसमें प्राप्त युद्धों के अनेक प्रयोजन दृष्टिगोचर होते हैं।

१. राज्यविस्तार अथवा सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए राजागण युद्ध किया करते थे। उत्तरकाण्ड में वर्णित है कि रावण ने अपनी सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के लिए सारी पृथ्वी पर युद्धार्थ भ्रमण प्रारम्भ किया था तथा विभिन्न लोकपालों आदि को हराकर अपनी विजय घोषणा की थी। राम ने भरत और लक्ष्मण के पुत्रों को

१६२०. वाल्मीकि-रामायण ६.३७.८

१६२१. वाल्मीकि-रामायण ४.३०.६०

१६२२. वाल्मीकि-रामायण ३.३६.१२.१४

राज्य में स्थापित करने के लिए गन्धर्व देश[१६२३] और कारु देश[१६२४] पर युद्धपूर्वक अपना अधिकार स्थापित कर लिया था।

२. दुष्ट राजा को दण्ड देकर ऋषियों को अभयदान देने के लिए भी युद्ध प्राप्त होते थे। ऋषियों पर होते अत्याचार को सुनकर राम ने लवणासुर से युद्ध करने के लिए शत्रुघ्न को भेजा था।[१६२५]

३. पारस्परिक युद्ध के मूल में स्त्री भी एक बड़ा कारण रही है। रामायण में स्त्री के कारण हुए युद्धों को दो कोटि में रखा जा सकता है-

(१) किसी एक स्त्री की प्राप्ति के लिए हुआ युद्ध जैसे-सीता प्राप्ति के लिए विभिन्न राजाओं ने एक वर्ष तक मिथिला का घेरा डाले रखा था और युद्ध किया था

(२)अपहृता स्त्री छुड़ाकर यशःप्राप्ति और कुल की उज्ज्वलता के लिए किया जाने वाला युद्ध-जैसे-राम-रावण युद्ध

४. मित्र की सहायता के लिए भी युद्ध किया जाता था। सुग्रीव ने राम की सहायता करने के लिए अपनी वानर सेना के साथ रावण से युद्ध किया था। राजा दशरथ ने भी इन्द्र की सहायता करने के लिए देवासुर-संग्राम में भाग लिया था।

५. प्रतिशोध लेने के लिए युद्ध में प्रवृत्त हुआ जाता था। पिता के वध से अमर्षशील परशुराम ने प्रतिशोध लेने के लिए अनेक बार क्षत्रियों का संहार कर डाला था।

६. किसी प्रलोभ्य वस्तु की प्राप्ति हेतु भी युद्ध हो सकता था। वसिष्ठ ऋषि की कामधेनु को छीनने में प्रवृत्त विश्वामित्र और वसिष्ठ में युद्ध हुआ था।

युद्ध के मूल में जो मुख्यतम प्रयोजन है उनका संक्षिप्त कथन मृत्युपथगामी वाली ने ही कर दिया है-**'भूमिर्हिरण्यं रूपं च विग्रहे कारणानि च'**।[१६२६] धरती, धन और रूप (सौन्दर्यस्त्री) ये ही युद्ध के कारण होते हैं। सामान्य लोक भाषा में भी 'जर (धन), जमीन और जोरु' ही लड़ाई का कारण माने जाते हैं।

युद्ध करना समाज की सहज स्थिति नहीं है, जब किसी प्रयोजन सिद्धि में राजा के साम आदि अन्य सभी उपाय निष्फल हो जाते हैं, तभी पराक्रम दिखाने या युद्ध करने की स्थिति आती है। विभीषण ने रावण को युद्धोद्योग से रोकते हुए यही नीतिवचन सुनाए थे। युद्ध का परिणाम भी नितान्त अनिश्चित ही होता है।

विजयश्री किसे वरण करेगी-यह कोई भी निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता। अशोक-वाटिका में हनुमान् को पकड़ने के लिए जब रावण ने अपने पाँच सेनापतियों को भेजा था, तब यही शिक्षा दी थी-**'युद्धसिद्धिर्हि चञ्चला'**[१६२७] अपने बलाबल का निर्णय करके समय के अनुसार सन्धि या युद्ध करना ही राजनीति है।

१६२३. वाल्मीकि-रामायण ७.१००.१०१

१६२४. वाल्मीकि-रामायण ७.१०२

१६२५. वाल्मीकि-रामायण ७.६१.२३; ७.६२.१८-१९

१६२६. वाल्मीकि-रामायण ४.१७.३१

१६२७. वाल्मीकि-रामायण ६.३५.८-९

इस प्रकार वाल्मीकि ने रामायण के माध्यम से कुशलतापूर्वक राज्यव्यवस्था का वर्णन किया है जो आज भी अपने आदर्श रूप में प्रासङ्गिक है।

लेखक-परिचय:

१. प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

२. डॉ. महावीर अग्रवाल, आचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

३. डॉ० सोमदेव शतांशुः, रीडर, संस्कृत-विभागः, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

४. डॉ. वेदपाल, रीडर, संस्कृत-विभाग, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत (बागपत)

५. डॉ. देवेन्द्र सिंह सोलंकी, रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, संजय गान्धी स्नातकोत्तर, महाविद्यालय सरूरपुर, मेरठ (उ०प्र०)

६. डा. श्रीमती आशारानी राय, प्राचार्य-संस्कृत-विभाग, कानपुर विद्यामन्दिर महाविद्यालय, कानपुर (उ० प्र०)

७. डॉ. विनय कुमार विद्यालङ्कार, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, लोहाघाट-चम्पावत (उत्तरांचल)

८. डॉ. (श्रीमती) विजयलक्ष्मी, एस.डी. कॉलेज, मुज्फ्फरनगर (उ० प्र०)

९. डॉ० देवेन्द्र कुमार गुप्ता, वरिष्ठ प्रवक्ता, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरतत्त्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

१०. डॉ० विजेन्द्र शास्त्री, गुरुकुल काँगड़ी विश्विद्यालय, विद्यालय-विभाग हरिद्वार (उत्तरांचल)

११. डॉ० वेद प्रकाश वेदालङ्कार, विद्यावाचस्पति पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, डी.ए.वी. कालेज, अम्बाला शहर (हरयाणा)

१२. डॉ० कामदेव झा, डी.ए.वी. कालेज, नन्योला (अम्बाला)

१३ डॉ० उमा जैन, रीडर संस्कृत-विभाग, मु. ला. एण्ड जयना. खे. गर्ल्स कॉलिज, सहारनपुर

१४. कुलदीप सिंह आर्य, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, डी. ए. वी कालेज, अमृतसर (पंजाब)

१५. डॉ० इन्द्रेश 'पथिक', एम.एस.डब्लू., एम.ए., पी.-एच.डी. (संस्कृत), वेद-विभाग, शान्तिकुंज, हरिद्वार (उत्तरांचल)

१६. ड़ॉ० विनोद कुमार गुप्त, वरि०-प्राध्यापक संस्कृत, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, नई टिहरी, टिहरी गढ़वाल (उत्तरांचल)

१७. डॉ० श्रीधर मिश्र आचार्य, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर (उ०प्र०)

१८. डॉ० हरि प्रकाश शर्मा, संस्कृत-प्रवक्ता, गुरु नानक खालसा महाविद्यालय, यमुनानगर (हरियाणा)

१९. डॉ० प्रियंवदा वेदभारती, गुरुकुल आर्य कन्या विद्यापीठ, नजीबाबाद (उ०प्र०)

२०. डॉ० कंचन गुप्ता, बी-८/३, टाइप-IV, नई टिहरी (टिहरी गढ़वाल)

२१. डॉ० रुचि कुलश्रेष्ठ, प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, आर. सी. ए.गर्ल्स.पी.जी. कॉलेज, मथुरा (उ०प्र०)

२२. डॉ० राम प्रकाश वर्णी डी. लिट्., रीडर एवं अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, लोक राष्ट्रीय महाविद्यालय, जसराना, जनपद-फिरोजाबाद (उ०प्र०)

२३. डॉ. आशारानी वर्मा, वरिष्ठ प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, नेशनल पी.जी. कालेज, भोगाँव, जि० मैनपुरी (उ०प्र०)

२४. डॉ० रामविलास यादव, अध्यक्ष-संस्कृत-विभाग, एल.सी.एस. कॉलेज, (दरभंगा)

२५. डॉ० श्रीमती सरिता भार्गव, अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा (राजस्थान)

२६. डॉ० रुद्रेतपाल आर्य:, प्रवक्ता सर.एम. यू. टीचर ट्रेनिंग कॉलेज, जी०टी रोड़०, एटा (उत्तर-प्रदेश:)

२७. डॉ० रजनी शर्मा, प्रवक्ता संस्कृत-विभाग, श्रीभगवान् शिव महाविद्यालय, उमेदपुर, एटा (उत्तर प्रदेश)

२८. कुणाल मेहता, प्रवक्ता इतिहास विभाग, डी. ए. वी. कालेज, जालन्धर (पंजाब)

२९. डॉ० मृदुला जोशी, प्रवक्ता (हिन्दी-विभाग), कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

३०. दीपाली सिंघल (शोध-छात्रा), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार (उत्तरांचल)

३१. रणजीत कुमार पाण्डेय (शोधछात्र), संस्कृत एवं प्राकृत भाषा-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ.

३२. मंजु चौहान (शोध-छात्रा), प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार.

३३. रविन्द्र कुमार, एम. ए. संस्कृत (शोधार्थी), ग्राम-पतरसिया, पोस्ट बरखेड़ा, बीसलपुर-पीलीभीत (उ.प्र.)

३४. श्वेता गुप्ता (शोधछात्रा), कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, हरिद्वार.

३५. विजय प्रताप सिंह, (शोधछात्र) राजनीतिशास्त्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ